

तीर्थंकर चरित्र

भाग १

रत्नलाल डोशी

अलिख भा. सा. जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ४९ वां रत्न.

तीर्थंकर चरित्र

(भाग १)

लेखक—

रतनलाल डोशी

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

प्राप्ति स्थान—

- १—श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
२— " एडुन बिल्डिंग, पहली धोबी-तलाब लेन, बम्बई-२
३— " सराफा बाजार, जोधपुर (राजस्थान)

स्वल्प मूल्य १२-००

द्वितियावृत्ति
२०००

वीर संवत् २५११
विक्रम संवत् २०४२
सन् १९७३

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (मध्य-प्रदेश)

प्राक् कथन



परमवन्दनीय तीर्थंकर भगवंत ही धर्म की आदि के कर्ता हैं--“जिनपण्णत्तं-
त्तं ।” जिन तीर्थंकर भगवंत के धर्मशासन को शिरोधार्य कर के अनन्त जीव परमात्म
पद प्राप्त कर गये और वर्त्तमान में भी जिनके मार्ग का अनुसरण कर के जो अपना
उत्थान करते हैं, उन परमोपकारी भगवंतों के उत्थान का क्रम, पूर्वभवों का वर्णन एवं
तीर्थंकर भव का चरित्र जानना प्रत्येक उपासक के लिये आवश्यक है । सभी जिनोपासक
जिनेश्वर भगवंतों का चरित्र जानने की इच्छा रखते हैं, परन्तु साधन उपलब्ध नहीं होने
से विवश रहते हैं । इस अवसर्पिणी काल में हुए तीर्थंकर भगवंतों का व्यवस्थित चरित्र
हमारे समाज में है ही नहीं । स्व. सुश्रावक श्रीबालचन्द्रजी श्रीश्रीमाल रतलाम निवासी ने
दो भागों में तीर्थंकर चरित्र प्रकाशित किया था, परन्तु वह संक्षेप में था और धार्मिक
परीक्षा बोर्ड के विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से लिखा गया था । वह संक्षिप्त चरित्र
भी आज उपलब्ध नहीं है ।

भगवान् ऋषभदेवजी, शांतिनाथजी, अरिष्टनेमिजी, पार्श्वनाथजी और महावीर
स्वामीजी के जीवन चरित्र तो मिलते हैं और ढाल-चोपाई के रूप में भी मिल सकते हैं,
परन्तु समग्र रूप में--जैसा श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य का “त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र” है,
वैसा कोई ग्रंथ नहीं था * । इस अभाव की पूर्ति का ही यह प्रयास है । इसका प्रारम्भ
'सम्यग्दर्शन' वर्ष १४ दिनांक ५ जनवरी सन् १९६३ के प्रथम अंक से किया था, सो
अभी चल ही रहा है । जिनेश्वरों की धर्मदेशना का वर्णन सम्यग्दर्शन वर्ष १२ के
५ जनवरी ६१ अंक से प्रारम्भ कर वर्ष १३ अंक १८ तक २०-९-६२ तक हुआ । इसका
मुख्य आधार 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' है । हमने “चउप्पन्न महापुरिस चरियम्,”
आगमों के फुटकर उल्लेख और कहीं-कहीं ढाल-चोपाई का भी उपयोग किया है । भगवान्
अरिष्टनेमि चरित्र लिखते समय तो आचार्य पू. श्री हस्तिमलजी म. सा. लिखित जैनधर्म
का मौलिक इतिहास भी सम्मुख रहा है ।

* गत वर्ष पूज्य श्री हस्तिमलजी म. सा. लिखित “जैन धर्म का मौलिक इतिहास” जयपुर से
प्रकाशित हुआ है ।

आगमों में भगवान् ऋषभदेवजी का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में, भ. मल्लिनाथ का ज्ञाताधर्म कथा सूत्र में, भ. अरिष्टनेमिजी का उत्तराध्ययन में और भ. महावीरस्वामीजी का आचारांग सूत्र में संक्षेप में कुछ उल्लेख है।

हमारे इस चरित्र का मुख्य आधार 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' है, परन्तु इसके कई विधानों में, आगमिक विधानों से भेद दिखाई दिया है। अपना बस चलते हमने आगमिक विधानों को ही स्थान दिया है, परन्तु कई स्थानों पर उपयोग नहीं लगने के कारण आगम-विरुद्ध विधान भी हो गए होंगे—हुए ही होंगे। इसलिये मैं अपने इस चरित्र को पूर्ण रूप से प्रामाणिक बतलाने का साहस नहीं कर सकता। पूर्ण रूप से प्रामाणिक तो आगम ही हैं। आगमों से जिन ग्रंथों का मत-भेद रहे, उन ग्रंथों को पूर्ण रूप से प्रामाणिक कैसे माना जाय ?

ग्रंथकार ने तीसरे 'मघवा' और चौथे 'सनत्कुमार' चक्रवर्ती को वैमानिक देव-लोक में उत्पन्न होना लिखा है, जब कि आगमाधार से हमने मोक्षगामी माना है। ग्रंथकार ने प्रथम जिनेश्वर की पुत्री सुन्दरीजी को ब्राह्मीजी के साथ दीक्षित होना नहीं मान कर हजारों वर्ष पश्चात् दीक्षित होना माना है (पृ. ८०)।

(२) ग्रंथकार ने भ. आदि जिनेश्वर के समवसरण में साधु-साध्वियों की उपस्थिति का उल्लेख किया है (पृ. ६५) किन्तु उस समय कोई साधु-साध्वी थे ही नहीं।

(३) चक्रवर्ती और वासुदेव अपने समय के सर्वोत्तम नरेश होते हैं। तीर्थंकरों को छोड़ कर अन्य कोई भी मनुष्य उनसे अधिक बलवान् नहीं हो सकता, किन्तु प्रथम चक्रवर्ती सम्राट को अपने लघुबन्धु बाहुबली से पराजित होना बतलाया है (पृ. ९३-९७)।

(४) सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों के सामूहिक मरण का वृत्तांत ग्रंथकार ने दिया, वह हमें विश्वस्त नहीं लगता (पृ. १४१ पादटिप्पण)।

(५) त्रिषष्ट वासुदेव की उत्पत्ति महान् अनैतिक संयोग से बताई है (पृ. २१०-२१५)।

भगवान् मल्लिनाथ के चरित्र में ज्ञाता सूत्र और त्रि. श. पु. चरित्र के मन्तव्यों में बहुत अन्तर है। ज्ञाता सूत्र में भगवान् को 'जयंत' नामक अनुत्तर विमान से च्यव कर धाना लिखा है, तब ग्रंथकार 'वैजयंत' बतला रहे हैं। सूत्र में कुंभराजा और छहों नरेशों के परस्पर युद्ध होने का स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु ग्रंथ में मात्र नगर को घेरने का ही लिखा है। सूत्र में दीक्षा-तिथि पौष शु. ११ लिखी है, तब ग्रंथकार मार्गशीर्ष शु. ११ बतलाते हैं। सूत्रकार उसी दिन केवलज्ञान होना बतलाते हैं और ग्रंथकार भी यही बतलाते हैं, परन्तु

आवश्यक भाष्य गा. २६१ में एक दिन उपरान्त केवलज्ञान होना लिखा है। सूत्र में निर्वाण तिथि चैत्र शु. ४ लिखी है, परन्तु ग्रंथकार फाल्गुन शु. १२ बतला रहे हैं। परिवार की संख्या में भी अन्तर है।

इस प्रकार के अन्तर अन्य तीर्थंकरों के चरित्रों में भी हो सकते हैं। इसलिए इस ग्रंथ की वे ही बातें प्रामाणिक मानी जाय जो आगमिक विद्वानों से अविपरीत हो।

हमने एक अभाव की पूर्ति का प्रयास किया है। इसमें हमसे कई भूलें भी हुई होंगी। अकेले काम किया है और संशोधन करने वाला भी कोई अनुभवी विद्वान् नहीं मिल सका। इसलिये इसमें कई भूलें रही होंगी। इतना होते हुए भी एक वस्तु प्रस्तुत हुई है, जिस पर आगे कोई महानुभाव परिश्रम कर के संशोधित संस्करण तैयार कर समाज के सामने प्रस्तुत कर सके।

इस ग्रंथ में १९ तीर्थंकर भगवंतों, ८ चक्रवर्तियों और ७ वामुदेवों बलदेवों और प्रतिवासुदेवों के चरित्र समाविष्ट हुए हैं। प्रसंगोपात अन्य अनेक सम्बन्धित चरित्र भी आये हैं। हमारा विचार है कि इसके बाद दूसरे भाग में बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी का और इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथजी का चरित्र हो। भगवान् मुनिसुव्रत स्वामीजी के शासन में आठवें वामुदेव बलदेव (श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी) हुए हैं, इससे यह चरित्र बड़ा होगा। तीसरे भाग में भगवान् अरिष्टनेमिजी म. का चरित्र होगा और अंत में भ. पार्श्वनाथजी और भ. महावीर स्वामीजी का चरित्र देने का विचार है। यह कार्य कब पूरा होगा? स्वास्थ्य और साधनों की अनुकूलता पर ही कार्य की प्रगति रही हुई है।

इस ग्रंथ की एक हजार प्रतियों के सहायक—श्रीमान् सेठ लाधूरामजी पन्ना-लालजी गोलेच्छा खीचन निवासी हैं और दूसरी एक हजार प्रतियों के द्रव्य-सहायक श्रीमान् सेठ पारसमलजी मिलापचन्दजी बोहरा मंड्या निवासी हैं। दोनों महानुभाव धर्मप्रिय हैं और ज्ञान प्रचार की प्रबल भावना वाले हैं। इस सहयोग के लिये संघ आपका पूर्ण आभारी है। संघ ने अब तक जो भी धार्मिक साहित्य प्रकाशित किया है, उसका समाज में अच्छा स्वागत हुआ है। आज कितनी ही पुस्तकें हमारे स्टॉक में नहीं हैं और माँग बनी रहती है।

संघ से प्रकाशित साहित्य का मूल्य भी हमने कम ही रखा है। लागत से भी कम। अन्यत्र प्रकाशित साहित्य की तुलना में इस संस्था के साहित्य का मूल्य बहुत कम है। संघ को समाज के पूर्ण सहयोग की आकांक्षा है।

सैलाना

— रतनलाल डोशी

भाद्रपद पूर्णिमा २०२०

द्वितीयावृत्ति के विषय में—

निवेदन

तीर्थंकर चरित्र भाग १ की प्रथमावृत्ति सन् १९७३ में प्रकाशित हुई थी, समाज में इसका अच्छा उपयोग हुआ, धर्मकथानुयोग का विषय होने से पाठकों की रुचि इसमें बनी रही । ज्यों-ज्यों धर्मप्रेमी महानुभावों को इसका परिचय होने लगा, त्यों-त्यों इसकी मांग बढ़ती गयी । पुस्तक की उपयोगिता इसी से प्रकट है कि इसकी २००० प्रतियाँ कुछ ही समय में बिक गयी । पाठकों की ओर से इसके पुनर्प्रकाशन हेतु पत्र आने लगे । उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मांग को देख कर मूल आगम प्रकाशन के महत्त्वपूर्ण कार्य के बाद चिरप्रतिक्षित तीर्थंकर चरित्र भाग १ की यह द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता है ।

इस प्रकाशन में निम्न महानुभावों ने अग्रिम पुस्तकें क्रय कर अथं सहयोग प्रदान किया, अतएव संघ का आपका आभारी हैं—

१५००)०० सुश्राविका श्रीमती बी. वसंताबाई, सिरुगुप्पा (कर्नाटक) । स्व. श्री विजयकुमारजी मकाना की १३ वीं पुण्य तिथि के उपलक्ष में ।
श्रीमान् इन्द्रचन्दजी लुणावत, गेयलेगफुग (भूटान) के सद्प्रयत्नों से निम्न राशि प्राप्त हुई—

३१५)०० श्रीमान् सुरजमलजी मोहनलालजी लुणावत, गेयलेगफुग (भूटान) ।
१६५)०० श्रीमान् फतेचन्दजी लुणावत, गेयलेगफुग (भूटान) ।
१६५)०० श्रीमान् झुमरमलजी लुणावत, गेयलेगफुग (भूटान) ।
४६५)०० श्रीमान् घेवरचन्दजी सम्पत्तलालजी लुणावत, गेयलेगफुग (भूटान) ।
४०५)०० श्रीमान् हनुमानमलजी बालचन्दजी लुणावत, नोखामंडी (राज.)
(पू. माताजी के पचोले की तपस्या की खुशी में)

आशा है समाज के अन्य धर्मप्रेमी महानुभाव भी आपका अनुकरण कर साहित्य सेवा में उदारतापूर्वक अपना योगदान देंगे । संघ का प्रयत्न प्रारम्भ से ही अल्प मूल्य में साहित्य प्रकाशित कर जिनवाणी के प्रचार का रहा है । इस आवृत्ति में भी लागत से अल्प मूल्य रखा गया है । आशा है धर्मप्रिय महानुभाव इससे लाभान्वित होंगे ।

सेलाना (म. प्र.)

दिनांक १८-४-१९८५

विनीत

पारसमल चण्डालिया

विषयानुक्रमिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ	क्रमांक	विषय	पृष्ठ
	भगवान् ऋषभदेवजी				
१	पूर्वभव—धन्य सार्थबाह	१	२६	सुनन्दा का योग	४९
२	बोधिलाम	४	२७	विवाह	"
३	युगलिक भव	५	२८	भरत-बाहुबली और ब्राह्मी-सुन्दरी का जन्म	५१
४	देव और विद्याधर भव	५	२९	कर्म भूमि का प्रारंभ—राज्य स्थापना	"
५	स्वयंबुद्ध का उपदेश	६	३०	प्रभु को वैराग्य और देवों द्वारा उद्बोधन	५४
६	अधर्मियों से विवाद	८	३१	वर्षादान	५५
७	प्रव्रज्या ग्रहण और स्वर्ग गमन	१५	३२	दीक्षा	५६
८	देवी के वियोग में शोकमग्न	१६	३३	साधुओं का पतन और तापस-परंपरा	५८
९	निर्नामिका का वृत्तांत	१७	३४	विद्याधर राज्य की स्थापना	"
१०	ललितांग देव का च्यवन	२०	३५	भगवान् का पारणा	६०
११	मनुष्य भव में पुनः मिलन	"	३६	भगवान् को केवलज्ञान	६३
१२	राज्य-लोभी पुत्र का दुष्कृत्य	२३	३७	समवसरण की रचना	६४
१३	जीवानन्द वैद्य और उसके साथी	"	३८	भरतेश्वर को बधाइयाँ	६५
१४	कुष्ठ रोगी महात्मा का उपचार	२४	३९	मरुदेवा की मुक्ति	६६
१५	भरतजी को चक्रवर्ती पद	२६	४०	भगवान् का धर्मोपदेश	६७
१६	अनेक लब्धियों के स्वामी	२७	४१	ज्ञान रत्न	६९
१७	तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन	२९	४२	दर्शन रत्न	७०
१८	कुलकरों की उत्पत्ति—सागरचंद्र का साहस	३१	४३	चारित्र्य रत्न	७२
१९	मरुदेवा के गर्भ में अवतरण	३६	४४	धर्म-प्रवर्तन	७४
२०	आदि तीर्थंकर का जन्म	३८	४५	प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज की दिग्विजय	७५
२१	दिशाकुमारी देवियों द्वारा शोच-कर्म	"	४६	चक्रवर्ती की ऋद्धि	८०
२२	इंद्रों का आगमन और जन्मोत्सव	४०	४७	अठाणु पुत्रों को भगवान् का उपदेश और दीक्षा	८१
२३	वंश स्थापना	४६	४८	बाहुबली नहीं माने	८३
२४	जन्म से चार अतिशय	"			
२५	प्रभु के शरीर का शिख-नख वर्णन	४७			

क्रमांक	विषय	पृष्ठ	क्रमांक	विषय	पृष्ठ
४९	युद्ध का आयोजन और समाप्ति	८६	७१	राक्षस वंश	१४०
५०	भरतेश्वर के बल का परिचय	९१	७२	पुत्रों का सामूहिक मरण	"
५१	भरत बाहुबली का द्वंद्व-युद्ध	९३	७३	शोक-निवारण का उपाय	१४२
५२	बाहुबलीजी की कठोर साधना	९७	७४	मांगलिक अग्नि कहाँ है	१४३
५३	योगीराज को बहिर्नों द्वारा उद्धोधन	९८	७५	इन्द्रजालिक की कथा	१४७
५४	भरतेश्वर का पश्चात्ताप और साधर्मी सेवा	१००	७६	मायावी की अद्भुत कथा	१५०
५५	मरीचि की कथा	१०६	७७	सगर चक्रवर्ती की दीक्षा	१५४
५६	मरीचि अंतिम तीर्थंकर होंगे	१०८	७८	भगवान् का निर्वाण	१५७
५७	भगवान् का मोक्ष गमन	१०९	भगवान् संभवनाथजी		१५८
५८	भरतेश्वर को केवलज्ञान और निर्वाण	११३	७९	भयंकर दुष्काल में संघ-सेवा	१५८
५९	टिप्पणी—सुनार की कथा का औचित्य	११५	८०	धर्मदेशना—अनित्य भावना	१६१
भगवान् अजितनाथजी		११९	भगवान् अभिनन्दनजी		१६५
६०	वैराग्य का निमित्त	१२०	८१	धर्मदेशना—अशरण भावना	१६६
६१	तीर्थंकर और चक्रवर्ती का जन्म	१२२	भगवान् सुमतिनाथजी		१६६
६२	सगर का राज्याभिषेक और प्रभु की प्रव्रज्या	१२६	८२	महारानी का न्याय	१७०
६३	धर्मदेशना—धर्म ध्यान	१२८	८३	धर्मदेशना—एकत्व भावना	१७२
६४	आज्ञा विचय	"	भगवान् पद्मप्रभःजी		१७५
६५	अपाय विचय	१२९	८४	धर्मदेशना—संसार भावना	१७६
६६	विपाक विचय	"	८५	नारक की भयंकर वेदना	"
६७	संस्थान विचय	१३१	८६	तिर्थंकर गति के दुःख	१७८
६८	गणधरादि की दीक्षा	१३४	८७	मनुष्य गति के दुःख	१८०
६९	शुद्धभट का परिचय	१३५	८८	देव-गति के दुःख	१८१
७०	मेघवाहन और सगर के पूर्व भव	१३८	भगवान् सुपाश्वर्चनाथजी		१८५
			८९	धर्मदेशना-अन्यत्व भावना	१८६

क्रमांक	विषय	पृष्ठ	क्रमांक	विषय	पृष्ठ
भ० चन्द्रप्रभः स्वामी		१८८	भ० विमलनाथजी		२४९
९० धर्मदेशना—अशुचि भावना		१८९	१०८ स्वयंभू वासुदेव चरित्र		२५०
भ० सुविधिनाथजी		१९१	१०९ धर्मदेशना—बोधि-दुर्लभ भावना		२५३
९१ धर्मदेशना—आत्मव भावना		१९२	भ० अनन्तनाथजी		२५७
९२ धर्म विच्छेद और असंयती-पूजा		१९७	११० वासुदेव चरित्र		२५८
भ० शीतलनाथजी		१९८	१११ धर्मदेशना—तत्त्व निरूपण		२६१
९३ धर्मदेशना—संवर भावना		१९९	११२ गुणस्थान स्वरूप		२६४
भ० श्रेयांसनाथजी		२०३	भ० धर्मनाथजी		२७०
९४ धर्मदेशना—निजंरा भावना		२०४	११३ वासुदेव चरित्र		२७१
९५ त्रिपुष्ट वासुदेव चरित्र		२०६	११४ धर्म देशना—क्रोध कषाय को		
९६ अश्वग्रीव का होने वाला शत्रु		२१३	नष्ट करने की प्रेरणा		२७५
९७ सिंह-धात		२१८	११५ मान-कषाय का स्वरूप		२७८
९८ त्रिपुष्टकुमार के लग्न		२२०	११६ माया-कषाय का स्वरूप		२८०
९९ पत्नी की माँग		२२२	११७ लोभ-कषाय का स्वरूप		२८३
१०० प्रथम पराजय		२२४	११८ चक्रवर्ती मधवा		२८७
१०१ मंत्री का सत्पराजय		"	११९ चक्रवर्ती सनत्कुमार		२८८
१०२ अपशकुन		२२५	१२० सनत्कुमार चक्रवर्ती का		
१०३ अश्वग्रीव का भयंकर युद्ध			अलौकिक रूप		२९६
और मृत्यु		२२७	भ० शान्तिनाथजी		३०१
१०४ त्रिपुष्ट की क्रूरता और मृत्यु		२३४	१२१ दासीपुत्र कपिल		३०१
भ० वासुपूज्यजी		२३६	१२२ इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध		३०४
१०५ विवाह नहीं करूँगा		२३७	१२३ भविष्य-वाणी		३०७
१०६ द्विपुष्ट वासुदेव चरित्र		२३८	१२४ सुतारा का हरण		३११
१०७ धर्मदेशना—धर्मदुर्लभ-भावना		२४२	१२५ वासुदेव अनन्तवीर्यजी		३१६
			१२६ नारद लीला निमित्त बनी		३१७

क्रमांक	विषय	पृष्ठ	क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१२७	वासुदेव-बलदेव नर्त्तकियों के रूप में	३१६	१४४	वीरभद्र का वृत्तांत	३६५
१२८	युद्ध की घोषणा और विजय	३२१	१४५	छठे वासुदेव-बलदेव	३७५
१२९	पूर्वभव वर्णन	३२२	१४६	सुभूम चक्रवर्ती	३७७
१३०	मेघरथ नरेश	३३३	१४७	परशुराम की कथा	३७९
१३१	कुर्कुट कथा	३३४	१४८	दत्त वासुदेव चरित्र	३८३
१३२	मेघरथ राजा का वृत्तांत	३३५	भ० मल्लिनाथजी		३८५
१३३	कबूतर की रक्षा में शरीर दान	३४०	१५०	महाबल मुनि का मायाचार	३८६
१३४	इन्द्रानियों ने परीक्षा ली	३४५	१५१	तीर्थकर जन्म	३८७
१३५	भगवान् शांतिनाथ का जन्म	३४६	१५२	निमित्त निर्माण	"
१३६	पाँचवें चक्रवर्ती सम्राट	३४८	१५३	पूर्वभव के मित्रों का आकर्षण	३८८
१३७	धर्मदेशना—इन्द्रियजय	३४९	१५४	अरहन्नक श्रावक की दृढ़ता	३८९
१३८	महाराजा कुरुचन्द्र का पूर्वभव	३५२	१५५	चोक्खा का पराभव	३९४
१३९	भगवान् का निर्वाण	३५७	१५६	युद्ध और अवरोध	३९५
भ० कुन्थुनाथजी		३५९	१५७	मित्रों को प्रतिबोध	३९६
१४१	धर्मदेशना—मनःशुद्धि	३६०	१५८	वर्षादान	३९८
भ० अरहनाथ स्वामी		३६३	१५९	धर्मदेशना समता	३९९
१४३	धर्मदेशना—राग-द्वेष त्याग	३६४	१६०	परिशिष्ट	४०३



तीर्थंकर चरित्र



भ० ऋषभदेवजी

आदिमं पृथिवीनाथ-मादिमं निष्परिग्रहिम् ।

आदिमं तीर्थनाथं च, ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥१॥

पूर्वभव—धन्य सार्थवाह

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में 'क्षितिप्रतिष्ठित' नामक नगर था । 'प्रसन्नचन्द्र' नाम का राजा राज्य करता था । वहाँ अतुल सम्पत्ति का स्वामी 'धन्य' नामक सार्थवाह (व्यापारियों का नेता) रहता था । वह उदारता, गांभीर्य, धैर्य और सदाचारादि गुणों से सुशोभित था । वह नगरजनों में विश्वास योग्य, आधारभूत और सर्व सहायक तथा रक्षक था । उसके आधीन रहने वाले सेवक भी धन्य-धान्यादि से युक्त एवं सुखी थे ।

एक बार धन्य सेठ ने व्यापार के लिये दूरस्थ वसंतपुर जाने का निश्चय किया । उसने नगर में उद्घोषणा करवाई कि—

“ धन्य-श्रेष्ठी व्यापारार्थ वसंतपुर जाएँगे । इसलिए जो भाई उनके साथ चलना

चाहें, वे तय्यार हो जावें । जिन्हें पूँजी की आवश्यकता होगी, उन्हें पूँजी मिलेगी । जिनको वाहन चाहिए, वह वाहन पा सकेगा और जिसे भोजन, रक्षण और अन्य प्रकार की सहायता की आवश्यकता होगी, तो वह भी मिलेगी । जो सभी प्रकार के साधनों से वञ्चित होंगे, उनकी सगे भाई के समान सहायता की जायगी ।”

धन्ना सेठ की इस उदार उद्घोषणा का लाभ हजारों मनुष्यों ने लिया । शुभ मूर्त में सार्थ ने प्रयाण किया । उस समय जैनाचार्य श्री धर्मघोष मुनिराज, अपने शिष्य-परिवार के साथ धन्य-श्रेष्ठी के पास आये । आचार्य को देखते ही सेठ उठा । नमस्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा । आचार्यश्री ने कहा—

“हम भी आपके सार्थ के साथ आना चाहते हैं ।”

आचार्य का अभिप्राय जान कर धन्ना सेठ बहुत प्रसन्न हुआ । उसने कहा—

“भगवन् ! मैं धन्य हुआ । आप अवश्य पधारें । मैं आपकी सेवा करूँगा ।”

सेठ ने अपने रसोइये को बुला कर कहा—

“देखो, ये आचार्य और इनके ये सन्त भी हमारे साथ चल रहे हैं । इनके लिए भी भोजन..... ।”

सेठ की बात पूरी होने के पूर्व ही आचार्य ने कहा—

“भद्र ! हम उस आहार को ग्रहण नहीं करते, जो हमारे लिए बनाया गया हो, या हमारे संकल्प से बनवाया हो । जिस आहार में हमारे उद्देश्य का एक दाना भी मिला हो, वैसा आहार या पानी हमारे लिए ग्रहण करने योग्य नहीं रहता ।”

“महानुभाव ! कूँ, तालाब अथवा नदी आदि का सचित्त जल भी हमारे लिए अनुपयोगी होता है । हम वही आहार-पानी लेते हैं, जो निर्दोष हो, अचित्त हो और गृहस्थ ने अपने लिये बनाया हो । हमारे लिए जिनेश्वर भगवान् की यही आज्ञा है ।”

यह बात हो ही रही थी कि इतने में एक अनुचर पके हुए आमों का थाल भर कर लाया । सेठ ने वे फल ग्रहण करने की आचार्यश्री से प्रार्थना की । तब आचार्यश्री ने कहा—

“ये फल जीव युक्त हैं । इसलिए हमारे स्पर्श करने के योग्य भी नहीं है ।”

सेठ ने आचार्यश्री के वचन सुन कर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—

“अहो श्रमणवर ! आप तो कोई महा दुष्कर व्रत के धारक हो । ऐसा व्रत प्रमादी पुरुष तो एक दिन भी धारण नहीं कर सकता । आप हमारे साथ अवश्य पधारें । हम

आपको वही वस्तु अर्पण करेंगे, जो आपके योग्य होगी ।”

सार्थ-संघ ने प्रस्थान किया । आचार्यश्री भी आनी शिष्य-मण्डली के साथ ईर्या-समिति युक्त विहार करते हुए चलने लगे । सार्थ बहुत बड़ा था । हजारों मनुष्य साथ थे । खाने-पीने का सामान, व्यापार की चीजें और बिस्तर, वस्त्र, वरतन आदि ढोने के लिए तथा रास्ते में पानी ले कर साथ चलने में बैल, गधे, खच्चर आदि हजारों पशु थे । सार्थ की रक्षा के लिए मशस्त्र सेना भी साथ थी । जाना बहुत दूर था । शीतकाल में प्रस्थान किया, किन्तु उष्णकाल भी बीत चुका और वर्षाकाल आया । वर्षा के कारण सभी मार्ग रुक गये । गमनागमन रुक गया । सार्थपति ने वर्षाकाल बिताने के लिए उचित स्थान पर पड़ाव डालने की आज्ञा दी । तम्बू तन गये । अस्थायी निवास की व्यवस्था हो गयी । आचार्यादि भी एक स्थान में ठहर गये । वर्षाकाल लम्बा था और सार्थ में मनुष्य भी बहुत हो गये थे । अतएव खाद्य सामग्री कम हो गई थी । भावी संकट की आशंका से सार्थपति धन्य सेठ चिन्तित रहने लगे । उन्हें अचानक स्मरण हो आया कि—“मैं धर्मघोष आचार्य को साथ लाया और उनके अनुकूल व्यवस्था करने का वचन दिया, किन्तु आज तक मैंने उनसे पूछा भी नहीं, याद भी नहीं किया । अहो ! मैं कितना दुर्भाग्यी हूँ । मैंने महात्माओं की उपेक्षा की । उन अकिञ्चन महाव्रतियों का जीवन अब तक कैसे चला होगा ? अब मैं उन्हें अपना मुँह भी कैसे दिखाऊँ”—वह चिन्ता से छटपटाने लगा । अन्त में निश्चय किया कि प्रातःकाल होते ही आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हो कर क्षमा माँगू और प्रायश्चित्त करूँ । उसके लिए गेष रात्रि बिताना कठिन हो गया । प्रातःकाल होते ही वह कुछ योग्य साथियों के साथ आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुआ । उसने देखा कि—

आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से सुशोभित हैं । उनके मुखकमल पर शांति एवं सौम्यता स्पष्ट हो रही है । तप के शांत तेज की आभा से उनका चेहरा देदीप्यमान हो रहा है । उनके परिवार के साधुओं में कोई ध्यान-मग्न है, तो कोई स्वाध्यायरत । कोई वन्दन कर रहा है, तो कोई पृच्छा । कोई सीखे हुए ज्ञान को परावर्तना कर रहा है, तो कोई वाचना ही ले रहा है । सभी संत किसी न किसी प्रकार की साधना में लगे हुए हैं । वे सभी टूटी-फूटी एवं जीर्ण निर्दोष झोंपड़ी में बैठे हुए हैं ।

सार्थपति आदि ने आचार्यश्री और अन्य महात्माओं को वन्दन किया और उनके सम्मुख बैठ कर निवेदन किया—

“भगवन् ! मैं आपश्री का अपराधी हूँ । मैंने आपकी सेवा करने का वचन दिया

था, किन्तु आज तक आपके दर्शन भी नहीं कर सका। मैं प्रमाद के वश हो कर आपकी स्मृति ही भूल गया। महात्मन् ! आप तो कृपानिधान हैं, क्षमा के सागर हैं। मेरे अपराध क्षमा करें—प्रभु !”

“सार्थपति ! चिन्ता मत करो”—आचार्य शांत वचनों से सेठ को आश्वासित करने लगे—“आपने जंगली क्रूर पशुओं से और चोरों से हमारी रक्षा की है। आपके संघ के लोग ही हमें आहारादि देते हैं। मार्ग में हमें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। इसलिए खेद करने की आवश्यकता नहीं है।”

“महर्षि ! गुणीजन तो गुण ही देखते हैं। मैं भूल और दोष का पात्र हूँ। मैं अपने ही प्रमाद से लज्जित हो रहा हूँ। आप मुझ पर प्रसन्न होवें और मेरे यहाँ से आहार ग्रहण करें”—धन्य सार्थवाह ने कहा।

बोधिलाभ

आचार्यश्री ने साधुओं को आहार के लिए भेजा। जिस समय साधु गोचरी के लिए गये, उस समय सेठ के रसोड़े में साधुओं को देने योग्य निर्दोष सामग्री कुछ भी नहीं थी। सेठ ने देखा—सिवाय घृत के और कुछ भी नहीं है। उसने मुनिवरों को घृत ग्रहण करने का निवेदन किया। साधुओं ने पात्र आगे रख दिया। सार्थपति श्री धन्य श्रेष्ठी ने भावों की उत्तमता से—बड़े ही प्रमोद भाव से भक्तिपूर्वक घृत दान दिया। घृत दान के समय भावों की विशुद्धि से सार्थपति को मोक्ष के बीज रूप ‘बोधि-बीज’—सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

सेठ दान देने के पश्चात् मुनिवरों को पहुँचाने आग्रह तक गया और आचार्यश्री को वन्दना कर के बैठ गया। आचार्यश्री ने सार्थपति को धर्मोपदेश दिया, जिसे सुन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—“भगवन् ! आपका उपदेश मेरे हृदय में उतर गया है। मैंने आज पहली बार ही ऐसा उपदेश सुना। मैं अब तक अन्धकार में ही भटक रहा था।” आचार्यश्री को वन्दना कर के सेठ अपने स्थान पर आये। वर्षाकाल पूरा हुआ। सार्थपति ने प्रस्थान की तय्यारी की और उद्घोषणा करवा कर सभी को तय्यार होने की सूचना दी। पूरा संघ चल पड़ा। जब संघ, भयानक और विशाल जंगल को पार कर गया और छोटे-मोटे गाँव आने लगे, तब आचार्यश्री ने संघपति धन्य सेठ को सूचित कर के पृथक् विहार कर दिया और सार्थ वसन्तपुर की दिशा में आगे बढ़ा। वसन्तपुर पहुँचने के बाद

क्रय-विक्रय कर के संध, पीछा लौटा और सुखपूर्वक स्वस्थान--क्षितिप्रतिष्ठित नगर पहुँच गया ।

युगलिक भव

कालान्तर में सार्धपति धन्य सेठ आयु पूर्ण कर के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलिक पुरुष के रूप में उत्पन्न हुआ । उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिकों में एकान्त 'सुषम-सुषमा' नामक आरे जैसी स्थिति होती है । वहाँ की पृथ्वी, मिथ्री जैसी मीठी और निर्मल होती है । जल भी स्वादिष्ट होता है । वहाँ तीन दिन के बाद आहार लेने की इच्छा होती है । वहाँ के मनुष्यों के २५६ पसलियाँ होती हैं । शरीर का प्रमाण तीन गाउ लम्बा और आयु तीन पत्योपम की होती है । वे अल्प कषायी व समत्व-रहित होते हैं । दस प्रकार के कल्पवृक्षों से वहाँ के निवासियों का निर्वाह होता है । वे कल्पवृक्ष इस प्रकार के हैं—

१ मद्यांग--इस वृक्ष से मद्य--पौष्टिक रस मिलता है । २ भृगांग--पात्र देता है । ३ तुर्यांग--विविध प्रकार के वादिन्त्र मिलते हैं । ४ दीपशिखांग--दीपक-सा प्रकाश देने वाले । ५ ज्योतिष्कांग--सूर्य-सा प्रकाश मिलता है और उष्णता भी मिलती है । ६ त्रित्रांग--विविध प्रकार के पुष्प । ७ चित्ररस से भोजन । ८ मर्ष्यंग से आभूषण । ९ गेहाकार से घर और १० अनग्न कल्पवृक्ष से सुन्दर वस्त्र मिलते हैं । उनके जीवन के अन्त के दिनों में एक युगल का जन्म होता है । वे अपनी सन्तान की प्रतिपालना केवल ४६ दिन ही करते हैं । इसके बाद उनकी मृत्यु हो जाती है और वे देवगति प्राप्त करते हैं ।

देव और विद्याधर भव

धन्य सार्धपति ऐसे सुखद क्षेत्र में जन्मा और अपनी लम्बी आयु भोग कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ । देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर के पश्चिम महाविदेह की गंधिलावती विजय में बैताद्वय पर्वत के ऊपर गंधस्मृद्धि नगर था । वहाँ के विद्याधरों के अधिपति श्री शतबल की चन्द्र-कान्ता भार्या की कुक्षि से पुत्ररूप में जन्म लिया । वह महाबली था, इसलिए उसका नाम भी 'महाबल' रखा गया । युवावस्था में 'विनयवती' नाम की सुन्दर कन्या के साथ उसके लग्न हुए । युवराज भोग भोगते हुए काल व्यतीत करने लगे ।

एक दिन विद्याधर-पति महाराज शतबल, एकान्त में बैठे हुए अशुचि-भावना में मग्न हो कर सोचने लगे —

“अहो ! यह शरीर स्वभाव से ही अशुचिमय है। ऊपर के आवरणों से ही यह शोभायमान हो रहा है। इसकी स्वाभाविक अशोभनीयता कब तक ढकी रहेगी ? प्रतिदिन शोभा सत्कार करते हुए, यदि एक दिन भी इसकी सजाई नहीं की जाय, तो दुष्ट मनुष्य के समान यह शरीर तत्काल अपने विकार प्रकट कर देता है। बाहर निकले हुए विष्टा, मूत्र, कफ, श्लेष्मादि से मनुष्य घृणा करता है, किंतु वह यह नहीं सोचता कि हमारे शरीर के भीतर क्या है ? यही तो भरा है। जिस प्रकार जीर्ण वृक्ष की कोटर में साँप, बिच्छु आदि जन्तु रहते हैं, उसी प्रकार शरीर में भी अनेक प्रकार के कृमि और दुःखदायक रोग भरे हैं। यह शरीर शरदऋतु के मेघ के समान स्वभाव से ही नाश होने योग्य है। यौवन-लक्ष्मी विद्युत् चमत्कार के सदृश है और देखते-देखते ही चली जाती है। आयुष्य भी पताका के समान चपल है और संपत्ति जल-तरंग के तुल्य तरल है। भोग, भुजंग के फण के समान विषम है और संगम, स्वप्न की तरह मिथ्या है। इस शरीर में रही हुई आत्मा, काम-क्रोधादि के ताप से तप्त हो कर दिन-रात पक रही है। इस प्रकार शरीर की दशा स्पष्ट दिखाई देते हुए भी अज्ञानी जीव, दुःखदायक परिणाम वाले विषयों में सुख मानते हैं और अशुचि स्थान में रहे हुए कीड़े के समान उसी में प्रीति करते हैं। उन्हें वैराग्य क्यों नहीं प्राप्त होता ? वे परम सुखदायक ऐसे धर्म और मोक्ष-पुरुषार्थ में पराक्रम क्यों नहीं करते ?

.....मुझे यह सुखवसर प्राप्त हुआ है। अब विलम्ब करना उचित नहीं।” इस प्रकार विचार कर के राजा ने युवराज महाबल का राज्याभिषेक किया और स्वयं धर्माचार्य के समीप निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या ग्रहण की। बहुत वर्षों तक चारित्र का पालन कर के स्वर्गवासी हुए।

स्वयं बुद्ध का उपदेश

महाराज महाबल कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन करने लगे और मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग भोगने लगे। वे काम-भोग में अत्यन्त आसक्त हो गए थे। राज्य संचालन अनेक मन्त्रियों द्वारा होता था। मुख्यमन्त्री चार थे। चारों मुख्य मन्त्रियों के नाम इस प्रकार

थे—१ स्वयंबुद्ध २ संभिन्नमति ३ शतमति और ४ महामति । इन चारों में स्वयंबुद्ध विशेष वृद्धिमान् सम्यग्दर्शित और राजा का हितचित्तक था । एक बार स्वयंबुद्ध को विचार हुआ कि—

“मेरा स्वामी काम-भोगों में डूब रहा है । इन्द्रियों के विषय रूपी शत्रु ने राजा को अपने अधिकार में कर लिया है । इस प्रकार स्वामी को मनुष्य-जन्म व्यर्थ गँवाते देख कर भी नहीं बोलूँ और चुपचाप देखा करूँ, तो यह मेरी कर्त्तव्य-विमुखता होगी । मेरा कर्त्तव्य है कि मैं महाराज को काम-भोगों से मोड़ कर धर्म के मार्ग पर लगाऊँ ।” इस प्रकार सोच कर यथावसर स्वयंबुद्ध ने नम्रतापूर्वक महाराज महाबल से निवेदन किया—

“महाराज ! यह संसार समुद्र के समान है । जिस प्रकार नदियों के जल से समुद्र तृप्त नहीं होता और समुद्र के जल से बड़वानल (समुद्र में रही हुई अग्नि) तृप्त नहीं होता, जीवों की मृत्यु से यमराज (काल) और काष्ठ-भक्षण से अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे ही यह मोही आत्मा, विषय-भोग से तृप्त नहीं हो सकती । आकांक्षा बढ़ती ही रहती है । किंतु जिस प्रकार नदी के किनारे की छाया, दुर्जन, विष और विषधर प्राणी की अत्यन्त निकटता—विशेष सेवन, दुःखदायक होता है, उसी प्रकार विषयों की आसक्ति भी अत्यन्त दुःखदायक होती है । कामदेव का सेवन तत्काल तो सुख देता है, किंतु परिणाम में विरस एवं दुःखद होता है और खुजाले हुए दाद की खुजली के समान वासना बढ़ाता ही रहता है । यह कामदेव नरक का दूत, व्यसन का सागर और विपत्ति रूपी लता का अंकुर है । पाप-रूपी कटु फलदायक वृक्ष का सिंचन करने वाली जलधारा भी काम-भोग ही है । कामदेव (मोह) रूपी मदिरा में मदमत्त हुआ जीव, सदाचार के मार्ग से हट कर दुराचार के खड्डे में गिर जाता है और भवभ्रमण के जंजाल में पड़ जाता है । जिस प्रकार घर में घुसा चूहा, घर में अनेक खड्डे खोद कर बिल बना देता है, उसी प्रकार जिस आत्मा में कामदेव प्रवेश करता है, उसमें धर्म अर्थ और मोक्ष को खोद कर खा जाता है ।”

“स्त्रियाँ, दर्शन, स्पर्श और उपभोग से अत्यन्त व्यामोह उत्पन्न करती है । स्त्रियाँ काम रूपी शिकारी की जाल है ।

“वे मित्र भी हितकारी नहीं होते, जो खाने-पीने एवं विलास के साथी हैं । वे मन्त्री अपने स्वामी का भावी हित नहीं देख कर स्वार्थ ही देखते हैं । ऐसे लोग अधम हैं—जो स्वार्थरत, लम्पट और नीच हैं और लुभावनी बातें करते हुए स्वामी को स्त्रियों के मोह में डुबाने के लिए वंसी कथा, गीत, नृत्य एवं कामोद्दीपक वचनों से मोहित कर

पतन की ओर धकेलते हैं ।”

“हे स्वामिन् ! आप अपनी रुचि बदलें । ऐसे व्यक्तियों की संगति छोड़ें । आप स्वयं सुज हैं । इस आसक्ति को छोड़ें और धर्म में मन लगावें । जिस प्रकार चारित्र-रहित साधु, शस्त्र-रहित सेना और नैत्र-रहित मुँह-शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार धर्म-रहित मनुष्य भी शोभा नहीं पाता । उसकी दुर्गति होती है और वह भवान्तर में महा दुःखी होता है । धर्म, जीव को सुख-शान्ति और समृद्धि देने वाला है । इसलिए आप अधर्म को त्याग कर धर्म का सेवन करें ।”

अधर्मियों से विवाद

स्वयंबुद्ध मन्त्री की धर्मसम्मत बात “संभित्तमति” नाम के मन्त्री को नहीं रुचि । वह मिथ्यामति नास्तिक था । स्वयंबुद्ध की बात पुरी होते ही बोल उठा ; --

“स्वयंबुद्धजी ! धन्य है आपको और आपकी बुद्धि को । आपने अपने स्वामी का अच्छा हित सोचा । आपके विचार से आपके उदासीन मानस के दर्शन होते हैं । आप से महाराज का सुख नहीं देखा जाता । स्वामी की प्रसन्नता आप को अच्छी नहीं लगती । जो सेवक अपने भोग के लिए स्वामी की सेवा करते हैं, वे स्वामी को कैसे कह सकते हैं कि—‘आप भोगों का त्याग कर दें ।’ यह तो धृष्टता ही है ।”

“जो प्राप्त उत्तम भोगों को त्याग कर अदृश्य एवं असत्य भोगों की—परलोक की आशा रखते हैं, वे भूलते हैं । क्योंकि परलोक की मान्यता ही असत्य के आधार पर खड़ी है । किसने देखा है परलोक ? वास्तविक हस्तगत सत्य को छोड़ कर मिथ्या धारणा में भटकना मूर्खता है । वास्तव में यह शरीर ही सब कुछ है । शरीर के अतिरिक्त ऐसी कोई आत्मा नहीं है, जो परलोक में सुख और दुःख भोगने के लिए जाता हो । जिस प्रकार गुड़ जल और अन्य अनेक पदार्थों के योग से मद-शक्ति वाली मदिरा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथ्वी, अप्, तेज और वायु से चेतना-शक्ति उत्पन्न होती है । वास्तव में शरीर से भिन्न कोई शरीरधारी—आत्मा नहीं है, जो शरीर छोड़ कर परलोक में जाता हो । शरीर के नाश के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है । ऐसी स्थिति में प्राप्त सुखोप-भोग को छोड़ कर उदासीन जिन्दगी बिताना, केवल मूर्खता ही है । धर्म-अधर्म के विचार मन में लाना ही भूल है । मात्र भ्रम है । इस प्रकार के भ्रम से प्राप्त सुखोपभोग से वंचित रहने से जीवन रूखा हो जाता है । इस प्रकार के अज्ञान से काम-भोगमय सुखी

जीवन नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार गधे के मिर पर सींग नहीं होते, उसी प्रकार धर्म-अधर्म भी नहीं है। जिस प्रकार पापाण की स्नान, विलेपन, पुष्प और वस्त्राभूषण से पूजा करने से पुण्य नहीं होता और पापाण पर बैठ कर मलोत्सर्ग या मूत्रोत्सर्ग करने से पाप नहीं होता, उसी प्रकार धर्म-अधर्म और पुण्य-पाप भी कुछ नहीं होता। यदि कर्म से ही जीव उत्पन्न होते और मरते हों, तो पानी का बुलबुला किस कर्म से उत्पन्न और नष्ट होता है? अतएव जब तक हम इच्छापूर्वक चेष्टा—क्रिया करते हैं, तब तक 'चेतन' कहा जाता है और चेतना नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसके बाद पुनर्भव नहीं होता। पुनर्भव की बात ही युक्ति-रहित और असत्य है। इसलिए हे मित्र स्वयंबुद्ध! अपने स्वामी, शिरीष जैसी कोमल शय्या में रूप और लावण्य से भरपूर ऐसी सुन्दर रमणियों के साथ क्रीड़ा करते हैं और अमृत के समान भोज्य एवं पेय पदार्थों का यथारुचि आस्वादन करते हैं, उन्हें निषेध नहीं करना चाहिए। सुखोपभोग में बाधक बनना स्वामी-द्रोह है।"

"हे स्वामीन्! आप धर्म की भ्रमाल से दूर रहें और दिन-रात सुखोपभोग में मग्न रहें।"

संभिन्नमति के ऐसे विचार सुन कर स्वयंबुद्ध ने कहा --

"अहो, नास्तिकता कितनी भयानक होती है। जैसे अन्धा नेता, खुद को और अपनी टोली को भी अन्धकूप में गिरा देता है, वैसे ही नास्तिक-मति के विचारक भी भोले लोगों को नास्तिक बना कर खुद अधोगति में जाते हैं और साथियों को भी ले जाते हैं। नास्तिक लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते, किन्तु विचारशील ब्यक्ति के लिए यह अनुभव-गम्य है। जिस प्रकार हम स्व-संवेदन से सुख दुःख को जानते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी जान सकते हैं। स्व-संवेदन में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। इसलिए आत्मा का निषेध करने में कोई भी शक्ति अथवा युक्ति समर्थ नहीं हो सकती। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मुझे भूख लगी है, मैं प्यासा हूँ,'—आदि भाव आत्मा के अतिरिक्त किसी भूत-जड़ में उत्पन्न नहीं हो सकते। इस प्रकार के ज्ञान से अपने शरीर के भीतर रही हुई आत्मा की सिद्धि होती है। जितने मनुष्य दिखाई देते हैं, उन सभी में बुद्धिपूर्वक कार्य में प्रवृत्ति होती है। इसलिए उनमें भी आत्मा है—ऐसा सिद्ध होता है। जो प्राणी मरते हैं, वे ही पुनः उत्पन्न होते हैं, इसलिए आत्मा का परलोक भी है। जिस प्रकार बाल्यावस्था से तरुण अवस्था और तरुण अवस्था से वृद्धावस्था प्राप्त होती है। इन अवस्थाओं के परिवर्तन में भी आत्मा तो वही रहती है, उसी प्रकार शरीरान्तर से पुनर्जन्म होता है।

तत्काल का जन्मा हुआ बालक, माता के स्तन पर मुँह दे कर स्तन पान करता है (मुँह चला कर दूध पीने की क्रिया करता है) यह क्रिया उसने पूर्वजन्म के सिवाय कहाँ सीखी ?”

“संसार में कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। कारण के प्रतिकूल कार्य नहीं होता। फिर अचेतन भूतों में चेतन आत्मा कैसे उत्पन्न हो सकता है ?”

“मित्र संभिन्नमति ! मैं तुमसे ही पूछता हूँ कि चेतना प्रत्येक भूत से उत्पन्न होती है, या सभी भूतों के संयोग से उत्पन्न होती है ? यदि प्रत्येक भूत से उत्पन्न होती हो, तो चेतना भी भूतों के जितनी ही होनी चाहिए। यदि सभी भूतों के समिलन से चेतना उत्पन्न होती हो, तो परस्पर भिन्न स्वभाव वाले भूतों से एक स्वभाव वाली चेतना कैसे उत्पन्न हो सकती है ?”

“रूप, गन्ध, रस और स्पर्श गुण पृथ्वी में हैं। रूप, रस और स्पर्श गुण पानी में हैं। तेज, रूप और स्पर्श गुण वाला है और एक स्पर्श गुण वाला वायु है। इस प्रकार इन भूतों में स्वभाव की भिन्नता है। ऐसे भिन्न स्वभाव वाले भूतों से अभिन्न स्वभावी चेतना कैसे उत्पन्न हो सकती है ?”

“यदि कहा जाय कि ‘जिस प्रकार जल से, भिन्न स्वभाव के मोती की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार भूत से चेतना की उत्पत्ति है,’ तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मोती में भी जल होता है और जल तथा मोती भूतमय ही है। इनमें विसदृशता नहीं है।”

“गुड़ जल और अन्य वस्तुओं से बनी हुई मदिरा में मादकता उत्पन्न होने का तुम्हारा दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मद-शक्ति स्वयं अचेतन है। इसलिए चेतन के लिए अचेतन का उदाहरण घटित नहीं हो सकता।

“एक पाषाण, पूजा जाता है और दूसरे पर मल-मूत्र किया जाता है—ऐसी युक्ति भी आपकी व्यर्थ है। क्योंकि पाषाण अचेतन है, उसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। अतएव देह से भिन्न ऐसी आत्मा है और वह परलोक में जाती है और धर्म-अधर्म भी है और धर्म-अधर्म के परिणाम स्वरूप परलोक भी है—ऐसा सिद्ध होता है।”

“स्वामिन् ! जिस प्रकार अग्नि के ताप से मक्खन पिघल जाता है, उसी प्रकार स्त्री के आलिंगन से मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। अनर्गल एवं अत्यन्त रसयुक्त आहार के उपभोग से मनुष्य, पशु के समान उन्मत्त हो जाता है। चन्दन, अगर, कस्तुरी और घनसार (तथा इत्रादि) आदि सुगन्धी पदार्थ से कामदेव, मनुष्य पर आक्रमण करता है। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श, ये इन्द्रियों के विषय, आत्मा को विकारी बना कर

अधोगति में ले जाते हैं। इसलिए इनकी आसक्ति हितकारक नहीं होती। इसलिए हे नरेन्द्र ! पाप के मित्र, धर्म के शत्रु और नरक की ओर ले जाने वाले ऐसे विषयों से आप विमुख रहें। इन्हें त्याग दें। इसी में आपका हित रहा हुआ है।”

“नराधिपति ! हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि संसार में कोई मनुष्य सेव्य है, तो कोई सेवक है, एक दाता है, तो दूसरा याचक है, एक जीव, वाहन बनता है, तो दूसरा जीव उस पर सवार होता है, एक भयभीत हो कर अभयदान माँगता है, तो दूसरा अभयदान देता है और एक सुखी है, तो दूसरा दुखी है। इस प्रकार धर्म-अधर्म के फल प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इसलिए आप अधर्म को त्याग कर धर्म का आचरण करें। इसीमें आपका कल्याण है।”

स्वयंबुद्ध के युक्ति-संगत वचन सुन कर संभिन्नमति चुप रह गया, तब ‘शतमति’ नाम के तीसरे क्षणिकवादी मन्त्री ने कहा--“मित्र ! प्रतिक्षण नाश होने वाली वस्तु का ज्ञान करने वाली शक्ति को ही ‘आत्मा’ कहते हैं। इसके सिवाय आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वस्तु में स्थिरत्व नहीं होता। जीवों में तो स्थिरत्व बुद्धि है, वह तो वासना है। इसलिए पूर्व और पश्चात् क्षणों का वासना रूप एकत्व ही वास्तविक है। क्षणों का एकत्व सत्य नहीं है।”

स्वयंबुद्ध--“मित्र ! कोई भी वस्तु अन्वय--परम्परा रहित नहीं होती। वस्तु में स्थिरत्व--ध्रुवत्व भी होता है। जिस प्रकार जल और घास आदि पूर्व कारण का पश्चात् कार्य, गाय से दूध प्राप्ति रूप होता है, उसी प्रकार ध्रुवत्व भी है। कोई भी वस्तु आकाश-कुसुम के समान परम्परा रहित नहीं है। अतएव क्षणभंगुर की मान्यता व्यर्थ है। यदि क्षणभंगुर--प्रतिक्षण विनष्ट होने, की बात ही सत्य हो, तो संतति की परम्परा कैसे मानी जा सकती है ? यदि संतति-परम्परा एवं नित्यता मानी जाती है, तो समस्त पदार्थों में क्षणभंगुरत्व किस प्रकार माना जा सकेगा ? सभी पदार्थों को एकान्त अनित्य एवं प्रतिक्षण नाश होने वाले माने जायँ, तो किसी के यहाँ रखी हुई धरोहर कालान्तर में फिर माँगना और पूर्व की बातों और घटनाओं की स्मृति रहना किस प्रकार होता है ?”

हाँ, यदि जन्म होने के बाद के क्षण में ही सभी की मृत्यु हो जाती हो, जन्म के बाद दूसरे क्षण में वह पुत्र, प्रथम के माता-पिता का पुत्र न कहाता हो और वे माता-पिता नहीं माने जाते हों, तथा विवाह के पश्चात् बाद के क्षण में प्रथम क्षण के नाश के साथ ही पति-पत्नी का सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता हो--उनमें स्थायित्व नहीं रहता हो, तब तो प्रतिक्षण विनष्ट होने की मान्यता सत्य हो सकती है। किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है,

अतएव असत्य है ।

सभी वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होने वाली मानने पर पाप का फल भोगने की मान्यता भी मिथ्या हो जाती है । चोरी करने वाला चोर या हत्यारा, वह क्षण बीत जाने पर अन्य क्षणों में दण्ड का भागी नहीं रह सकेगा और जो दण्ड भोग रहा है, वह कोई दूसरा प्राणी ही माना जायगा । इस प्रकार कृतनाश (किये हुए कर्म का फल नष्ट होना) और अकृता-गम (नहीं किये का फल पाना) ये दो महान् दोष आ जावेंगे । अतएव एकान्त क्षणभंगुरत्व की मान्यता मिथ्या है और द्रव्यापेक्षा ध्रुवत्व मानना सत्य है ।

क्षणिकवादी शतमति के चुप रह जाने पर 'महामति' नाम का चौथा मन्त्री बोला—

“स्वयंबुद्धजी ! आप-हम सब माया के चक्कर में पड़े हुए हैं । हम जो कुछ देखते हैं और आप जो कुछ कहते हैं, यह सब माया का ही प्रपञ्च है । न तो कोई वस्तु ध्रुव है, न क्षणभंगुर, सब माया ही माया है । माया के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है । हम जो कुछ जानते-देखते हैं, यह सब का सब स्वप्न एवं मृगतृष्णा के समान मिथ्या है । गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, धर्म-अधर्म, अपना-पराया, आदि बातें सब व्यवहार के लिए है । तत्त्व से तो ये सभी बातें मिथ्या है ।

जिस प्रकार एक गीदड़, मांस का टुकड़ा मुँह में दबा कर नदी के किनारे आता है । वहाँ मच्छी को देख कर ललचाता है और मांस को एक ओर रख कर मच्छी पकड़ने को झपटता है, किंतु मच्छी पानी में लुप्त हो जाती है और उधर मांस के लोथड़े को गिद्ध बक्षी उठा ले जाता है । वह अप्राप्त मच्छी की आशा में प्राप्त मांस को भी खो बैठता है । इसी प्रकार जो लोग, परलोक की आशा से इस लोक के प्राप्त सुखों को छोड़ते हैं, वे दोनों ओर से भ्रष्ट होते हैं और अपनी आत्मा को धोखा देते हैं ।

पाखंडी लोगों के मिथ्या उपदेश सुन कर और नरक से भयभीत हो कर मोहा-धीन प्राणी, व्रत और तप के द्वारा देह दमन करते हैं, वे अज्ञानी हैं ।”

महामति की मिथ्या वाणी सुन कर महामन्त्री स्वयंबुद्ध ने कहा—“यदि संसार में सभी वस्तु असत्य और माया (भ्रम) मात्र हो, तो जीव अपने कृत्यों का कर्त्ता भी नहीं हो सकता और भोक्ता भी नहीं हो सकता । यदि सब स्वप्न के समान ही हो, तो जिस प्रकार स्वप्न में प्राप्त धन, सम्पत्ति, रमणी और हाथी आदि मिथ्या होते हैं, वैसे प्राप्त साधन भी मिथ्या ही होना चाहिए ? फिर मिथ्या वस्तु का लोभ ही क्या और राज-सेवा आदि से धन आदि की प्राप्ति का प्रयत्न ही क्यों होता है ? यदि पदार्थों

का कार्यकारण भाव सत्य नहीं है, तो दुष्ट द्वारा आक्रमण का भय भी नहीं होना चाहिए और "मैं" "तुम" "वे" आदि वाच्य-वाचक भी नहीं होना चाहिए और व्यापार-व्यवसाय और सेवा आदि व्यवहार का फल भी नहीं मिलना चाहिए ? जब समस्त व्यवहार मिथ्या है और सब माया ही माया है, तो माया के पक्षकार को तो व्यवहारों से मुक्त ही रहना चाहिए ?"

"महाराज ! यह सब वितण्डावाद है और विषयाभिलाषा के पोषण की मिथ्या युक्तियों हैं । आपको इस पर स्वयं सोचना चाहिए और विवेक के द्वारा विषयों का त्याग कर के धर्म का आश्रय लेना और भविष्य सुधारना चाहिए ।"

मन्त्रियों के भिन्न-भिन्न मतों को जान कर अपने निर्णय के स्वर में महाराज महा-बल ने कहा; --

"महाबुद्धि स्वयंबुद्धजी ! आपने बहुत ही सुन्दर और हितकारक उपदेश दिया । आपका उपदेश यथार्थ है । मैं धर्म-द्वेषी नहीं हूँ । परन्तु धर्म का पालन भी यथावसर ही होना चाहिए । वर्तमान में मित्र के समान प्राप्त यौवन की उपेक्षा करना उचित नहीं है । आपका उपदेश यथार्थ होते हुए भी असमय हुआ है । जब वीणा का मधुर स्वर चल रहा हो, तब उपदेश की धारा व्यर्थ ही नहीं, अशोभनीय लगती हैं । धर्म का परलोक में मिलने वाला फल निःसन्देह नहीं है । इसलिए आपका इस लोक में प्राप्त सुखभोग का निषेध करना उचित नहीं लगता ।"

महाराज के वचन सुन कर स्वयंबुद्ध विनयपूर्वक कहने लगा; --

"महाराज ! धर्म के फल में कभी भी सन्देह नहीं करना चाहिए । आपको याद ही होगा कि जब आप बालक थे, तब एक दिन अपन नन्दन वन में गये थे । वहाँ हमने एक सुन्दर और कान्तिवान् देव को देखा था । उस देव ने आपको कहा था कि--

"वत्स ! मैं अतिबल नाम का तेरा पितामह हूँ । मैं संसार और विषय-सुख से निर्वेद पा कर निर्ग्रन्थ हो गया था और आराधक हो कर लांतक स्वर्ग का अधिपति देव हुआ हूँ । इसलिए तुम भी विषयों से विरक्त हो कर धर्म का आश्रय लो ।" इस प्रकार कह कर वह देव अन्तर्धान हो गया था । इसलिए हे महाराज ! आप अपने पितामह की उस वाणी का स्मरण कर के परलोक में विश्वास करें । उस प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे आपके सामने अन्य प्रमाण उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

"मन्त्रीवर ! आपने मुझे पितामह के वचन का स्मरण करा कर बहुत अच्छा

किया । मैं उस प्रसंग को भूल ही गया था । अब मैं परलोक को मान्य करता हूँ । अब मुझे आपके धर्म-वचनों में कुछ भी शंका नहीं रही ।”

राजा के ऐसे आस्तिकता पूर्ण वचन सुन कर स्वयंबुद्ध मन्त्री हर्षित हुआ और कहने लगा ; —

“महाराज ! आपके वंश में पहले कुरुचन्द्र नाम का एक राजा हो गया है । उसके कुरुगती नाम की रानी और हरिश्चन्द्र नाम का पुत्र था । कुरुचन्द्र राजा महापापी, महा-आरंभी, महापरिग्रही, अनाय, निर्दय, दुराचारी और भयंकर था । उसने बहुत वर्षों तक राज भोगा, किंतु मरते समय धातु-विकृति के रोग से वह नरक के समान दुःख भोगने लगा । उसे रुई के नरम गदेले आदि काँटों की शय्या में भी अति तीक्ष्ण लगने लगे । सरस भोजन बिल्कुल निरस, कड़ुआ, सुगन्धित पदार्थ दुर्गन्धरूप और स्त्री-पुत्र आदि स्वजन भी शत्रु के समान लगने लगे । उसकी प्रकृति ही विपरीत और महा दुःखदायक हो गई थी । अन्त में वह दाहज्वर से पीड़ित हो कर रौद्र-ध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर दुर्गति में गया ।”

कुरुचन्द्र की मृत्यु के बाद हरिश्चन्द्र राजा हुआ । उसने अपने पिता के पाप का फल प्रत्यक्ष देख लिया था । इसलिए वह पाप से विमुख हो कर धर्म के अभिमुख हुआ । उसने अपने सुबुद्धि नाम के श्रावक मित्र से कहा—“मित्र ! तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम धर्मोपदेश सुन कर मेरे पास आओ और रोज मुझे सुनाया करो ।” इस प्रकार पाप से भयभीत हुआ राजा धर्म के प्रति प्रीतिवाम् हो कर धर्म सुनने लगा और श्रद्धा रखने लगा ।

कालान्तर में नगर के बाहर उद्यान में, शीलन्धर नाम के महा मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । देवगण केवलज्ञानी महात्मा के पास जाने लगे । सुबुद्धि श्रावक, अपने मित्र महाराज हरिश्चन्द्र को भी केवलज्ञानी भगवान् के पास ले गया । धर्मोपदेश सुन कर राजा संतुष्ट हुआ । उसने केवली भगवान् से पूछा ; —

“भगवन् ! मेरा पिता मर कर किस गति में गया ?”

“राजन् ! सातवीं नरक में गया ।”

राजा विरक्त हुआ और पुत्र को राज्यभार सौंप कर, सुबुद्धि श्रावक के साथ भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ और चारित्र्य पाल कर सिद्ध-गति को प्राप्त हुआ ।

स्वयंबुद्ध प्रधान आगे कहने लगा ; —

“महाराज ! आपके वंश में एक ‘दंडक’ नाम का राजा हुआ था । उसका शासन प्रचण्ड था । शत्रुओं के लिए वह यमराज के समान था । उसके ‘मणिमाली’ नाम का पुत्र था । वह सूर्य के समान तेजस्वी था । दंडक राजा, स्त्री, पुत्र, स्वर्ण, रत्न आदि में

आसक्त हो कर आर्त्तध्यान युक्त मृत्यु पाया और भयंकर अजगर हुआ। वह अपने राज्य-भण्डार में रहने लगा। जो भी व्यक्ति भण्डार में पहुँचता, उसे वह क्रुद्ध अजगर निगल जाता। एक बार 'मणिमाली' भण्डार में गया। उसे देख कर अजगर को स्नेह उत्पन्न हुआ। विचार में मग्न होते पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और अपना पुत्र जान कर शान्तिपूर्वक उसे निरखने लगा। मणिमाली ने भी समझा कि यह मेरा पूर्वजन्म का संबंधी है। उसने ज्ञानी महात्मा से पूछ कर जान लिया कि वह अजगर उसके पिता का जीव ही है। मणिमाली ने अजगर को धर्म मुनाया। अजगर संवेग भाव में रहने लगा और शुभध्यान से आयुष्य पूर्ण कर के स्वर्ग में गया। उस देव ने पुत्र-प्रेम से प्रेरित हो कर एक दिव्य मुक्ताहार मणिमाली को अर्पण किया। वही हार आपके वक्षस्थल पर अभी भी शोभा पा रहा है। आप महाराज हरिश्चन्द्र के वंशज हैं और मैं सुवृद्ध श्रावक का वंशज हूँ। मेरे पूर्वज के समान मैं भी आपको धर्म की प्रेरणा करता हूँ। मैंने आज नन्दन वन में दो चारण मुनियों को देखा और आपके आयुष्य के विषय में पूछा। उन्होंने आपका आयुष्य मात्र एक महीने का ही बताया है। इसलिए आपको अभी ही धर्म आराधना करनी चाहिए। आपके लिए यह अवसर चूकने का नहीं है।

स्वयंबुद्ध के द्वारा अपना आयुष्य एक मास का जान कर राजा चौंक उठा। उसने स्वयंबुद्ध का उपकार मानते हुए कहा—“हे मित्र ! हे अद्वितीय भ्रात ! तुम मेरे परम उपकारी हो और सदैव मेरे हित की बात ही सोचा करते हो। तुमने मोह नींद में बे-भान बने हुए और विषयों की सेना से दबे हुए मुझ पामर को जगाया, सावधान किया। अब तुम्हीं बताओ कि इस अल्पकाल में मैं क्या करूँ, किस प्रकार धर्म की आराधना करूँ ?”

“महाराज ! घबराइये नहीं, स्वस्थ रह कर श्रमण-धर्म का पालन कीजिए। एक दिन का धर्म-पालन भी मुक्ति दे सकता है, तो स्वर्ग प्राप्ति कितनी दूर है ?

प्रव्रज्या ग्रहण और स्वर्ग गमन

महाबल नरेश ने पुत्र को राज्यभार दिया और दीन-अनाथजनों को भरपूर अनु-कम्पादान दिया—इतना कि उन्हें जीवन में कभी माँगने की आवश्यकता ही नहीं पड़े। स्वजनों और परिजनों से क्षमा याच कर मुनीन्द्र के पास सर्वसावद्य योग का त्याग कर के अनशन कर लिया और समाधिभाव में स्थिर रह कर २२ दिन के चतुर्विध आहार त्यागरूपी अनशन का पालन कर और नमस्कार मन्त्र के स्मरणपूर्वक देह त्याग कर दूसरे स्वर्ग के 'श्रीप्रभ'

नाम के विमान में उत्पन्न हुए। उनकी दिव्य आकृति, सप्तधातुओं (हाड, मांस, रक्तादि) से रहित शरीर, समचतुरस्र संस्थान, शिरीष पुष्प जैसी सुकोमलता, दिव्य कांति और वज्र के समान काया थी। वैक्रिय-लब्धि होने के कारण वे इच्छानुसार शरीर बना सकते थे। वे अवधिज्ञान से युक्त थे और अणिमादि आठ सिद्धि के स्वामी थे। उनका देव नाम 'ललितांग' था।

ज्योंही ललितांग देव, देवशय्या में उत्पन्न हुआ त्योंही जयजयकार होने लगा। देव दुंदुभि और वादिन्त्र बजने लगे। ललितांग देव चकित हो गया। वह सोचने लगा—“यह स्वप्न तो नहीं है? मायाजाल तो नहीं है? यहाँ के लोग मेरे प्रति इतने विनीत और स्वामी-भाव से मेरे प्रति क्यों बरत रहे हैं? इस लक्ष्मी के धाम और आनन्द के मन्दिर रूप स्थान में मैं कैसे आ गया?” इस प्रकार वह सोच ही रहा था कि प्रतिहार ने हाथ जोड़ कर नम्रतापूर्वक निवेदन किया—

“हे स्वामी! आपको स्वामी रूप में प्राप्त कर के हम धन्य हुए हैं। अनाथ से सनाथ हुए हैं। आप हम पर अपनी कृपा दृष्टि बरमावें। स्वामिन्! यह ईशान देवलोक है। आपने अपने पुण्ययोग से इस श्रीप्रभ विमान का स्वामित्व प्राप्त किया है। आपकी सभा को शोभायमान करने वाले ये आपके सामानिक देव हैं। ये तेतीस देव आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते हैं। ये हास्य-विलास एवं आनन्द की गोष्ठी को रसीली बनाने वाले देव हैं। ये निरन्तर शस्त्र और कवचधारी आपके आत्मरक्षक देव हैं और ये लोकपाल आपके विमान की रक्षा करने वाले हैं। सेनापति भी हैं और प्रजारूप देव भी हैं। ये सभी आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करेंगे। आपकी दास के रूप में सेवा करने वाले ये आभियोगिक देव हैं और सभी प्रकार की मलिनता दूर करने वाले ये किल्बिषी देव हैं। सुन्दर रमणियों से रमणीय और मन को प्रसन्न करने वाले ये आपके रत्नजड़ित प्रासाद हैं। स्वर्ण कमल की खान रूप ये वाणिकाएँ हैं। ये वारांगनाएँ, चामर, आरिसा और पंखा हाथ में ले कर आपकी सेवा में तत्पर रहती हैं। यह गन्धर्व वर्ग, संगीत करने के लिए उपस्थित हैं।

इस प्रकार प्रतिहारी का निवेदन सुनने के बाद ललितांग देव ने अपने अवधिज्ञान से पूर्वभाव का स्मरण किया। उसे धर्म के प्रभाव का साक्षात्कार हुआ। इसके बाद उसका विधिवत् अभिषेक किया गया।

देव के वियोग में शोकमग्न

इसके बाद वह क्रीडाभवन में गया, जहाँ उसे 'स्वयंप्रभा' नाम की देवांगना दिखाई

दी, जो अपनी प्रभा से दिशाओं को प्रकाशित एवं सुशोभित कर रही थी। वह अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक थी। ललितांग देव को अपनी ओर आता हुआ देख कर वह हर्ष एवं स्नेहपूर्वक उठी और उसका सत्कार किया। वे दोनों आपस में क्रीड़ा करने लगे। कालान्तर में स्वयंप्रभा देवी का अवसान हो गया। उसके वियोग से ललितांग देव को भारी आघात लगा। वह तत्काल मूर्च्छित हो गया, फिर सावचेत होने पर विलाप करने लगा और प्रिया का रटन करते हुए इधर-उधर भटकने लगा।

महाबल राजा (ललितांग का पूर्वभव) के निष्क्रमण और स्वर्ग-गमन के बाद स्वयंबुद्ध मन्त्री को भी वैराग्य हो गया। वह श्री सिद्धाचार्य के पास दीक्षित हो गया। वर्षों तक संयम की आराधना कर के ईशानेन्द्र का 'दृढधर्मा' नाम का सामानिक देव हुआ। वह अपने पूर्वभव के सम्बन्धी ललितांग देव की दुर्दशा देख कर तत्काल उसके पास आया और उसे समझाने लगा। उसने कहा—'बन्धु ! तू स्त्री के पीछे इतना पागल क्यों हो रहा है ? अरे, अपने को सम्हाल। धीरे पुरुष तो प्राण जाने का समय आने पर भी विचलित नहीं होते, तब तू तो उन्मादी ही हो गया है।' दृढधर्मा के उपदेश का ललितांग देव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह कहने लगा—“मित्र ! प्राणों का त्याग तो सहन हो सकता है, किन्तु प्राणप्रिया का विरह सहन नहीं हो सकता। तुझे मालूम नहीं कि संसार में—“सारं सारंगलोचना”—सार है तो एक मृगनयनी ही। इसके अतिरिक्त सभी निःसार है।” ललितांग का मोहोदय तीव्रतर देख कर मित्र देव दुःखी हुआ। उसने अवधिज्ञान के उपयोग से जान कर कहा—“मित्र ! घबराओ नहीं, तुम्हारी होने वाली प्रिया को मैंने देख लिया है। मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो—

निर्नामिका का वृत्तांत

पृथ्वी के ऊपर धातकीखंड के पूर्व-विदेह में नन्दी ग्राम है। वहाँ 'नागिल' नामक गृहस्थ रहता है। वह दरिद्र है। वह दिनभर भटकता रहता है, फिर भी उसकी ओर उसके कुटुम्ब की उदरपूर्ति नहीं हो पाती और भूखा-प्यासा ही सो जाता है। जैसा वह दरिद्र है, वैसी ही उसकी स्त्री 'नागम्भी' भी दुर्भागिनी है। उसके छः पुत्रियाँ हैं। उनकी भूख भी दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक है। वे सब लड़कियाँ कुरूपा और घृणापात्र हैं। इसके बाद नागम्भी फिर गर्भवती हुई। नागिल ने पत्नी को पुनः गर्भवती जान कर विचार

किया—“मैं कितना दुर्भागि हूँ कि मनुष्य होते हुए भी नारकीय जीवन बिता रहा हूँ। अभी पेट भरने का ठिकाना ही नहीं लग रहा है और यह फिर गर्भवती हो गई। शत्रु के समान पुत्रियों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। इन दरिद्रता की देवियों ने मुझे बरबाद कर दिया। मेरी शान्ति लूट ली। मैं भूख की ज्वाला से सूख कर जर्जर हो गया। अब भी यदि कन्या का ही जन्म हुआ, तो मैं इन सभी को छोड़ कर चला जाऊँगा।” इस प्रकार चिता ही चिता में वह घुल रहा था फिर उसके पुत्री का ही जन्म हुआ। जब उसने यह सुना तो घर से ही भाग निकला। नागश्री को प्रसव के दुःख के साथ पति के पलायन का दुःख भी सहना पड़ा। वह सद्यजन्मा पुत्री पर अत्यंत रोष वाली हुई। उसने उसका नाम भी नहीं दिया, साल-संभाल भी नहीं की। फिर भी वह सातवीं लड़की बड़ी होती गई। लोग उसे ‘निर्नामिका’ के नाम से पुकारने लगे। बड़ी होने पर वह दूसरों के यहाँ काम कर के अपना पेट पालती रही। एक बार किसी त्योंहार के दिन किसी बालक के हाथ में लड्डू देख कर उसने अपनी माता से लड्डू माँगा। माता ने क्रोधित हो कर कहा—“तेरा बाप यहाँ घर गया है, जो मैं तुझे लड्डू खिला दूँ। यदि तुझे लड्डू ही खाना है, तो रस्सी ले कर उस अम्बरनिलक पर्वत पर जा और लकड़ी का भार बाँध ला। उसे बेच कर मैं तुझे लड्डू खिला दूँगी।” माता की ऐसी आघातकारक बात सुन कर निर्नामिका रोती हुई पर्वत पर गई। उस समय पर्वत पर युगन्धर नाम के महा मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था और निकट रहे हुए देव, केवल-महोत्सव कर रहे थे। निकट के ग्रामों के लोग भी केवलज्ञानी भगवान् के दर्शन करने आ-जा रहे थे। निर्नामिका उन्हें देख कर विस्मित हुई और उत्सव का कारण जान कर वह भी महा मुनि के दर्शन करने चली गई। उसने भी भक्तिपूर्वक वन्दना की। केवलज्ञानी भगवान् ने वैराग्यवर्धक देशना दी। निर्नामिका ने पूछा—“भगवन् ! आपने संसार को दुःख का घर कहा, किन्तु प्रभो ! सब से अधिक दुखी तो मैं ही हूँ। मुझ से बढ़ कर और कोई दुखी नहीं होगा।” सर्वज्ञ भगवान् ने कहा—“भद्रे ! तेरा दुःख तो साधारण-सा है, इससे तो अनन्त गुण दुःख नरक में है। वहाँ परमाधामी देवों द्वारा नारक जीव, तिल के समान कोल्हू में पीले जाते हैं, वसूले से छिले जाते हैं, करवत से चीरे जाते हैं, कुल्हाड़े से काटे जाते हैं, घन से लोहे के समान कूटे जाते हैं, शिला पर पछाड़े जाते हैं, तीक्ष्णतम शूलों की शय्या पर सुलाये जाते हैं। उन्हें उबलता हुआ सीसा पिलाया जाता है। उन्हें अनेक प्रकार के दुःख, परमाधामी देवों द्वारा दिये जाते हैं। वे मरना चाह कर भी नहीं मरते। उनका शरीर टुकड़े-टुकड़ हो कर भी पुनः दुःख भोगने के लिए पारे के समान जुड़ जाता है और फिर भयानक दुःख चालू हो जाता है।

वहाँ की क्षेत्रजन्म वेदना भी महा भयंकर होती है ।

नारक जीवों के दुःख तो तुम्हारे लिए परोक्ष हैं, किन्तु जलचर, थलचर और नभ-चर तिर्य्यच जीव भी अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं । जलचरों में से कुछ जीवों का भक्षण तो जलचर ही कर जाते हैं, कुछ का बकादि पक्षी और कुछ को मनुष्य मार कर, भुन कर और पका कर खाते हैं । उनकी चमड़ी उतारते हैं, अंग-प्रत्यंग काटते हैं । स्थलचर हिरन आदि निर्बल जीवों का सबल सिंहादि खा जाते हैं, शिकारी लोग निशाना बना कर मार डालते हैं । बैल आदि पर शक्ति से अधिक भार लादते हैं । उन्हें भूख प्यास, शीत, उष्ण आदि सहन करना पड़ता है । चाबुक, आर और लाठी आदि का प्रहार सहन करना पड़ता है । नभचर—तीतर, कपोत, चिड़िया आदि को बाज, गिद्ध आदि पक्षी पकड़ कर खा जाते हैं और शिकारी भी मार गिराते हैं । इस प्रकार जीवों को अपने कर्मानुसार अनेक प्रकार के भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं ।

मनुष्यों में भी कई जन्मान्ध हैं, कई बहरे, गूंगे, पंगु और कोढ़ी हैं । कई चोरी, हत्यादि अपराध के दण्ड में शूली, फाँसी आदि का दण्ड भोगते हैं । कई दास बना कर बेचे जाते हैं । उनसे पशु की तरह काम लिया जाता है और भूख-प्यास आदि के कष्ट सहना पड़ते हैं । अमह्य व्याधियों से पीड़ित मनुष्य, मृत्यु की कामना करते हैं । देव भी पारस्परिक लड़ाई आदि से दुःख भोगते हैं । स्वामी की सेवा में उन्हें क्लेश होता है । इस प्रकार यह संसार, स्वभाव से ही दारुण दुःख का घर बना हुआ है । इसके दुःख का पार नहीं है । इस दुःख के प्रतिकार का एकमात्र उपाय श्री जिनोपदिष्ट धर्म है । हिंसा, असत्य, अदत्त-ग्रहण, अब्रह्म और परिग्रह के सेवन करने से जीव, अपने लिए दुःखदायक कर्मों का संचय करता है । इनका सब अथवा देश से त्याग ही सुख की सामग्री है ।”

सर्वज्ञ भगवान् का उपदेश सुन कर निर्नामिका प्रतिबोध पाई । उसने सम्यक्त्व सहित पाँच अंगुष्ठ की स्वीकार किया और घर आ कर वह रुचिपूर्वक धर्म का पालन करने लगी । वह अनेक प्रकार के तप भी करने लगी । वह यौवन वय पा कर भी कुमारिका ही रही । उसके क्रुद्ध और दुर्भाग्य के कारण उसके साथ विवाह करने को कोई भी तय्यार नहीं हुआ । इससे संसार से विरक्त हो कर निर्नामिका ने युगन्धर मुनिराज के पास अनशन ग्रहण किया और अभी धर्मध्यान में रही हुई है । इसलिए हे ललितांग ! तुम अभी उसके पास जाओ और उसे अपना दर्शन दो । तुम्हारे रूप को देख कर वह तुममें आसक्त होगी और मृत्यु पा कर तुम्हारी प्रिया के रूप में उत्पन्न होगी ।”

ललितांग देव, मित्रदेव की सूचना के अनुसार निर्नामिका के समीप आया। निर्नामिका देव के रूप पर मोहित हो गई और उती के विचारों में देह छोड़ कर 'स्वयंप्रभा' नाम की ललितांग देव की प्रिया के रूप में उत्पन्न हुई। ललितांग भोग में पूर्ण रूप से लुब्ध हो गया।

ललितांग देव का च्यवन

इस प्रकार भोग भोगते हुए ललितांग को अपने च्यवन (मरण) समय के चिन्ह दिखाई देने लगे। रत्नाभरण निस्तेज होने लगे, मुकुट की मालाएँ म्लान होने लगी और वस्त्र मलीन होने लगे। उसे निद्रा आने लगी। वह दीन होने लगा, अंगोपांग ढीले होने लगे। उसकी दृष्टि मन्द होने लगी। उसके कल्पवृक्ष कांपने लगे। अंगोपांग में कम्पन होने लगा। उसका मन रम्य स्थानों में भी नहीं लगता। उसकी यह दशा देख कर स्वयंप्रभा बोली—

“नाथ ! आप मुझ पर अप्रसन्न क्यों हैं ? मुझ से ऐसा कौन-सा अपराध हुआ है ?”

ललितांग ने कहा—“प्रिये ! तेरा कोई अपराध नहीं है, किन्तु मेरा ही अपराध है। मैंने मनुष्य-भव में धर्म की आराधना बहुत कम की, इससे देवायु इतना ही पाया। अब मेरे च्यवन का समय निकट आ रहा है। उसी के ये लक्षण हैं।”

यह बात हो ही रही थी कि इशानेन्द्र का आदेश मिला—“इन्द्र जिनवन्दन को जाते हैं, इसलिए तुम भी चलो।” उसने सोचा—“यह अच्छा ही हुआ। ऐसे समय धर्म का सहारा हितकारी होता है। वह देवी को साथ ले कर जिनदर्शन को गया। वहाँ जिनेश्वर की वाणी श्रवण से उत्पन्न प्रमोद भाव में रमता हुआ लौट रहा था कि रास्ते में ही आयु पूर्ण हो गया और पूर्व-विदेह के पुष्कलावती विजय के 'लोहार्गल' नगर में सुवर्णजंघ राजा की लक्ष्मी नाम की रानी की कुक्षी से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'वज्रजंघ' रखा गया।

मनुष्य भव में पुनः मिलन

ललितांग के विरह से दुखित हुई स्वयंप्रभा भी धर्म-रुचि वाली हुई और वहाँ से च्यव कर उसी पुष्कलावती विजय की पुंडरीकिनी नगरी के वज्रसेन नाम के चक्रवर्ती राजा

की गुणवती रानी की पुत्री हुई। वह अतिशय सुन्दर थी। उसका नाम 'श्रीमती' हुआ। यौवन वय प्राप्त होने पर एक दिन वह महल की छत पर चढ़ कर नागरिक एवं प्राकृतिक शोभा देख रही थी। उधर मनोरम नामक उद्यान में एक मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था। उन केवली भगवान् के दर्शनार्थ देवता आ रहे थे। उन देवों को देख कर राजकुमारी श्रीमती की पूर्व-स्मृति जाग्रत हुई। वह सोचने लगी—“ऐसा देवरूप तो मैंने कहीं देखा है।” इस प्रकार सोचते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसने अपना पूर्वभव देखा और मूर्च्छित हो गई। शीतल चन्द्रनादिसे उपचार किया गया और वह सावधान हो गई। उसने सोचा—“मेरे पतिललितांग देव भी मनुष्य-भव प्राप्त कर चुके हैं। वे भी इस पृथ्वी पर ही कहीं होंगे। वे मेरे हृदयेश्वर हैं। मैं उन्हीं के साथ वचन व्यवहार करूँगी। वे जब तक मुझे नहीं मिलते, तब तक मैं किसी दूसरे के साथ नहीं बोलूँगी और मौन ही रहूँगी।” इस प्रकार निश्चय कर के वह मौन ही रहने लगी। जब उसने बोलना बन्द कर दिया, तो सखियों ने देव-दोष की कल्पना कर ली और मन्त्रादि उपचार होने लगा, किन्तु परिणाम शून्य ही रहा। उसे कोई काम होता, तो वह लिख कर अथवा संकेत से बता देती। यह देख कर उसकी 'पंडिता' नाम की धात्री ने एकान्त में कहा—“पुत्री! तू विश्वास रख, मैं तेरा हित ही करूँगी। तेरे मन में जो बात हो, वह मुझे बता दे। मैं उसका उपाय करूँगी, धात्री-माता की बात सुन कर राजकुमारी ने अपना पूर्वभव सुना कर मनोभाव बता दिया। धात्री ने एक पट पर कुमारी और ललितांग के पूर्वभव को चित्रांकित किया और चित्रपट ले कर रवाना हुई।

उस समय वज्रसेन चक्रवर्ती की वर्षगांठ आ गई थी। उसका बड़ा भारी उत्सव हो रहा था। उस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से अनेक राजा और राजकुमार आ रहे थे। पंडिता उस चित्रपट को ले कर राजमार्ग में खड़ी रही। लोग उस चित्रपट को देखते और चले जाते।

'दुर्दान्त' नाम का एक राजकुमार भी उस उत्सव में सम्मिलित होने आया था। उसने राजकुमारी के सौन्दर्य का वर्णन तथा चित्रपट प्रदर्शन का आशय सुना। उसके मन में कुमारी को प्राप्त करने की लालसा जगी। उसने कुछ जानकारी प्राप्त की और चित्रपट देखने को गया। देखते ही मूर्च्छित होने का ढोंग कर के गिर पड़ा और कुछ समय पश्चात् चेतना प्राप्त करने का डोल कर के उठा और कहने लगा कि “यह तो मेरे पूर्वभव से संबंधित चित्र है। मैं स्वयं ललितांग देव था और राजकुमारी मेरी स्वयंप्रभा देवी थी।” इस प्रकार उसने जाल बिछाया। पंडिता उस राजकुमार के ढंग देख कर

शंकित हुई। उसने राजकुमार से चित्र का पूरा परिचय बताने का कहा। दुर्दान्त ने कहा—“यह मेरु पर्वत है, यह पुंडरीकिनी नगरी है, यह ललितांग देव है।”

पंडिता—“इन मुनि का नाम क्या है?” दुर्दान्त—नाम तो मैं भूल गया।

पंडिता—“मन्त्रियों के मध्य बैठे हुए राजा का नाम क्या है?” दुर्दान्त—“मैं नाम नहीं जानता।”

पंडिता—“यह तपस्विनी कौन है?” दुर्दान्त—“इसे भी मैं नहीं जानता।”

पंडिता को विश्वास हो गया कि यह मायावी है। उसने कहा—

“कुमार! यदि तू स्वयं ललितांग कुमार है, तो नन्दी ग्राम में जा। वहां तेरी प्रिया है। वह लंगड़ी है। उसे जाति-स्मरण हुआ है। उसी का यह चित्रपट है और उसने अपने पूर्वभव के पति को खोजने के लिए दिया है। चल, मैं तुझे उसके पास ले चलूँ। वह बिचारी बहुत दुःखी है। मैं उसकी दयाजनक स्थिति देख कर ही परोपकार की भावना से यह पट ले कर आई। अब तू जल्दी चल।”

कुमार यह सुन कर विस्मित हुआ और नीचा मुँह कर के चलता बना।

कुछ समय बाद वहाँ लोहार्गलपुर से राजकुमार वज्रजंघ आया। वह चित्र देख कर मूर्च्छित हो गया। उपचार करने पर वह सावधान हुआ। उसने कहा—“यह चित्रपट तो मेरा पूर्वभव बता रहा है। इसमें मेरी प्रिया का भी उल्लेख है। यह देखो—ईशानकल्प रहा। यह श्रीप्रभः विमान। यह मैं ललितांग देव। यह मेरी प्रिया स्वयंप्रभा देवी। यह नन्दी ग्राम वाले महादरिद्री की पुत्री निर्नामिका। यह गंधारतिलक पर्वत। ये महामुनि युगंधरजी। यहाँ निर्नामिका अनशन कर रही है और इसके पास मैं इसे आकर्षित करने के लिए देवलोक से आ कर खड़ा हूँ। इसके बाद यह दृश्य मेरे जिनवन्दन का है और इसके बाद लौटते हुए मेरी मृत्यु हो गई। मेरा विश्वास है कि मेरी वियोगिनी प्रिया स्वयंप्रभा भी यहीं-कहीं होगी। उसी ने जातिस्मरण से पूर्वभव जान कर इस चित्रपट को तय्यार किया है।”

राजकुमार वज्रजंघ की बात पर पण्डिता को विश्वास हो गया। वह राजकुमारी के पास आई और सारी घटना सुनाई। श्रीमती के हर्ष का पार नहीं रहा। पण्डिता ने ये समाचार राजा को सुनाया और राजा ने वज्रजंघ कुमार के साथ श्रीमती के लग्न कर दिये। वे नव-दम्पति लोहार्गलपुर आये। सुवर्णजंघ राजा ने राज्य का भार युवराज वज्रजंघ को दे कर निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या धारण कर ली। उधर चक्रवर्ती महाराज वज्रसेन भी अपने पुत्र पुष्करपाल को राज्य दे कर दीक्षित हुए और तीर्थङ्कर पद पाये।

राज्य-लोभी पुत्र का दुष्कृत्य

वज्रजंघ और श्रीमती, भोगप्रधान जीवन व्यतीत करने लगे । उनके एक पुत्र हुआ । उधर पुष्करपाल महाराज के अधिनस्थ सामन्त लोग विद्रोही बन गये । उन्हें वशीभूत करने के लिए वज्रजंघ राजा को आमन्त्रण दिया । वह पत्नी-सहित सेना ले कर रवाना हुआ । रास्ते में एक सघन वन था । उसमें दृष्टिविष सर्प रहता था । इसलिए दूसरे मार्ग से हो कर सेना आगे बढ़ी और विद्रोही राजाओं को परास्त कर के पुनः वश में किये । पुष्करपाल नरेश ने वज्रजंघ राजा का (जो पुष्करपाल का बहमोई भी लगता था) बड़ा भारी सत्कार किया । वज्रजंघ, श्रीमती-सहित अपने नगर की ओर रवाना हुआ । उसे मालूम हुआ कि शरकट वन में श्री सागरसेन और मुनिसेन नाम के दो मुनिवरों को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ है । वहाँ देवों के आवागमन के प्रभाव से दृष्टिविष सर्प निर्विष हो गया है । अब इस सीधे मार्ग से हो कर जाने में कोई बाधा नहीं है । वज्रजंघ यह जान कर प्रसन्न हुआ कि केवलज्ञानी मुनिराज अभी इसी वन में हैं । वह उसी मार्ग से चला और मुनिवरों के दर्शन वन्दन और उपदेश श्रवण कर निर्वेद भाव को प्राप्त हुआ । उसने निश्चय किया कि राजधानी में पहुँच कर राज्य का भार, पुत्र को सौंप कर प्रव्रजित हो जाना और पिता के मार्ग पर चल कर मानव-भव सफल करना । वह लोहारगलपुर पहुँचा । उधर वज्रजंघ का युवक पुत्र, राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए बहुत ही अधीर हो रहा था । उसने लालच दे कर अमात्यों को वश में कर लिया था । इधर राजा और रानी के मन में प्रव्रजित होने की तीव्र भावना थी । वे दूसरे ही दिन पुत्र का राज्याभिषेक कर दीक्षित होना चाहते थे । रात को राजा-रानी ने शयन किया । उधर मन्त्री-मण्डल का षड्यन्त्र चला । उन्होंने उस आवास में विषैला धुआँ फैला दिया । वह धुआँ श्वास के साथ शरीर में प्रवेश कर गया और भावविरक्त दम्पति का प्राणान्त कर दिया । राजा-रानी उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलरूप से उत्पन्न हुए । वहाँ से मर कर वे सौधर्म स्वर्ग में देव हुए ।

जीवानन्द वैद्य और उसके साथी

दिव्यभोगों को भोग कर, आयुष्य पूर्ण होने पर वज्रजंघ का जीव, जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठत नगर में, सुविधि नाम के वैद्य के यहाँ “जीवानन्द” नाम के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । उसी समय के लगभग उस नगर में अन्य चार बच्चे उत्पन्न हुए । यथा —

१ ईशानचन्द्र नरेश की कनकावती रानी की कुक्षि से ‘महीधर’ नामक पुत्र,

२ सुनाशीर मन्त्री की लक्ष्मी नामक पत्नी से 'सुबुद्धि' पुत्र । ३ सागरदत्त सार्थवाह की अभयमती स्त्री से 'पूणभद्र' और ४ धनश्रेष्ठ की शीलमती के उदर से 'गुणाकर' पुत्र । इनके अतिरिक्त श्रीमती का जीव भी देवलोक से च्यव कर उसी नगर में ईश्वरदत्त सेठ का 'केशव' नाम का पुत्र हुआ ।

कुष्ठ रोगी महात्मा का उपचार

ये छहों बालक सुखपूर्वक बढ़ते हुए किशोरवय को प्राप्त हुए और परस्पर मित्र रूप से खेल-कूद में साथ रहने लगे । इनकी मैत्री एक शरीर की पाँच इन्द्रियाँ और मन के समान एकता युक्त थी । उनमें से जीवानन्द वैद्य, आयुर्वेद में निष्णात हुआ । वह अन्य सभी वैद्यों में विशेषज्ञ एवं सम्माननीय था । एक बार वह अपने अन्य मित्रों के साथ घर बैठा हुआ था, उस समय एक गुणाकर नाम के राजर्षि तपस्वी मुनिराज भिक्षार्थ पधारे । उनका देह कृश हो गया । वे कुष्ठ रोग से पीड़ित थे । उनके तन में कीड़ पड़ गये थे । उनका सारा शरीर कृमिकुष्ठ व्याधि से व्याप्त हो गया था । असह्य पीड़ा होते हुए भी वे औषधोपचार का विचार ही नहीं करते थे और शान्त भाव से सहन करते हुए संयम का पालन कर रहे थे ।

तपस्वी मुनिराज बेले के पारणे, आहार के लिए पधारे थे । उन्हें देख कर राज-कुमार महीधर ने व्यंगपूर्वक कहा—“मित्र जीवानन्द ! तुम कुशल वैद्य हो । तुम्हारा औषध-विज्ञान भी अद्वितीय है । किंतु तुम्हारे हृदय में दया नहीं है । तुम वेश्या के समान पैसे के बिना आँख उठा कर भी रोगी की ओर नहीं देखते । तुम्हें धर्म को नहीं भूलना चाहिए और अपनी योग्यता का उपयोग, परोपकार में भी करना चाहिए और ऐसे त्यागी तपस्वी संत की भक्तिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये ।”

जीवानन्द ने कहा—“मित्र ! आपने मुझे कर्तव्य का भान करा कर मेरा उपकार किया । मैं इन महा मुनि की चिकित्सा करना चाहता हूँ । किंतु अभी मेरे पास इनकी औषधी की सामग्री नहीं है । औषधी में काम आने वाला 'लक्षपाक तेल' तो मेरे पास है, किन्तु 'गोशीर्षचन्दन' और 'रत्नकम्बल' नहीं है । यदि आप ये दोनों वस्तुएँ ला दें, तो इनका उपचार हो सकता है ।”

जीवानन्द की बात सुन कर सभी मित्रों ने कहा--“हम दोनों वस्तुएँ लावेंगे।” वे बाजार में गये। एक वृद्ध सेठ के निकट जा कर उन्होंने दोनों वस्तुएँ माँगी। प्रत्येक वस्तु का मूल्य “लाख सोनैया” था। वृद्ध ने पूछा--“आप इन वस्तुओं का क्या उपयोग करेंगे?” उन्होंने कहा--“एक तपस्वी मुनिराज की औषधी में आवश्यकता है। सेठ ने कहा--“महानुभाव! कृपा कर ये दोनों चीजें आप ले लें। मूल्य की आवश्यकता नहीं है। आप धन्य है कि युवावस्था में भी धर्म का सेवन करते हैं। आपके प्रताप से मुझे धर्म का लाभ मिला। इसलिए मैं आपका आभारी हूँ।” सेठ ने दोनों वस्तुएँ दे दीं और परिणामों में वृद्धि होने पर दीक्षा ले कर मुक्ति प्राप्त की।

वह मित्र-मण्डली औषधी और सभी सामग्री ले कर मुनि के पास वन में गयी। मुनिराज वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर रहे थे। मित्र-मण्डली ने तपस्वीराज को वन्दन किया और निवेदन किया कि--“हम आपके ध्यान में विघ्न कर के चिकित्सा करेंगे, अतएव क्षमा करें।” वे तत्काल की मरी हुई गाय का शव लाये और उसे एक ओर रख दिया। फिर उन्होंने लक्षपाक तेल से मुनिवर के शरीर के प्रत्येक अंग का इस प्रकार मर्दन किया कि जिससे वह तेल शरीर की प्रत्येक नस में व्याप्त हो गया। उस अति उष्ण वीर्य वाले तेल से मुनि मूर्च्छित हो गए। तेल के प्रभाव से व्याकुल हुए कीड़े, शरीर के भीतर से बाहर आ गये। कृमि के बाहर आने पर जीवानन्द ने रत्नकम्बल से शरीर को आच्छादित कर दिया। रत्नकम्बल की शीतलता पा कर, तेल की गर्मी से तप्त बने हुए कृमि, रत्नकम्बल में आ गये। फिर धीरे से रत्नकम्बल को ले कर उसके कीड़े गाय के कलेवर में छोड़ दिये। इसके बाद तपस्वीराज के शरीर पर गोशीर्षचन्दन का लेप किया, इससे मुनि को शान्ति मिली। इसके बाद फिर तेल का मर्दन कर के मांस के भीतर तक तेल पहुँचाया। उससे मांस के भीतर तक पहुँचे हुए कृमि बाहर आ गये। उन्हें भी पूर्ववत् रत्नकम्बल में ले कर गाय के कलेवर में छोड़ दिए। पुनः चन्दन का लेप कर के शान्ति पहुँचाई और पुनः तेल का मर्दन कर हड्डी तक पहुँचे हुए कृमि को बाहर निकाल कर पहले के समान रत्नकम्बल में ले कर गाय के मृत शरीर में छोड़े। चन्दन के विलेपन से तपस्वीराज को शान्ति मिली और वे नीरोग हो गए। इसके बाद मुनिवर से क्षमा याचना कर के मित्र-मण्डली अपने स्थान पर आई और मुनिवर विहार कर गये। कालान्तर में लहो मित्र संसार त्याग कर प्रव्रजित हो गए और बहुत वर्षों तक संयम और तप का सेवन कर के अनशनपूर्वक देह त्याग कर बारहवें देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव हुए।

चक्रवर्ती पद

अच्युत स्वर्ग का २२ सागरोपम का दीर्घ एवं सुखमय जीवन पूर्ण कर के वे छहों जीव, अनुक्रम से मनुष्य-भव में आये । वे जम्बूद्वीप में पूर्व-विदेह के पुष्कलावती विजय में, लवण समुद्र के निकट, पुंडरीकिनी नगरी के राजा वज्रसेन की धारणी, रानी की कुक्षि से अनुक्रम से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए ।

१ जीवानन्द वैद्य का जीव वज्रनाभ नाम का पहला पुत्र हुआ २ राजपुत्र का जीव, दूसरा पुत्र हुआ । उसका नाम बाहु था ३ सुबाहु नाम का तीसरा मन्त्री-पुत्र हुआ, ४ चौथा पीठ नाम वाला श्रेष्ठि-पुत्र हुआ, ५ सार्थवाह पुत्र का महापीठ नाम दिया ।

इनके अतिरिक्त केशव का जीव 'सुयशा' के नाम से दूसरे राजा का पुत्र हुआ । यह सुयशा बचपन से ही वज्रनाभ के आश्रय में रहने लगा । ये छहों राजपुत्र साथ ही खेलते और क्रीड़ा करते बढ़ने लगे । विद्याभ्यास करने में उनकी बुद्धि तीव्र थी । वे कला-चार्य के संकेत मात्र से समझ जाते थे । वे वीर योद्धा और साहसी थे ।

वज्रनाभ इन सभी में अत्यधिक प्रतिभाशाली थे । इनके गर्भ में आते समय माता ने चौदह महा स्वप्न देखे थे । समय परिपक्व होने पर लोकान्तिक देवों ने पृथ्वी पर आ कर महाराज वज्रसेन से निवेदन किया—'भगवन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर के, चतुर्गति रूप संसार महावन में भटकते हुए भव्य जीवों का उद्धार करें।' वज्रसेन महाराज ने वर्षादान दिया और वज्रनाभ युवराज को राज दे कर स्वयमेव दीक्षित हो गए । घाती-कर्मों का नाश होने पर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर तीर्थकर हुए । इधर वज्रनाभ महाराज की आयुधशाला में चक्ररत्न का प्रवेश हुआ और दूसरे १३ रत्न भी प्राप्त हुए । महाराधिराज वज्रनाभ, चक्रवर्ती नरेन्द्र हुए । राजकुमार सुयशा उनका सारथी हुआ । पुण्य और समृद्धि की वृद्धि के साथ चक्रवर्ती सम्राट की धर्मभावना भी बढ़ने लगी ।

जिस प्रकार सुगन्ध से आकर्षित हो कर भ्रमर, कमल-पुष्प के पास आते हैं, उसी प्रकार प्रबल पुण्य के उदय से चक्रवर्ती को चौदह रत्न के अतिरिक्त नव-निधि भी प्राप्त हो गई । महाराजाधिराज वज्रनाभ की आज्ञा सारे पुष्कलावती विजय पर चलने लगी । पुण्यानुबन्धी-पुण्य के उदय से वज्रनाभ महाराज के पुण्य-वृद्धि के साथ धर्म-वृद्धि भी होने लगी । उनका वैराग्यभाव बढ़ने लगा । कालान्तर में तीर्थकर भगवान् वज्रसेनजी पुंडरीकिनी नगरी पधारे । चक्रवर्ती सम्राट वज्रनाभ, भगवन्त का आगमन जान कर हर्षित हुआ । वह अपने पिता तीर्थकर भगवान् को वन्दन करने गया । भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर वैराग्य बढ़ा और पुत्र को राज्य भार दे कर अपने चारों भाई और सुयशा के साथ

दीक्षित हुए । वज्रनाभ मुनिराज चौदह पूर्वधर हुए और अन्य मुनि एकादशांग के पाठी हुए । कालान्तर में तीर्थकर भगवान् वज्रसेनजी निर्वाण पद को प्राप्त हुए ।

अनेक लब्धियों के स्वामी

तप संयम से आत्मा को पवित्र करते हुए श्रीवज्रनाभ मुनिराज, अपने साथ दीक्षित हुए मुनियों के साथ विचरने लगे । प्रशस्त ध्यान एवं शुभ योग से क्षयोपशम बढ़ते उनमें अनेक प्रकार की लब्धियाँ उत्पन्न हुई । संयमपूर्वक तप के प्रभाव से उन मुनिवरों में कैसी शक्ति प्राप्त हुई, उसका वर्णन संक्षेप में यहाँ किया जाता है ।

खेलौषधि लब्धि—जिन मुनिराज को यह लब्धि प्राप्त हो जाय, उनके श्लेष्म के किंचित् लेप मात्र से कुष्ठ रोगी का उग्र कोढ़ दूर हो कर सुन्दर शरीर बन जाय—ऐसी विशेषता ।

जलौषधि लब्धि—जिनके शरीर के मेल के स्पर्श से रोगी के रोग दूर हो जाय ।

आमर्षौषधि लब्धि—जिनके शरीर के स्पर्श मात्र से रोग मिटे ।

सर्वौषधि लब्धि—जिनके शरीर के स्पर्श से वर्षा आदि का जल, रोगहर औषधी रूप बन जाय । शरीर का स्पर्श कर के चला हुआ वायु, औषधी रूप हो जाय । मुँह अथवा पात्र में आया हुआ विषमिश्रित आहार भी अमृत के समान हितकारी बन जाय । जिनके वचनों का स्मरण ही विषहर मन्त्र के समान हितकारी हो । जिनके नख, केश, दाँत और शरीर से उत्पन्न सभी मेल, औषधी के रूप में परिणत होती है, ऐसी सर्वौषधि लब्धि के धारक ।

अणुत्वलब्धि *—जिसके द्वारा सूई के छिद्र में से निकला जा सके, ऐसा सूक्ष्म शरीर बन जाय ।

महत्त्व शक्ति—जिसके प्रभाव से मेरु पर्वत के समान बड़ा शरीर बनाया जा सके ।

लघुत्व शक्ति—शरीर को वायु से भी अधिक हलका बनाने की शक्ति ।

गुरुत्व शक्ति—इन्द्र भी जिसे सहन नहीं कर सके, ऐसा वज्र से भी भारी शरीर बनाने की शक्ति ।

प्राप्ति शक्ति—पृथ्वी पर खड़े रह कर ग्रहादि को अथवा मेरु पर्वत के अग्रभाग को स्पर्श कर लेने की शक्ति ।

* अणुत्व से ले कर कामरूप शक्ति तक की सभी लब्धियाँ एक बैक्रिय लब्धि में ही समा जाती है ।

प्राकाम्य शक्ति—जिसके द्वारा भूमि पर चलने के समान जल में गमन हो सके और भूमि पर भी सरोवर में उन्मज्जन-निमज्जन के समान कर सके, ऐसी शक्ति ।

ईशत्व शक्ति—चक्रवर्ती और इन्द्र की ऋद्धि का विस्तार करने की योग्यता ।

वशीकरण शक्ति—जिससे भयंकर और क्रूर जन्तु भी वश में हो जाय ।

अप्रतिधाति शक्ति—जिससे पर्वत के भीतर भी उनके लिए गमन करने योग्य मार्ग बन जाय ।

अप्रतिहत अन्तर्धान शक्ति—वायु के समान अदृश्य होने की शक्ति ।

कामरूपत्व शक्ति—जिसके द्वारा समकाल में ही अनेक प्रकार के रूप बना कर सारे लोक को भर दे, ऐसी शक्ति ।

बीज बुद्धि—एक अर्थ रूप बीज से अनेक अर्थ को जानने की बुद्धि ।

कोष्ठ बुद्धि—कोठी में भरे हुए धान्य के समान, पहले सुने हुए सभी अर्थ यथास्थित रहे, विस्मृत नहीं हो ।

पदानुसारिणीबुद्धि⁺—आदि, अन्त या मध्य के एक पद के सुनने मात्र से सारे ग्रंथ का बोध हो जाय, ऐसी शक्ति ।

मनोबली—वीर्यान्तराय के विशिष्ट क्षयोपशम से दृढ़ मनोबल के स्वामी । एक वस्तु का उद्धार कर के अन्तर्मुहूर्त में श्रुत-समुद्र का अवगाहन करने वाले ।

वचनबली—मुहूर्त भर में मूलाक्षर का उच्चारण कर के सभी शास्त्रों को बोलने की शक्ति वाले ।

कायबली—बहुत लम्बे समय तक कायोत्सर्ग प्रतिमा में, खेद रहित हो कर स्थिर रहने वाले ।

अमृतक्षीर मध्वाज्याश्रवी (क्षीरमधुसपिरासवी) जिनकी वाणी दुखियों के मन में क्षीर, अमृत, मधु और घृत जैसी शांति और सुख देने वाली होती है ।

अक्षीणमहानसी—जिनके पात्र में पड़ा हुआ अल्प भोजन, बहुजनों को दान करने पर भी समाप्त नहीं होता ।

अक्षीणमहालय—तीर्थंकर परिषदा के समान अल्प स्थान में भी बहुत से जीवों का

+ इसके तीन भेद होते हैं—१ अनुश्रोत पदानुसारिणी = प्रथम पद या अर्थ सुनने से अंत तक के सारे ग्रंथ की अनुक्रम से विचारणा हो, २ प्रतिश्रोत पदानुसारिणी = अंतिम पद सुनने से प्रारंभ तक के सभी पदों की विचारणा हो, ३ उभय पदानुसारिणी = मध्य के किसी एक पद के सुनने से आगे-पीछे सभी पदों का ज्ञान हो जाय, ऐसा विशिष्ट बुद्धिबल ।

समावेश कराने की शक्ति वाले ।

संमिश्रश्रोत लब्धि— एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियों का काम लेने की शक्ति वाले ।

जंघाचारण लब्धि— इसके प्रताप से वे एक उड़ान में रूचकवर द्वीप पर पहुँचने में समर्थ थे । लौटते समय प्रथम उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप और दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर आ जाते । यदि ऊर्ध्वगति करे, तो एक उड़ान में मेरु पर्वत पर रहे हुए पांडुकवन में पहुँच जाते और लौटते समय प्रथम उड़ान में नन्दनवन में और दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर आने में शक्तिमान् थे ।

विद्याचारण लब्धि— प्रथम उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उड़ान में नन्दीश्वर द्वीप पर जाने की शक्ति वाले और लौटते समय एक ही उड़ान में अपने स्थान पर पहुँचने की शक्ति वाले थे । उनकी ऊर्ध्व गमन की शक्ति जंघाचारण के विपरीत थी ।

इसके अतिरिक्त उन्हें आशीविष लब्धि, निग्रह लब्धि, अनुग्रह लब्धि और अनेक प्रकार की लब्धियों प्राप्त हो गई थी । किन्तु वे इन लब्धियों का उपयोग नहीं करते थे ।

तीर्थंकर नामकर्म उपाजर्न

महामुनि वज्रनाभ स्वामी ने बीस प्रकार की उत्तम आराधना कर के तीर्थंकर नामकर्म का दृढ़ बन्ध किया । वह उत्तम आराधना इस प्रकार है—

- १ अरिहंत भगवंतों की भक्ति, बहुमान, गुणानुवाद किया और उनके विरोधियों द्वारा किया जाता हुआ अवर्णवाद मिटा कर आराधना की ।
- २ सिद्ध भगवंतों की श्रद्धा, भक्ति, स्तवनादि कर के ।
- ३ प्रवचन—जिनेश्वर भगवंतों द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी रूप निर्ग्रन्थ-प्रवचन की भक्ति, बहुमान कर के ।
- ४ गुरु—आचार्य का बहुमान कर के, भक्तिपूर्वक अनुकूल आहारादि से वात्सल्य कर के ।
- ५ स्थविर—२० वर्ष की दीक्षा वाले पर्याय स्थविर, ६० वर्ष की उम्र वाले वयस्थ-विर, स्थानांग, समवायांग के ज्ञाता श्रुतस्थविर की भक्ति कर के ।
- ६ बहुश्रुतपन को प्राप्त हुए महात्माओं की सेवा कर के ।
- ७ तपस्वी मुनिवरों की वैयावृत्य कर के ।
- ८ ज्ञान—वाचना, पृच्छा आदि से सूत्र, अर्थ और दोनों की साधना करते रहने से ।

९ दर्शन—शंकादि दोष से रहित, स्थैर्यादि गुणयुक्त और शमादि लक्षण वाले सम्यग्दर्शन की आराधना कर के ।

१० विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का विनय कर के ।

११ प्रातः सायं उभयकाल भावपूर्वक षडावश्यक कर के ।

१२ व्रतों का शुद्धतापूर्वक निरतिचार पालन कर के ।

१३ शुभ ध्यान से समय को सार्थक कर के ।

१४ यथाशक्ति तगाचरण कर के ।

१५ अभय-सुपात्र दान दे कर ।

१६ वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, साधर्मिक, कुल, गण और संघ की यथायोग्य सेवा कर के ।

१७ आकुल-व्याकुलता छोड़ कर, समाधिभाव रख कर और गुर्वादि की यथायोग्य सेवा कर के उन्हें समाधिभाव में रखने से ।

१८ नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से ।

१९ श्रुत—सम्यग्श्रुत का शुभ भावपूर्वक प्रचार कर के और श्रुत का अवर्णवाद दूर कर के ।

२० धर्म-प्रभावना—उपदेश और प्रवारादि से धर्म की प्रभावना कर के ।

तीर्थंकर नामकर्म की परम शुभ पुण्य-प्रकृति का बन्ध उपरोक्त तीस प्रकार की उत्तम आराधना से होता है । इनमें से किसी एक पद की आराधना से भी तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो सकती है, तब अधिक और सभी पदों की आराधना के पुण्य-प्रभाव का तो कहना ही क्या है । उत्कृष्ट भावों से आराधना हो, तो तीर्थंकर पद प्राप्त करने की योग्यता आ सकती है । महा मुनि वज्रनाभजी ने उत्कृष्ट भावों से सभी पदों की आराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया ।

बाहुमुनि ने साधुओं की वैयावृत्य कर के चक्रवर्ती पद के भोग फल का बन्ध कर लिया ।

तपस्वी मुनिवरों की सेवा कर के श्री सुबाहुमुनि ने अलौकिक बाहुबल उपार्जन किया ।

एक बार वज्रनाभ महाराज ने कहा—“ धन्य है इन बाहु-सुबाहु मुनिवरों को जो साधुओं और तपस्वी रोगी आदि अशक्त मुनिवरों की भावपूर्वक सेवा करते हैं । ” उनकी

ऐसी प्रशंसा सुन कर पीठ और महापीठ मुनि के मन में विचार हुआ—“जो उपकार करते हैं, उन्हीं की प्रशंसा होती है। हम आगम के अभ्यास और ध्यान में तत्पर रहते हैं, इसलिए सेवा नहीं कर सकते, तो हमारी प्रशंसा कौन करे।” इस प्रकार की खिन्नता तथा माया-मिथ्यात्व से युक्त ईर्ष्या करते रहे और आलोचनादि नहीं कर के स्वीत्व का बन्ध कर लिया।

छहों महा मुनियों ने अनशन किया और आराधक भाव को पुष्ट कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान में तैनीस सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए।

कुलकरों की उत्पत्ति-सागरचंद्र का साहस

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में अपराजिता नाम की अनुपम नगरी थी। ईशानचन्द्र नाम का राजा उस नगरी का स्वामी था। उस नगरी में चन्दनदास नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसके सुशील, सुन्दर और अनेक गुणों से युक्त ‘सागरचंद्र’ नाम का युवक पुत्र था। एकदा राजाज्ञा से बसंतोत्सव में सम्मिलित होने के लिए सागरचन्द्र उद्यान में गया। वहाँ नृत्य, गीत, वादिन्त्र और विविध प्रकार के खेल आदि से मनोहर उत्सव हो रहा था। राजा और प्रजा सभी आमोद में लगे हुए थे कि उद्यान के निकट से एक करुण चित्कार सुनाई दी—“बचाओ, बचाओ, बचाओ,” यह चित्कार शब्द सागरचंद्र के कान में पड़ी। वह अपने प्रिय-मित्र अशोकदत्त के साथ विविध दृश्य देखता हुआ घूम रहा था। चित्कार सुनते ही वह भागा और ध्वनि के सहारे एक गुफा के निकट पहुँच गया। वहाँ गुण्डों द्वारा एक युवती का अपहरण हो रहा था। सागरचन्द्र ने पहुँचते ही उस गुंडे को पकड़ा—ओ युवती को घसीट रहा था। उसका गला दबा कर पछाड़ दिया। इतने में दूसरा गुंडा छुरा तन कर सागरचंद्र पर झपटा, किंतु चतुर सागरचंद्र ने उस गुंडे के छुरे वाले हाथ पर लकड़ी का ऐसा प्रहार किया कि छुरा छूट कर दूर जा पड़ा। सागरचंद्र ने छुरा उठा लिया। इतने में उसका मित्र अशोकदत्त और अन्य लोग भी आ गये। गुंडे भाग गये। युवती बच गई। वह उसी नगर के भीमन्त सेठ पूर्णभद्र की सुपुत्री ‘प्रियदर्शना’ थी। रूप-लावण्य से सुशोभित सुन्दरी पर सागरचंद्र मोहित हो गया और प्रियदर्शना भी अपने उद्धारक युवक सागरचंद्र पर मोहित हो गई। दोनों अपने-अपने घर गए। सागरचंद्र के साहस और प्रियदर्शना के रक्षक की बात नगरभर में फैल गई।

सागरचन्द्र के पिता ने जब यह वृत्तांत सुना, तो दंग रह गया। उसने पुत्र को एकान्त में ले जा कर कहा कि—“पुत्र ! तूने अशोकदत्त से मित्रता की, यह अच्छा नहीं हुआ। यद्यपि अशोकदत्त भी कुलीन है, किन्तु हृदय का मैला दिखाई देता है। ऐसे व्यक्ति के साथ की हुई मित्रता दुःखदायक होती है। तू स्वयं बुद्धिमान् है। मैं तुझे क्या समझाऊँ, और अपन तो व्यापारी हूँ। अपने को धन के समान वीरता भी गुप्त ही रखनी चाहिए और साहस का काम नहीं करना चाहिए।”

सागरचन्द्र ने सोचा—‘पिताजी मोहवश साहस के कामों से रोकते हैं।’ उसने कहा—“मैं कहाँ साहस करने जाता हूँ। वह तो अचानक प्रसंग उपस्थित हो गया था और सोचने का समय ही नहीं रहा था। जैसी भावना जगी, वैसी प्रवृत्ति की और अशोकदत्त की बुराई मुझ में तो नहीं आ जायगी, मैं स्वयं सावधान रहूँगा। इतने दिनों की मित्रता एकदम तोड़ देना उचित भी नहीं रहेगा। फिर जैसी आपश्ची की आज्ञा।” सेठ ने केवल सावधान रहने का संकेत कर दिया। कालान्तर में सागरचंद्र का विवाह प्रियदर्शना के साथ हो गया। दोनों का जीवन अत्यन्त स्नेहमय बीतने लगा।

अशोकदत्त भी प्रियदर्शना पर मोहित हो गया था। उसकी वासना दुर्दम्य हो गई। वह मोहान्ध हो कर प्रियदर्शना की ताक में रहने लगा। एक बार जब सागरचंद्र बाहर गया हुआ था, अशोकदत्त प्रियदर्शना के पास आया और कहने लगा—

“प्रियदर्शना ! तुम्हें एक गुप्त बात कहना है।”

“ऐसी क्या बात है—भाई !”

“तुम्हारा पति सागरचंद्र, धनदत्त सेठ की पत्नी के साथ रहता है। मैंने अपनी आँखों से देखा है।”

“होगा, किसी काम से मिलना हुआ होगा। इसमें विचार करने जैसी कौन-सी बात है ?”

“प्रियदर्शना ! उसका आशय मैं जानता हूँ। वह उस पर मोहित है और उससे उसका गुप्त सम्बन्ध है।”

प्रियदर्शना विचार में पड़ गई। उसको चिंतित देख कर अशोकदत्त ने कहा,—

“प्रिये ! बबराने की आवश्यकता नहीं। यदि वह तुम्हें नहीं चाहता, तो मैं तुझे अपनी हृदयेश्वरी बनाने को तय्यार हूँ।”

ये शब्द सुनते ही प्रियदर्शना चौंकी। अब तक वह उसे पति के मित्र और अपने हितैषी देवर के समान मानती थी। किन्तु उसकी मनोभावना का पता लगते ही वह गरजी

और बोली -

“निराधम ! तेरे मन में ऐसे विचार ही कैसे उत्पन्न हुए ? दुष्ट ! क्या इसीलिए तू मेरे पुण्यात्मा पति पर कलंक लगाता है ? चल निकल यहाँ से । खबरदार अब कभी इन्तर आया तो ।”

अशोकदत्त निराश और अपमानित हो कर चला गया । उसने सोचा—“जब मित्र यह बात जानेगा, तो क्या समझेगा ?” उसने सागरचंद्र को भरमाने के लिए जाल रचा । वह प्रियदर्शना के पास से अपने घर जा रहा था, तो रास्ते में सागरचंद्र आता हुआ दिखाई दिया । वह उदास भूँह लिए सागरचंद्र के सामने आया । सागरचंद्र ने उदासी का कारण पूछा तो पहले तो वह मौन ही रहा । विशेष आग्रह करने पर बोला—

“मित्र ! कहने जैसी बात नहीं है । मैं क्या कहूँ तुम्हें ? मत पूछो और मुझे मेरे भाग्य पर ही छोड़ दो ।”

सागरचंद्र आश्चर्य व्यक्त करता हुआ बोला—“क्या मुझ से भी छिपाने जैसी बात है ?”

“नहीं मित्र ! मेरे मन में तुम से छिपाने जैसी बात कभी नहीं हो सकती । किंतु तुम्हारे हित के लिए मैं यह बात तुमसे छिपाना चाहता हूँ । मैं तुम्हारे जीवन में कलह की आग लगाना नहीं चाहता । तुम मत पूछो मित्र ! मत पूछो । मत पूछो ।” अशोकदत्त का कंठ अवरुद्ध हो गया । उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ । यह देख कर सागरचंद्र घबराया । उसने आग्रह के साथ पूछा—

“तुम्हें कहना ही पड़ेगा । यों भी तुम्हारा दुःख देख कर मैं दुखी हो रहा हूँ, तब बात सुनने से विशेष क्या होगा ? तुम अभी कहो । विलम्ब मत करो ।”

“मित्र ! कैसे कहूँ । मुँह नहीं खुलता । हृदय स्वीकार नहीं करता ।”

“तो भी कहो । देर क्यों कर रहे हो ।”

“मित्र ! जानियों ने कहा है कि “स्त्री माया की पुतली है । उसके अंग-प्रत्यंग में माया, वञ्चना और वासना भरी रहती है । वह कभी विश्वास के योग्य नहीं हो सकती । यह मैंने आज समझा है । तुम्हारी प्राणप्रिया श्रीमती प्रियदर्शना, कामान्ध बन कर मेरे गले लिपट गई । मैं तो तुम से मिलने गया था । यदि मुझे ऐसा मालूम होता, तो मैं वहाँ जाता ही नहीं । कदाचित् पहले से वह मुझ पर आसक्त थी । एकान्त देख कर लिपट गई । मैं स्तब्ध रह गया और उसे दूर हटा कर भाग निकला । अभी वहीं से चला आ रहा हूँ । यह है मेरे दुःख का सत्य कारण ।”

सागरचंद्र को अशोकदत्त के शब्द विष-पान जैसे लगे। उसे पत्नी के प्रति तनिक भी शंका नहीं थी। वह उस पर पूर्ण विश्वस्त था। किंतु मित्र की बात सुन कर वह स्तम्भित रह गया। दिगमूढ़ हो गया। उसके हृदय में आग जैसी लग गई। वह क्या करे!!!

सागरचंद्र को स्तब्ध देख कर अशोकदत्त बोला—“मित्र ! घबराओ नहीं। अब चिन्ता छोड़ कर सावधान रहो और उसकी बात पर कभी विश्वास मत करो तथा इस बात को भी अपने मन में ही रख कर, जैसे चले वैसे चलाते रहो। अन्यथा सारा परिवार दुःखी हो जायगा।”

सागरचन्द्र नीचा मुंह किये घर लौट आया। आवेग मिटने पर उसने यही निश्चय किया कि जिस प्रकार शरीर में फोड़ा हो जाने पर, पट्टी बांध कर उसे चलाया जाता है, उसी प्रकार प्रियदर्शना को उदासीन भाव से पूर्व के समान निभाया जाय, जिससे परिवार में शान्ति बनी रहे। वह प्रियदर्शना के साथ उदासीनता से रहने लगा और मन की गांठ मन में ही दबाये रहा।

प्रियदर्शना ने सागरचन्द्र के हृदय को आघात नहीं लगे, इस विचार से अशोकदत्त की नीचता की बात उसे या किसी को भी नहीं कही। उसने सोचा—‘मैंने उसे कुत्ते के समान दुत्कार दिया। अब वह कभी मेरे सामने नहीं आ सकेगा। फिर सागरचंद्र के मन में अशांति उत्पन्न करने की आवश्यकता ही क्या है?’ वह नहीं जानती थी कि उस कामी-कुत्ते ने सागरचंद्र के हृदय में कैसा विष भर दिया है। वह अपने कर्त्तव्य का पालन यथावत् करती रही।

सागरचंद्र को संसार के प्रति अरुचि हो गई। वह अपनी सम्पत्ति का दान करने लगा। काल के अवसर में मृत्यु पा कर सागरचंद्र और प्रियदर्शना, जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के दक्षिण-खंड में, गंगा-सिन्धु नदी के मध्य-प्रदेश में, इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पत्योपम का आठवाँ भाग शेष रहने पर युगलिकपने जन्मे। उनकी आयु पत्योपम के दसवें भाग जितनी थी और अवगाहना ९०० धनुष थी, अशोकदत्त पाप के फल से उसी क्षेत्र में हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ। वह चार दाँत वाला था। उसका वर्ण श्वेत था।

एक बार घूमते-फिरते हाथी ने अपने पूर्वभव के मित्र सागरचंद्र को अपनी युगलिनी सहित देखा। देखते ही उसके मन में प्रीति उत्पन्न हुई। उसने स्नेहपूर्वक युगल को सूँड से उठा कर अपनी पीठ पर बिठा लिया। सागरचन्द्र को भी हाथी के प्रति प्रीति हो गई। उसे अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ। अब युगल, हाथी की पीठ पर बैठ कर फिरने

लगा। उन्हें इस प्रकार फिरते देख कर अन्य युगल विस्मित हुए। उन्होंने उसका नाम 'विमलवाहन' रखा। विमलवाहन जातिस्मरण ज्ञान के कारण पूर्वभव में पाली हुई न्याय-नीति को जानने लगा। काल-परिवर्तन के साथ द्रव्य-क्षेत्रादि में भी परिवर्तन आने लगा। कल्पवृक्षों का प्रभाव मंद होने लगा। उनसे प्राप्त खाद्यादि सामग्री थोड़ी उतरने लगी।

मध्यांगवृक्ष से पेय रस थोड़ा, स्वाद में पूर्व की अपेक्षा मंद और विलम्ब से मिलने लगा। इसी प्रकार सभी प्रकार के कल्पवृक्षों के फल थोड़े, स्वाद में हीन और विलम्ब से प्राप्त होने लगे। काल-प्रभाव से युगलिकों में भी ममत्व भाव जाग्रत होने लगा। एक दूसरे के कल्पवृक्षों पर ललचाने लगे। परस्पर खिचाव उत्पन्न होने लगा और विवाद खड़े होने लगे। ऐसी स्थिति में व्यवस्था बनाये रखने और शान्तिपूर्वक रहने के लिए किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता हुई। सभी युगलिकों ने यह भार विमलवाहन को सौंपा और उसे अपना कुलकर * माना। विमलवाहन ने सभी युगलिकों में कल्पवृक्षों का विभाजन कर दिया। यदि कोई नियम का उल्लंघन करता, तो विमलवाहन उसका न्याय करता और नियम तोड़ने वाले को 'ह' कार शब्द से दण्डित करता। वह कहता कि—“हा, तुम दुष्कृत्य करते हो,” वस, इतना कहना भी उस समय मृत्युदण्ड से बढ़ कर माना जाता था।

विमलवाहन की आयु छः मास शेष रहने पर उसकी युगलिनी ने एक युगल को जन्म दिया। उनका नाम 'चक्षुष्मान्' और 'चन्द्रकान्ता' रखा। वे ८०० धनुष ऊँचे और असंख्य पूर्व आयु वाले थे। वे श्याम वर्ण वाले थे। छः महीने तक उनका लालन-पालन कर के विमलवाहन मर कर भवनपति का सुवर्णकुमार देव हुआ और युगलिनी नागकुमार जाति के भवनपति देवों में उत्पन्न हुई।

चक्षुष्मान् भी विमलवाहन के समान 'ह' कार नीति से ही युगलिक मर्यादा का संचालन करने लगा। वह दूसरा कुलकर हुआ। उसकी आयु के छः माह शेष रहे, तब युगल उत्पन्न हुआ। उनका नाम 'यशस्वी' और 'सुरूपा' रखा। यशस्वी भी अपने पिता के बाद युगलिक मर्यादा निर्वाहक हुआ। वह तीसरा कुलकर हुआ। किंतु उस समय तक विषमता में वृद्धि हो गई थी। लोग 'ह' कार दण्ड-नीति की उपेक्षा करने लगे थे, तब यशस्वी कुलकर (कुलपति) ने 'म' कार नीति चलाई। अल्प अपराध वाले को हकार और विशेष अपराध वालों को मकार=“मत कर” तथा महान् अपराध वाले को हकार-मकार दोनों प्रकार से दण्डित करने लगा।

* कुलकर=कुलपति, स्वामी, व्यवस्थापक।

यशस्वी के 'अभिवन्द' और 'प्रीतिरूपा' हुए। अभिचन्द्र चौथा कुलकर हुआ। उनके 'प्रसेनजित्' और 'चक्षुकान्ता' हुए। प्रसेनजित् नामके पाँचवें कुलकर के समय स्थिति में विशेष उतार आया, तब उसने 'धक्कार' नीति अपनाई। इनके 'मरुदेव' और 'श्रीकान्ता' हुए। मरुदेव छठे कुलकर हुए। इनके अंतिम (सातवें) कुलकर 'नाभि' और 'मरुदेवा' जन्मे।

मरुदेवा के गर्भ में अवतरण

तीसरे आरे के चौरासौ लाख पूर्व और ८९ पक्ष (तीन वर्ष साढ़े आठ मास) शेष रहे, तब आषाढ़ मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर महर्षि 'वज्रनाभजी' का जीव, सर्वार्थसिद्ध महाविमान में ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के, नाभि कुलकर की मरुदेवा पत्नी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। इनके गर्भ में आने पर तीनों लोक में सुख और उद्योत हुआ और श्री मरुदेवाजी ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार थे—

१ उज्ज्वल वर्ण, पुष्ट स्कन्ध और बलिष्ठ शरीर वाला एक वृषभ देखा। जिसके गले में स्वर्ण की घघरमाल पहनी हुई थी। २ दूसरे स्वप्न में श्वेत वर्ण वाला पर्वत के समान ऊँचा और चार दाँत वाला गजराज देखा। ३ केशरीसिंह ४ लक्ष्मीदेवी ५ पुष्पमाला ६ चन्द्रमा ७ सूर्य ८ महाध्वज ९ स्वर्ण-कलश १० पद्म-सरोवर ११ क्षीर-समुद्र १२ देव-विमान १३ रत्नों का ढेर और १४ धूम्र-रहित प्रकाशमान् अग्नि। ये महा मंगलकारी चौदह स्वप्न देखे।

स्वप्न देख कर जाग्रत हुई मरुदेवा हर्षित हुई और नाभि कुलकर को मीठे वचनों से स्वप्नों का वृत्तान्त सुनाया। नाभि कुलकर ने अपनी सहज बुद्धि से विचार कर के कहा—“तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जो महान् कुलकर होगा।” वास्तव में गर्भस्थ जीव भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भगवान् थे।

उस समय इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। इन्द्रों ने अवधिज्ञान से आसन कम्पने का कारण जाना। सभी इन्द्र मरुदेवाजी के पास आये और विनयपूर्वक स्वप्न का वार्तविक अर्थ बताते हुए कहा + —

+ वह कर्मभूमि के प्रारम्भ का समय था। उस समय ज्योतिष शास्त्र के जानने वाले नहीं थे। अतएव यह काम इन्द्रों को करना पड़ा।

“स्वामिनी ! आपने प्रथम स्वप्न में बलवान् वृषभ देखा है । इसका अर्थ यह है कि आपका होने वाला पुत्र-रत्न ऐसा पराक्रमी और लोकोत्तम महापुरुष होगा—जो मोह-रूपी कीचड़ में फँसे हुए धर्मरूपी रथ का उद्धार करेगा ।

- २ हस्ति-दर्शन का फल यह है कि आपका पुत्र महत् पुरुषों का भी गुरु होगा और महान् बलशाली होगा ।
 - ३ सिंह-दर्शन से आपका पुत्र, पुरुषों में सिंह के समान, निर्भय, शूरवीर, धीर और पराक्रमी होगा ।
 - ४ लक्ष्मीदेवी का दर्शन यह बताता है कि आपका महान् पुण्यशाली पुत्र, तीन लोक की राज्यलक्ष्मी का अधिपति होगा ।
 - ५ पुष्पमाला से वह पुण्यदर्शन वाला होगा और संसार के प्राणी उनकी आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य करेंगे ।
 - ६ मनोहर और आनन्दकारी होने का संकेत, चन्द्रदर्शन करा रहा है ।
 - ७ मोह एवं अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर के ज्ञान का प्रकाश करने वाला विश्वोत्तम महापुरुष होने की सूचना सूर्यदर्शन से मिलती है ।
 - ८ महाध्वज बना रहा है कि गर्भस्थ पुण्यशाली आत्मा, महान् प्रतिष्ठित एवं यशस्वी होगा ।
 - ९ पूर्ण कलश का फल है—सभी प्रकार की विशेषताओं (अतिशयों) से परिपूर्ण होना ।
 - १० जिस प्रकार पद्मसरोवर, मनुष्य के तन का मेल दूर कर के शान्ति देता है, उसी प्रकार आपका होने वाला पुत्र-रत्न, संसारी प्राणियों के पापरूपी ताप का हरण कर के, आत्मा को पवित्र और शीतल बनावेगा ।
 - ११ समुद्र-दर्शन बताता है कि आपका पुत्र, समुद्र के समान गम्भीर होगा ।
 - १२ विमान-दर्शन का फल है कि महान् भाग्यशाली ऐसे वैमानिक देव भी आपके पुत्र-रत्न की सेवा करेंगे ।
 - १३ रत्नराशि बताती है कि वह महान् आत्मा, गुण-रत्नों की खान होगी ।
 - १४ महान् तेजस्वी होगा वह महापुरुष—यह सन्देश निर्धूम अग्नि का अंतिम स्वप्न दे रहा है ।
- ये चौदह स्वप्न बता रहे हैं कि गर्भस्थ जीव, चौदह राजलोक का स्वामी होगा ।

इस प्रकार स्वप्नों का अर्थ बता कर और प्रणाम कर के सभी इन्द्र अपने-अपने स्थान पर गये । महामाता श्रीमती मरुदेवा, इन्द्रों के मुख से स्वप्न का फल सुन कर परम हर्षित हुई ।

गर्भ सुखपूर्वक बढ़ने लगा । गर्भ के अनुकूल प्रभाव से मातेश्वरी के शरीर की शोभा, कान्ति और लावण्य भी बढ़ने लगा तथा नाभिराजा की ऋद्धि, यश, प्रभाव और प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होने लगी । प्रकृति भी कुछ अनुकूल हो गई, जिससे कल्पवृक्षों की फलदा शक्ति में भी कुछ वृद्धि हुई । मनुष्यों और पशु-पक्षियों की प्रकृति में भी कुछ सौमनस्य की वृद्धि हुई ।

आदि तीर्थंकर का जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर चैत्र-कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि को सभी ग्रह उच्च स्थान में रहे हुए थे और चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र में था, तब परम सौभाग्यवती महादेवी मरुदेवा की कुक्षि से एक युगल का सुखपूर्वक जन्म हुआ । जिस प्रकार देवों की उपपात शय्या में देव का जन्म होता है, उसी प्रकार रुधिरादि वर्जित, कर्मभूमि के आदि मानव, आदिकुमार का जन्म हुआ । दिशाएँ प्रफुल्ल हुई । जनसमुदाय में स्वभाव से ही आनन्द का वातावरण निर्मित हो गया । ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक में उद्योत हो गया । जैसे स्वर्ग अपने आप हर्ष से गर्जना करता हो, वैसे आकाश में बिना बजाये ही मेघ के समान गम्भीर शब्द वाली दुंदुभि वजने लगी । उस समय नारक जीवों को भी क्षणभर के लिए अपूर्व सुख की प्राप्ति हुई । भूमि पर चलते हुए मंद-मंद पवन ने पृथ्वी पर की रज और कचरा दूर कर के सफाई कर दी । मेघ मुगन्धित जल की वृष्टि करने लगे ।

दिशाकुमारी देवियों द्वारा शौच-कर्म

इस समय अपने आसन चलायमान होने से अधोलोकवासिनी आठ दिशाकुमारियों तत्काल भगवान् के जन्म स्थान पर आई और भात्री आदि-तीर्थंकर तथा उनकी माता को तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और अपना परिचय देती हुई कहने लगी; --

“हे जगज्जननी ! हे विश्वोत्तम लोक-दीपक महापुरुष को जन्म देने वाली महा माता ! हम अधोलोक में रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ हैं । हम अवधिज्ञान से जिनेश्वर

भगवान् का जन्म जान कर, जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आई हैं। आप हमें देख कर भयभीत नहीं होंगे।”

इस प्रकार कह कर उन्होंने पूर्वदिशा की ओर द्वार वाले एक विशाल ‘सूतिका-गृह’ की रचना की। इनके बाद संवर्तक वायु चला कर सूतिकागृह के आसपास की एक योजन प्रमाण भूमि के काँटे, कंकर, कचरा आदि को दूर फेंका और भगवान् को प्रणाम कर के मधुर स्वर से गान करने लगी।

इसी प्रकार मेरु पर्वत के ऊपर रहने वाली ऊर्ध्वलोक-वासिनी आठ दिशाकुमारियाँ भी आई। उन्होंने भी प्रणाम कर के अपना परिचय दिया और मेघ की विकुर्वणा कर के सुगन्धित जल की मंद-मंद वृष्टि की ओर उठी हुई धूल को दबाया। पाँचों वर्ण के सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि कर के पृथ्वी को सुशोभित बनाई। फिर गायन कर के अपना हर्ष व्यक्त करने लगी। इसी प्रकार रूचक पर्वत के पूर्व की ओर रहने वाली आठ दिशा कुमारियाँ आई और अपने हाथ में दर्पण ले कर गीत गाती हुई खड़ी रही। दक्षिण दिशावाली आठ दिग्कुमारी देवियाँ हाथ में कलश ले कर खड़ी रहीं। पश्चिम रूचक की आठ देवियों हाथ में पंखा ले कर गाती हुई खड़ी रही। उत्तर रूचक की आठ देवियों चँवर लिये हुए, रूचक की विदिशा में रहने वाली चार देवकुमारियाँ दीपक ले कर और रूचक मध्य की चार दिशाकुमारी देवियाँ आकर नाभिनाल का छेदन कर भूमि में गाड़ती हैं और रत्नों से गङ्गे को भर कर के गायन करती हैं।

इसके बाद उन देवियों ने जन्मगृह के पूर्व, उत्तर और दक्षिण में तीन कदलीगृह की रचना की और उनमें देवविमान जैसे चौक और सिंहासन आदि की व्यवस्था की। इसके बाद एक देवी ने तीर्थंकर को अपने हाथ में लिये, दूसरी चतुर दासी के समान मातेश्वरी का हाथ पकड़ कर दक्षिण दिशा के कदलीगृह में ले गई। वहाँ माता और पुत्र को सिंहासन पर बिठाया और लक्ष्मण तेल से धीरे-धीरे मर्दन करने लगी। फिर उबटन किया। इसके बाद पूर्वदिशा के गृह में ले जा कर स्वच्छ जल से स्नान कराया। सुगन्धित कषाय वस्त्रों से उनके शरीर को पोंछ कर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया और दोनों को दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाये। इसके बाद उत्तर दिशा के मण्डप में ले गई। वहाँ उन्होंने प्रचलित क्रम से गोशीर्ष चन्दन की लकड़ी से सुगन्धित द्रव्यों का हवन आदि क्रिया कर के, भगवान् को दीर्घ आयु वाले होने का आशीर्वाद दिया, फिर माता और कुमार को सूतिकागृह में सुला कर मंगलगान गाने लगी।

इन्द्रों का आगमन और जन्मोत्सव

प्रभु का जन्म होने पर प्रथम स्वर्ग के अधिपति श्री सौधर्मेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान से भगवान् का जन्म जान कर उनके हर्ष का पार नहीं रहा। वे आसन से नीचे उतरे और भगवान् की दिशा में सात-आठ वरण चल कर नीचे बैठे। दाहिने घुटने को नीचे टिका कर बायें घुटने को खड़ा रखते हैं और दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाये हुए भगवान् की स्तुति करते हैं। स्तुति करने के बाद वे अपने आज्ञाकारी 'हरिणैगमेषी' देव को आज्ञा देने हैं कि—तुम 'सुघोषा' नाम की अपनी विशाल घंटा को बजा कर, उद्घोषणा कर के सभी देव-देवियों को भगवान् के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने की सूचना दो। हरिणैगमेषी देव, इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य कर के सुघोषा घंटा के पास आता है और उस पर तीन बार प्रहार कर के उद्घोषणा करता है कि—

“हे देवों और देवियों ! ध्यान दे कर सुनो ;”—

“जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र में भगवान् आदिनाथ का जन्म हुआ है। श्री सौधर्मेन्द्र, तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पधारेंगे। इन्द्र महाराज की आज्ञा है कि सभी देव-देवियाँ भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए आवें।”

सुघोषा घंटा का गंभीर नाद होते ही वत्तीस लाख विमानों में रही हुई सभी घण्टाएँ गरज उठी। घण्टानाद सुनते ही आमोद-प्रमोद में आसक्त हुए देव-देवी स्तब्ध हो कर सावधान हो गये। उनके मन में जिज्ञासा हुई—“क्या बात है ? इस समय कीनसी स्थिति बनने वाली है ? इन्द्र का क्या आदेश है ?” इतने में इन्द्र के सेनापति हरिणैगमेषी देव द्वारा इन्द्र की आज्ञा उनके कानों में पड़ती है। इन्द्र की आज्ञा सुनते ही कई देव तो भगवान् पर के अपने राग के कारण प्रसन्नतापूर्वक जाते हैं। कई देव, इन्द्र की आज्ञा का पालन करने के लिए जाते हैं। कुछ देवांगनाओं द्वारा उत्साहित हो कर जाते हैं और कुछ मित्रों की प्रेरणा से जाते हैं। इस प्रकार देवगण इन्द्र के पास उपस्थित होते हैं।

इन्द्र अपने 'पालक' नाम के आज्ञाकारी देव को एक असंभाव्य और अप्रतिम विमान की रचना करने का आदेश देता है। आज्ञाकारी देव, एक ऐसे विशाल विमान की रचना करता है, जिसमें हजारों स्तंभ खिड़कियाँ ध्वजाएँ आदि हैं। सुन्दर चित्रों, तोरणों और वन्दनवारों से सुशोभित है। मध्य में प्रेक्षामण्डप (अत्यन्त आकर्षक दृश्यों से परिपूर्ण प्रदर्शनी) बनाया। उस प्रेक्षामण्डप के मध्य में मणिमय पीठिका बनाई। उस पर सिंहासन बनाया। उसके बायव्य उत्तर तथा उत्तर-पूर्व दिशा के मध्य में इन्द्र के

सामानिक देवों के आसन सजाये गये। उसके पूर्व में इन्द्र की आठ इन्द्रानियों के सिंहासन लगे। दक्षिण-पूर्व के मध्य में आर्यतर सभा के सदस्य देवों के सिंहासन, दक्षिण में मध्य सभा के देवों के और दक्षिण-पश्चिम के मध्य में बाह्य परिषद् के देवों भद्रासन तथा पश्चिम दिशा में सेनापतियों के सिंहासन लगाये गये। इन सब के आस-पास आत्मरक्षक देवों के सिंहासन लगे।

इस प्रकार विमान की पूर्णरूप से रचना कर के शक्रेन्द्र से निवेदन किया। शक्रेन्द्र ने उत्तर वैक्रिय X कर के अपना रूप बनाया और इन्द्रानियों तथा समस्त देव-परिषद् के साथ विमान के निकट आया और विमान की परिक्रमा करता हुआ पूर्व द्वार के सोपान चढ़ कर विमान में अपने सिंहासन पर बैठ गया। सामानिक देव उत्तर द्वार से और अन्य देव दक्षिण द्वार से आ कर अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। इन्द्र की इच्छा से विमान गतिशील हुआ और सौधर्म स्वर्ग के मध्य में हो कर चला। उसके पीछे अन्य देवों के विमान भी शीघ्रता से चले। वे असंख्य द्वीपों और समुद्रों पर होते हुए नन्दीश्वर द्वीप पर आये। रतिकर पर्वत पर ठहर कर पालक विमान को संक्षिप्त किया (एक लाख योजन के बड़े विमान को बिलकुल छोटा बनाया) और वहाँ से चल कर भगवान् के जन्म-स्थान पर आया। सूतिकागृह की प्रदक्षिणा करने के बाद विमान ईशानकोण में ठहराया गया।

इन्द्र, विमान में से उतर कर प्रभु के पास आया। इन्द्र को देखते ही दिशाकुमारियों ने उन्हें प्रणाम किया। इन्द्र ने प्रदक्षिणा कर के प्रभु को और माता को प्रणाम किया और माता से इस प्रकार कहने लगा;—

“हे रत्नकुक्षिधारिणी जगत्माता ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप धन्य हैं, पुण्यवती हैं, उत्तम लक्षणों से युक्त हैं। आपका जन्म सफल है। संसार में जितनी भी पुत्र वाली माताएँ हैं, उन सभी में आप अधिकाधिक पवित्र हैं। आपने धर्म की आदि करने वाले धर्म का प्रसार कर के जगत् के जीवों को परम सुख प्राप्त कराने वाले, ऐसे आदि तीर्थङ्कर को जन्म दिया है। मैं सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र हूँ और आपके पुत्र का जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आया हूँ। आप मुझ से किसी प्रकार का भय नहीं करें।”

इतना कह कर इन्द्र ने मातेश्वरी को निद्राधीन कर दिया और प्रभु का एक प्रति-

X देवों का शरीर 'वैक्रिय' होता है। उसमें हमारी तरह रक्त-मांस, हड्डी आदि नहीं होते। उनके स्वाभाविक शरीर को 'भवधारणीय' कहते हैं और आवश्यकतानुसार बढ़ाने-घटाने और इच्छित रूप बनाने की क्रिया को 'उत्तर वैक्रिय' कहते हैं।

बिंब बना कर मातेश्वरी के पास सुलाया। इसके बाद इन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाये। फिर भगवान् को प्रणाम कर के—“हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो”—इस प्रकार कह कर अपने एक रूप से दोनों हाथों में भगवान् को ग्रहण किया। दूसरे रूप से पीछे खड़े रह कर हाथ में छत्र धारण किया। दो रूप चँवर धारण कर दोनों ओर रहे और पाँचवें रूप से वज्र धारण करके आकाश मार्ग से आगे चले। इस प्रकार प्रभु को ले कर मेरु पर्वत के पांडुक वन में पहुँचे। फिर ‘अतिपांडुकबला’ नामक शिला पर सिंहासन रखा और इन्द्र अपनी गोदी में प्रभु को ले कर पूर्व दिशा की ओर मुँह कर के बैठे।

जिस समय सौधर्मेन्द्र, भगवान् को ले कर मेरु पर्वत पर आये, उस समय ‘महाघोषा’ घंटा के नाद से प्रबोधित हो कर ईशानेन्द्र, पुष्पक विमान में बैठ कर अपने परिकर सहित दक्षिण दिशा के मार्ग से ईशानकल्प से नीचे उतरे और तिरछे चल कर नन्दीश्वर द्वीप पर आये और रतिकर पर्वत पर अपने विमान को संकुचित कर, मेरु पर्वत पर भगवान् के समीप भक्तिपूर्वक उपस्थित हुए। सनतकुमार इन्द्र भी अपने ‘सुमन’ विमान द्वारा उपस्थित हुए। महेन्द्र, श्रावत्स विमान से, ब्रह्मेन्द्र, नन्दावर्त विमान से, लांतकेन्द्र, कामगव विमान से, शुकेन्द्र, प्रीतिगम विमान से, सहस्रार इन्द्र, मनोरम विमान से, आनतप्राणन के इन्द्र, विमल विमान से और आरणाच्युत देवलोक के इन्द्र, सर्वतोभद्र विमान में बैठ कर भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए भक्तिपूर्वक मेरु पर्वत पर आये।

रत्नप्रभा पृथ्वी की पोलार में रहने वाले भवनपति और व्यन्तर के इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। उस समय चमरचंचा नगरी की सुधर्मा सभा में असुरराज चमरेन्द्र ने अवधिज्ञान के उपयोग से जब भ० आदिनाथ का जन्म होना जाना, तो वह भी अपने परिवार के साथ आया। ‘बलिचंचा’ नगरी से बलिन्द्र, नागकुमार जाति के धरणेन्द्र और भूतानेन्द्र, विद्युत्कुमारों के इन्द्र—हरि और हरिस्सह, स्पर्णकुमारों के इन्द्र—वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमारों के इन्द्र—अग्निशिख और अग्निमाणव, वायुकुमारों के इन्द्र—वेलंब और प्रभंजन, स्तनितकुमारों के इन्द्र—सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के इन्द्र—जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारों के इन्द्र—पूर्ण और अवशिष्ट और दिशाकुमार जाति के इन्द्र—अमित और अमितवाहन भी आये।

व्यन्तर जाति के देवों में पिशाचों के इन्द्र—काल और महाकाल। भूतों के इन्द्र—सुरूप और प्रतिरूप। यक्षों के इन्द्र—पूर्णभद्र और मणिभद्र। राक्षसों के इन्द्र—भीम और महाभीम। किन्नरों के इन्द्र—किन्नर और किंरुष। किंरुषों के इन्द्र—सत्पुरुष और

महापुरुष । महोरगों के इन्द्र—अतिकाय और महाकाय । गन्धर्वों के इन्द्र—गीतरति और गीतयश ।

व्यन्तरी की दूसरी आठ तिकाय के १६ इन्द्र हैं । जैसे—अप्रज्जप्ति के इन्द्र—सन्निहित और समानक । पंचप्रजप्ति के—इन्द्र—धाता और विधाता । ऋषिवादितों के इन्द्र—ऋषि और ऋषिपालक । भूतवादितों के इन्द्र—ईश्वर और महेश्वर । क्रन्दिता के इन्द्र—सुवत्सक और विशालक । महाक्रन्दिता के इन्द्र—हास और हासरति । कुष्माण्डों के इन्द्र—श्वेत और महाश्वेत । पालकों के इन्द्र—पावक और पावकपति ।

ज्योतिषियों के असंख्याता चन्द्र और सूर्य । ये 'चन्द्र' और 'सूर्य'—इन दो नाम के ही हैं । इसलिये गिनती में दो ही लिये हैं ।

वैमानिकों के १०, भवनपतियों के २०, व्यन्तरी के ३२ और ज्योतिषियों के २ । इस प्रकार ६४ इन्द्र, भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए मेरु पर्वत पर एकत्रित हुए ।

जन्मोत्सव का प्रारम्भ करते हुए वैमानिकों के अच्युतेन्द्र ने अपने आज्ञाकारी देवों को जन्मोत्सव के योग्य उपकरण एकत्रित करने की आज्ञा दी । आज्ञाकारी देवों ने ईशान-कोन की ओर जा कर वैक्रिय-समुद्रघात किया और उत्तम पुद्गलों का आकर्षण कर के, सोना, चाँदी, रत्न, सोना और चाँदी के मिले हुए, सोना और रत्नों के मिले हुए, सोना, चाँदी और रत्न के मिले हुए, चाँदी और रत्न के मिले हुए और मृत्तिका के ऐसे आठ प्रकार के उत्तम, एक हजार आठ सुन्दर कलश बनाये । इसी प्रकार झारी, दर्पण, करंडिये, ढकने, थाल, चंगेरियें आदि बनाये और क्षीर-समुद्र आदि विशिष्ट स्थानों के जल, श्रेष्ठ कमलादि पुष्प, गोशीर्ष आदि सुगन्धित चन्दन आदि एकत्रित किये ।

इसके बाद अच्युतेन्द्र ने अपने सामानिक, आत्मरक्षक, लोकपाल आदि देवों के साथ उत्तरासंग कर के भगवान् को स्नान कराया, चन्दन से अंग पर विलेपन किया, पुष्पमालाएँ आदि से सुशोभित किया, सुगन्धित धूप से वायुमण्डल सुगन्धित किया । परिवार के अन्य देव तथा आज्ञाकारी देव, उस समय विभिन्न प्रकार के वादिन्त्र बजाने लगे । कई नृत्य करने लगे, कई हर्षातिरेक से कूदने, फांदने और विविध प्रकार के कौतुक करने लगे । इस प्रकार मेरु पर्वत का पांडुकवन, द्रव्य जिनेश्वर के जन्मोत्सव से आल्हादित होने लगा * ।

❁ जिस प्रकार साधारण मनुष्यों के जन्मोत्सव होते हैं, उससे अधिक आडम्बर युक्त जन्मोत्सव बड़े-बड़े सेठों, सामन्तों, ठाकुसों और राजा-महाराजाओं के यहाँ होते हैं और उन सब से श्रेष्ठ प्रकार से चक्रवर्ती सम्राटों के यहाँ जन्मोत्सव होता है । किन्तु भावी जिनेश्वर भगवान् के सर्वोत्कृष्ट पुष्प-प्रकृति के उदय से, उनका जन्मोत्सव, संसार (समस्त लोक) की उत्तम हस्ति (मर्वश्रेष्ठ देवेन्द्र) द्वारा, लोक की

अच्युतेन्द्र से स्नान, विलेपनादि करवाने के बाद प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और स्तुति करते हुए बोले;—

“हे जगन्नाथ ! हे धर्म-प्रवर्तक ! हे कृपाणंभ ! सिद्धिदाता ! आपकी जय हो, विजय हो, आप आनन्द करें * ।”

अच्युतेन्द्र की ओर से जन्माभिषेक हो जाने के बाद अन्य ६२ इन्द्रों ने भी यथाक्रम जन्माभिषेक किया । उसके बाद ईशानेन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाये । उसमें से एक रूप, भगवान् को गोदी में ले कर बैठा । एक रूप ने छत्र धारण किया । दो रूपों ने दोनों ओर चँवर धारण किये और एक रूप त्रिशूल धारण कर के खड़ा रहा । इसके बाद सौधर्मेन्द्र ने भगवान् के चारों दिशा में चार वृषभरूप बनाये । उनके प्रत्येक के दोनों ऊँचे सिंगों से, ऊँची जलधाराएँ (फव्वारे के समान) निकलने लगी । वे धाराएँ आकाश में एक साथ मिल कर प्रभु के मस्तक पर गिरने लगी । इस प्रकार स्नान करवाने के बाद देवदुष्य वस्त्र से शरीर पोंछा । चन्दन का विलेपन कराने के बाद दिव्य वस्त्र पहिनाये, मुकुट धारण कराया, स्वर्ण कुण्डल पहिनाये, मुक्तामाला पहिनाई । इस प्रकार और भी आभूषण पहिना कर वन्दन-नमस्कार और स्तुति की और इसके बाद शक्रेन्द्र ने पूर्व के समान अपने पाँच रूप बना कर भगवान् को ईशानेन्द्र के पास से अपनी गोदी में लिये और अन्य रूप छत्र, चामर और वज्र ले कर, आकाश मार्ग से चल कर जन्म-स्थान पर आये और भगवान् के प्रति-बिम्ब को हटा कर भगवान् को मातेश्वरी के पास सुलाये, फिर माता की निद्रा दूर की । शक्रेन्द्र ने भगवान् के सिरहाने वस्त्र-युगल और कुण्डलादि आभूषण रखे और प्रभु की दृष्टि में आवे, इस प्रकार छत में एक स्वर्ण और रत्नमय ‘श्रीदामगंड’ (गेंद) लटकाया, जो रत्नों की लटकती हुई मालाओं से सुशोभित था ।

रीति के अनुसार विशिष्ट प्रकार के द्रव्यों और साधनों से यह सारी क्रिया सम्पन्न होती है । यह मनुष्य भव में होने वाले महान् अभ्युदय की निशानी है कि जिसका जन्मोत्सव संसार का सर्वोच्च व्यक्ति—अच्युतेन्द्र करता है । विश्व का महान् इन्द्र, जिस नवजात मनुष्य-बालक की अनुचर के समान सेवा करे, उस बालक के पुण्य के उत्कृष्ट भण्डार का तो कहना ही क्या ?

● श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने उपरोक्त स्तुति ‘चारणमुनियों ने की’ ऐसा लिखा है । किन्तु यह बात समझ में नहीं आती । उस समय भरत-ऐरवत में चारण मुनि तो क्या, पर साधारण मुनि होने की सम्भावना भी नहीं है । यदि महाविदेह के आवें, तो वहाँ तो साक्षात् भाव-तीर्थंकर विराजमान होते हैं । उन्हें छोड़ कर यहाँ जन्मोत्सव जैसी सांसारिक—आरम्भयुक्त—सावद्य क्रिया में शरीक होने के लिए चारण मुनि आवें, यह कैसे मानने में आवे ? वह तो मुनि-मर्यादा का भंग ही है । वह उस्मेख अवास्तविक है ।

इसके बाद कुबेर (वैश्रमण) देव को आज्ञा दे कर सोना, चांदी आदि और उपयोग में आने योग्य बहुमूल्य सिंहासनादि उपकरणों से जिन-भवन को परिपूर्ण कराया। इसके बाद आज्ञाकारी देवों के द्वारा चारों निकाय के देवों में शक्रेन्द्र ने यह उद्घोषणा करवाई--

“यदि किसी भी दुष्ट प्रकृति वाले देव ने, जिनेश्वर और उनकी मातेश्वरी का अनिष्ट चिन्तन किया, तो उन्हें सौधर्मेंद्र कठोर दण्ड देंगे। उसके सिर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जावेंगे।”

इस प्रकार की उद्घोषणा के बाद इन्द्र ने भगवान् के हाथ के अंगूठे में अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम रसों से भरी हुई अमृतमय नाड़ी (नस) का संक्रमण किया। जिससे अंगुष्ठ चूसने से ही उनकी क्षुधा शान्त हो जाय। बाल तीर्थकर, माता का स्तन पान नहीं करते। इसलिए यह व्यवस्था की गई +। इसके बाद धात्री-कर्म करने के लिए इन्द्र ने पाँच अप्सराओं की नियुक्ति की।

मेरु पर्वत पर जन्मोत्सव हो चुकने पर शक्रेन्द्र, भगवान् को रखने के लिए आये और बहुत-से देव और शेष इन्द्र, मेरु पर्वत से ही रवाना हो कर, देवों के निवास रूप नन्दीश्वर द्वीप पर गये। शक्रेन्द्र भी प्रभु को रख कर नन्दीश्वर द्वीप पर गये और अठाई महोत्सव कर के सभी देव अपने-अपने स्थान पर गये।

प्रातःकाल होने पर भगवती मरुदेवा जाग्रत हुई। प्रभु का जन्म और देवागमन आदि बातें उनके लिए स्वप्नवत् थी। उन्होंने नाभि राजा को सारा वृत्तान्त सुनाया। वे भी आश्चर्यान्वित हुए। प्रभु की जंघा पर वृषभ का लालन था, तथा माता ने चौदह स्वप्न में से प्रथम स्वप्न में वृषभ देखा था, इसलिए प्रसन्न हो कर माता-पिता ने प्रभु का नाम ‘ऋषभ’ और प्रभु के साथ जन्मी हुई बालिका का नाम ‘सुमंगला’ रखा। प्रभु आनन्दपूर्वक बढ़ने लगे। इन्द्र द्वारा नियुक्त पाँच धात्री अप्सराएँ निरन्तर प्रभु की सेवा में रहने लगी ×।

+ यह इन्द्र की भक्ति थी, अन्यथा क्षीरधात्री दुग्ध-पान कराती ही है।

× गर्भ में आना, जन्म लेना, जन्मोत्सव, लग्नोत्सव, राज्याभिषेक आदि क्रियाएँ सांसारिक होती हैं। ये उदय भाव की क्रियाएँ हैं। जिस प्रकार संसार में हम सभी ये क्रियाएँ करते हैं, उसी प्रकार ये भी हैं। इनका निर्ग्रन्थ-धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सभी क्रियाएँ आश्वय, बन्ध और आरम्भयुक्त हैं, साव्य है। स्वयं आदिनाथ भी जन्म, बाल और यौवनादि सांसारिक अवस्था में चतुर्थ गुणस्थानयुक्त

वंश स्थापना

जब श्री ऋषभकुमार एक वर्ष के हुए तब सौवर्मेन्द्र, कर्मभूमि के आदि महामानव के वंश की स्थापना करने के लिए भारत भूमि पर आये। खाली हाथ प्रभु के सम्मुख नहीं आने की दृष्टि से वे एक इक्षु-यष्टि (गन्ना) साथ लेते आये। उस समय भगवान् अपने पिता श्री नाभि राजा की गोद में बैठे थे। इन्द्र को देखते ही प्रभु ने अपने अवधि-ज्ञान से इन्द्र के मनोगत भाव जान लिये और इन्द्र के हाथ से इक्षु-दण्ड लेने के लिए हाथ लम्बा किया। इन्द्र ने प्रणाम कर के वह गन्ना प्रभु को सादर समर्पित कर दिया। इक्षु ग्रहण करने के कारण इन्द्र ने भगवान् का 'इक्ष्वाकु' नाम का वंश स्थापन किया।

जन्म से चार अतिशय

भगवान् आदिनाथजी का शरीर, जन्म से ही—१ स्वेद (पसीना) मल और रोग से रहित और सुन्दराकार था। स्वर्ण-कमल के समान शोभनीय था, २ उनका रक्त और मांस, गाय के दूध के समान उज्ज्वल एवं सुगन्ध युक्त था, ३ उनका आहार-नीहार चर्म-चक्षु के लिए अगोचर था और ४ उनके श्वास की सुगन्ध, सुविकसित कमल की सुगन्ध के समान थी। ये चार अतिशय उनके जन्म के साथ ही थे।

प्रभु का शरीर 'वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन' (शरीर की सर्वोत्तम रचना, जिससे हड्डियों का जोड़ और पट्ट वज्र मेख से सुदृढ़ हो जाता है) और समचतुरस्र संस्थान युक्त था। वे मंद गति से चलते थे। वय से बालक होते हुए भी गम्भीर और मधुर वचन बोलते थे। कई देव, भगवान् के साथ खेलने के लिए अपना बालक रूप बना कर आते थे, तो उनके साथ, उनकी इच्छापूर्ति के लिए प्रभु खेलते थे। यदि कोई देव, प्रभु के बल की परीक्षा करने के लिए आता, तो वह तत्काल पराभव पा जाता। कई देवकुमार, भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मयूर बन कर कोकारव करते और नृत्य दिखाते। कई पोपट, मैना, कोयल, हंस आदि बन कर अपनी मधुर बोली और मोहक रूप से मनरंजन करते। कोई सुन्दर अश्व,

सांसारिक अवस्था में थे। अतएव जन्मोत्सवादि क्रिया में धर्म मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। इन्द्रों ने भावी जिनेश्वर—जिनसे भविष्य में धर्म-प्रवर्तन की महान् आशा है—जान कर उनके द्वारा संसार के भव्य जीवों का उद्धार जान कर, हर्षातिरेक से जन्मोत्सव मनाया है। जिनके द्वारा भविष्य में हित होने की आशा हो, उनका अत्यादर किया ही जाता है। इस दृष्टि से इस प्रसंग को समझना चाहिए।

गज आदि रूप बन कर भगवान् का वाहन बनता । इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए भगवान् बढ़ने लगें ।

अंगुष्ठपान की अवस्था बीत जाने के पश्चात् जिनेश्वर, सिद्ध-अन्न (पकाया हुआ अन्न) भोजन में लेते हैं, किन्तु ऋषभदेव तो देवकुरु उत्तरकुरु क्षेत्र से, देवों द्वारा लाये हुए कल्पवृक्षों के फलों का ही भोजन करने * और क्षीरसमुद्र के जल का पान करने लगे । इस प्रकार बाल-वय व्यतीत होने पर भगवान् यौवनावस्था को प्राप्त हुए ।

प्रभु के शरीर का शिखर-नख वर्णन†

प्रभु का मस्तक अत्यन्त ठोस, स्तम्भों से भली प्रकार बँधा हुआ, पर्वत के शिखर के समान आकार वाला और पत्थर की पिण्डी के समान गोल तथा श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त था । उनके बाल सेमल वृक्ष के फल की रूई के समान कोमल, सुलझे हुए, सुन्दर चमकीले, घुँघराले और उत्तम लक्षण युक्त थे । बालों का रंग हर्षित भ्रमर और काजल के समान काला था । बालों के स्थान की त्वचा निर्मल, स्वच्छ और दाढ़िम के फूलों के समान लाल थी । मस्तक भाग, छत्र के आकार का था । ललाट अष्टमी के चन्द्रमा के आकार जैसा था । चन्द्रमा के समान सौम्य मुख था । उनके कान मनोहर, मुख से जुड़े हुए स्कन्ध तक लम्बे और प्रमाण युक्त थे दोनों गाल भरे हुए मांसल और सुन्दर थे । भीहें झुके हुए धनुष के समान बाँकी और बादल की रेखा के समान पतली, काली कान्ति से युक्त थी । आँखें, खिले हुए श्वेत कमल के समान थी । जिस प्रकार पत्रयुक्त कमल सुशोभित होता है, उसी प्रकार बरौनी युक्त श्वेत आँखें शोभा पा रही थी । नासिका गरुड़ की चोंच के समान लम्बी, सीधी और ऊँची थी । ओष्ठ, विशुद्ध मूंगे और बिम्ब फल के समान लाल थे । दाँतों की पंक्ति निर्मल चंद्र, शंख, गो-दुग्ध, फेन, कुन्द के पुष्प, जल-कण और कमल-नाल के समान श्वेत थी । अखण्ड, परस्पर मिले हुए स्निग्ध और सुन्दर दाँत थे । दंत-पंक्ति के बीच में विभाजक रेखाएँ दिखाई नहीं देती थी । तालु और जिह्वा, तपे हुए सोने के समान लाल

* क्योंकि उस समय भारत के मनुष्य फलाहार ही करते थे, न तो उस समय अन्न पकाने के काम में आने वाली बादर अग्नि ही यहाँ थी और न पकाने की विधि ही कोई जानता था ।

† यह वर्णन औपपातिक सूत्र के आधार पर दिया है । श्री हेमचन्द्राचार्य ने नख-शिख वर्णन किया, किन्तु जिनेश्वरों के शरीर का वर्णन 'नख-नख' होता है ।

थे । दाढ़ी मूँछ के बाल, सदा एक समान और सुन्दर रूप में छँटे हुए-से रहते थे उनकी ठुड़ी सुन्दराकार मांसल और व्याघ्र की ठुड़ी के समान विस्तीर्ण थी । उनकी गर्दन गोलाकार, चार अंगुल प्रमाण, तीन रेखा से युक्त और शंख के समान थी । कंधे श्रेष्ठ वृषभ, व्याघ्र, हाथी और सिंह के समान प्रमाण से युक्त एवं विशाल थे । प्रभु के बाहु, गाड़ी के जुड़े के समान गोल, लम्ब और पुष्ट थे । उनके बाहु ऐसे दिखाई देते थे जैसे इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए किसी फणिधर (भुजंग) ने अपना महान् शरीर फैलाया हो । प्रभु की हथेलियाँ लाल, उन्नत, कोमल, भरी हुई, सुन्दर और सुलक्ष्णों से युक्त थी । अंगुलियों के मिलने पर, बीच में छिद्र दिखाई नहीं देते थे । अंगुलियाँ पुष्ट, कोमल और श्रेष्ठ थी । अंगुलियों के नख ताने के समान कुछ लाल, पवित्र, दीप्त और स्निग्ध थे । हाथों में चन्द्राकार, सूर्याकार, शंखाकार, चक्राकार और दक्षिणावर्त स्वस्तिकाकार रेखाएँ थीं । भगवान् का वक्षस्थल, सुवर्ण शिलातल के समान समतल, प्रशस्त, मांसल, विशाल और चौड़ा था । उस पर श्रीवत्स का चिन्ह था । मांसलता के कारण पसलियाँ दिखाई नहीं देती थी । प्रभु का देह स्वर्ण कान्ति के समान निर्मल, मनोहर और रोग से रहित था । देह में एक हजार आठ उत्तम लक्षण अंकित थे । उनके पार्श्व (बगलें) नीचे की ओर क्रमशः कम घेरे वाले हो गए थे और देह के अनुकूल सुन्दर, पुष्ट तथा रम्य थे ।

वक्षस्थल पर सीधी और समरूप से एक दूसरे से मिली हुई, प्रधान, पतली, स्निग्ध, मन को भाने वाली, सलावण्य और रमणीय रोमों की पंक्ति थी । मत्स्य और पक्षी की-सी उत्तम और दृढ़ मांस-पेशियों से युक्त कुक्षि थी । मत्स्य के समान उदर था । नाभि गंगा के भँवर के समान दाहिनी और घूमती हुई तरंगों की चंचल एवं सूर्य की तेज किरणों से विकसित कमल के मध्य-भाग के समान गंभीर और गहन थी । देह का मध्य-भाग त्रिदण्ड, मूसल और तलवार की मूठ के समान क्षीण था । कमर, श्रेष्ठ अश्व और सिंह के समान उत्तम घेरे वाली थी । गुप्तांग श्रेष्ठ घोड़ों के समान गुप्त और उत्तम था और लेप से रहित रहता था । हाथी की सूँड के समान जंघाएँ थी और चाल भी श्रेष्ठ हाथी के समान पराक्रम और विलास युक्त थी । गोल डिब्बे के समान पुष्ट घुटने थे । हरिणी की जंघा के समान और कुरुविद तृण के समान क्रमशः उतरती हुई पिंडलियाँ थी । पाँवों के टखने सुगठित, सुन्दराकार एवं गुप्त थे । भली प्रकार से स्थापित कछुए के समान पाँव थे । क्रमशः बड़ी-छोटी अंगुलियाँ थी । ऊँचे उठे हुए, पतले ताम्रवर्ण और स्निग्ध नख थे । रक्त-कमल के समान कोमल और सुकुमार पगलियाँ थी । पर्वत, नगर, मगर, समुद्र,

चक्र, स्वस्तिक आदि मंगल चिन्ह, पगतलियों में अंकित थे ।

जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नों से युक्त रत्नाकर, सेवन करने के योग्य होता है, उसी प्रकार उत्तमोत्तम एवं असाधारण लक्षणों से युक्त प्रभु भी देवों और मनुष्यों के लिए सेवा करने योग्य थे ।

सुनन्दा का योग

एक बाल युगल, ताड़-वृक्ष के नीचे खेल रहा था । भवितव्यतावश ताड़ का गड़ा फल टूट कर पुरुष-बालक पर पड़ा और वह मर गया । बालिका अकेली रह गई । वह दिग्भ्रम हो गई । उसके माता-पिता उसे ले गये । उस बालिका का नाम 'सुनन्दा' रखा । उसके माता-पिता भी थोड़े ही दिनों में मर गए । बालिका अकेली रह गई । वह इधर-उधर भटकने लगी । वह अत्यन्त सुन्दरी थी । कुछ युगल उस अकेली भटकती हुई बालिका को साथ ले कर अपने कुलपति श्री नाभिराजा के पास आये । श्री नाभिराजा ने उसे श्री ऋषभदेव की पत्नी घोषित करते हुए स्वीकार कर ली ।

विवाह

एकदा सौधर्मेन्द्र, भगवान् को विवाह के योग्य जान कर भगवान् के पास आया और सुनन्दा तथा सुमंगला के साथ विवाह कर के, विवाह सम्बन्धी लोक-नीति प्रचलित करने का निवेदन किया । प्रभु के मौन रहने पर शक्रेन्द्र ने मनोगत भाव जाने । भगवान् को तिरयासी लाख पूर्व तक उदय भाव के अधीन-गृहवास में रहने का योग था । शक्रेन्द्र ने देवी-देवताओं को भगवान् का विवाह रचाने की आज्ञा दी । देवांगनाएँ वैवाहिक मंगल-

+ युगल का यह अकाल मरण आश्चर्यजनक माना गया है, क्योंकि अकर्म-भूमि के मनुष्य परिपूर्ण अवस्था भोग कर ही मरते हैं ।

× १—उस समय अकर्म-भूमि के भाव चल रहे थे । विवाह करने की रीति ही नहीं थी । एक माता-पिता से साथ जन्मे हुए भाई-बहिन ही अवस्था पा कर पति-पत्नी हो जाते थे । श्री ऋषभदेव के विवाह से ही यह विधि प्रचलित हुई । उस समय कर्म-भूमि के भावों का उदय चल रहा था ।

२ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने जो विवाह-विधि बताई, उसमें तो आचार्यश्री के समय के विधि-

गान गाने लगी। एक ओर देवांगनाएँ सुमंगला और सुनन्दा को राजाने लगी। पीठी, चन्दन, इत्र, उत्तम वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण आदि से दोनों वधुएँ सजाई गई। दूसरी ओर देव, ऋषभदेवजी को स्नानादि से श्रृंगारित करने लगे। विवाह के लिए एक सुन्दर मण्डप बनाया गया। भव्य आसन लगाये गये। श्री ऋषभदेवजी को और दोनों कन्याओं को स्वर्ण सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विठाये। इंद्र ने सुमंगला और सुनन्दा का हाथ श्री ऋषभकुमार के हाथ में दिया और लग्न-ग्रंथी में जोड़े। गन्धर्वगण, बाजे बजाने लगे और बहुत-से देवी-देवता गायन तथा नृत्यादि करने लगे। नाभि राजा, मरुदेवा और अन्य युगलिक स्त्री-पुरुष एकत्रित हो कर इस विवाहोत्सव को आश्चर्यपूर्वक देखते रहे। विवाह कार्य पूर्ण कर के इन्द्रादि देव स्वर्ग में गये। उसी दिन से इस भरत क्षेत्र में विवाह-विधि प्रारंभ हुई।

विधानों का खूब समावेश हुआ लगता है। जैसे—विवाह के समय वही उल्लासता, मक्खन फेंकना, वेदिका बनाना, अग्नि के फेरे लेना, मंथानी को वर के भाल से तीन बार स्पर्श करवाना, सराबले में अग्नि रख कर उसमें नमक डालना और उस सराबले को वर से ठुकरा कर नष्ट करवाना, वेद का स्थान गोबर से लिपना, वर को अर्घ्य देना, दुर्वा चढ़ाना, मातृ-भवन (कुलदेवी?) में लग्न होना, देवियों द्वारा अनुचर (वर के साथ रहने वाले मित्र=श्री ऋषभकुमार के साथ इंद्र के सामानिक देव अनुचर थे) की विविध प्रकार से हँसी-मजाक करना आदि और देवांगनाओं की विविध हलचलों का वर्णन है तो रसपूर्ण और काव्य-कला से समृद्ध, किंतु ये क्रियाएँ ग्रंथकार के अपने समय की श्रीऋषभकुमार के लग्न में जुड़ गई है।

श्री आदिकुमार का सुनन्दा के साथ विवाह हुआ। इस घटना को कई सुधारक लोग, 'पुनर्विवाह' बता कर बिधवा-विवाह के पक्ष में बरबस बसीट ले जाते हैं। यह उनका अन्याय है। पत्नी बनने के पूर्व ही विधवा मान लेने जैसी बेसमझी इस बात में है। यह ठीक है कि युगलिक ही पति-पत्नी बन जाते हैं। यदि सुनन्दा के साथ जन्मा हुआ युगल नहीं मरता, तो वही उसका पति बनता, किंतु उनका भाई-बहिन का सम्बन्ध भी तो मानना चाहिए न? क्या युगलिकों में भाई-बहिन होते ही नहीं? और गर्भ से ही पति-पत्नी बन कर जन्म लेते थे? वास्तव में वे जब तक माता-पिता के संरक्षण में रहते थे, तब तक भाई-बहिन के रूप में रहते थे और ज्यों ही सयाने हुए कि स्वतन्त्र विचरण करने लगते। स्वतन्त्र विचरण के दिन से उन्हें पति-पत्नी मानना उचित है। इसके पूर्व वे भाई-बहिन थे। सुनन्दा के साथ जन्मे हुए बच्चे का मरण बाल्य में (भाई-बहिन के रूप में माता-पिता के संरक्षण में रहते थे, तभी) हो गया था। अतएव उसे कुंवारी (अपरिणिता) मानना ही उचित है। जब उसमें पत्नी-भाव की उत्पत्ति ही नहीं हुई, तो उसे कितना कैसे माय की गई? यह अन्याय कहीं है क्या?

भरत-बाहुवली और ब्राह्मी-सुन्दरी का जन्म

श्री ऋषभकुमार अपनी दोनों पत्नियों के साथ, वेदमोहनीय वर्म के अनुसार अनासक्त भाव से भोग भोगने लगे। कुछ कम छः लाख पूर्व तक भोग भोगने के बाद 'बाहु' और 'पीठ' के जीव, सर्वाशंसिद्ध महाविमान से च्यव कर श्री सुमंगलाजी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुए और 'सुबाहु' तथा 'महापीठ' के जीव श्री सुनन्दाजी के गर्भ में उत्पन्न हुए। सुमंगलाजी ने श्रीमरुदेवा के समान चौदह महास्वप्न देखे और श्रीऋषभकुमार को स्वप्न की बात कही। श्री ऋषभकुमार ने कहा—“प्रिये ! तुम्हारे गर्भ में रहा हुआ बालक, प्रथम चक्रवर्ती नरेश होगा।” गर्भ-काल पूर्ण होने पर सुमंगलाजी की कुक्षि से युगल का जन्म हुआ। पुत्र का नाम 'भरत' और पुत्री का नाम 'ब्राह्मी' दिया गया। श्री सुनन्दाजी के पुत्र का नाम 'बाहुवली' और पुत्री का नाम 'सुन्दरी' रखा। इसके बाद श्री सुमंगलाजी ने अनुक्रम से ८९ युगल पुत्रों (९८ पुत्रों) को जन्म दिया। जिस प्रकार अनेक शाखाओं से वृक्ष सुशोभित होता है, उसी प्रकार पुत्री और पुत्रों से श्री ऋषभ-देवजी सुशोभित थे।

कर्म-भूमि का प्रारम्भ—राज्य स्थापना

जिस प्रकार प्रातःकाल में दीपक का प्रकाश कम हो जाता है, उसी प्रकार अकर्म-भूमि के वीत जाने और कर्म-भूमि के उदय से कल्पवृक्षों का प्रभाव क्षीण होने लगा। वे थोड़े फल देने लगे। उधर शान्त प्रकृति वाले युगलिकों में कषाय की भावना जग कर वृद्धि पाने लगी। वे 'हकार,' 'मकार' और 'धिवकार' की नीति की अवहेलना करने लगे। इस परिस्थिति को देख कर कुछ युगलिक एकत्रित हो कर श्री आदिनाथ के पास आये और व्यवस्था जमाने का निवेदन किया। श्री आदिनाथजी ने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर देख लिया कि “अब सुव्यवस्था और शान्ति के लिए सत्ताधारी शासक की आवश्यकता है। इसके बिना न तो व्यवस्था रहेगी, न शान्ति ही। अव्यवस्था ही अशान्ति की जड़ है। इसका उपाय मुझे ही करना पड़ेगा। कर्म-भूमि के आदिकाल में यह व्यवस्था इसी प्रकार हुई और होती रहेगी। मेरा उदय भी उसी के अनुसार है”—इस प्रकार सोच कर कहा—

“आपके सामने जो समस्या है, वह आगे चल कर बढ़ेगी। इसके लिए आपको एक शासक की आवश्यकता है। आप अपने लिए एक शासक नियुक्त कर लें। वह सम्पूर्ण अधिकार और सैन्य-शक्ति के साथ आप पर शासन करेगा और आपकी कठिनाइयों को दूर

करेगा। आप सभी को उस शासक की आज्ञा में रहना पड़ेगा।”

उपस्थित समूह ने कहा—“स्वामिन् ! आप ही हमारे स्वामी हैं। हम और किस स्वामी के पास जावें ? आप से बढ़ कर अथवा आपके समान दूसरा कोई भी व्यक्ति नहीं है। इसलिए आप ही हमारे शासक बन कर हमारी प्रतिपालना करें।”

श्री ऋषभदेव ने कहा—“आप अपने कुलकर के पास जा कर प्रार्थना करें। वे आपके लिए शासक की व्यवस्था करेंगे।” सभी युगलिक श्री नाभि कुलकर के पास गये और प्रार्थना की। नाभि कुलकर ने कहा—“ऋषभ आपका राजा होगा।” सभी युगलिक प्रभु के पास आये और नाभि कुलकर की आज्ञा सुनाई।

उस समय सौधर्म स्वर्गाधिपति शक्रेन्द्र का आसन चलित हुआ। उसने अवधिज्ञान से प्रभु के राज्याभिषेक का समय जान कर राज्याभिषेक करने के लिए प्रभु के पास आया। उसने स्वर्ण की वेदिका और उस पर एक सिंहासन बनाया और तीर्थ-जल से अभिसिञ्चित कर राज्याभिषेक किया। दिव्य वस्त्र परिधान कराये। रत्नों के मुकुट आदि अलंकार धारण कराये। इसके बाद इन्द्र, उन सभी के रहने के लिए ‘विनीता’ नाम की नगरी निर्माण करने का ‘कुबेर’ को आदेश दे कर स्वर्ग में चला गया।

कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी ऐसी विनीता नगरी का निर्माण किया और उसका दूसरा नाम ‘अयोध्या’ भी रखा। भव्य, सुन्दर और सभी प्रकार की सुविधाओं से परिपूर्ण भवन बनाये। बाजार, हाट, उद्यान, बाग-बगीचे आदि यथास्थान बनाये। बालकों के खेलने के लिए रमणीय स्थान। आवास बड़े ही सुन्दर, खिड़कियों और कमरे आदि से परिपूर्ण। सभी प्रकार की सजाई के सामान और गृहकार्य के लिए उपयोगी ऐसे पलंग, आसन, शयन और अन्य सभी प्रकार के उपकरणों की व्यवस्था कर दी। नगरी को धन-धान्य और वस्त्रादि से परिपूर्ण की। सुरक्षार्थ किला बनाया। लाखों कूप, बावड़ी, कुण्ड, गृहवापिका आदि निर्माण किये।

जन्म से बीस लाख पूर्व बीतने पर श्री ऋषभदेवजी इस अवसर्पिणीकाल के प्रथम नरेश हुए। वे अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन करते थे। काल-प्रभाव से मनुष्यों के मनोगत भावों में भी क्लिष्टता आ गई थी। इससे संघर्ष भी होने लगे थे। अतएव सज्जनों का पालन करने और दुष्टों का दमन करने के लिए योग्य मंत्रियों को नियुक्त किया। चोर आदि से प्रजा को बचाने के लिए ‘आरक्षक’ नियुक्त किया। हयदल, गयदल, रथदल और पायदल, इस प्रकार चार प्रकार की सेना बनाई और बलवान् सेनापति

स्थापित किया। गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को भी उपयोग के लिए ग्रहण किये।

कुछ समय बाद कल्पवृक्ष नष्ट हो गए और साधारण वृक्ष उत्पन्न हुए। उस समय लोग कन्द, मूल, फल और गेहूँ, चनादि धान्य, कच्चे और छिलके सहित ही खा जाते थे। कच्चे धान्य के खाने से उनकी पाचन-क्रिया चिगड़ी और पेट में गड़बड़ी उत्पन्न हुई, तो वे श्री ऋषभ नरेश के पास आये और निवेदन किया, तब नरेश ने कहा—“तुम धान्य को साफ कर के छिलके हटा कर खाओ।” कुछ दिन बाद यह भी नहीं पचा, तो फिर नरेश के पास आये। प्रभु ने पानी में भिगो कर नरम होने पर खाने का निर्देश दिया। कुछ दिन बाद, भीगा हुआ अन्न भी नहीं पचने लगा, तो नरेश ने उस भीगे हुए अन्न को मुष्टि या बगल में दबा कर और शरीर की गर्मी दे कर खाने की सलाह दी। जब यह भी कष्ट कर हुआ, तो लोग दुःख का अनुभव करने लगे। इतने में वृक्षों के परस्पर घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई और तृण-काष्ठादि जलने लगे। तब उत्पन्न वादर अग्नि को लोग आश्चर्य-पूर्वक देखने लगे और प्रकाशमान अग्नि को रतन समझ कर ग्रहण करने को क्षपटे, किंतु इससे उनके हाथ जले। हाथ जलने पर वे श्री ऋषभ नरेश के पास गये। नरेश ने कहा—“स्निग्ध और रुक्ष काल के योग से अग्नि उत्पन्न हुई है। अग्नि की उत्पत्ति न तो एकान्त स्निग्ध काल में होती है और न एकान्त रुक्ष काल में। तुम उसे हाथों से मत छुओ। उनके आस-पास के घास आदि को हटा दो, जिससे वह फैले नहीं। फिर उसमें धान्य आदि को पका कर खाओ।” उन अनजान लोगों ने जब धान्य और फलों को अग्नि में डाला, तो वे जल गये और वे खड़े-खड़े देखते ही रहे। वे फिर नरेश के पास आये और कहा—“स्वामिन् ! अग्नि तो भुक्खड़ है। वह सभी चीजें खा गई।” प्रभु ने गीली मिट्टी का एक पिंड लिया और उसे फैला कर बताते हुए कहा—“तुम इस प्रकार मिट्टी का पात्र बना कर उसे सुखालो और उसमें धान्य रख कर अग्नि पर रखो और पकाओ। वह जलेगा नहीं और तुम्हारे खाने योग्य हो जायगा।” मिट्टी का पात्र बना कर आदि नरेश ने सर्वप्रथम कृषिकार का शिल्प प्रकट किया। इसके बाद घर बनाने की कला बताई। फिर वस्त्र-निर्माण कला, केश-कर्त्तन की कला, चित्रकला आदि कलाएँ दिखाई। अन्न उत्पन्न करने के लिए कृषि-कर्म और व्यापार आदि बताये। साम, दाम, दंड और भेद, ऐसे चार उपाय से नागरिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्था कायम की। अपने ज्येष्ठ पुत्र ‘भरत’ को बहत्तर कलाएँ सिखाई। भरत ने अपने भाइयों और पुत्रों आदि को उन कलाओं की शिक्षा दी। बाहुबली को हस्ति, अश्व, स्त्री और पुरुष के लक्षणों का बोध दिया। ब्राह्मी

को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपि सिखाई और सुन्दरी को बायें हाथ से गणित, तोल, नाप आदि बताये और मणि आदि के उपयोग करने की विधि बताई। नरेश के आदेश से वादी-प्रतिवादी का विचार, राजा, अध्यक्ष और कुलगुरु की साक्षी से चलने लगा। धनुर्वेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, युद्ध आदि तथा माता, पिता, भ्राता आदि सम्बन्ध उसी समय से चलने लगे। प्रभु का विवाह देख कर तदनुसार विवाह होने लगे।

उपरोक्त सभी कार्य मावय हैं, फिर भी श्री आदि नरेश ने उदयानुसार, अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए प्रवृत्ति की।

इसके बाद उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल और क्षत्रियकुल—ऐसे चार भेद से कुल की रचना की। उग्र-दण्ड के अधिकारी—आरक्षक को 'उग्रकुल,' मन्त्री आदि को 'भोगकुल,' मित्र-गण 'राजन्यकुल' और शेष सभी 'क्षत्रियकुल' के कहलये। इस प्रकार व्यवहार-नीति का प्रवर्तन किया। यों अनेक प्रकार की सुव्यवस्था में यह भरत-क्षेत्र प्रायः महाविदेह क्षेत्र के समान हो गया। इस प्रकार आदि नरेश ने तिरसठ लाख पूर्व तक राज्य का पालन किया।

प्रभु को वैराग्य और देवों द्वारा उद्बोधन

एक बार वनिता के उद्यान में वसंतोत्सव मनाया जा रहा था। परिवार के अनु-रोध से आप भी उसमें सम्मिलित हुए। वहाँ लोगों की मोहलीला—खेल-कूद, हँसी-मजाक, नृत्य-गान आदि विकारवर्धक चेष्टा देख कर आपको विचार हुआ कि—ऐसे उत्सव तो मैंने पहले कभी कहीं देखे हैं। ऐसा विचार आते ही अवधिज्ञान के उपयोग से अनुत्तर विमान और उससे भी पूर्व के भव देखे और पूर्व के भोगे हुए सुख तथा पाला हुआ चारित्र साक्षात् दिखाई दिया। मोह के कटु विषाक का विचार करते हुए प्रभु को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे संसार से विरक्त हो गए। भगवान् के विरक्त होने पर, ब्रह्म देवलोक के अंत में रहने वाले—१ सारस्वत २ आदित्य ३ वह्नि ४ अरुण ५ गर्दतीय ६ तुषिताश्व ७ अब्याबाध ८ मरुत और ९ रिष्य—ये नौ प्रकार के लोकांतिक देव, प्रभु के समीप उपस्थित हुए और परम विनीत हो कर नम्र निवेदन करने लगे—

“हे प्रभु ! बहुत लम्बे काल से भरत-क्षेत्र में से नष्ट हुए मोक्षमार्ग रूपी धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवों पर उपकार करें। आपने लोकव्यवस्था कर के जनता का ऐहिक उपकार तो कर दिया और नीति प्रचलित कर दी। अब धर्मतीर्थ को चला कर

परम सुख का मार्ग खोलें।”

इस प्रकार निवेदन कर के लोकान्तिक देव, स्वर्ग में गये और प्रभु अभिनिष्क्रमण की इच्छा करते हुए भवन में पधारे।

वर्षादान

संसार से विरक्त बने हुए श्री आदिनाथजी ने अपने सामन्तों और भरतादि पुत्रों को बुलाया और सभी के सामने संसार-त्याग की भावना व्यक्त करते हुए कहा—

“मैं अब इस राज्य और परिवार को त्याग कर निर्ग्रन्थ बनना चाहता हूँ। अब आप अपनी व्यवस्था संभालें। मनुष्य को संसार में ही नहीं फँसा रहना चाहिए। उसे जीवन में उस महान् कर्तव्य का भी पालन करना चाहिए जिससे जन्म-मरण का अनादि से लगा हुआ दुःख मिट कर शाश्वत एवं अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो। मैं इसी कर्तव्य का पालन करने के लिए, आप सभी को छोड़ कर प्रव्रजित होऊँगा। आप भी इस ध्येय को दृष्टि में रखें और जब तक वैसी तय्यारी नहीं हो, तब तक उत्तरदायित्व को भली प्रकार से निभाते रहें।”

प्रभु ने राजकुमार भरत को सम्बोधित करते हुए कहा—

“पुत्र ! तू इस राज्य को संभाल। मैं तो अब संयम रूपी राज्य ग्रहण करूँगा। इस राज्य में अब मेरी रुचि नहीं रही।”

भरत हाथ जोड़ कर विनयपूर्वक कहने लगे—“स्वामिन् ! आप के चरण-कमल की सेवा में होने वाले सुख-सागर को छोड़ कर राज्य की झंझट में पड़ने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो श्रीचरणों की छत्र-छाया में ही परम सुख का अनुभव कर रहा हूँ। आप मुझे इस सुख से वञ्चित नहीं करें।”

“भरत ! तुम्हें समझना चाहिए। मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे रोकना मेरे हित में नहीं होगा। तुमको मेरी इच्छा का आदर कर के मुझे अन्तिक राज्य प्राप्त करने में सहायक बनना चाहिए और यह राज्य-भार ग्रहण करना चाहिए। यदि राज्य-व्यवस्था नहीं संभाली जाय, तो ‘मच्छमलागल’ चल जाय (बड़ा मच्छ, छोटे मच्छ को निगल जाता है, इसी प्रकार शक्तिशाली, गरीब को लूट ले)। इसलिए तुम इस राज्य-भार को ग्रहण करो और इसका भली प्रकार से पालन करो।”

प्रभु के आदेश को शिरोधार्य कर भरत ने राज्य-भार ग्रहण करना स्वीकार किया और प्रभु के आदेश से अमात्य, सामन्त और सेनापति आदि ने भरतकुमार का राज्याभिषेक किया। भरत के अतिरिक्त बाहुबली आदि ९९ पुत्रों को योग्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् देशों का राज्य दिया। इसके बाद श्रीऋषभदेवजी ने साम्बत्सरिक दान देना प्रारंभ किया। जब वर्षोदान देना प्रारम्भ हुआ, तो इन्द्र के आदेश से कुबेर ने जूँभक देवों के द्वारा श्रीभण्डार में ऐसा द्रव्य जमा किया कि जो भूमि में, वाग, उद्यान, श्मशान, जलाशय आदि में दबा हो, जिसका कोई स्वामी नहीं हो और जिसकी वंश-परम्परा में कोई नहीं बचा हो।

वर्षोदान प्रारम्भ करने के पूर्व यह उद्घोषणा करवाई कि—जिसे जो वस्तु चाहिए, उसे वह वस्तु दान में दी जायगी। प्रतिदिन प्रातःकाल से लगा कर भोजन के समय तक श्री आदिनाथजी, एक कोटी आठ लाख सोनैये का दान करने लगे।

दीक्षा

जब नित्यदान को एक वर्ष पूरा हो गया और प्रव्रजित होने का समय आया, तो शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। वह भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने भगवान् का दीक्षाभिषेक किया। 'सुदर्शना' नाम की शिविका में प्रभु बिराजे। प्रथम मनुष्यों ने और बाद में देवों ने शिविका उठाई। सुर और असुरों ने मंगल बाजे बजा कर दिशाओं को गुंजा दिया। चामर बिजने लगे। भगवन्त का जयजयकार करते हुए भगवान् को सवारी निकली। भगवान् को जाते देख कर वनिता नगरी के लोग उनके पीछे पीछे दौड़ने लगे। देव-गण अपने विमानों में बैठ कर आकाश मार्ग से आने लगे। भगवान् के दोनों ओर भरत और बाहुबली बैठे थे। अन्य अठाणु पुत्र प्रभु के पीछे चल रहे थे। मरु-देवी माता, सुमंगला और सुनन्दा रानी, ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्री और अन्य स्त्रियें सजल नयन हो पीछे-पीछे चल रही थी। भगवान्, सिद्धार्थ नामक उद्यान में पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। भगवान् ने अपने आभूषण और वस्त्र उतार दिये। उसी समय इन्द्र ने एक देवदूष्य वस्त्र भगवान् के कन्धे पर रख दिया।

यह चैत्र-कृष्ण अष्टमी का दिन था। चन्द्र, उत्तराषाढा नक्षत्र में आया हुआ था। दिन के अंतिम प्रहर में देवों और मनुष्यों के, बहुत बड़े समूह के सामने प्रभु ने चार मुष्टि लोच किया। प्रभु के केशों को सौधर्मपति शक्रेन्द्र ने अपने दस्त्र में ग्रहण किया। जब

भगवान् पाँचवीं मूढि से शिखा का लुंचन करने लगे, तब इन्द्र ने निवेदन किया—“हे स्वामी ! अब इतने केश तो रहने दीजिए, क्योंकि जब ये केश हवा से उड़ कर आपके कन्धे पर आते हैं, तब मर्कत मणि के समान शोभिन होते हैं।” प्रभु ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्द्र ने भगवान् द्वारा लुंचित केशों को क्षीर समुद्र में प्रवेश कराया।

अब इन्द्र की आज्ञा से वादिन्त्र बजाना रोक दिया गया। फिर बेले के तप से युक्त ऐसे श्री नाभिकुमार ने देवों और मनुष्यों के समक्ष, मिद्ध को नमस्कार कर के इस प्रकार उच्चारण किया—

“मैं सभी पापकारी प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ।”

इस प्रकार उच्चारण कर के चारित्र ग्रहण किया। जिस प्रकार शरद ऋतु की तेज धूप से तपे हुए मनुष्य को बादल की छाया आ जाने से शांति मिलती है, उसी प्रकार प्रभु के मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होते ही नारकी के जीवों को भी क्षणभर के लिए शांति मिली। भगवान् को संयमरूपी धर्म-रथ पर आरूढ़ होते ही मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। प्रभु के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हो गए। इसके बाद इन्द्र और अन्य देवी-देवता, भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के अपने-अपने स्थान पर चले गए और नन्दीश्वर द्वीप पर अठाई महोत्सव किया। भरत-बाहुबली आदि परिवार भी शोक-संतप्त होते हुए बड़ी कठिनाई से स्वस्थान आये।

प्रव्रजित होने के बाद इस अवसर्पिणी काल के आदि महामुनि श्री ऋषभदेवजी ने मौन धारण कर के अपने ‘कच्छ,’ ‘महाकच्छ’ आदि मुनियों के साथ विहार किया। बेले के पारणे के दिन प्रभु को किसी भी स्थान से भिक्षा नहीं मिली। उस समय लोग भिक्षा-दान करना जानते ही नहीं थे। उस समय उस क्षेत्र में कोई भिक्षु नहीं था। प्रभु ही आदि-भिक्षुक हुए, तब लोग भिक्षा देना क्या जाने? और प्रभु तो मौन ही रहते थे। जब प्रभु भिक्षा के लिए किसी के यहाँ जाते, तो वह यही समझता कि ‘हमारे महाराजाधिराज हमारे घर आये हैं।’ भगवान् ने मौनपूर्वक विचरने की प्रतिज्ञा कर ली थी। जब भगवान् भिक्षार्थ जाते, तो लोग उत्तम घोड़े, हाथी और अनिन्द्य सुन्दर कन्याएँ ले कर उपस्थित होते, कोई हीरे-मोती और बहुमूल्य आभूषण ले कर अर्पण करने आता, कोई विविध वर्ण के बहुमूल्य वस्त्र ले कर अर्पण करने आता। इस प्रकार बहुमूल्य भेंट ले कर लोग आते, किन्तु भोजन-पानी देने का कोई नहीं कहता। प्रभु उन सभी भेंटों को अग्राह्य होने के कारण स्वीकार नहीं करते और लौट जाते। उनका अनुकरण करने वाले स्वयं दीक्षित

राजागण भी लौट जाते ।

साधुओं का पतन और तापस-परम्परा

इस प्रकार निराहार रहते कई दिन बीत गए, तब क्षुधा आदि परीषहों से दुःखी हुए और तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ साधु, आपस में विचार करने लगे—“हमसे अब यह दुःख सहन नहीं होता । भगवान् तो कुछ बोलते ही नहीं । अब हम क्या करें ?” उन्होंने कच्छ-महाकच्छ मुनि से पूछा । उन्होंने भी कहा—“भगवान् के मन की बात हम भी नहीं जानते । किन्तु अब घर चलना भी अनुचित है, क्योंकि हमने अपना राज्य तो भरतजी को दे दिया और साधु बन कर निकल गये । अब पीछा लौटना उचित नहीं है । इससे अच्छा यही है कि किसी ऐसे वन में हम रुक जायें कि जिसमें अच्छे-अच्छे फल हों और पीने के लिए पानी भी मिल सके ।” इस प्रकार विचार कर के वे गंगा नदी के निकट रहे हुए वन में गये और इच्छानुसार कंद-मूल-फलादि का आहार करने लगे और वल्कल से तन ढाँकने लगे । तभी से कंदमूलादि का आहार करने वाले जटाधारी तापसों की परम्परा चली ।

विद्याधर राज्य की स्थापना

कच्छ और महाकच्छ राजा केनमि और विनमि पुत्र थे । वे प्रभु की दीक्षा के पूर्व ही कार्यवश विदेश चले गये । जब वे लौट कर आये, तो उनके पिता उन्होंने वन में तापस के रूप में मिले । उन्होंने पूछा—“आपकी यह दशा क्यों हुई ?” उन्होंने अपनी प्रव्रज्या की बात कही । जब नमि-विनमि को मालूम हुआ कि उनकी राजधानी नहीं रही, तो वे खोज करते हुए भगवान् ऋषभदेव के पास आये । भगवान् ध्यान युक्त खड़े थे । उन्होंने निवेदन किया—“आपने अपने पुत्रों को तो राज्य दे दिया, लेकिन हम तो यों ही रह गए । अब हमें भी कहीं का राज्य दीजिए ।” भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया, तो उन्होंने सोचा—“हम इन्हीं की सेवा करेंगे । इन्हें छोड़ कर महाराज भरत या और किसी के पास क्यों जावें ? जिन्होंने भरत को राज्य दिया, वे हमको भी देंगे ।” इस प्रकार सोच कर वे दोनों भगवान् के साथ रह गए । भगवान् जहाँ पधारते, वहाँ ये भी पीछे-पीछे जाते और जहाँ ठहरते, वहाँ ये भी ठहर कर आस-पास के स्थान की सफाई करते, उसे स्वच्छ बनाते

और सुगन्धित पुष्प बिखेरते । फिर हाथ में तलवार ले कर दोनों ओर अंग-रक्षक के समान खड़े रह कर पहरा देते । वे प्रतिदिन त्रिकाल वन्दना कर के निवेदन करते — “हमें आप ही राज्य दीजिए । हम आपको छोड़ कर अन्यत्र नहीं जावेंगे ।” कालान्तर में नागकुमार की जाति के देवों का धरणेन्द्र, भगवान् के दर्शन करने आया । उसने नमि-विनमि को भक्ति करते हुए और राज्यश्री की याचना करते हुए देख कर पूछा—“अरे भाई ! तुम कौन हो और भगवान् से क्या माँगते हो ? देखते नहीं, ये तो निर्ग्रन्थ हैं ।” उन्होंने कहा—

“ये हमारे स्वामी हैं । हम विदेश गये, पीछे से आपने अपने पुत्रों को राज दे दिया और साधु बन गए और हम यों ही रह गए । अब हम इनसे राज्य की याचना करते हैं ।”

धरणेन्द्र ने कहा—“अब तो ये साधु हैं । इनके पास कुछ भी नहीं बचा । तुम भरत महाराज के पास जाओ । वे तुम्हारी माँग पूरी करेंगे ।”

—“नहीं भाई ! हम तो इनसे ही लेंगे । भरत के पास जावें और वे कह दे कि ‘मुझे तो पिताजी ने दिया और तुम्हारे पिता ने अपनी इच्छा से छोड़ा,’ तो फिर हम क्या करें ? हम तो इन्हीं से राज्य लेंगे । ऐसे समर्थ स्वामी को छोड़ कर दूसरे के सामने हाथ पसारने कौन जावे ।”

—“अरे भाई ! तुम समझते क्यों नहीं ? जब इनके पास कुछ भी नहीं है, तो तुम्हें क्या देंगे ?”—धरणेन्द्र ने पुनः समझाया ।

—“महाशय ! आप अपना काम करिये । हम यहाँ से टलने वाले नहीं हैं” —नमि-विनमि ने कहा ।

नागेन्द्र इनके भोलेपन पर प्रसन्न हो गया । उसने कहा—

“मैं भवनपति देव की नाग जाति का इन्द्र और इन महापुरुष का सेवक हूँ । तुम्हारी प्रभु-भक्ति देख कर मैं प्रसन्न हूँ । तुम भाग्यशाली हो । मैं तुम्हें तुम्हारी प्रभु-भक्ति के फलस्वरूप विद्याधरों का ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ ।” धरणेन्द्र ने नमि-विनमि को ‘गौरी,’ ‘विज्ञप्ति’ आदि अड़तालीस हजार विद्याएँ दी और कहा कि “तुम वैताढ्य पर्वत पर जा कर दोनों श्रेणी में नगर बसा कर राज्य करो ।” नमि-विनमि ने विद्या के बल पर पुष्पक नाम का विमान तैयार किया और धरणेन्द्र के साथ विमान में बैठ कर अपने पिता कच्छ-महाकच्छ के पास आये । उन्हें अपनी सफलता सुनाई । फिर भरत महाराज के पास आ कर उन्हें भी निवेदन किया और स्वजनादि को साथ ले, विमान में बैठ

कर वेताढ्य पर्वत पर आये। नमि ने दक्षिण श्रेणी पर पचास नगर बसाये और 'रथनुपुर' नगर बसा कर राजधानी बनाई। विनमि ने उत्तर श्रेणी में साठ नगर बसाये और 'गगनवल्लभ' नगर को राजधानी बनाया। वे दोनों धरणेन्द्र की बताई रीति से न्याय और नीति पृथक् राज करने लगे।

भगवान् का पारणा

भगवान् आदिनाथजी मौन रह कर, निराहार एक वर्ष पर्यन्त आर्य-अनार्य देशों में विचरते रहे। विचरते-विचरते प्रभु 'गजपुर' (हस्तिनापुर) नामक नगर में पधारे। उस नगर में बाहुबली के पौत्र व सोमप्रभः राजा के पुत्र 'श्रेयांस कुमार' रहते थे। उन्होंने स्वप्न में देखा कि—'मेरु पर्वत जो स्वर्ण के समान है, वह कुछ श्याम हो गया है। उस पर्वतराज का उन्होंने दूध से अभिषेक कर के उज्ज्वल किया। उसका कालापन मिटाया।' उसी रात को 'सुबुद्धि' नाम के सेठ ने यह स्वप्न देखा—'सूर्य से निकल कर गिरी हुई सूर्य की सहस्र किरणों को श्रेयांस कुमार ने पुनः सूर्य में प्रवेश कराया, इससे सूर्य अत्यन्त प्रकाशमान हुआ। 'सोमप्रभः' नाम के राजा ने स्वप्न में देखा कि—'अनेक शत्रुओं से घिरे हुए किसी राजा ने मेरे पुत्र श्रेयांस कुमार की सहायता से विजय प्राप्त की।' श्रेयांस कुमार, सुबुद्धि सेठ और 'सोमप्रभः' राजा ने अपने-अपने स्वप्न का वर्णन एक दूसरे के सामने किया, किन्तु वे अपने स्वप्न के परिणाम का निर्णय नहीं कर सके। भगवान् ऋषभदेवजी ने उसी दिन हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। प्रभु को आते देख कर लोग अपने-अपने घर से निकल कर प्रभु के निकट आ गये और अपने-अपने घर पधारने का आग्रह करने लगे। कोई स्नान, मर्दन, विलेपन के लिए आग्रह करने लगा, तो कोई वस्त्र, रत्न आभूषणादि ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करने लगा और कोई अपनी परम सुन्दरी युवती कन्या ग्रहण करने का आग्रह करने लगा। कोई रथ, कोई घोड़ा, इस प्रकार लोग विविध प्रकार की भोग योग्य वस्तुएँ ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे। किन्तु प्रभु उन सभी की प्रार्थना की उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ते रहे। लोगों का कोलाहल बढ़ने लगा। जब यह कोलाहल श्रेयांस कुमार के कानों तक पहुँचा, तो उसने अपने सेवक को कारण जानने के लिए भेजा। सेवक ने लौट कर निवेदन किया—“भगवान् ऋषभदेव पधारें हैं।” श्रेयांस कुमार यह शुभ सम्वाद सुन कर उठा और हर्षोल्लासपूर्वक प्रभु के सन्मुख आया। उस समय प्रभु उसके आंगन में पधार गए

थे । कुमार ने वन्दन-नमस्कार किया और अपलक दृष्टि से प्रभु के श्रीमुख को देखने लगा । उसे विचार हुआ कि “ऐसे महापुरुष को मैंने पहले भी देखा है ।” इस प्रकार विचार करते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने जाना कि—

“पूर्व-विदेह क्षेत्र में भगवान्, वज्रनाभ के भव में चक्रवर्ती सम्राट थे, तब मैं उनका सारथी था । उसके पिता वज्रसेन महाराज तीर्थंकर थे । उन्हें मैंने इसी रूप में देखे थे । जब श्री वज्रनाभ चक्रवर्ती ने श्री वज्रसेन तीर्थंकर के समीप दीक्षा ली, तब मैंने भी उसके साथ दीक्षा ली थी । उस समय तीर्थंकर भगवान् के श्रीमुख से मैंने सुना था कि यह वज्रनाभ, भरत-क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर होगा । मैं स्वयंप्रभादि के भव में इनके साथ रहा हूँ । इस भव में ये मेरे प्रपितामह हैं । सद्भाग्य से ये आज मेरे यहाँ पधार गये हैं ।” इस प्रकार वह विचार करता ही था कि किसी ने आ कर उसे इक्षु-रस के घड़े भेंट किए । श्रेयांस कुमार जातिस्मरण ज्ञान से निर्दोष भिक्षा-विधि जान गया था । उसने प्रभु से वह कल्पनीय रस ग्रहण करने की प्रार्थना की । प्रभु ने दोनों हाथों का करपात्र बना कर आगे किया । श्रेयांस कुमार इक्षु-रस के घड़े ले कर भगवान् के कर-पात्र में खाली करने लगा और भगवान् रस-पान करने लगे । श्रेयांस कुमार के हृष का पार नहीं रहा । इस अवसर्पिणी के आदि महाभ्रमण श्री ऋषभदेवजी ने दीक्षा लेने के एक वर्ष बाद पहली बार इक्षु-रस का पान किया । ब्रेले के लप के साथ चेत्र कु० ८ को दीक्षा ली थी, जिसका पारणा एक वर्ष बाद हुआ । प्रभु के पारणे से मनुष्यों और देवों में प्रसन्नता छा गई । आकाश में देव-बुंदुभि बजने लगी । देवगण “अहोदानम्, अहोदानम्” का उच्चारण करने लगे । रत्नों की वृष्टि, पाँच वर्ण के उत्तम पुष्पों की वृष्टि, गन्धोदक की वृष्टि और वस्त्रों की वृष्टि, इस प्रकार पाँच दिव्य प्रकट हुए । धर्मदान की प्रवृत्ति इस प्रकार श्री श्रेयांस कुमार से प्रारंभ हुई ।

प्रभु के पारणे की बात जान कर और रत्नादि की वृष्टि से विस्मित हो कर राजा और नागरिकजन श्रेयांस कुमार के भवन पर आने लगे । कच्छ और महाकच्छ आदि क्षत्री तापस भी आये । वे सभी हर्षोत्फुल्ल हो कर श्रेयांस कुमार को धन्यवाद दे कर उसके सौभाग्य की सराहना करने लगे और कहने लगे कि “प्रभु ने हम सभी के आग्रह और प्रार्थना की उपेक्षा की । हमारा आतिथ्य ग्रहण नहीं किया और हमें इस प्रकार भूला दिया कि जैसे हमें जानते ही नहीं हो—जब कि प्रभु ने हमारा लाखों पूर्व तक पुत्र के समान पालन किया था ।”

श्रेयांस कुमार ने उनका समाधान करते हुए कहा—“आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिए। प्रभु पहले तो परिग्रहधारी राजा थे। किंतु संसार त्यागने के बाद सभी सावद्य योगों का त्याग कर के साधु बन गए। उन्होंने सभी प्रकार के परिग्रह और योगों को त्याग दिया है। फिर वे धन, हाथी, घोड़े और कामिनियों को स्वीकार कैसे कर सकते हैं? यदि उन्हें आपसे ये वस्तुएँ लेनी होती, तो प्राप्त सम्पदा को त्याग कर क्यों निकलते? प्रभु तो अब खाने-पीने के लिए अन्न-पानी भी वैसा ही लेते हैं, जो हम लोग अपने लिए बनाते हैं, जो जीव-रहित और सभी प्रकार के दोषों से रहित हो। आप, प्रभु की चर्या को नहीं जानते हैं, इसलिए आप निर्दोष आहार-पानी को छोड़ कर दूसरी अनुपयोगी और संसारियों के लिए उपयोग में आने वाली चीजें ग्रहण करने की भगवान् से प्रार्थना करते रहे। ऐसी प्रार्थना कैसे स्वीकार हो सकती है?

“युवराज! हम तो उन्हीं बातों को जानते हैं, जो प्रभु ने हमें सिखाई है। प्रभु ने हमें ऐसे धर्मदान की विधि तो बताई ही नहीं, तब हम कैसे जानते? किंतु आपने यह बात कैसे जान ली?”—लोगों ने पूछा

“जिस प्रकार ग्रंथ के अवलोकन से अज्ञात बातें जानी जाती हैं, उसी प्रकार मैंने भगवान् के श्रीमुख का अवलोकन करते हुए जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया और उससे मुझे विविध गति के आठ भवों का स्मरण हो आया और पूर्व-भव में भगवान् के साथ पाले हुए संयम के स्मरण से सारी विधि का ज्ञान हो गया। गत रात्रि को मैंने, मेरे पिताश्री ने और सेठ सुबुद्धि ने जो स्वप्न देखे, उसका प्रत्यक्ष फल प्राप्त हो गया। मैंने देखा—कंचन वर्ण वाला सुमेरु पर्वत श्याम हो गया और मैंने उसे दूध से सींच कर स्वच्छ किया। इसका प्रत्यक्ष फल मुझे यह मिला कि दीर्घ काल के उग्र तप से कृश हुए प्रभु को इक्षु-रस से पारणा कराया। जिससे वह पुनः सुशोभित हो गया।

“मेरे पिताश्री ने शत्रु के साथ युद्ध करते हुए जिन्हें देखा, वे प्रभु ही थे। प्रभु ने मेरे द्वारा इक्षु-रस का पारणा कर के परीषह रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की।”

“सुबुद्धि सेठ ने सूर्य-मण्डल से गिरी हुई सहस्र किरणों को मुझे पुनः सूर्यमंडल में आरोपित करते देखा, जिससे सूर्य पुनः सुशोभित हो गया। इसका फल सूर्य किरणों के समान प्रभु के शरीर का तेजःक्षीण हो रहा था, यह पारणे के प्रभाव से पुनः देदीप्यमान हो गया।”

+ श्री हेमचन्द्राचार्य ने यहाँ—सहस्रकिरण रूप ‘केवलज्ञान’ मान कर बिना आहार के केवल

इस प्रकार श्रेयांस कुमार से सुन कर सभी लोग अपने-अपने स्थान पर गये । भगवान् भी पारणा कर के अन्यत्र विहार कर गये ।

भगवान् को केवलज्ञान

भगवान् ऋषभदेवजी एक हजार वर्ष तक मौनयुक्त विविध प्रकार के तप एवं अभिग्रह करते हुए विचरते रहे । छद्मस्थावस्था के अंतिम दिन प्रभु वनीता नगरी के पुरिमताल नाम के उपनगर में पधारे और उसकी उत्तर-दिशा में स्थित 'शकटमुख' उद्यान में वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए । छद्मस्थकाल की तपश्चर्या में कर्म के वृन्द के वृन्द झड़ गये थे और आत्मा हलकी होती जा रही थी । घातीकर्मों की जड़ कटने की घड़ी निकट आ रही थी । ध्यान की धारा बढ़ी । अप्रमत्त गुणस्थान से अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर) गुणस्थान में प्रवेश करने का सामर्थ्य प्रकट हुआ । धर्मध्यान से आगे बढ़ कर शुक्लध्यान की प्रथम पंक्ति पर पहुँचे । आत्मबल सविशेष प्रकट होने लगा । सत्ता एवं उदय में आये हुए कर्म-शत्रु विशेष रूप से नष्ट होने लगे और विजयकूच आगे बढ़ने लगी । अपूर्वकरण से अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में पहुँचे, फिर सूक्ष्म-सम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में प्रवेश कर के शेष रहे हुए मोहनीय के महाअंग ऐसे लोभरूप महाशत्रु को भी परास्त कर के शुक्लध्यान की दूसरी सीढ़ी पर पहुँच गये और क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त कर लिया । इसके बाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीन कर्मों को एक साथ नष्ट कर दिया । इस प्रकार चारित्र अंगीकार करने के एक हजार वर्ष के बाद फालगुन-कृष्ण एकादशी को जब चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र में आया, तब प्रातःकाल के समय प्रभु को केवलज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुआ । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हुए । लोका-लोक के भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी भाव जानने-देखने लगे । प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने पर विश्व में एक प्रकाश फैल गया और सुखशान्ति की लहर व्याप्त हो गई । नारकीय जीवों को भी कुछ समय के लिए सुखानुभव हुआ ।

अष्ट' होना माना, किंतु यह कल्पना समझ में नहीं आई । धृधा-परीषह एवं तप का प्रभाव देह पर तो पड़ता है, किंतु उससे आत्मा भी कमजोर हो जाती है और आत्मगुण नष्ट होते हैं—ऐसा नहीं माना जाता । इसलिए हमने अपनी मति से यहाँ 'शरीर का तेज क्षीण होने' का लिखा है । फिर बहुश्रुत कहे, यह मत्त है ।

समवसरण की रचना

भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होते ही देवलोक के इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। इन्द्रों ने अपने अवधिज्ञान के उपयोग से जिनेश्वर भगवंत को केवलज्ञान होना जाना और वे सभी अपनी ऋद्धि के साथ केवल-महोत्सव करने के लिए आए।

आचार्य लिखते हैं कि इस बार सौधर्मन्द्र की सवारी में 'ऐरावण' नाम का गज-राज था। ऐरावण नाम का देव ही हाथी बना—पर्वत के समान विशाल और श्वेत वर्ण वाला। उसके आठ मुँह थे। प्रत्येक मुँह पर आठ लम्बे विस्तृत और कुछ टेढ़े दाँत थे। प्रत्येक दाँत पर स्वच्छ और सुस्वादु जल से भरी हुई एक-एक पुष्करिणी (बावड़ी) थी। प्रत्येक पुष्करिणी में आठ-आठ कमल थे। प्रत्येक कमल के आठ-आठ पत्र थे। प्रत्येक पत्र पर विभिन्न प्रकार के आठ-आठ नाटक हो रहे थे। ऐसे लाख योजन जितने विशाल गज-राज पर शक्रेन्द्र अपने परिवार सहित बैठा था। शक्रेन्द्र की सवारी चली। गजेन्द्र अपने विशाल देह को संकुचित करता हुआ थोड़ी ही देर में शकटमुख उद्यान में—जहाँ प्रभु बिराजमान थे, आ पहुँचा। अन्य इन्द्र भी आ उपस्थित हुए।

इसके पूर्व वायुकुमार देव ने उस क्षेत्र को एक योजन प्रमाण स्वच्छ कर दिया था और मेघकुमार देव ने सुगन्धित जल की वृष्टि में सिंचित कर दिया था। वहाँ वैमानिक देवों ने समवसरण के ऊपर के भाग का रत्नमय प्रथम गढ़ बनाया। और उस पर विविध प्रकार की मणियों के कंगूरे बना कर सुशोभित किया। उस गढ़ के आस-पास ज्योतिषी देवों ने स्वर्णमय गढ़ बनाया और रत्नमय कंगूरों से सुशोभित किया। यह मध्य गढ़ था। इसके बाहर भवनपति देवों ने रजतमय तीसरा गढ़ बनाया। यह स्वर्णमय कंगूरों से दर्शकों को आकर्षित कर रहा था। प्रत्येक गढ़ की चारों दिशाओं में एक-एक ऐसे चार दरवाजे थे। प्रत्येक गढ़ के पूर्व दरवाजे पर दोनों ओर एक-एक वैमानिक देव द्वारपाल हो कर खड़ा था, दक्षिण द्वार पर दो व्यन्तर देव, पश्चिम द्वार पर दो ज्योतिषी देव और उत्तर द्वार पर दो भवनपति देव पहरा दे रहे थे। दूसरे गढ़ के चारों द्वार पर प्रथम के समान चारों निकाय की दो-दो देवियाँ पहरे पर थीं और बाहर के गढ़ के चारों द्वार पर देव खड़े थे। समवसरण के मध्य में व्यन्तर देवों ने एक विशाल अशोक वृक्ष बन-वाया था। उस वृक्ष के नीचे विविध प्रकार के रत्नों से एक पीठिका बनाई और उस पर एक मणिमय छन्दक (पीठ को छत के समान आच्छादित करने वाला आवरण विशेष)

× देवों की वैक्रिय शक्ति के आगे यह कोई असंभव बात नहीं लगती।

● ऐसे गढ़ बनाने का उल्लेख समवायांग के अतिशयाधिकार में नहीं है।

बनाया। उसके मध्य में पूर्वदिशा की ओर पादपीठिका युक्त एक रत्नमय सिंहासन की रचना की। उस पर तीन छत्रों की व्यवस्था की। सिंहासन के आस-पास दो देव, श्वेत चामर ले कर खड़े रहे। समवसरण के चारों दरवाजों पर अद्भुत कान्ति वाला एक-एक 'धर्मचक्र' स्वर्ण-कमल में स्थापित किया।

प्रातःकाल, चारों प्रकार के देवों के विशाल समूह के साथ प्रभु, समवसरण में, पूर्व द्वार से पधारे और सिंहासन पर पूर्व-दिशा की ओर मुँह कर के विराजमान हुए। प्रभु के मस्तक के चारों ओर प्रभामण्डल प्रकाशमान हो रहा था। देव दुन्दुभि + आकाश में गंभीर प्रतिशब्द करती हुई बज रही थी। एक रत्नमय ध्वज, प्रभु के समीप शोभायमान हो रहा था।

वैमानिक देवियाँ पूर्व द्वार से प्रवेश कर के तीर्थङ्कर भगवान् को नमस्कार कर के प्रथम गढ़ में साधु-साधियों का स्थान छोड़ कर * अपने लिए नियत स्थान की ओर अग्निकोण में बैठी ×। भवनपति, ज्योतिषी और व्यन्तरी की देवांगनाएँ दक्षिण द्वार से प्रवेश कर नैऋत्य कोण में, और भवनपति, ज्योतिषी और व्यन्तर देव, पश्चिम द्वार से प्रवेश कर वायव्य कोण में बैठे। वैमानिक देवगण, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियें उत्तर दिशा के द्वार से समवसरण में प्रवेश कर के ईशानकोण में बैठे। दूसरे गढ़ में तिर्यञ्च आ कर बैठे और तीसरे गढ़ में सभी आने वालों के वाहन रहे।

प्रभु के समवसरण में किसी के लिए प्रतिबन्ध नहीं था। वहाँ कोई भी मनुष्य, देव और तिर्यञ्च आ सकते थे। उन्हें न तो किसी प्रकार का भय था, न वैर-विरोध ही। ये जातिगण अथवा पूर्व का कोई वैर-विरोध होता, तो भी शान्त रहता।

भरतेश्वर को बधाइयाँ

भगवान् के गृह-त्याग कर प्रज्ज्या स्वीकार करने के बाद पुत्र-विरह से मरुदेवी माता दुःखी रहती थी और आँसू बहाती रहती थी। महाराजा भरत उनके चरण-वन्दन करने आते,

+ देव-दुन्दुभि का उल्लेख आगम में नहीं है।

● साधु-साध्वी ये ही कहाँ? साधियों की तो अभी दीक्षा ही नहीं हुई थी।

× ग्रंथकार खड़ी रहने का लिखते हैं, किंतु औपपातिक सूत्र के अर्थ में मतभेद है। युक्ति से भी लगता है कि जब तिर्यचिनी—उपरिसर्पादि बैठ सकती है, तो मनुष्यनी और देवांगनाएँ क्यों खड़ी रहे?

तब वे ऋषभदेव के समाचार मँगवाने का कहती। भरत महाराज उन्हें सान्त्वना देते रहते। इस प्रकार दिन बीतते-बीतते एक हजार वर्ष निकल गये।

महाराजा भरत को एक साथ दो बधाई सन्देश मिले। यमक नाम के सन्देशवाहक ने कहा—“महाराजाधिराज की जय हो। बधाई है महाराज ! भगवान् ऋषभदेव शकट-मुख उद्यान में पधारे हैं और उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई है। देवगण, केवल-महोत्सव करने आ रहे हैं—महाराज ! जय हो ! विजय हो ! आनन्द हो ! कल्याण हो !”

भरत महाराज यह सन्देश सुन कर प्रसन्नता से भर उठे। इतने में शमक नाम के सन्देशवाहक ने प्रणाम कर के कहा—

“स्वामिन् ! प्रवलतम शत्रु का पलभर में विनाश करने वाला, शक्ति का अनूपम भण्डार, देव-रक्षित अस्त्र ‘सुदर्शनचक्र’ आयुधशाला में आ उपस्थित हुआ है। यह सार्वभौम साम्राज्य के होने वाले अभिपति की सेवा में उपस्थित होता है। जय हो-विजय हो महाराज ! आप इस अवनीतल के आदि चक्रवर्ती सम्राट होंगे महाराज ! बधाई है।”

मरुदेवा की मुक्ति

भरतेश्वर ने सोचा—‘मैं पहले किस का उत्सव मनाऊँ।’ तत्काल उन्होंने निश्चय कर लिया—‘भौतिक ऋद्धि का मिलना उतना प्रसन्नता का विषय नहीं है, जितना असंख्यकाल से इस भारत-भूमि पर से अस्त हुए धर्म को उत्पन्न करने वाला और मोक्ष के द्वार खोलने वाला केवलज्ञान रूपी भाव-सूर्य उदय होना है। यह संसार के भव्य प्राणियों को शाश्वत परम सुख देने वाला है। अतएव सर्वप्रथम केवलमहोत्सव मनाना ही उत्तम है। महाराजा ने केवलमहोत्सव मनाने की आज्ञा दी और सन्देशवाहकों को इस बधाई के उपलक्ष में बहुमूल्य पारितोषिक दे कर विदा किया। फिर आप स्वयं सन्देशवाहक बन कर मरुदेवा के पास पहुँचे और बोले :—

“पितामही ! आप जिनकी याद में सदैव चिन्तित रहा करती थी, वे आपके प्रिय पुत्र भगवान् ऋषभदेवजी यहाँ पधार गये हैं, और उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन रूपी शाश्वत आत्मऋद्धि प्राप्त हो गई है। आप दर्शन के लिए पधारने की तय्यारी करें।”

प्रभु-वन्दन के लिए सवारी जुड़ी। मरुदेवा माता हाथी पर सवार हुई। उनके पास

भरतेश्वर विराजे । ज्योंही सवारी मनवसरण के निकट पहुँची कि भरत महाराज ने पिता-मही से कहा—

“देखिये, यह अनेक ध्वजाओं से सुशोभित इन्द्रध्वज दिखाई दे रहा है । यह मेरे पूज्य पिताजी की परम विजय की साक्षी दे रहा है । आप यह जो दुःदुभि का नाद सुन रहे हैं, यह भी प्रभु का यशोगान कर रहा है । अब देखिये—यह रत्न और स्वर्णमय गढ़ दिखाई दे रहे हैं, ये देवों ने बनाये हैं । अरे आप देखें तो सही कि आपके पुत्र की सेवा बड़े बड़े देवी-देवता और इन्द्र तक कर रहे हैं ।”

माता ने समवसरण की रचना देखी । वह मन्त्र-मुग्ध हो गई । प्रभु के परम शान्त श्रीमुख पर उनकी दृष्टि स्थिर हो गई । उन्होंने अपलक दृष्टि से प्रभु के मुख से झलकती हुई वीतरागता निरखी । उनके मन में भी यह भावना जगी कि—जैसा ऋषभ वीतराग हो गया, वैसी वीतरागता ही परम सुख देने वाली है । पराये पर मोहित होना दुःख-दायक है और आत्मतुष्ट रह कर अपने में ही लीन रहना सुखदायक है ।” माता की विचारधारा वेगवती हुई, वज्रऋषभनाराच संहनन युक्त बलशाली आत्मा में स्थिरता बढ़ी । कर्म-समूह झड़ने लगे । अप्रमत्तता में क्षपक-श्रेणी में आगे कूच हुई । केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के योगों का निरोध किया और शैलेपीकरण कर के मोक्ष प्राप्त कर लिया । देवों ने उनके शरीर को क्षीर-समुद्र में पधरा दिया । पितामही के वियोग से भरत महाराज को शोक हुआ । वे तत्काल हाथी पर से उतर कर और राजचिन्ह को त्याग कर समवसरण में गये और पूर्व द्वार से प्रवेश कर के प्रभु को वन्दन-नमस्कार कर इन्द्र के पीछे बैठ गए ।

भगवान् का धर्मोपदेश

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी ने केवलज्ञान-केवलदर्शन होने के पश्चात् बारह प्रकार की परिषदा में जो धर्मोपदेश दिया, वह इस प्रकार था—

“आधि, व्याधि, जरा और मृत्यु रूपी सैकड़ों ज्वालाओं से घिरा हुआ यह संसार, देदीप्यमान अग्नि के समान है । सभी सांसारिक प्राणी इस दावानल से भयभीत हैं । इस भय से मुक्त होने का प्रयत्न करना ही बुद्धिमानों का कर्तव्य है । जिस प्रकार असह्य गर्मी से बचने के लिए सुखार्थी लोग, रेगिस्तानी मार्ग को ठण्डे समय में पार करते हैं । उस

समय समझदार प्राणी रात की सुखमय नींद में पड़े रहने का प्रमाद नहीं करते। वे जानते हैं कि यदि रात के समय सोते रहे, तो दिन की भयंकर गर्मी में, अग्नि के समान धधकती हुई रेती पर चलना महान् कष्टकर होगा।

अनेक जीवयोनि रूप संसार समुद्र में गोते लगाते हुए जीव को उत्तम रत्न के समान मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होना महान् कठिन है। जिस प्रकार दोहला * पूर्ण करने से वृक्ष फलदायक होता है, उसी प्रकार परलोक की साधना करने से प्राणियों का मनुष्य-जन्म सफल होता है। जिस प्रकार दुष्टजन मीठे वचनों से मोहित कर के लोगों को ठग लेते हैं, उनकी मीठी वाणी, परिणाम में दुःखदायक होती है, उसी प्रकार इन्द्रियों के मोहक विषय पहले तो मधुर लगते हैं, किंतु उनका परिणाम महान् दुःखप्रद होता है। जिस प्रकार बहुत ऊँची पहुँची हुई वस्तु अंत में नीचे गिरती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार का प्राप्त हुआ सुखद संयोग, अन्त में वियोग दुःख में ही परिणत होता है। मनुष्यों को प्राप्त हुआ धन, यौवन और आयु, ये सभी नाशवान् हैं। जिस प्रकार मरुस्थल में स्वादिष्ट जल का झरना नहीं होता, उसी प्रकार चतुर्गतिमय संसार में भी सुख नहीं होता। क्षेत्र-दोष से और परमाधामी देवों की असह्य मार से, दारुण दुःखों को भोगने वाले नारकों के लिए सुख तो है ही कहाँ ?

शीत, ताप, वायु और जल से तथा वध, बन्धन और क्षुधादि विविध प्रकार से पीड़ित, तिर्यञ्च जीवों को भी कौन-सा सुख है ?

गर्भावास, व्याधि, जरा, दरिद्रता और मृत्यु के दुःखों से जकड़ा हुआ मनुष्य भी सुखी नहीं है।

पारस्परिक मात्सर्य, अमर्ष, कलह तथा च्यवन (मरण) आदि दुःखों के सद्भाव में भी क्या देवी-देवता सुखी माने जा सकते हैं ?

इस प्रकार चारों गतियों में दुःख ही दुःख भरा हुआ है, फिर भी अज्ञानी जीव, पानी की नीची गति के समान संसार की ओर ही झुकते हैं। इसलिए हे भव्य जीवों ! जिस प्रकार साँप को दूध पिलाने से विष की वृद्धि होती है, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म का दुरुपयोग करने से दुःखों की वृद्धि होती है। अतएव इस मनुष्य-जन्म रूपी दूध के द्वारा संसार रूपी विष की वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

हे विवेकशील प्राणियों ! इस संसार-निवास में उत्पन्न होते हुए अनेक प्रकार के

* बकुल आदि कई प्रकार की वनस्पति ऐसी होती है कि जिनके अनुकूल क्रिया होने पर प्रफुल्लित एवं फलयुक्त होती है।

दुखों का विचार करो । यदि दुःखों के कारण को ही नष्ट कर के सुखी बनना है, तो भंसार को छोड़ो और मोक्ष के लिए प्रयत्नशील बनो । गर्भ का दुःख, नरक के दुःख के समान है । प्राणियों को जन्म के समय—प्रसव सम्बन्धी वेदना वैसी ही होती है, जैसी कुंभी (नारकी के नेरियों का उत्पत्ति स्थान) के मध्य में से खींच कर निकाले हुए नारक को होती है । मुक्त जीवों की ऐसी वेदना कभी नहीं होती । मुक्त जीवों को न तो, शस्त्राघात सम्बन्धी पीड़ा होती है, न व्याधि जन्य ही । यमराज का अग्रदूत, अनेक प्रकार की पीड़ाओं का कारण और सभी प्रकार के तेज और पराक्रम का हरण करके, जीव को पराधीन बनाने वाला—ऐसा बुढ़ापा भी मुक्त जीवों को प्राप्त नहीं होता और भव-भ्रमण की कारण रूप मृत्यु भी (जो देवता तक को मार देती है) मोक्ष प्राप्त सिद्धात्मा से दूर रहती है ।

मोक्ष में परम आनन्द, महान् अद्वैत एवं अव्यय सुख, शाश्वत स्थिति और केवल-ज्ञानरूपी सूर्य की अखण्ड ज्योति रही हुई है । इस शाश्वत स्थान को वही आत्मा प्राप्त कर सकती है, जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूपी तीन उज्ज्वल रत्नों का पालन करती हो ।”

ज्ञान रत्न

रत्नत्रय की आराधना करने का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा;—

“जीवादि तत्त्वों का संक्षेप अथवा विस्तार से यथार्थ बोध होना ही सम्यग्ज्ञान है । यह मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान—ऐसे पाँच भेद वाला है ।

मतिज्ञान—अवग्रह, ईहादि और बहुग्राही, अवहुग्राही आदि भेदयुक्त तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है । ।

श्रुतज्ञान—अंग, उपांग, पूर्व और प्रकीर्णक सूत्रों से अनेक प्रकार से विस्तार पाया हुआ तथा ‘स्यात्’ पद से अलंकृत श्रुतज्ञान अनेक प्रकार का है ।

अवधिज्ञान—देव और नारक को भव के साथ और मनुष्य-तिर्यच को क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान के मुख्यतः छः भेद हैं ।

मनःपर्ययज्ञान—ऋजुमति और विपुलमति, इन दो भेदों से मनःपर्यय ज्ञान होता है । विपुलमति मनःपर्ययज्ञान विशुद्ध एवं अप्रतिपाति होता है ।

केवलज्ञान—समस्त द्रव्यों और सभी पर्यायों को विषय करने वाला, विश्व-लोचन के

समान, अनन्त, एक और इन्द्रियों के विषय से रहित केवलज्ञान होता है ।”

दर्शन रत्न

“शास्त्रोक्त तत्त्व में रुचि होना सम्यक् श्रद्धान है । यह स्वभाव से और गुरु के उपदेश से, यों दो प्रकार से प्राप्त होता है ।

अनादि-अनन्त संसार के चक्र में भटकने वाले प्राणियों को, जानावरणीय, दर्शना-वरणीय, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण होती है । गोत्र और नाम कर्म की स्थिति बीस कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण होती है और मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोटानुकोटि सागरोपम की होती है । जिस प्रकार पर्वत में से निकली हुई नदी के प्रवाह में आया हुआ पत्थर, अथड़ते-टकराते अपने-आप गोल हो कर कोमल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों की स्थिति क्रमशः २९, १९ और ६९ कोटाकोटि से कुछ अधिक क्षय हो जाय और एक कोटाकोटि सागरोपम से कुछ कम रह जाय, तब प्राणी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथी देश को प्राप्त करता है ।”

ग्रंथी—राग-द्वेष के ऐसे परिणाम कि जिनका भेदन करना बड़ा कठिन होता है । यह राग-द्वेष की गाँठ, काष्ठ की गाँठ जैसी अत्यन्त दृढ़ और कठिनाई से टूटने वाली होती है । जिस प्रकार किनारे तक आया हुआ जहाज, विपरीत वायु चलने से पुनः समुद्र में चला जाता है, उसी प्रकार रागादि से प्रेरित कितने ही जीव, ग्रंथी के निकट आ कर भी उसे काटे बिना वापिस लौट जाते हैं । कुछ जीव, ग्रंथी के निकट आते-आते ही पुनः लौट जाते हैं और कितने ही प्राणी ग्रंथी के निकट आ कर ठहर जाते हैं । शेष कुछ ही प्राणी वैसे उत्तम भविष्य वाले होते हैं, जो ‘अपूर्वकरण’ से अपनी शक्ति लगा कर उस ग्रंथी को तत्काल तोड़ देते हैं । इसके बाद ‘अनिवृत्तिकरण’ से अन्तरकरण कर के मिथ्यात्व को विरल कर अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं । यह ‘नैसर्गिक (स्वाभाविक) श्रद्धान’ कहाती है और जो सम्यक्त्व, गुरु के उपदेश के अवलंबन से प्राप्त हो, वह ‘अधिगम सम्यक्त्व’ कहलाता है ।

सम्यक्त्व के औपशमिक, सास्वादान, क्षयोपशमिक, वेदक और क्षायिक, ये पाँच प्रकार हैं ।

१ जिस प्राणी की कर्मग्रंथी टूट चुकी है । जिसे सम्यक्त्व का प्रथम लाभ अन्तर्मुहूर्त

मात्र ही होता है, वह 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहा जाता है तथा उपशम-श्रेणि के योग से जिसका मोह शान्त हो गया हो X ऐसी आत्मा को 'औपशमिक सम्यक्त्व' होता है।

२ सम्यक्त्व का त्याग कर के मिथ्यात्व के सम्मुख होते हुए प्राणी को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होते, जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छद्म आवलिका पर्यन्त, सम्यक्त्व का परिणाम रहता है। उसे 'साम्वादन समकित' कहते हैं।

३ मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षय और उपशम होने से होने वाला बोध, 'क्षयोपशमिक सम्यक्त्व' कहा जाता है। इसमें सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय रहता है।

४ जिस भव्यात्मा के अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय का क्षय हो गया हो, ऐसी सम्यक्त्व-मोहनीय के अन्तिम अंश का वेदन करते हुए क्षायिक-भाव को प्राप्त करने में तत्पर आत्मा का परिणाम 'वेदक-सम्यक्त्व' कहा जाता है। (इसकी स्थिति एक समय मात्र की है)।

५ अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकड़ी और दर्शन-त्रिक, मोहनीय कर्म की इन सातों प्रकृतियों को क्षय करने वाली प्रशस्त भाव वाली आत्मा को प्राप्त (अप्रतिपाति) सम्यक्त्व 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन, गुण की अपेक्षा—१ कारक २ रोचक और ३ दीपक, यों तीन प्रकार का है।

कारक—जो विरति भाव को उत्पन्न करने वाला—संयम और तप का आचरण कराने वाला है, वह कारक सम्यक्त्व है।

रोचक—जिसके परिणाम स्वरूप तत्त्वज्ञान में, हेतु और उदाहरण बिना ही दृढ़ प्रतीति हो, रुचि उत्पन्न हो, वह 'रोचक सम्यक्त्व' कहा जाता है।

दीपक—जो सम्यक्त्व को प्रदिप्त करे (जाहिर करे अथवा हमारे ध्योता के सम्यक्त्व को प्रभावित करे), वह 'दीपक सम्यक्त्व' है (यह प्रथम गुणस्थान में होती है)।

सम्यक्त्व को पहिचानने के पाँच लक्षण इस प्रकार है—

१ शम २ संवेग ३ निर्वेद ४ अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य। इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व की पहिचान होती है।

शम—जिसके परिणाम स्वरूप अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता। कषाय के शक्तिशाली प्रभाव (अनन्तानुबन्धी प्रकृति) के अभाव से, आत्मा में जो शान्ति उत्पन्न

X जिसने दर्शन-मोहनीय का भी उपशम ही किया हो।

होती है, वह 'शम' नामक लक्षण है।

संवेग—कर्म परिणाम और संसार की असारता का चिन्तन करते हुए जीव को विषयों के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो, उसे 'संवेग' कहते हैं (मोक्ष की अभिलाषा अथवा धर्म-प्रेम को भी 'संवेग' कहते हैं)।

निर्वेद—संवेगवन्त आत्मा को संसार कारागृह के समान और स्वजन, बन्धन रूप लगते हैं। इस प्रकार संसार और सांसारिक संयोगों से होने वाला विरक्ति भाव 'निर्वेद' लक्षण है।

अनुकम्पा—एकेन्द्रियादि सभी प्राणियों को संसार-सागर में डूबते हुए देख कर हृदय का आर्द्र—कोमल हो जाना, दुःखी होना और दुःख निवारण के उपाय में यथा-शक्ति प्रवृत्ति करना "अनुकम्पा" है।

आस्तिक्य—इतर दर्शनों के तत्त्वों को सुनने पर भी आर्हन्त तत्त्व (जिन प्रणीत तत्त्व) में आकांक्षा रहित रुचि बनी रहना—दृढ़ श्रद्धा रहना, 'आस्तिक्य' नाम का लक्षण है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का स्वरूप है। दर्शन-रत्न की क्षणभर के लिए भी प्राप्ति हो जाय, तो इसके अभाव में पहले जो मति अज्ञान था, वह (अज्ञान) पराभूत हो कर मतिज्ञान रूप परिणत हो जाता है। श्रुतअज्ञान पराभूत हो कर श्रुतज्ञान हो जाता है और विभंगज्ञान मिट कर अवधिज्ञान के भाव को प्राप्त हो जाता है।

चारित्र रत्न

सर्वथा प्रकार से सावध्य योग का त्याग करना 'चारित्र' कहाता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यों पाँच व्रतों से पाँच भेद का कहा जाता है। ये पाँच महाव्रत हैं। पाँच-पाँच भावना (कु. ५ २५ भावना) से युक्त ये महाव्रत मोक्ष साधना के लिए अवश्य पालनीय हैं।

अहिंसा—प्रमाद के योग से त्रस और स्थावर जीवों के जीवन का नाश नहीं करना 'अहिंसाव्रत' है।

सत्य—प्रिय, हितकारी और सत्य वचन बोलना, 'सुनृत' (सत्य) व्रत कहाता है। अप्रिय और अहितकारी सत्य व्रत भी असत्य के समान होता है।

अस्तेय—बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण नहीं करना 'अस्तेय व्रत' है। क्योंकि द्रव्य

(धन-धान्यादि) मनुष्य के बाह्य प्राण के समान है। इसका हरण करने वाला, प्राणों का हरण करता है—ऐसा समझना चाहिए।

ब्रह्मचर्य—दिव्य (वैक्रिय) और औदारिक शरीर से अब्रह्मचर्य के सेवन का मन, वचन और काया से, करन, करावन और अनुमोदन का त्याग करना—‘ब्रह्मचर्य व्रत’ है। इसके अठारह भेद होते हैं।

अपरिग्रह—समस्त पदार्थों पर से मोह (मूर्च्छा) का त्याग करना ‘अपरिग्रह व्रत’ है। मोह के कारण अप्राप्त वस्तु पर भी चित्र में विप्लव होता है। इसलिए अपरिग्रह व्रत मूर्च्छा त्याग रूप है।

यतिधर्म में अनुरक्त ऐसे यतिन्द्रों के लिए उपरोक्त स्वरूप वाला सर्वचारित्र्य होता है। गृहस्थों के लिए देश (आंशिक) चारित्र्य इस प्रकार का है।

सम्यक्त्व-मूल पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार गृहस्थों के बारह व्रत हैं।

हिंसा त्याग—लंगड़ा-लूलापन, कोढ़ अन्धत्यादि हिंसा के दुःखदायक फल देख कर बुद्धिमान पुरुष को निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

असत्य त्याग—गूंगा, तोतला, अस्पष्ट वचन और मुखरोगादि अनिष्ट फल के कारणों को समझ कर कन्या, गाय और भूमि संबंधी असत्य, धरोहर (धापण) दबा लेना और झूठी साक्षी देना, ये पाँच प्रकार के बड़े असत्य का त्याग करना चाहिए।

अदत्त त्याग—दुर्भाग्य, दासत्व, अंगच्छेद, दरिद्रता आदि कटु परिणाम का कारण जान कर स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिए।

अब्रह्म त्याग—तपुसकत्व, इन्द्रिय-छेद आदि बुरे फलों का कारण ऐसे अब्रह्मचर्य के फल का विचार कर के बुद्धिमान प्राणियों की स्वस्त्री में ही संतोष रख कर, परस्त्री का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह त्याग—असंतोष, अत्रिद्वास, आरम्भ और दुःख, ये सभी परिग्रह की मूर्च्छा के फल हैं। इसलिए परिग्रह का परिमाण करना चाहिए। ये पाँच अणुव्रत हैं।

दिग्विरति—छहों दिशाओं में मर्यादा की हुई भूमि की सीमा का उल्लंघन नहीं करना। यह प्रथम गुणव्रत है।

+ वैक्रिय और औदारिक, यों दो प्रकार का मथुन, मन, वचन और काया के भेद से छह प्रकार का हुआ। इसके करन, करावन और अनुमोदन, इन तीन प्रकारों से गुणन करने पर अठारह भेद होते हैं।

भोगोपभोग परिमाण व्रत—भोगोपभोग (खान-पान आदि में काम में आने वाली वस्तुओं) का शक्ति के अनुसार परिमाण रख कर शेष का त्याग कर देना, यह दूसरा गुणव्रत है ।

अनर्थदण्ड त्याग—१ आर्त्त और रौद्र, ये दो 'अपध्यान' हैं, इनका आचरण २ पापकर्म का उपदेश ३ हिंसक अधिकरण (शस्त्रादि) देना तथा ४ प्रमाद का आचरण करना, यह चार प्रकार का अनर्थ-दण्ड है । शरीरादि तथा कुटुम्ब-परिवारादि के लिए हिंसादि पाप किये जायँ, वे 'अर्थदण्ड' हैं । इस के अतिरिक्त अनर्थ-दण्ड है । इस अनर्थ-दण्ड का त्याग करना तीसरा गुणव्रत है ।

सामायिक व्रत—आर्त्त-रौद्र ध्यान तथा सावद्य-योग का त्याग कर के मूर्हत (दो घड़ी) तक समताभाव धारण करना—सामायिक नाम का प्रथम शिक्षा व्रत है ।

देशवकाशिक—दिग्व्रत (छठे व्रत) में दिशा का जो परिमाण किया है, उसमें दिन और रात्रि संबंधी संक्षेप करना, तथा अन्य व्रतों को भी संक्षेप करना दूसरा गुणव्रत है ।

पौषधव्रत—चार पर्व दिन (अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा)—ये चार तथा दूसरे पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी यों कुल छह में उपवासादि तप करना, कुव्यापार (सावद्य व्यापार) का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नानादि क्रिया का त्याग करना 'पौषध व्रत' नाम का तीसरा शिक्षा व्रत है ।

अतिथिसंविभाग व्रत—अतिथि (मुनि) को चार प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र और स्थानादि का दान करना । यह चौथा शिक्षा व्रत है ।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस प्रकार रत्न त्रय की सदैव आराधना करना चाहिए ।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी ने केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद, प्रथम धर्म-देशना दी । इससे प्रतिबोध पा कर ऋषभसेन आदि सैकड़ों भव्यात्माएँ असार संसार का त्याग कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर हुई ।

धर्म-प्रयत्न

भगवान् की परम पावनी धर्मदेशना सुन कर उसी समय भरत महाराज के ऋषभसेन आदि पाँच सौ पुत्र और सात सौ पौत्रों ने संसार में विरक्त हो कर मुनि-दीक्षा ग्रहण की । भगवान् के केवलज्ञान का देवों द्वारा किये हुए महोत्सव से प्रभावित हो कर भरत महाराज के पुत्र 'मरिचि' ने भी संयम स्वीकार किया और भरत महाराजा की आज्ञा से

ब्राह्मी भी प्रव्रजित हुई। किन्तु बाहुबली की आज्ञा नहीं होने से 'सुन्दरी' दीक्षित नहीं हो सकी और श्राविका बनी। भगवान् के दीक्षित होते समय जिन लोगों ने भगवान् के साथ दीक्षा अंगीकार की थी और बाद में परीषहों से विचलित हो कर तापस हो गए थे, उनमें से 'कच्छ महाकच्छ' को छोड़ कर शेष सभी तापस पुनः भगवान् के पास दीक्षित हो गए। शेष बहुत-से मनुष्यों और तिर्यचों ने श्रावक व्रत धारण किया और बहुतों ने तथा देवों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

भगवान् ने ऋषभसेन (पुंडरीक) आदि साधु, ब्राह्मी आदि साध्वी, भरत आदि श्रावक और सुन्दरी आदि श्राविकाओं के चतुर्विध संघ की स्थापना की। यह चतुर्विध संघ इस अवसर्पिणी काल का प्रथम संघ -- प्रथम तीर्थ हुआ। ऋषभसेन आदि ८४ बुद्धिमान् साधु गणधर नामकर्म के उदय वाले थे। उन्हें भगवान् ने 'उत्पाद, व्यय और ध्रोव्य' इस त्रिपदी का उपदेश दिया। इस उपदेश के आधार पर उन गणधरों ने चौदह पूर्व और द्वादशांगी की रचना की। श्री तीर्थंकर भगवान् ने उन गणधरों को सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का द्रव्य-गुण-पर्याय एवं नय-निक्षेप आदि से प्रवर्त्तन करने और गण धारण करने की अनुज्ञा प्रदान की। भगवान् ने पुनः शिक्षामय देशना प्रदान की। इसमें प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। उसके बाद भगवान् सिंहासन से उठ कर देवछंदक में पधारे। फिर मुख्य गणधर श्री ऋषभसेनजी (पुंडरीकजी) ने भगवान् की पादपीठिका पर बैठ कर धर्मोपदेश दिया। गणधर महाराज के उपदेश के बाद परिषद् के लोग अपने-अपने घर गए।

कुछ समय बाद भगवान् श्री ऋषभदेवस्वामी ने शिष्यों के साथ विहार किया और भव्य जीवों को धर्मोपदेश तथा योग्य जीवों को सर्वविरति-देशविरति प्रदान करते हुए ग्रामानुग्राम विवरने लगे।

प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजा की दिग्विजय

भगवान् की धर्मदेशना सुन कर महाराजा भरत, शस्त्रागार में आये और सुदर्शन-चक्र को देखते ही प्रणाम किया। चक्र का मोरपिच्छी से प्रमार्जन किया। उसे पानी से धोया, गोशीर्ष चन्दन का तिलक किया और पुष्प, गंध, चूर्ण, वस्त्र तथा आभूषण से

× तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में गणधर महाराज की देशना होने का उत्प्रेष आगमों में नहीं मिलता, ग्रंथों में ही मिलता है।

चक्र-रत्न की पूजा की। उसके आगे चाँदी के चावलों से अष्ट-मंगल का आलेखन किया। उसके आगे उत्तम द्रव्यों का धूप दिया। उसके बाद महाराज ने चक्र को तीन प्रदक्षिणा दी और सात-आठ चरण पीछे हट कर, भूमि पर बैठ कर प्रणाम किया तथा वहाँ रह कर अठाई-महोत्सव किया। इसके बाद हस्ति-रत्न पर आरुढ़ हो कर सेना के साथ दिग्विजय के लिए पूर्व-दिशा की ओर प्रस्थान किया। महाराज के प्रस्थान करते ही वह यक्षाधिष्ठित चक्र-रत्न, सेना के आगे चलने लगा। फिर दण्ड-रत्न को धारण करने वाला 'सुषेण' नाम का सेनापति-रत्न, उत्तम अश्व-रत्न पर सवार हो कर आगे चलने लगा। पुरोहित-रत्न भी महाराजा के साथ हो गया। विशाल सेना के लिए भोजनादि की सुव्यवस्था करने वाला 'गाथापति-रत्न' तथा सेना के पड़ाव (मार्ग में ठहरने योग्य सुखदायक आवास) का प्रबन्ध करने वाला 'वाङ्मिकी-रत्न' भी सेना के साथ हुआ। इसी प्रकार चर्म-रत्न, छत्र-रत्न, मणि-रत्न, कांकिणी-रत्न और खड्ग-रत्न भी नरेश के साथ रहे। सारी सेना चक्र-रत्न का अनुगमन करने लगी। प्रतिदिन एक-एक योजन प्रमाण चल कर चक्र-रत्न ठहर जाता और वहीं सेना का पड़ाव हो जाता। इस प्रकार सेना चलते-चलते गंगानदी के दक्षिण तट पर पहुँची। वहाँ सेना का पड़ाव हुआ। सेना के प्रत्येक सैनिक और हस्ति आदि पशु के खाने-पीने और अन्य आवश्यक सामग्री की उत्तम व्यवस्था थी। वहाँ से प्रयाण कर के समुद्र-तट पर 'मागध तीर्थ' के निकट पहुँचे। वहाँ पड़ाव की सुव्यवस्था हुई। महाराजा के आवास के निकट एक पौषधशाला का भी निर्माण हुआ। महाराजा पौषध-शाला में पत्रारे और मागध तीर्थ-कुमार देव की आराधना करते हुए विधिवत् तेल का तप किया। तप पूर्ण होने पर महाराजा भरत, स्नानादि से निवृत्त हो कर रथ पर सवार हुए और समुद्र की ओर प्रस्थान किया। रथ की नाभि-धुरी तक समुद्र के पानी में पहुँचने के बाद रथ को खड़ा किया और महाराजा ने धनुष उठाया, उस पर नामाङ्कित बाण चढ़ा कर मागध तीर्थाधिपति की ओर छोड़ा। वह बाण, सूर्य के समान चमकता, आग की चिनगारियों छोड़ता और विद्युत के समान धारा बिखेरता हुआ तीव्र गति से बारह योजन चल कर मागध तीर्थ में, मागधाधिपति की सभा में गिरा। अचानक घटी इस घटना को देख कर अधिपति देव एकदम कोपायमान हो गया और भयंकर क्रोध युक्त बोला—

“कोन है यह मृत्यु का ग्रास ? किसका जीवन समाप्त होना चाहता है, जो मेरा अपमान कर रहा है ? देखता हूँ मैं उस अभिमानी को”—इस प्रकार बोलता हुआ वह मागध तीर्थाधिपति देव, खड्ग ले कर उठा और उस बाण को देखने के लिए चला।

उसके साथ ही उसकी सभा के सभासद तथा अन्य अनुचर देव भी कोपायमान हो कष्ट अपने-अपने शस्त्र ले कर उठे और उस बाण को देखने के लिए आगे बढ़े । इतने में अमात्य ने बाण को ले कर देखा । उस पर निम्नलिखित अक्षर अंकित थे;—

“मैं भरत-क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती भरत, मागध तीर्थाधिपति को आदेश करता हूँ कि तुम मेरा आधिपत्य स्वीकार कर के मेरे शासन में रहो । इसी में तुम्हारा हित है ।”

इस प्रकार का उल्लेख पढ़ कर देव ने विचार किया और अवधिज्ञान का उपयोग कर के निश्चयपूर्वक बोला—

“सभासद्गण ! उत्तेजित होने की बात नहीं है । भरत-क्षेत्र का जो चक्रवर्ती सम्राट होता है, उसकी आज्ञा में हमें रहना ही पड़ता है । इस समय महाराजाधिराज भरत, आदि चक्रवर्ती के रूप में शासन-प्रवर्तन करने निकले हैं । इन्हें चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त हुई है । हमें इनकी सेवा में उपस्थित हो कर उनकी अधीनता स्वीकार करनी चाहिए । इसी में हमारा हित है । वे समुद्र में हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । हमें मूल्यवान् उत्तम भेंट ले कर उनकी सेवा में चलना चाहिए । यह बात सुन कर सभी लोग शान्त हुए । मागधतीर्थ का अधिपति बहुमूल्य भेंट, मागध तीर्थ का जल तथा वह बाण ले कर भरत महाराज की सेवा में आया और प्रणाम कर के भेंट उपस्थित की तथा चक्रवर्ती महाराज की अधीनता स्वीकार की । महाराजा भरतेश्वर ने भेंट स्वीकार करते हुए मागधतीर्थाधिपति का सत्कार किया । इसके बाद वे अपनी छावनी में आये और तेले का पारणा किया । मागधदेव स्वस्थान गया । महाराजा ने मागधतीर्थ साधना के उपलक्ष में अठाई-महोत्सव किया ।

महोत्सव पूर्ण हो चुकने पर सुदर्शन-चक्र आकाश मार्ग से दक्षिण-दिशा की ओर चला और चक्रवर्ती ने भी सेना सहित उसका अनुगमन किया । कालान्तर में ‘वरदाम’ नामक तीर्थ के पास पहुँचे । यहाँ भी भरतेश्वर ने तेले का तप किया और वरदाम तीर्थाधिपति को साधने के लिए नामाङ्कित बाण फेंका । मागध तीर्थ के समान वरदाम तीर्थ भी चक्रवर्ती के अधिकार में आया । इसी प्रकार समुद्र की पश्चिम दिशा के ‘प्रभास’ नामक तीर्थ को अधिकार में लिया ।

इसके बाद समुद्र के दक्षिण की ओर सिन्धु नदी के किनारे आये और सिन्धु देवी की साधना के लिए तेले का तप किया । सिन्धु देवी का आसन चलायमान हुआ । देवी ने अवधिज्ञान से भरतेश्वर का अभिप्राय जाना और बहुमूल्य रत्न, रत्न-जड़ित सिंहासन तथा आभूषणादि ले कर सेवा में उपस्थित हुई और चक्रवर्ती का शासन स्वीकार किया । भरत

महाराज ने देवी की भेंट स्वीकार की और उसका सत्कार कर के विदा की तथा विजयोत्सव मनाया ।

इसके बाद वैताढ्य पर्वत के पास आये और वैताढ्यादि कुमार देव को अधीन करने के लिए तेले का तप किया । उसे अपने आधीन बना कर तिमिस्रा गुफा की ओर गये और गुफा के अधिष्ठायक कृतमाल देव का आराधन किया । देव, महाराजाधिराज भरत की सेवा में उपस्थित हुआ और उत्तम भेंट धर कर अधीनता स्वीकार की । फिर सिन्धु नदी के दक्षिण की ओर के सिंहल, बर्बर, यवन द्वीप के लोगों को वश में करने के लिए सेनापति को भेजा । सेनापति ने उन्हें जीत कर चक्रवर्ती महाराजा के आज्ञाधीन बनाये । इसके बाद सेनापति तिमिस्रा गुफा के निकट आया और उसके द्वार को प्रणाम किया, फिर दंड मे किवाड़ पर तीन बार प्रहार किया । इससे गुफा के द्वार खुल गये । किवाड़ खुलते ही महाराजा की सवारी सेना सहित गुफा में चली । उस विशाल गुफा में घोर अन्धकार था । मणि-रत्न की सूर्य के समान प्रभा से समस्त अन्धकार नाश हो कर प्रकाश फैल गया । गुफा में दो नदियाँ बह रही थी । एक नदी उन्मग्ना थी, जिसमें पड़ा हुआ भारी पत्थर भी नहीं डूबता था । नदी की तेज धारा उसे घुमा कर बाहर फेंक देती थी । दूसरी निमग्ना नदी में पड़ा हुआ पत्ता और तिनका जैसी हलकी वस्तु भी डूब जाती थी । बौद्धिक-रत्न ने उन नदियों पर तत्काल सुदृढ़ पुल बाँध दिया । इस पुल पर हो कर चक्रवर्ती की सेना उत्तर खण्ड में पहुँची । उधर शक्तिशाली एवं प्रतापी भित्तल और किरात आदि रहते थे । वे दानवों के समान दुर्दम्य एवं युद्ध-प्रिय थे । चक्रवर्ती महाराजा की चढ़ाई देख कर वे क्रोधित हुए । युद्ध भड़क उठा । चक्रवर्ती महाराजा की सेना के अग्रभाग के सैनिक, शत्रुसेना के पराक्रम के आगे ठहर नहीं सके और रण छोड़ कर भाग खड़े हुए । यह स्थिति देख कर सेनापति सुषेण कुपित हुआ । उसने अपना घोड़ा आगे किया और शत्रुओं का संहार करने लगा । सेनापति का उत्कृष्ट पराक्रम देख कर किरातों की सेना भाग गई । किरात योद्धा भयभीत हुए । उन्होंने सिन्धु नदी के किनारे रेती में लेट कर अपने इष्ट देव मेघमाली को अनशन पूर्वक स्मरण किया । देव ने आ कर कहा—“भरत-क्षेत्र के आदि चक्रवर्ती भरतेश्वर, खण्ड साधने को निकले हैं । इनकी आज्ञा मान लेने में ही लाभ है । फिर भी मैं तुम्हारे लिए चक्रवर्ती को उपसर्ग करता हूँ ।” ऐसा कह कर मेघमाली देव ने घनघोर वर्षा प्रारम्भ कर दी । लगातार सात दिन-रात तक मूसलाधार वर्षा होती रही । चारों ओर पानी ही पानी हो गया । चक्रवर्ती महाराजा की सेना, चर्म-रत्न और छत्र-रत्न के साधन से सुरक्षित

रही। उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ। किंतु महाराजा भरतेश को विचार हुआ कि “यह अकाल वर्षा कैसे हुई? किसी ने उपद्रव तो नहीं किया है?” इस प्रकार विचार होते ही उनकी सेवा में रहने वाले देवों ने मेघमाली देव को फटकारा। वह अपनी लीला समेट कर चला गया और अपने आराधक किरातों को कहता गया कि “तुम चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर की सेवा में जा कर उनसे क्षमा याचना करो। उनको भेंट दे कर अधीनता स्वीकार करो। ऐसा करने से ही तुम्हारा हित होगा। तुम्हें ऐसा करना ही होगा।”

वे किरात-भिल्ल आदि मूल्यवान् भेंट ले कर सम्राट की सेवा में उपस्थित हुए। भेंट घर कर क्षमा मांगी और अधीनता स्वीकार की। महाराजा ने उनका सत्कार कर के बिदा किया।

इसके बाद चक्र-रत्न चुल्लहिमवंत पर्वत की ओर गया। महाराजा भी सेना-सहित उधर ही चले। वहाँ के देव को अधीन किया। वहाँ से ऋषभकूट पर्वत पर आये। वहाँ के पूर्व शिखर पर सम्राट ने काकिणी-रत्न से इस प्रकार लिखा;—

“इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के प्रान्त भाग में, मैं भरत नाम का प्रथम चक्रवर्ती हुआ हूँ। मैंने विजय प्राप्त की है। अब मेरा कोई शत्रु नहीं रहा।”

इसके बाद चक्रवर्ती महाराजा वेताद्वय पर्वत पर गये और नमि-विनमि नाम के विद्याधरों के अधिपति को आधीन किया। विनमि ने अपनी अत्यन्त सुन्दरी युवती कन्या ‘सुभद्रा’ को चक्रवर्ती महाराज को भेंट की। यह चक्रवर्ती की ‘स्त्री-रत्न’ कहलाई। नमि-विनमि ने अपने-अपने पुत्र को राज्य दे कर अरिहंत भगवान् ऋषभदेव स्वामी के पास जा कर निर्ग्रन्थ दीक्षा स्वीकार की।

चक्रवर्ती की सेना वहाँ से लौट कर गंगा महानदी के निकट आई और गंगा देवी को अपने अधिकार में की। इसके बाद खंडप्रपाता गूफा साधी।

इसके बाद महाराजा ने ‘नव निधान’ की साधना की। नव निधान ये हैं;—

१ नैसर्ग—इससे ग्राम-नगर आदि की रचना होती है।

२ पांडुक—इससे नाप-तोल आदि के गणित तथा धान्य और बीज की प्राप्ति होती है।

३ पिंगल निधि—इससे स्त्री, पुरुष और अश्व आदि के आभूषण की विधि ज्ञात होती है।

४ सर्वरत्नक निधि—इससे सभी प्रकार के रत्नों की उत्पत्ति होती है।

५ महापद्म निधि—सभी प्रकार के सुन्दर वस्त्रों की प्राप्ति होती है ।

६ काल निधि—इससे भूत-भविष्य काल का ज्ञान और शिल्प-कृषि आदि का ज्ञान होता है ।

७ महाकाल निधि—इससे स्वर्ण-रत्नादि की खानों की उत्पत्ति होती है ।

८ माणव निधि—शस्त्र, युद्ध-नीति और दंड-नीति की प्राप्ति होती है ।

९ शंख निधि—काव्य, नाट्य और वादित्रादि निष्पन्न होते हैं ।

ये नौ निधि चक्रवर्ती के अधीन हुए । ये निधान पुस्तक रूप में, दृढ़ एवं सुरक्षित पेटी में रहते हैं । देव इनकी रक्षा करते हैं । इसका स्थान मागध तीर्थ है । किंतु चक्रवर्ती के पुण्योदय से उन्हें प्राप्त हुए । ये अक्षय—सदाकाल भरपूर रहने वाले हैं ।

इस प्रकार सर्वत्र अपना शासन चला कर महाराजाधिराज भरतेश्वर, अयोध्या नगरी में पधारे । बड़ा-भारी उत्सव मनाया गया और चक्रवर्ती का बड़े भारी आडम्बर से महाराज्याभिषेक किया ।

चक्रवर्ती की ऋद्धि

चक्रवर्ती महाराजाधिराज की ऋद्धि इस प्रकार थी । उनकी आयुधशाला में सर्वोत्तम आयुध—१ चक्र-रत्न २ छत्र-रत्न ३ दण्ड-रत्न और ४ खड्ग-रत्न थे । उनके रत्नागार (लक्ष्मीभंडार) में—१ कांकिणी-रत्न २ चर्म-रत्न ३ मणि-रत्न और ४ नौ निधान थे । उन्हीं के नगर में उत्पन्न १ सेनापति-रत्न २ गाथापति-रत्न ३ पुरोहित-रत्न और ४ वाद्विकी-रत्न—ये चार रत्न थे । वैताड्य पर्वत के मूल में उत्पन्न गज-रत्न हस्ती-शाला में और अश्व-रत्न अश्वशाला में तथा विद्याधर की उत्तम श्रेणी में उत्पन्न स्त्री-रत्न उनके विशाल अन्तःपुर में था ।

सोलह हजार देव उनकी सेवा में थे । बत्तीस हजार राजा उनके अधीन थे । उनकी भोजनशाला के लिए ३६३ प्रधान रसोईदार थे । इनमें से प्रत्येक को रसोई बनाने का अवसर वर्षभर में एक दिन ही आता था । उनकी सेना में चोरासी लाख हाथी, चोरासी लाख घोड़े, चोरासी लाख रथ, छियानवे करोड़ पदाति सैनिक थे ।

राज्याभिषेक के बाद भरतेश्वर अपने सम्बन्धियों से मिले । उस समय वे अपनी बहन सुन्दरी के दुर्बल शरीर को देख कर दुःखित हुए । राजभगिनी सुन्दरी को जब दीक्षा

की अनुमति नहीं मिली, तो वह आर्यबिल तप करने लगी। इससे उसका शरीर दुर्बल हो गया था। जब महाराज ने उसकी यह दशा देखी, तो उन्होंने उसके वैराग्य से प्रभावित हो कर दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर दी।

भ० ऋषभदेवजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। राज-भगिनी सुन्दरी के निष्क्रमण का समय आ गया। भरतेश्वर ने उन्हें भगवान् के समीप दीक्षा दिलाई।

१८ पुत्रों की भगवान् का उपदेश और दीक्षा

महाराजाधिराज भरतेश्वर ने छः खण्ड साध लिया और राज्याभिषेक भी हो चुका। किन्तु उनके खुद के बन्धु (जो पृथक्-पृथक् भूपति थे) राज्याभिषेक के समय उपस्थित नहीं हुए और अपने को चक्रवर्ती के आज्ञाकारी नहीं माना। हजारों योजन दूर के दूसरे देश के राजा और देव तक आज्ञाकारी रहे और अपने ही छोटे भाई राजा, बिलकुल स्वतन्त्र रहे, तो वे पूर्णरूप से चक्रवर्ती सम्राट नहीं हो सकते। उनके चक्रवर्तीपन में न्यूनता रह जाती थी। अतएव उन्होंने अपने सभी बन्धु राजाओं के पास दूत भेज कर आज्ञा में रहने की स्वीकृति मँगवाई। राजदूतों से भरत नरेश का अभिप्राय जान कर वे सभी बोले—

“पिताश्री ने भरत को और हम सभी को पृथक्-पृथक् राज्य दे दिया है। भरत अपना राज्य सम्भालें और हम अपना राज्य सम्भालें। हम भरत की आज्ञा क्यों मानने लगे? भरत ने हमें वया दिया, जो वह हमसे अपनी आज्ञा मनवाना चाहता है? यह उसका अन्याय है। अभी पिताश्री विद्यमान है। हम उनसे निवेदन करेंगे कि भरत सत्ता के मद और राज्य-तृष्णा के जोर से हमें दबाता है और अपने सेवक बनाना चाहता है।”

राजदूतों को रवाना करके वे भगवान् आदि जिनेश्वर की सेवा में पहुँचे। वन्दन-नमस्कार करने के बाद निवेदन किया—

“स्वामिन् ! आपने योग्यता के अनुसार भरत को और हम सभी को पृथक्-पृथक् राज्य दे कर स्वतन्त्र कर दिया था। हम सभी तो आपके दिये हुए राज्य में ही संतोष कर के चला रहे हैं, किन्तु हमारे ज्येष्ठ-बन्धु भरत की तृष्णा बहुत बढ़ गई है। उसने अपने राज्य का बहुत ही लम्बा-चौड़ा विस्तार कर लिया और अब हमारे राज्य भी अपने अधिकार में करना चाहता है। उसने हमारे पास अपने दूत भेज कर यह माँग की है कि

“तुम या तो मेरी सेवा करो या राज्य छोड़ कर हट जाओ। इस प्रकार भरत हमारे साथ अन्याय एवं अत्याचार कर रहा है--प्रभो !”

“नाथ ! सेवा वही करता है, जिसे सेव्य से कुछ पाने की आशा हो, अथवा भय हो। हमें न तो भरत से कुछ लेना है और न भय ही है। ऐसी दशा में युद्ध का ही मार्ग शेष रह जाता है। हम उनसे युद्ध करेंगे, यही हमारा निश्चय है। फिर भी कुछ करने के पूर्व श्रीचरणों में निवेदन करने के लिए उपस्थित हुए हैं। यदि कोई शान्ति का मार्ग हो, तो बतलाइये कृपालु ! जिससे रक्तपात का अवसर नहीं आवे।”

भगवंत ने फरमाया—“आयुष्यमानों ! मनुष्य में वीरत्व का होना आवश्यक है। जिनके वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है, वही वीरत्व रख सकता है। परन्तु शक्ति का सदुपयोग ही आत्मा को परम सुखी बनाता है। धन, लक्ष्मी, राज्य, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार और बल तथा अधिकार के लिए वीरत्व का किया हुआ उपयोग, आत्मा को दुःखी बना देता है और इन सभी प्रकार की वासनाओं और दुःखों के मूल, लोभ तथा उसके साथी क्रोध, मान और माया रूपी दुर्वृत्ति को नष्ट करने में लगाया हुआ वीरत्व, आत्मा को वह अनन्त आत्म-ऋद्धि देता है कि उसके आगे भरत की नाशवान् ऋद्धि किस गिनती में है ?”

“भव्यों ! ऐसी ऋद्धि तो क्या, इससे भी अधिक देव-ऋद्धि तुमने पूर्वभवों में प्राप्त कर ली और पल्योपम सागरोपम तक उसका उपभोग किया। उस देव-ऋद्धि के सामने मनुष्यों की ऋद्धि किस हिसाब में है ? इस ऋद्धि में रचा-पचा मनुष्य नीच गति में जा कर असंख्य काल तक दुःख भोगता रहता है। इसलिए मैंने इस पौद्गलिक ऋद्धि का त्याग कर के मोक्षमार्ग अपनाया। इसलिए मेरा तो यही कहना है कि तुम इस झंझट को छोड़ो और आत्मधनी बन जाओ।”

“भरत को जो ऋद्धि प्राप्त हुई, वह अकारण नहीं है। उसके पूर्व-भव के प्रबल पुण्य का उदय है। वह इस अवसर्पिणी काल का प्रथम चक्रवर्ती है। इस प्रकार की ऋद्धि भी अपने समय के एक ही पुरुष को प्राप्त होती है। वह चक्रवर्ती होगा। किन्तु तुम्हारे त्याग के प्रभाव से वह तुम्हारे चरणों में झुकेगा। तुम्हें सेवक बनाने वाला महाबली भरत तुम्हारी बन्दना करेगा। महत्ता त्याग की है, भोग की नहीं। यदि तुम्हें जन्म, जरा, रोग, शोक, संयोग, वियोग और मृत्यु से बचना है और परम आत्मानन्द प्राप्त करना है, तो अपने भीतर रहे हुए राग-द्वेष, विषय-कषाय एवं पौद्गलिक दृष्टि को त्याग कर द्रव्य-भाव

निर्ग्रन्थ बनो । यही तुम सब के लिए हितकर है । इसीसे परमात्म पद की प्राप्ति होती है ।”

“भव्यों ! समझो, समझने और सम्यग्-धर्म की आराधना करने का ऐसा उत्तम अवसर बार-बार नहीं आता । यदि इस बार चुक गये, तो फिर स्वाधीनता चली जायगी । उठो और प्रमाद छोड़ कर सावधान हो जाओ ।”

भगवान् आदि जिनेश्वर का उपदेश ९८ ही बान्धवों पर असर कर गया । उनके मोह का नशा हट गया और ज्ञान-चक्षु खुल गये । वे भगवान् के पास सर्वसंयमी निर्ग्रन्थ बन गए ।

बाहुबली नहीं माने

अपने ९८ भाइयों का राज्य स्वाधीन हो जाने पर सेनापति ने सम्राट से निवेदन किया—

“महाराज ! चक्र-रत्न अब तक आयुधशाला में नहीं आया ।”

“क्यों मन्त्रीजी ! क्या यान है ? मेरे भाइयों का राज्य भी अब स्वतन्त्र नहीं रहा, तो अब क्या रुकावट हो गई ? ऐसा कौन वीर शेष रह गया, जिसने अब तक अपने को स्वतन्त्र बनाये रखा है ?”—सम्राट ने प्रधान-मन्त्री से पूछा ।

“स्वामिन् ! और तो कोई नहीं, केवल आपके लघु-बन्धु श्री बाहुबलीजी ही बचे हैं, जो आपकी अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहते । वे हैं भी महाबली और बलवानों के गर्व को नष्ट करने वाले । जिस प्रकार एक वज्र के सामने अन्य सभी अस्त्र नगण्य हैं, उसी प्रकार बाहुबलीजी के आगे सभी राजाओं का बल निरुपाय है । जब तक आप उन्हें नहीं जीत लेते, तब तक विजय अधूरी रहेगी”—प्रधान-मन्त्री ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया ।

भरतेश्वर विचार में पड़ गये । उन्होंने कहा—“एक ओर छोटा भाई आज्ञा नहीं मानता, यह भी लज्जा की बात है, दूसरी ओर भाई से बुद्ध करना भी अच्छा नहीं है । जिसकी आज्ञा अपने घर में ही नहीं चलती, उसकी आज्ञा बाहर कैसे चलेगी ? एक ओर छोटे भाई के अविनय को सहन नहीं करना भी बुरा है, दूसरी ओर गर्वोन्मत्त को शिक्षा देना भी राज-धर्म है । मेरे सामने एक उलझन खड़ी हो गई । क्या किया जाय ?”

“महाराज ! चिन्ता जोड़ कर श्री बाहुबलीजी के पास दूत भेजिए । वे ज्येष्ठ-बन्धु की आज्ञा मान लें, तो ठीक ही है, अन्यथा उन्हें शिक्षा देनी ही पड़ेगी । ऐसा करने

में लोकापवाद नहीं रहेगा"—मन्त्री ने कहा ।

महाराज ने मन्त्री का परामर्श मान कर एक सन्देशवाहक, बाहुबलीजी के पास भेजा । राजदूत तक्षशिला नगरी में आ कर राजभवन में गया और श्री बाहुबलीजी को प्रणाम किया । बाहुबलीजी राज-सभा में अनेक राजाओं और मन्त्रियों के साथ बैठे थे । श्री बाहुबलीजी ने राजदूत से भरत महाराज और विनितावासियों की कुशल-क्षेम के समाचार पूछे । राजदूत ने भरत महाराज की छः खंड साधना, विनिता में हुए राज्याभिषेक और कुशल-मंगल के समाचार निवेदन करने के बाद नम्रतापूर्वक इस प्रकार कहा;—

“महाराज ! जिनकी सेवा में नौ निधान और चौदह रत्न हैं । हजारों देव जिनकी सेवा कर रहे हैं और छः खंड जिनकी आज्ञा शिरोधार्य कर रहा है उन परम ऐश्वर्यशाली महाराजाधिराज के आनन्द और क्षेम का तो कहना ही क्या ? उनकी आज्ञा में चलने वालों के यहाँ भी सदा सुख-शान्ति रहती है । भरतेश्वर को इतनी उत्कृष्ट ऋद्धि प्राप्त हुई है, फिर भी उन्हें सुख का अनुभव नहीं हुआ । जिस गृहपति के घर आनन्दोत्सव हो और कुटुम्ब-परिवार के दूर-दूर के लोग भी जिस उत्सव में सम्मिलित हों, उस मंगल प्रसंग पर उसका भाई ही सम्मिलित नहीं हो कर पृथक् रह जाय, तो उस गृहपति को सुखानुभव कैसे होगा—महाराज ?”

“लगातार साठ हजार वर्ष तक भरतेश्वर ने छह खंड की साधना की और उसकी सिद्धि के उपलक्ष में राज्याभिषेक का महोत्सव किया । उस उत्सव में दूर-दूर तक के लोग आये, देव और इन्द्र तक आये, किन्तु उनके अपने भाई ही उसमें सम्मिलित नहीं हुए । वे आप सभी की प्रतीक्षा कर रहे थे । आपके नहीं आने से श्री भरत महाराज के मन में अशान्ति रहता स्वाभाविक ही है । महाराजा ने अपने भाइयों को बुलाने के लिए दूत भेजे, किन्तु कोई नहीं आया और आपके अतिरिक्त सभी भाइयों ने भगवान् की सेवा में जा कर सर्वविरति स्वीकार कर ली । उनकी ओर से भरत महाराज, बन्धु-प्रेम से वञ्चित रह गये । अब आप एक ही भाई उनके हैं, जिनसे वे भ्रातृ-प्रेम की आशा रखते हैं । आप ही उनका बन्धु-प्रेम सफल कर सकते हैं । इसलिए आप वहाँ पधार कर उनके बन्धु-प्रेम को सफल करने का कष्ट करें ।”

“महाराजाधिराज भरतेश्वर आपके ज्येष्ठ बन्धु हैं । वे आपके लिए पूज्य हैं—सेव्य हैं । आपका कर्तव्य है कि आप बिना बुलाये ही उनकी सेवा में उपस्थित हो कर उनके आज्ञाकारी बने । आपके नहीं पधारने और चक्रवर्ती महाराजा की आज्ञा को स्वीकार नहीं

करने के अविनय को महाराजाधिराज तो सहन कर लेते हैं, किंतु जनता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। निन्दक लोगों को निन्दा करने का अवसर प्राप्त होता है और उस निन्दा रूपी कीचड़ के छोटे जत्र भरतेश्वर तक पहुँचते हैं, तो उन्हें भी इससे खेद होता है। आपके पधारने से बुराई का यह छिद्र बन्द हो जायगा और बन्धु-प्रेम की धारा अक्षुण्ण रहेगी।”

राजदूत की बात सुन कर बाहुबलीजी बोले;—

“दूत ! तुम योग्य हो। तुमने अपना प्रयोजन बड़ी योग्यता के साथ निवेदन किया। मैं भी मानता हूँ कि ज्येष्ठ-बन्धु भरत, पिता के तुल्य सेव्य हैं। वे हमारा बन्धु-प्रेम चाहते हैं, यह भी उनके योग्य एवं उचित है। किन्तु बड़े भाई भरत, बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और देवों से सेवित हैं। महान् ऋद्धि के स्वामी हैं। वे हमारे जंसे अल्प ऋद्धि वाले छोटे भाई के आने से लज्जित नहीं हो जाय, इसी विचार से मैं नहीं आया।”

“ज्येष्ठ-बन्धु, दूसरों के राज्य को अपने आधीन करने में साठ हजार वर्ष तक रुगे रहे और अपने छोटे भाइयों के छोटे-छोटे राज्य को अपने अधिकार में करने के लिए ही उन्होंने सभी भाइयों के पास दूत भेजे। यदि उनके मन में बन्धु-प्रेम होता, तो वे अपने भाइयों के पास दूत भेज कर राज्य अथवा युद्ध की इच्छा क्यों प्रकट करते ?”

“मेरे अन्य छोटे भाइयों ने बड़े भाई से युद्ध नहीं करने की शुभ भावना से ही अपना राज्य त्याग कर पिताश्री का अनुसरण किया। वे महान् सत्त्ववंत थे। तुम्हारे स्वामी ने उन छोटे भाइयों द्वारा त्याग हुए राज्य को अपने अधिकार में ले कर, जिस लोभवृत्ति का परिचय दिया, यह उनके बन्धु-प्रेम का प्रमाण है, या राज्य-लोभ का ?”

“चतुर दूत ! भरतेश्वर ने क्या वैसे ही शुभ भावों से तुझे मेरे पास भेजा है ? अपने बन्धु-प्रेम के छल से वे मुझ से भी राज्य छिनना चाहते हैं ? किन्तु यहाँ उनकी वह चाल सफल नहीं होगी। मैं उन छोटे बन्धुओं के समान राज्य का त्याग कर चला जाने वाला नहीं हूँ।”

“मैं मानता हूँ कि गुरुजन—ज्येष्ठ व्यक्ति सेव्य हैं। किंतु तब तक ही, जब तक कि वे अपने गुरुत्व का धारण किये रहें। मन में स्वार्थ की मलिनता नहीं आने दे। गुण-सम्पन्न गुरुजन ही पूज्य हैं। जो गुरुपद की ओट में स्वार्थ साधना करके गुरुत्व के गुणों से रहित होते हैं, उन्हें आदर-सत्कार देना तो लज्जास्पद है, विवेकहीनता है। मैं ऐसी विवेकहीनता से बचना चाहता हूँ। जिनके मन में कार्य-अकार्य, उचितानुचित और मदगुणों को स्थान नहीं हो—ऐसे नामधारी गुरुजन तो त्यागने लायक होते हैं।”

“यदि मैं ज्येष्ठभ्राता के नाते उनकी आज्ञा का पालन करूँ, तो भी वह भ्रातृ-सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रह कर राज्य के कारण स्वामी-सेवक सम्बन्ध ही लोक-प्रसिद्ध रहेगा।”

“मुझे मालूम है कि भारत को इन्द्र भी अपना आधा आसन दे कर सम्मान करता है, किन्तु यह तो पिताश्री का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण है। इसलिए मेरे मन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मैं ज्येष्ठ-बन्धु के मन में प्रेम नहीं लोभ का बास देख रहा हूँ। इसलिए मैं तुम्हारी बात स्वीकार नहीं करता।”

श्री बाहुबलीजी की बात सुन कर ‘सुवेग’ ने परिणाम का बोध कराते हुए कहा;

“महाराज ! आपके विचार वास्तविकता से दूर हैं। महाराजाधिराज भरतेश्वर की आत्मा महान् है और आपका भ्रम निर्मूल है। आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि हजारों राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली, तो उनके राज्य उनके पास ही रहे। किसी के राज्य से किसी को हटाया नहीं गया। किरातों ने युद्ध किया, तो उन्हें क्षति उठानी पड़ी और अन्त में उन्हें आज्ञाधीन होना ही पड़ा। ज्यों ही वे शस्त्र डाल कर शरण में आये, त्यों ही सम्राट ने उनका सम्मान किया और उन्हें अभयदान दे कर विदा दिया। अतएव आप भ्रम को त्याग कर ज्येष्ठ-बन्धु की आज्ञा शिरोधार्य करें। यदि आपने मेरे निवेदन पर योग्य निर्णय नहीं किया, तो आपके लिए हितकारी नहीं होगा। आपको यह भी सोच लेना चाहिए कि आपके नम्र नहीं बनने पर सम्राट के लाखों हाथी, घोड़े, रथ और करोड़ों पदाति सेना के सामने आपकी और आपके राज्य की क्या दशा होगी? मनुष्य को शांति के साथ अच्छी तरह से आगे-पीछे का विचार करने के बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए। आवेश में आ कर किया हुआ साहस दुःखदायक हो जाता है।”

राजदूत की बात की अवगणना करते हुए श्री बाहुबली ने कहा; --

“सुवेग ! तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हो। तुमने अपने स्वामी का बाहरी उज्ज्वल पक्ष बता कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। किन्तु मैं भारत को वैसा नहीं मानता। मेरे सामने ९८ बन्धुओं के राज्य को आत्मसात् कर लेने का ऐसा महान् उदाहरण है कि इसके आगे तेरे स्वामी की सदाशयता टिक नहीं सकती और जो तू उसकी सैन्य-शक्ति का वर्णन कर के मुझे डराना चाहता है, तो यह तेरी भूल है। यदि भारत के पास सेना का महासागर है, तो मैं स्वयं उस सागर में बड़वानल (समुद्र के भीतर रहने वाली

अग्नि) हैं। मुझे भरत की सैन्य-शक्ति का कोई भय नहीं है। मैंने बचपन में इस भरत को टांग पकड़ कर आकाश में ऊँचा फेंक दिया था और फिर उसे एक पुष्प के समान हाथों में झेल लिया था, जिससे शरीर को आघात नहीं लगे। किन्तु विजय के नशे में वह पिछली बात भूल गया है और चाटुकारों ने उसे अभिमान के शिखर पर चढ़ा दिया है। ठीक है, तुम जाओ। अपने स्वामी से कहो कि मैं उसकी इच्छा के अनुकूल होना नहीं चाहता।”

श्री बाहुबलीजी और राजदूत की बातें सुन कर सभा में उपस्थित राजकुमार, राजा, सेनापति आदि क्रोधित हुए। उन्हें राजदूत की बातें तुच्छ, विवेकशून्य, नरेश और देश का अपमान करने वाली और असहनीय लगी। वे राजदूत को दण्ड देने के लिए तय्यार हो गए। सुवेग, राज-सभा से चल कर अपने रथ के पास आया और रथ पर चढ़ कर विनिता की ओर चल दिया।

भरतेश्वर के दूत की बात तक्षशिला की जनता में फैली, तो सर्वत्र हलचल मच गई। राज्य की ओर से किसी प्रकार की सूचना नहीं होने पर भी लोग युद्ध की तय्यारी करने लगे। जब सुवेग अपने रथ पर सवार हो कर, विनिता की ओर लौटा जा रहा था, तो उसने मार्ग में लोगों की हलचल और युद्ध की तय्यारी देखी। नगरजन ही नहीं, गाँवों के किसान भी क्रोधित हो कर अपने आप युद्ध की तय्यारी करते दिखाई दिये। उसे विचार हुआ कि बाहुबली को छोड़ना भरतेश्वर को भारी पड़ सकता है।

सुवेग ने विनिता पहुँच कर महाराजाधिराज भरतेश्वर को अपनी असफलता के समाचार सुनाये और कहा—“बाहुबलीजी भी आपके समान महाबली हैं। वे आपकी आज्ञा में रहना नहीं चाहते और युद्ध करने को तय्यार हैं। उनकी सभा के सामन्त तथा राजकुमार, प्रचण्ड योद्धा हैं और वे मेरी बात सुनते ही आगबबूला हो गए। वहाँ की प्रजा भी अपने आप ही आप पर क्रुद्ध हो कर युद्ध की तय्यारी करने में लग गई है। यह स्थिति है महाराज ! वहाँ की। अब आप जैसा योग्य समझें वैसा करें।”

राजदूत की बात सुन कर भरतेश्वर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—“मैं जानता हूँ सुवेग ! बाहुबली के समान शक्तिशाली दूसरा कोई मनुष्य नहीं है। वह सुर-असुर से भी नहीं डरता। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का पुत्र और मेरा भाई महाबली हो, यह तो मेरे लिए प्रमत्तता की बात है। मुझे गौरव है कि मेरा छोटा भाई अद्वितीय महाबली है। मैं उसके बलाभिमान को सहन करता हुआ उसका हित चाहता हूँ। उससे मेरी शोभा है, क्योंकि

वह मेरा भाई है। मैं उसके दुर्विनय की उपेक्षा करता हूँ। राज्य तो प्राप्त हो सकता है, किंतु ऐसा भाई मिलना अशक्य है। मेरे ९८ भाई चले गये, अब यह एक ही रहा है। इसके साथ लड़ाई करने की मेरी इच्छा नहीं है। अब मैं इस एकमात्र भाई का मनमुटाव सहन नहीं कर सकूँगा।” उन्होंने मन्त्रियों की ओर देख कर पूछा : — “माला, तुम क्या कहना चाहते हो ?”

बाहुबली के अविनय और सम्राट की क्षमा से उत्तेजित हो कर सेनापति सुषेन बोला—

“भगवान् आदिनाथ के पुत्र महाराजाधिराज क्षमा करें, यह तो उचित है, किंतु करुणा के पात्र पर क्षमा हो, वही उचित है। जो मनुष्य, जिस राजा के गाँव में बसता है, वह भी उस राजा के अधीन होता है, तब बाहुबलीजी तो हमारे एक देश का उपभोग कर रहे हैं, उन्हें तो अधीन होना ही चाहिए। जब वे ज्येष्ठ-बन्धु के नाने और वचनमात्र से भी अधीनता स्वीकार नहीं करते और अपने बल का घमण्ड रख कर अवज्ञा करते हैं, तब वे क्षमा के पात्र नहीं रहते—महाराज !”

“सम्राट ! वह शत्रु भी अच्छा है, जो अपने प्रताप में वृद्धि करता है। किन्तु वह भाई तो बुरा ही है जो अपने भाई के प्रताप एवं पतिष्ठा को हानि पहुँचाता है। राजा, महाराजा और सम्राट, अपने भण्डार, सेना, पुत्र मित्र और शरीर से भी अपने प्रताप को अधिक महत्व देते हैं। अपने तेज की रक्षा के लिए वे अपने प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं, क्योंकि प्रताप ही उनका जीवन होता है। आपको राज्य की कोई कमी नहीं थी, फिर छह-खण्ड साधने का कष्ट क्यों उठाया ? केवल प्रताप के लिए ही। चक्र-रत्न आने पर भी यदि आप खण्ड साधना नहीं करते, तो आपके प्रताप में क्षति आती। वास्तव में वह सर्वोत्तम अस्त्र-रत्न, किसी ऐसे ही भाग्यशाली को प्राप्त होता है, जो महान् प्रतापी हो, सत्वशाली हो और उसका प्राप्त होना सार्थक बना सकता हो।”

“स्वामिन् ! जिस सती का शील एक बार खण्डित हो जाय, तो वह असती ही मानी जाती है, उसी प्रकार जिसका एक बार प्रभाव खण्डित हो जाता है, तो वह खण्डित ही रहता है।”

“गृहस्थों में पिता की सम्पत्ति में भाइयों का हिस्सा होता है। उन भाइयों में कोई तेजस्वी होता है, तो दूसरे भाई उसके तेज का आदर और रक्षा करते हैं, उपेक्षा नहीं करते, तब आप जैसे छह-खण्ड के विजेता का अपने घर में ही विजय नहीं हो, तो यह समुद्र तिरने पर भी एक छोटे खड़े में डूब मरने के समान होगा—देव !”

“क्या कही मुना भी है कि नरकवर्ती सम्राट का प्रतिस्पर्धी हो कर कोई राज्य का उपभोग कर सकता है ? महाराज ! आप मेरी प्रार्थना नहीं माने, तो आपकी इच्छा, परन्तु आपने खण्ड-साधना के समय यह प्रतिज्ञा की थी कि “मैं अपने सभी शत्रुओं को जीत कर, अपनी आज्ञा के अधीन बनाने के बाद राजधानी में प्रवेश करूँगा ।” उस प्रतिज्ञा का क्या होगा—महाराज ! और चक्र-रत्न जो अब तक नगर के बाहर ही रहा है, उसे कैसे स्थाना-सीन करेंगे—प्रभु ! मैं तो निवेदन करूँगा कि भाई के रूप में शत्रु बने हुए बाहुबली की उपेक्षा करना उचित नहीं है । फिर आप दूसरे मन्त्रियों से भी पूछ लीजिए ।”

युद्ध का आयोजन और समाप्ति

सेनाधिपति की बातें सुनने के बाद सम्राट ने प्रधान-मन्त्री वाचस्पति की ओर देखा । उन्होंने भी सेनापति की बात का समर्थन किया और विशेष में कहा—“महाराज ! अब युद्ध की तय्यारी का आदेश दीजिए ।”

महाराज ने आज्ञा प्रदान कर दी । शुभ मुहूर्त में प्रस्थान किया और बहली देश में आ कर सीमान्त पर पड़ाव डाल दिया ।

भरतेश्वर की जड़ाई के समाचार पा कर बाहुबलीजी ने भी तय्यारी की और सीमान्त पर आ कर पड़ाव लगाया । दूसरे दिन चारण-भाटों ने दोनों नरेशों को युद्ध के लिए निमन्त्रण दिया । बाहुबलीजी ने अपनी युद्ध-परिषद् के राजाओं के परामर्श से अपने पुत्र राजकुमार सिंहस्थ को सेनापति घोषित किया और भरतेश्वर ने सुषेण सेनापति को युद्ध करने की आज्ञा प्रदान की । भरतेश्वर ने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा ;—

“योद्धागण ! आप मेरे छोटे भाई से युद्ध करने जा रहे हैं । आप जिस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करते हैं, उसी प्रकार सेनापति की आज्ञा का पालन करें और युद्ध में विजय प्राप्त करें । आप यह ध्यान में रखें कि जिसके साथ आप युद्ध करने जा रहे हैं, वह साधारण सेना नहीं है । बाहुबली स्वयं अद्वितीय महाबली है और उसके सेनापति, सामन्त तथा सैनिक सभी शक्तिशाली हैं । किरातों के साथ हुए युद्ध से भी यह युद्ध विशेष उग्र हो सकता है । मैं आपको विपक्ष का बल बढ़ा-चढ़ा कर नहीं बता रहा हूँ । यह वास्तविक स्थिति है । अतएव आपको किसी प्रकार का प्रमाद और असावधानी नहीं रखनी चाहिए और प्राप्त उत्तरदायित्व का प्राणपण से पालन करना चाहिए ।”

“मैं मानता हूँ कि आप सभी शूरमा हैं। आपको जीवन से भी अधिक विजय प्रिय है। आपके सेनापति महान् योद्धा और रण-नीति पारंगत हैं। इनकी अधीनता में लड़ने वाले सदा विजयी ही होते हैं। विपक्ष की अपेक्षा अपनी सेना भी विशाल है और शस्त्रास्त्र भी उच्चकोटि के हैं। इस प्रकार की विशिष्टता का फल तभी प्राप्त होगा, जब कि आप सभी, सदा सावधान रह कर अपने कर्तव्य का पालन करने में जी-जान से जुट जावें।”

“वीर सैनिकों ! आपका पराक्रम निर्णायक होगा। इसी पर साठ हजार वर्ष के पराक्रम से प्राप्त विजयश्री का स्थायित्व रहा हुआ है। यह अन्तिम युद्ध होगा और इसमें आपकी विजय निश्चित है। साहस के साथ प्रस्थान करो और विजयी बनो। मैं आप सभी की भंगल कामना करता हुआ आपके साथ हूँ।”

“महाराजाधिराज की जय ! हम अवश्य विजयी होंगे। हमारा शौर्य शत्रु-पक्ष को परास्त कर के रहेगा। चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर की जय। महाबाहु सेनापति सुसेन की जय।”

विशालतम सेना के जयघोष से प्रकाश गुंज उठा। दिशाएँ कम्पायमान हो गईं और सारी प्रकृति ही भयाक्रान्त हो गई। वातावरण की विक्षुब्धता ने देवों को आकर्षित किया। उन्होंने भ० ऋषभदेव के पुत्रों में युद्ध और लाखों मनुष्यों के रक्तपात होने की तय्यारी देखी। वे तत्काल युद्ध-भूमि में आये और युद्ध प्रारंभ होने के क्षणों में ही दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े रह कर कहा—

“हम दोनों पक्षों से मिल कर युद्धबन्दी का प्रयत्न करते हैं, तब तक तुम ठहरो और प्रतीक्षा करो। तुम्हें भ० ऋषभदेव की आज्ञा है।”

भगवान् की आज्ञा देने से दोनों पक्ष स्तब्ध हो गये। उनका उत्साह—युद्धोन्माद ठण्डा हो गया। प्रहार करने के लिए उठाए हुए अस्त्र नीचे झुक गए।

× देवों ने भरतेश्वर से निवेदन किया—

“नरदेव ! आप जैसे योग्य एवं आदर्श ऋषभ-पुत्रों को यह विश्व-संहार कैसे भाया ? अहिंसा-धर्म के परम प्रवर्तक भ० आदिनाथ के पुत्रों और भरत-क्षेत्र के आदि नरेशों के हृदय में इतनी उत्कृष्ट हिंसा ? करोड़ों मनुष्यों का संहार कर पृथ्वी, नदी-नालों और सरोवरों को रक्त से भरने की उत्कृष्ट भावना ? यह क्या अनर्थ कर रहे हैं—

× ‘त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र’ में देवों के आने का उल्लेख है। अन्य स्थलों पर इन्द्र का आगमन बताया है। वह मतान्तर है।

जिनेश्वर भगवान् के परमभक्त श्रमणोपासक ? आप सच्चे जिनोपासक हैं या यह सब दंभ ही है ? अरे, आप इस जमती हुई राजनीति में ही युद्ध का बीज बोते हैं, तो भविष्य की राज्य-परम्परा कैसी होगी ? कुछ सोचा भी है ?”

देवों की बात सुन कर भरतेश्वर ने कहा—

“आपका कहना यथार्थ है । आप जैसे उत्तम देव ही विश्वहित की भावना रख कर सद्प्रवृत्ति करते हैं । दूसरे तो पक्ष, विपक्ष के हैं, तथा लड़ाने-भिड़ाने और खेल देखने वाले हैं ।”

“हे पवित्र आशय वाले देवों ! मैं युद्ध-प्रिय नहीं हूँ । मैं दूसरे किसी से भी युद्ध करना नहीं चाहता, तो अपने छोटे भाई से युद्ध करना कैसे चाहूँगा ? मुझे राज्य-लोभ भी नहीं है, किन्तु कल्लू क्या ? यह चक्र-रत्न स्थानासीन नहीं होता । इसी के लिए मुझे विवश हो कर यह मार्ग अपनाना पड़ा । यदि मैं ऐसा नहीं करता हूँ, तो चक्रवर्ती की परम्परा बिगड़ती है, अनहोनी घटना होती है । इस समय मैं उत्साहरहित हो कर जन-संहार की चिन्तायुक्त इस अप्रिय प्रवृत्ति में लगा हूँ ।”

“यह कोई नियति का ही प्रभाव लगता है, अन्यथा बाहुबली भी ऐसा नहीं था । वह मुझे पिता के समान मानता था । मेरे साठ हजार वर्ष तक खंडसाधना में लगे रहने से उसका स्नेह क्षीण हो कर विपरीत भावना बनी है । अब आप ही कोई मार्ग निकालें ।”

“नरेन्द्र ! हम बाहुबलीजी से मिलते हैं । यदि समाधान का कोई मार्ग निकले, तो ठीक ही है । अन्यथा इस भीषण युद्ध को त्याग कर आप दोनों भाई स्वयं ही निःशस्त्र युद्ध कर के निर्णय कर लें । क्या आप यह बात मानेंगे ?”

—“हाँ, मुझे स्वीकार है”—भरतेश्वर ने कहा ।

देव, बाहुबलीजी के पास आये । उन्हें भी समझाया । वे नहीं माने । किन्तु भरतेश्वर के साथ स्वयं युद्ध कर के निर्णय करने और सैनिकों को युद्ध से पृथक् ही रखने की बात उन्होंने भी स्वीकार कर ली । भीषण रक्तपात टल गया ।

भरतेश्वर के बल का परिचय

दोनों ओर युद्धवन्दी की घोषणा हो गई । दोनों ओर के सैनिकों को यह समझौता अच्छा नहीं लगा । वे युद्ध कर के विजय प्राप्त करने के लिए तरस रहे थे । उन्होंने युद्ध रोकने का प्रयत्न करने वालों को गालियाँ दी । रण-क्षेत्र से उनका पलटना कठिन हो गया ।

कोई कहता था—“जब युद्ध नहीं करना था, तो चढ़ाई कर के आये ही क्यों ? दूसरा कहता था—किसी कायर मन्त्री ने महाराज को ऐसी विपरीत सलाह दी होगी ।”

तीसरा कहता था—“अब इन शस्त्रों को समुद्र में डूबो दो ।”

चौथे ने हताश हो कर कहा—“हा, मेरी सारी आशा ही नष्ट हो गई । आज अपना पराक्रम दिखाने का अवसर आ गया था, वह दुर्देव ने छिन लिया ।”

पाँचवें ने कहा—“हमारी रण-विद्या और युद्धाभ्यास व्यर्थ गया । अब इसकी आवश्यकता ही नहीं रही ।”

सैनिकगण यों अनेक प्रकार से अपने मन की भड़ास निकालते और रोष व्यक्त करते हुए लौट रहे थे । सेनाधिकारियों के लिए उन्हें शान्त करना कठिन हो रहा था ।

भरतेश्वर के सेनाधिकारियों को, द्वंद्व-युद्ध में भरतेश्वर के विजयी होने में सन्देह हुआ । वे परस्पर कहने लगे ; —

“सम्राट महाबली हैं, किंतु बाहुबलीजी तो अद्वितीय बलवान् हैं । उनसे इन्द्र भी नहीं जीत सकता । ऐसी दशा में सम्राट को द्वंद्व युद्ध करने देना हमारे लिए दुःखदायक होगा । सम्राट ने देवों की बात मान कर अच्छा नहीं किया ।”

भरतेश्वर के बल का परिचय

इस प्रकार सेनाधिकारियों को परस्पर वार्तालाप करते देख कर भरतेश्वर उनका आशय समझ गए । उन्होंने सेनाधिकारियों को अपने पास बुलाया और कहने लगे ; —

“वीर हितैषियों ! जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने में सूर्य की किरणें आगे रहती है, उसी प्रकार शत्रुओं को नष्ट करने में तुम लोग मुझसे आगे रहते हो । जिस प्रकार गहरी खाई में पड़ा हुआ हाथी, पहाड़ी किले तक नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार तुम योद्धाओं के रहते कोई भी शत्रु मुझ तक नहीं आ सकता । तुम्हारे हृदय में उद्भूत मेरे-प्रति हित-कामना का मैं आदर करता हूँ । किन्तु तुमने कभी मुझे युद्ध करते देखा नहीं है । तुम्हें मेरे बल का परिचय नहीं है । इसीलिए तुम्हें सन्देह हो रहा है । अब तुम सभी एकत्रित हो कर मेरे बल को देख लो, जिससे तुम्हारी शंका दूर हो जाय ।”

भरतेश्वर ने एक गहरा खड़ा खुदवाया और उसके किनारे पर खुद बैठ गए ।

इसके बाद अपनी बायीं भुजा पर बहून भी मुद्दू साँकलें बँधवाई और सैनिकों को सम्बोधन कर कहा :—

“योद्धाओं ! जिस प्रकार बेल, गाड़े को खिंच कर ले जाते हैं, उसी प्रकार उस किनारे पर खड़े रह कर तुम सभी, इन साँकलों को अपने सम्मिलित बल से एक साथ खिंचो और मुझे इस खड्डे में गिरा दो। देखो, तुम यह मत सोचना कि इससे मुझे दुःख होगा। इस समय तुम्हारा लक्ष्य अपनी पूरी शक्ति लगा कर मुझे इस खड्डे में गिराना ही होना चाहिए। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर मुझे खिंचो।

भरतेश्वर का आदेश होने पर भी योद्धागण तय्यार नहीं हुए, तब उन्हें आग्रह पूर्वक दृढ़ स्वर में आज्ञा दी गई। योद्धागण उठे। उन्होंने दूसरे किनारे पर खड़े रह कर साँकलें पकड़ी और खिंचने लगे।

भरतेश्वर ने सैनिकों को उत्साहित करते हुए विशेष बल लगाने का कहा। जब सभी का बल एक साथ लगा, तो कौतुक करने के लिए भरतेश्वर ने अपना हाथ थोड़ा लम्बा कर दिया। योद्धागण सभी एक बल से झूम गए, किन्तु भरतेश्वर को एक अंगुल भी नहीं खिसका सके। अन्त में भरतेश्वर ने झटके के साथ अपना हाथ समेट कर छाती पर चिपका लिया, तो साँकलें खिंचने वाले सैनिक धड़ाम से एक दूसरे पर गिर गए। योद्धाओं को महाराजाधिराज के बल का पता लग गया। उन्हें विश्वास हो गया कि भरतेश्वर भी महान् बलाधिपति हैं। उनकी शंका नष्ट हो गई।

भरत-बाहुबली का द्वंद्व-युद्ध

इसके बाद भरतेश्वर युद्ध-भूमि की ओर चले और बाहुबलीजी भी आये। सब से पहले दोनों बन्धुओं ने दृष्टि-युद्ध करने का निश्चय किया। युद्ध-भूमि में दोनों प्रतिद्वंद्वी वीर, शक्र और ईशान इन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे। दोनों ओर के सेनापति अधिकारी और सैनिक, आस-पास पंक्तिबद्ध खड़े रह कर उनका अशस्त्र युद्ध देख रहे थे।

सर्व प्रथम दृष्टि-युद्ध प्रारंभ हुआ। एक दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देखने लगे। ध्यानस्थ योगी के समान, बहुत देर तक दोनों एक दूसरों को स्थिर दृष्टि से देखते रहे। किंतु अंत में भरतेश्वर के नेत्रों में से पानी बहने लगा और आँखें बन्द हो गईं। दोनों ने बाहुबलीजी का जयनाद किया और उन पर पुष्प वृष्टि की। उनके पक्ष की ओर से

जयघोष किया गया और विजय के बाजे बजाये गये । भरतेश्वर के सेनाधिकारियों और सुभटों के हृदय को आघात लगा । एक ओर हर्षविश, तो दूसरी ओर विफलताजन्य घोर उदासी । यह दशा देख कर बाहुबलीजी बोले —

“आप यह नहीं समझें कि मैं अनायास ही जीत गया । अभी तो यह पहला ही युद्ध हुआ । आप चाहें तो वाक्-युद्ध कर लें ।”

चक्रवर्ती तय्यार हो गए । उन्होंने भयंकर सिंहनाद किया । जिस प्रकार मेघ की भयंकर गर्जना होती है और महानदी की महान् वेगवती वाढ़ आती है और उसका गंभीरतम नाद होता है, उससे भी अधिक भयंकर सिंहनाद हुआ । घोड़े रास तुड़ा कर भागने लगे । हाथियों को भागने से रोकने के लिए अंकुश भी व्यर्थ रहा । ऊँट नाथ के खिचाव को भी नहीं मानते हुए वेगपूर्वक दौड़ने लगे । भरतेश्वर के सिंहनाद ने बड़े-बड़े शूरवीर मनुष्यों के भी हृदय दहला दिये ।

इसके बाद बाहुबलीजी ने सिंहनाद किया । उनका सिंहनाद भरतेश्वर के सिंहनाद से विशेष भयंकर हुआ । इस महाघोष को सुन कर सर्प भूमि में घुसने लगे । समुद्र में रहे हुए मगर-मत्स्यादि भयभीत हो कर सगाटी पर से भीतर घुस कर तल तक पहुँचने लगे । पर्वत काँपने लगे । मेघगर्जना के साथ कड़ाके की बिजली गिरी हो—इस आभास से मनुष्यगण भयभ्रान्त हो भूमि पर लेट गए । पृथ्वी धुजने लगी और देवगण भी व्याकुल हो गए । बाहुबली के सिंहनाद के बाद भरतेश्वर ने फिर सिंहनाद किया । यों सिंहनाद होते-होते भरतेश्वर की गर्जना का घोष मन्द होने लगा और बाहुबलीजी के सिंहनाद का घोष बढ़ कर रहने लगा । इसमें भी बाहुबलीजी विजयी हुए ।

अब बाहु युद्ध की वारी थी । दोनों भाई भिड़ गए । मल्ल-युद्ध होने लगा । कभी दोनों परस्पर गुथ जाते, कभी पृथक् हो कर फिर करस्फोट पूर्वक उछलते-कूदते हुए आ कर गुथ जाते । कभी भरतेश्वर नीचे आ जाते, तो कभी बाहुबली । दोनों महाबलियों के वस्त्र और शरीर धूल-धूसरित हो गए । बहुत देर तक मल्ल-युद्ध होता रहा । अंत में बाहुबलीजी ने भरतेश्वर को उठा कर आकाश में उछाल दिया—फेंक दिया । बाहुबलीजी द्वारा फेंके हुए भरतेश्वर, धनुष में से छूटे बाण की तरह आकाश में बहुत ऊँचे तक चले गए । आकाश से नीचे आते समय सेना में हाहाकार मच गया । यह देख कर बाहुबलीजी अपने को धिक्कारने लगे—“अहो ! मैं कितना अधम हूँ । पिता के समान पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता पर प्रहार करते और उन्हें सीमातीत कष्ट पहुँचाते कुछ भी संकोच नहीं किया । धिक्कार है

मेरे बल को, धिक्कार है मेरे दुःसाधु को, धिक्कार है मेरी भुजा को और मेरे ऐसे दुष्कृत्य की उपेक्षा करने वाले राज्य-मन्त्रियों को भी धिक्कार है ।” इस प्रकार विचार आते ही उन्होंने आकाश की ओर देख कर पृथ्वी पर गिरने के पूर्व ही भरतेश्वर को अपने हाथों में झेल लिये । चारों ओर हर्ष की लहर दौड़ गई । किन्तु भरतेश्वर के हृदय में कोप की ज्वाला भड़क उठी । उस समय बाहुबलीजी विनम्र हो कर कहने लगे; —

“हे भरताधिपति ! हे महावीर्य ! हे महाबाहु ! आपको खेद नहीं करना चाहिए । देव-योग से मैं इस बार जीत गया, तो भी मैं विजयी नहीं हुआ । अब तक आप अज्ञातशत्रु ही हैं । आप आगे के युद्ध के लिए तय्यार हो जाइए ।

भरतेश्वर ने कहा; —“मेरी भुजा, मुष्टि प्रहार कर के पिछले दोष का परिमार्जन करेगी ।”

इतना कह कर उन्होंने मूठ उठाई । वे बाहुबलीजी की ओर दौड़े और बाहुबलीजी की छाती पर जोरदार प्रहार किया । किन्तु उसका बाहुबलीजी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे अडिग रहे । इसके बाद बाहुबलीजी मूठ तान कर भरतेश्वर पर झपटे और उनकी छाती पर मुक्का मारा । इस आघात को सहन नहीं कर सकने के कारण भरतेश्वर मूर्च्छित हो कर घराशायी हो गए । उनके गिरने और मूर्च्छित होने पर बाहुबली को विचार हुआ कि—

“क्षत्रियों के मन में यह वीरत्व का दुराग्रह क्यों उत्पन्न होता है कि जो अपने भाई तक के प्राणों को नष्ट करने वाला बन जाता है । यदि मेरे भाई जीवित नहीं रहे, तो मुझे जीवित रह कर क्या करना है ?”

इस प्रकार चिन्ता करते हुए और आँखों से आँसू बहाते हुए बाहुबली अपने उत्तरीय वस्त्र से भरतेश्वर पर वायु संचार करने लगे । थोड़ी देर में भरतेश्वर सावधान हो कर उठे । दोनों की दृष्टि मिली । दोनों भाई नीचे देखने लगे । वास्तव में महापुरुषों की तो जय और पराजय दोनों लज्जित करने वाली होती है ।

भरतेश्वर कुछ पीछे हटे, दंड उठाया और बाहुबली के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया । इस प्रहार से बाहुबली का मुकुट टूट कर चूर-चूर हो गया । बाहुबली की आँखें बन्द हो गई । थोड़ी देर में नेत्र खोल कर उन्होंने अपना दंड उठाया और भरतेश्वर की छाती पर जोरदार प्रहार किया । इस प्रहार से भरतेश्वर के सुदृढ़ कवच के टुकड़े-टुकड़े हो गए और वे बिह्वल हो गए ।

सावधान हो कर भरतेश्वर ने फिर से दंड उठाया और घुमा कर बाहुबली के

मस्तक पर भारी आघात किया। इस आघात के कारण बाहुबली जानु तक भूमि में धँस गए। वे मस्तक धुनाने लगे। उस प्रहार से वह दंड भी टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। थोड़ी देर में सावधान हो कर वे भूमि में से बाहर निकले और अपने दंड को एक हाथ में ले कर घुमाने लगे और घुमाते-घुमाते भरतेश्वर के मस्तक पर ठोक मारा। इस प्रहार से भरतेश्वर अपने कंठ तक भूमि में धँस गए। चारों ओर हाहाकार हो गया। भरतेश्वर मूर्च्छित हो गए। थोड़ी देर बाद सावधान हो कर वे बाहर निकले।

इस प्रकार हार-पर-हार होती देख कर भरतेश्वर ने सोचा—अब मेरी जीत की कोई संभावना नहीं रही। कदाचित् मेरे साथे हुए छह खंड बाहुबली के लिए हों और वह चक्रवर्ती होने वाला हो? एक काल में दो चक्रवर्ती तो नहीं सकते। यह तो ऐसा हो रहा है कि जैसे मामूली देव, इन्द्र को जीत ले और साधारण राजा चक्रवर्ती को जीत ले। कदाचित् बाहुबली ही चक्रवर्ती होगा।" इस प्रकार विचार कर रहे थे कि यक्ष-देवों ने भरतेश्वर के हाथ में चक्र-रत्न दिया।

भरतेश्वर ने उस चक्र-रत्न को घुमाया। भरत को चक्र घुमाते हुए देख कर बाहुबली ने विचार किया—“भरत अपने को आदिनाथ भगवान् का पुत्र मानता है, किन्तु वह दंड-युद्ध के उत्तर में चक्र चला रहा है, क्या यह क्षत्रियों की युद्ध-नीति है? देवताओं के सामने की हुई उत्तम युद्ध-नीति की प्रतिज्ञा का निर्वाह भी उसने नहीं किया। धिक्कार है—उसे। मैं उसके चक्र को दण्ड प्रहार से चूर-चूर करूँगा।” इस प्रकार विचार करते रहे। इतने में भरत का चलाया हुआ चक्र बाहुबली के पास आया और उनकी प्रदक्षिणा कर के वापिस भरतेश्वर के पास लौट गया। क्योंकि चक्र-रत्न सामान्य एवं सगोत्री पुरुष पर नहीं चलता, तो ऐसे चरम-शरीरी पुरुष पर कैसे चले?

+ इस प्रकार चक्रवर्ती की हार होने की बात विचारणीय लगती है। यदि यह सत्य है, तो इसको भी अछेरा—आश्चर्यभूत अवश्य बताना था। श्रीकृष्ण के अमरकंका गमन को आश्चर्य रूप माना, तो यहाँ तो चक्रवर्ती की भारी पराजय और पराजय-पर-पराजय है। इसे आश्चर्य के रूप में क्यों नहीं माना? यह घटना ‘सुभूम’ और ‘ब्रह्मदत्त’ जैसे पापानुबन्धी-पुण्य के धनी और नरक जाने वाले के जीवन से सम्बन्धित नहीं, किन्तु पुण्यानुबन्धी-पुण्य के स्वामी और मोक्ष पाने वाले भरतेश्वर की अत्यन्त पराजय के रूप में हो कर भी आश्चर्य के रूप में नहीं आई। यह विचार की बात है। उदय की प्रबलता और विचित्रता के आगे कुछ असम्भव तो नहीं है, पर आगमों में—खास कर ‘जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र’ में—जहाँ भरतेश्वर की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है, वहाँ इन पराजयों को बताने वाला एक भी शब्द नहीं है। इसीलिए विचार होता है।

चक्र-रत्न को लौटता देख कर बाहुबलीजी का कोप भड़क उठा । वे मुक्का तान कर भरतेश्वर पर झपटे, किन्तु भरतेश्वर के निकट आते ही एकदम रुक गए और सोचने लगे; ---

“अहो ! भरतेश्वर के समान मैं भी राज्य में लुब्ध हो कर ज्येष्ठ-बन्धु को मारने के लिए तत्पर हो रहा हूँ ? हा, इस पापिनी तृष्णा ने कितना अनर्थ कराया ? जिस पिता ने राज्य-वैभव को तृण के समान त्याग दिया और जिन छोटे भाइयों ने इसे उच्छिष्ट के समान जान कर छोड़ दिया, उसी के लिए मैं ज्येष्ठ-बन्धु को मारने के लिए झपट रहा हूँ । धिक्कार है—मुझे ।” इस प्रकार सोचते हुए उन्होंने भी राज्य का त्याग कर, निर्ग्रन्थ बनने का निश्चय कर लिया + और भरतेश्वर से बोले; ---

“हे बन्धुवर ! मैंने राज्य के लिए ही आपको कष्ट दिया और विद्रोह किया । इसके लिए आप मुझे क्षमा करें । आप क्षमा के सागर हैं । मैं स्वयं इस राज्य का त्याग कर के प्रभु के मार्ग का अनुगमन करूँगा ।”

उन्होंने उठायें हुए अपने मुक्के को अपने गिर पर उतार कर केशों का लोच कर के संयम स्वीकार कर लिया । देवों ने जयध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा की ।

बाहुबली को प्रव्रजित होते देख कर भरतेश्वर लज्जित हुए और अश्रुपात करते हुए बाहुबली के चरणों में नमस्कार किया । उस विरक्त बन्धु का गुणगान करते हुए कहा—

“मुनिवर ! आप धन्य हैं । आपने मुझ पर अनुकम्पा कर के राज्य का त्याग कर दिया । मैं पापी ही नहीं, पापियों का शिरोमणि हूँ, अन्यायी हूँ और लोभियों में धुरन्धर हूँ । मैं राज्य को संसार का मूल जानता हुआ भी नहीं छोड़ सकता । वीर ! तुम ही पिताश्री के सच्चे पुत्र हो, जो पिताजी के मार्ग का अनुसरण कर रहे हो । मैं उनके मार्ग पर चलूँगा, तभी उनका खरा पुत्र बनूँगा ।”

इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से हटे और बाहुबलीजी के पुत्र ‘चन्द्रयश’ को उस राज्य पर स्थापित कर के बाहुबलीजी को पुनः वंदना की ओर राजधानी में लौट आये ।

बाहुबलीजी की कठोर साधना

प्रव्रज्या स्वीकार कर के मुनिराज श्री बाहुबलीजी वहीं—उसी स्थान पर ध्यानस्थ

+ विभिन्न साहित्य में प्रतान्तर है । इसमें दीक्षा का कारण स्वयं के हृदय में उद्भूत विचार बताया, तब अन्यत्र इन्द्र द्वारा किया हुआ निवेदन बताया है ।

हो गए और निष्कम्प—अडोल खड़े रहे। ग्रीष्म का प्रचंड ताप भी उनको चलित नहीं कर सका। देह से पसीना झरता और रज-कण उड़ कर उनके देह पर चिपक जाते। इस प्रकार सारा शरीर रज-मैल से लिप्त हो कर कीचड़ जम गया। किंतु ध्यानस्थ मुनिराज की इस ओर दृष्टि ही नहीं गई। घनघोर वर्षा और पृथ्वी पर बहते हुए पानी से उनके देह पर शैवाल जम गई। देह को कंपा देने वाले झंझावात आये, परन्तु योगीराज का स्थिर-योग निश्चल रहा। वन-उपवन को अपने शीत-दाह से दग्ध करने वाली अत्यन्त शीत और साथ ही हिम-वर्षा के भयंकर उपसर्ग भी महान् आत्मबली महामुनि बाहुबली को नहीं डिगा सके। जिस प्रकार वे युद्ध में अजेय रहे, उसी प्रकार प्रकृति के महा प्रकोप के घोर कष्टों के सामने भी अपराजेय रहे और धर्मध्यान में विशेष स्थिर रहने लगे। उनकी ध्यान-धारा विशेष विकसित होती रही। जंगली भैंसे उन्हें वृक्ष का सूखा ठूँठ समझ कर अपना सिर, स्कन्ध और शरीर रगड़ कर खुजालने लगे। सिंह उनके पैरों का सहारा ले कर विश्राम करते। हाथी उनके हाथ पाँव को सूँड से पकड़ कर खिंचने का उपक्रम करते, किंतु निष्फल हो कर लौट जाते। चमरी-गायें अपनी काँटे के समान तीक्ष्ण—खुरदरी जीभ से उनके शरीर को चाटती थी। बार्ग के बाद उगी हुई वेलें उनके शरीर पर लिपट कर छा गई थी। बाँस और तीक्ष्ण दर्भ के अंकुर उनके पाँव फोंड कर ऊपर निकल आये थे। उनके शरीर पर लिपटी हुई लताओं के झुरमुट में चिड़ियों अपने घोंसले बना कर रहने लगी थी और मयूर के कोकारव से भयभीत सर्प उस लता में छुपने के लिए उनके शरीर पर चढ़ते और पैरों में लिपट जाते।

योगीराज को बहिनों द्वारा उद्बोधन

इस प्रकार की कठोर साधना करते हुए महामुनि बाहुबलीजी को एक वर्ष बीत गया। उनका मोह महाशत्रु जीर्ण-शीर्ण हो गया था, फिर भी वह मान के महाभ्रय से टिका हुआ था। स्थिति परिपक्व होने आई थी, कि इस मान-महिपाल को नष्ट करने में एक महा निमित्त की आवश्यकता थी।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् आदि जिनेश्वर ने महासती ब्रह्मी और सुन्दरी को सम्बोध कर कहा:—

“आर्ये ! महामुनि बाहुबलीजी कठोर साधना कर रहे हैं। एक वर्ष की साधना

में उन्होंने कर्म के वृन्द के वृन्द क्षय कर डाले । उन्होंने ध्यानस्थ हो कर अन्तर्बोधन किया और बहुत-से दोषों को नष्ट कर डाला । किन्तु एक दोष उनकी आत्मा में अब तक छुप कर बैठा हुआ है । उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई । इस दोष को दूर करने में तुम्हारा निमित्त आवश्यक है । उनका उपादान तुम्हारा निमित्त पा कर जाग्रत हो जायगा और मोहावरण को नष्ट कर के शाश्वत—सादि-अपर्यवसित परम ज्ञान प्राप्त कर लेगा । इस समय तुम्हारे उद्बोधन की आवश्यकता है । इसलिए तुम जाओ और उनसे कहो कि—“मुनिवर ! अब इस मान रूपी गजराज से नीचे उतरो । आप जैसे परम पराक्रमी, इस मान के फन्दे में फँस कर वीतराग दशा से वंचित रहें—यह उचित नहीं है ।”

जब बाहुबलीजी दीक्षित हुए, तो उनके मन में यह विचार आया—“यदि मैं अभी प्रभु के चरणों में चला जाऊँगा, तो मुझे अपने छोटे भाइयों को भी वन्दन-नमस्कार करना पड़ेगा । क्योंकि वे मुझसे पूर्व दीक्षित हुए हैं । इसलिए मैं यहीं तप करूँ और केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रभु की सेवा में जाऊँ ।” इन विचारों में मान-कषाय का रंग था । यही दोष वीतरागता में बाध बन रहा था ।

महासती ब्राह्मी और सुन्दरी, वन की ओर चली । वन में पहुँच कर वे मुनिराज बाहुबलीजी को खोजने लगी । वे उन्हें दिखाई नहीं दिये । पसीने से जमी हुई रज से लिप्त और लताओं से आच्छादित महर्षि को वे बड़ी कठिनाई से खोज सकी । उनको पहिचानना सरल नहीं था । वे मनुष्य के रूप में तो दिखाई ही नहीं देते थे । पत्रावली से आच्छादित शरीर को कोई कैसे पहिचान सकता है ? बुद्धिबल से ही वे मुनिवर को जान सकी । तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और इस प्रकार बोली;—

“महर्षि ! हम ब्राह्मी-सुन्दरी साध्वी हैं । अपने पिता एवं विश्वतारक भगवान् ऋषभदेवजी ने हमारे द्वारा आपको कहलाया है कि हाथी पर सवार रहने वाले पुरुषों का मोह-महाशत्रु नष्ट नहीं होता । वे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । अतएव हाथी से उतर कर नीचे आइये ।”

इतना कह कर वे दोनों महासतियों वहाँ से लौट आईं । महामुनि बाहुबलीजी, उप-रोक्त शब्दों को सुन कर आश्चर्य में पड़ गए । निमित्त ने अपना काम कर दिया । अब उपादान अंगड़ाई ले कर अपना पराक्रम करने लगा । महर्षि विचार करने लगे;—

“अहो ! मैंने तो समस्त सावद्य-योग का त्याग कर दिया और निःसंग हो कर वन में साधना कर रहा हूँ । मेरे पास हाथी तो क्या, घोड़ा-गधा कुछ भी नहीं है । इस

शरीर के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं—मेरे पास । फिर हाथी की बात कैसी ? क्या महासती झूठ बोली ? भगवान् ने असत्य सम्वाद भेजा ? नहीं-नहीं, न तो महासतियें झूठ बोली होगी, न भगवान् ने ही असत्य उद्बोधन कराया होगा । उनका आशय द्रव्य हाथी से नहीं, भाव हाथी से होगा”—महर्षि आत्म-निरीक्षण करने लगे । दीर्घकाल की ध्यान-धरा के नीचे दबा हुआ चोर पकड़ में आ गया;—“अरे ! हाँ, वय में छोटे, किन्तु व्रत-पर्याय में ज्येष्ठ ऐसे लघु-बन्धु श्रमणों को वन्दन नहीं करके अपना बड़प्पन बनाये रखने की भावना मेरे मन में छुपी पड़ी है । मैंने कायुत्सर्ग किया, धर्म ध्यान ध्याया, किन्तु साधना के पूर्व से ही छुप कर बैठे हुए इस डाकू मानसिह का मर्दन नहीं किया और छुपे शत्रु को टिकाये रखा । मोहराज का प्रत्यक्ष मैं तो मुझ पर जोर नहीं चला और उसके अन्य तीन महा सेना-पतियों से मैं अजेय रहा, परन्तु मुझ में ही छुप कर मेरी साधना के महाफल से मुझे वंचित रखने वाला यह दुष्ट मानसिह मुझे धोखा देता रहा और मैंने इस ओर देखा ही नहीं । वास्तव में हाथी के रूप में रहे हुए मानसिह पर मैं सवार रहा । मेरी कठोर साधना और अडोल ध्यान भी इस दूषित भूमि पर चलता रहा । मैं कितना अधम हूँ ? भगवान् वृषभनाथ का पुत्र और उनके चरणों में वर्षों तक रहने, उपदेश सुनने और सेवा करने का सुयोग पा कर भी मैं विवेकी नहीं बन सका । धिक्कार है मेरे अभिमान को और शतशः धिक्कार है मेरे अविवेकीपन को । मैं अभी जा कर सभी व्रत-ज्येष्ठ श्रमणों को वन्दना करता हूँ ।”

इस प्रकार विचार कर के महान् सत्वशाली महामुनिजी चलने को तत्पर हुए और पाँव उठाया । चिन्तन की इस चिनगारी ने शुक्ल ध्यान रूपी वह ज्वाला उत्पन्न की कि मानमहिपाल की अंत्येष्टि ही हो गई । मान के मरते ही उसकी ओट में रहे हुए सूक्ष्म क्रोध माया और लोभ भी भस्म हो गए । तत्काल शुक्ल ध्यान की दूसरी ज्योति उत्पन्न हुई और ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी जल कर राख हो गए । महर्षि बाहुवलीजी परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हो गए । वे वहाँ से चल कर भगवान् आदिनाथ के समवसरण में उपस्थित हुए और केवलानियों की परिषद् में बैठ गए ।

भरतेश्वर का पञ्चात्ताप और साधमी-सेवा

भगवान् ऋषभदेव स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते और भव्य जीवों को प्रतिबोध देते हुए अष्टासद पर्वत पर पधारे । देव-देवियाँ और इन्द्र-इन्द्रानियाँ भगवान् के समवसरण में

उपस्थित हुए। वनपालक ने महाराजाधिराज को भगवान् के पधारने की बधाई दी। इस शुभ समाचार ने सच्चाटके हृदय में हर्ष की बाढ़ उत्पन्न कर दी। उन्होंने बधाई देने वाले को साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया और सिंहासन से नीचे उतर कर, प्रभु की ओर सात-आठ चरण चल कर विधिवत् वन्दना की। इसके बाद भरतेश्वर ने प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण में जाने के लिए तय्यारियाँ करने की आज्ञा दी। स्वयं स्नानादि कर के वस्त्राभूषण से सुसज्जित हुए। बड़ी धूमधाम से सवारी निकली। प्रभु के समवसरण में पहुँच कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और योग्य स्थान पर सभा में बैठे। प्रभु ने धर्मोपदेश दिया। प्रभु की उपशम-भाव-वर्धक देशना सुन कर भरतेश्वर को विचार हुआ;—

“अहो ! मैं कितना लोभी हूँ। मेरी तृष्णा कितनी बड़ी हुई है। मैंने अपने छोटे भाइयों का राज्य ले लिया। मेरे ये उदार हृदय वाले बन्धु, मोह को जीत कर और प्रभु के चरणों में रह कर अपनी आत्मा को शान्त-रस में निमग्न कर, अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अरे, कौआ जैसा अप्रिय पक्षी भी अकेला नहीं खाता। वह जहाँ-कहीं थोड़ा भी खाने जैमा देखता है। तो पहले ‘काँव-काँव’ कर के अपने जाति-बन्धुओं को बुलाता है और सब के साथ खाता है। किंतु मैं ऐसा पापी हुआ कि अपने छोटे भाइयों का राज्य छिन कर उन्हें माधु वनने पर विवश किया। मैं उन कौओं से भी गया-बीता हो गया। यद्यपि मैंने इनका छोड़ा हुआ राज्य, इनके पुत्रों को ही दिया है, किन्तु यह तो उस डाकू जैसा कार्य हुआ, जो एक को लूट कर दूसरे को देता है। इसमें भी मैंने अपने अधिपत्य का स्वार्थ तो साध ही लिया। हा, मेरे छोटे भाई मोक्ष पुरुषार्थ में लगे हैं, तब मैं सब से बड़ा हो कर भी अर्थ और काम पुरुषार्थ में रंग रहा हूँ। ये त्यागी हैं और मैं भोगी हूँ। इन्हें भोग से विमुक्त कर के मैं मन चाहे उत्कृष्ट भोग, भोग रहा हूँ। यह मुझे शोभा नहीं देता। मुझे अपने बन्धुओं के साथ संसार में रह कर भ्रातृ-द्रोह के कलंक को मिटाना चाहिए।”

इस प्रकार विचार कर के भरत महाराज उठे। उन्होंने प्रभु के निकट जा कर विनयपूर्वक मनोभाव व्यक्त किये और अपने भाई-मुनियों को भोग का निमन्त्रण दिया। भरतेश्वर के सुसुप्त विवेक को जाग्रत करते हुए जितेश्वर भगवान् ने कहा;—

“हे सरल हृदयी राजन् ! तेरे ये मुनि-बन्धु महा सत्वशाली हैं। इन्होंने संसार को असार और भोग को रोग-शोक और दुःख का बीज जान कर त्यागा है। ये महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ हैं। अब इनका आत्माराम, धर्माराम में विचर कर निर्दोष आनन्द का उपभोग कर रहा है। इस पवित्र उत्तमोत्तम आत्मानन्द को छोड़ कर अब ये पुद्गलानन्द—विषयानन्द का विचार ही नहीं करते। इनकी दृष्टि में पुद्गलानन्दी जीव, उस सूअर जैसा है, जो विष्ठा

भक्षण करता है। त्याग हुआ भोगों को पुनः भोगना, इनकी दृष्टि में वमन को चाटने के समान है।”

चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर समझ गए। उन्हें पश्चात्ताप हुआ—“अभोगी दशा के साधक, भोग सम्बन्धी निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते, यह ठीक ही है। मैंने बिना विचारे ही आमन्त्रण दिया और निराश हुआ, किन्तु शरीर के लिए भोजन तो आवश्यक होना ही है। मैं इन मुनियों को भोजन करा कर कुछ तो सेवा कर सकूँगा।” इस प्रकार विचार कर के उन्होंने पाँच सौ गाड़े भर कर भोज्य-सामग्री मँगवाई और आहार के लिए निमन्त्रण दिया। तब जिनेश्वर भगवंत ने कहा—

“राजन् ! यह औद्देशिक आहार है। निर्दोष मायुकरी करने वाले निर्ग्रन्थों के लिए ऐसा आहार त्याज्य है।”

नरेन्द्र ने सोचा—“हाँ, यह भोजन तो मुनियों के लिए ही बना है; इसलिए इनके लिए अग्रह्य है। किन्तु मेरे यहाँ तो ऐसी भोज्य-सामग्री है, जो इनके लिए नहीं बनी। यह (लड्डू, पेठा, पेड़ा, खाजा आदि जो नाश्ता आदि में चलते हैं और कुछ दिन रहने पर भी खराब नहीं होते) इनके काम में आ सकेगी।” यह सोच कर उन्होंने मुनियों को उद्देश्य कर नहीं बनाई हुई ऐसी कृत-कारित दोष से रहित सामग्री के लिए निवेदन किया। जिनेन्द्र भगवान् ने कहा;—

“नरेन्द्र ! निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारियों के लिए ‘राजपिण्ड’ भी त्याज्य है।

अब तो भरतेश्वर सर्वथा निराश हो गए। उनके मन पर उदासी छा गई। वे सांचने लगे—“अहो ! मैं कितना दुर्भाग्यी हूँ कि मेरी किसी प्रकार की सेवा इन त्यागी निर्ग्रन्थों के लिए मान्य नहीं होती। मुझ से तो मेरी प्रजा और वे गरीब निर्धन लोग भाग्य-शाली हैं जो इन्हें प्रतिगृह्णते हैं। वे धन्य हैं, कृतपुण्य हैं और मुझसे लाख गुणा उत्तम हैं....

चक्रवर्ती को चिन्तामग्न देख कर प्रथम स्वर्ग के अधिराजि शक्रेन्द्र ने प्रभु से पूछा—

“भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार का है ?” उत्तर मिला—“पाँच प्रकार का। यथा—

१ इन्द्र का अवग्रह—जिस वस्तु का प्रत्यक्ष में कोई स्वामी नहीं हो, उस तृण, मूत्रा पान, कंकर आदि लेने में दक्षिण भरत के साधु-साध्वी को शक्रेन्द्र की आज्ञा लेनी चाहिए। यह इन्द्र की आज्ञा रूप प्रथम अवग्रह हुआ।

२ चक्रवर्ती के राज्य में उनकी आज्ञा लेना।

३ माण्डलिक राजा की उसके अग्रिवार-क्षेत्र में आज्ञा लेना ।

४ गृह-स्वामी से मकान, पाट आदि लेना ।

५ साधर्मी-साधु का अवग्रह ।

उपरोक्त अवग्रह का क्रम पश्चानुपूर्वी है । सब से पहले साधर्मी का अवग्रह लिया जाता है, उसके बाद सागरी का । इस प्रकार करते हुए यदि चक्रवर्ती का भी योग नहीं हो, तो अन्त में देवेन्द्र का अवग्रह लिया जाता है । यदि देवेन्द्र की आज्ञा हो, किन्तु राजा की आज्ञा नहीं हो, तो वह वस्तु स्वीकार करने योग्य नहीं रहती ।”

इन्द्र ने कहा; —“प्रभो ! आपके जितने भी साधु-साध्वी हैं, उन सभी को मैं अपने अवग्रह की आज्ञा, सदा के लिए देता हूँ ।”

यह सुन कर चक्रवर्ती नरेन्द्र ने विचार किया—“इन श्रेष्ठ मुनियों ने मेरे आहारादि को स्वीकार नहीं किया, किन्तु अवग्रह की आज्ञा दे कर कुछ तो कृतार्थ बनूँ ?” वह उठा और प्रभु के समीप पहुँच कर निवेदन किया—“प्रभु ! मैं भी अवग्रह की आज्ञा देता हूँ ।”

इसके बाद उन्होंने देवेन्द्र से पूछा—“कहिये, इस लाई गई भोजन-सामग्री का क्या किया जाय ?”

—“नरेन्द्र ! इससे आप व्रतधारी सुश्रावकों की सेवा कर के लाभान्वित हो सकते हैं”—देवेन्द्र ने कहा और भरतेश्वर ने ऐसा ही किया ।

भरतेश्वर को अपने साधर्मी इन्द्र का मनोहर रूप देख कर आश्चर्य हुआ । उन्होंने पूछा—

—“देवेन्द्र ! आप देवलोक में भी इसी रूप में रहते हैं, या दूसरे रूप में ?”

—“नरेन्द्र ! स्वर्ग में हमारा ऐसा रूप नहीं होता । यह रूप तो हमें यहाँ के लिए खास तौर पर बनाना पड़ता है । हमारा असली रूप इतना प्रकाशमान होता है कि मनुष्य देख ही नहीं सकता”—देवेन्द्र ने कहा ।

—“शक्रेन्द्र ! मेरी बहुत दिनों से इच्छा हो रही है कि मैं आपका असली रूप देखूँ । क्या आप मेरी इच्छा पूर्ण करेंगे”—राजेन्द्र ने अपना मनोरथ व्यक्त किया ।

देवेन्द्र ने राजेन्द्र की इच्छा पूरी करने के लिए अपनी एक अंगुली दिखाई । वह सुशोभित अंगुली, दीपशिखा के समान प्रकाशित एवं कान्तियुक्त थी । भरतेश्वर उस दिव्य रूप को देख कर प्रसन्न हुए । इन्द्र और नरेन्द्र, जिनेन्द्र को नमस्कार कर के स्वस्थान गए । नरेन्द्र ने देवेन्द्र की अंगुली जैसा प्रकाशमान आकार बना कर जनता को दिखाने के लिए स्थापन किया और इन्द्रोत्सव मनया । उसी दिन से ‘इन्द्र महोत्सव’ की प्रथा प्रारम्भ हुई ।

इन्द्र के परामर्श से भरतेश्वर ने सुश्रावकों को भोजन कराया। और सभी से भरतेश्वर ने सभी श्रावकों को सदा के लिए अपनी भोजनशाला में भोजन करने का निमन्त्रण दे दिया और कहा—

“अब आप कृषि आदि आरंभजनक कार्य नहीं कर के स्वाध्याय में रत रह कर निरन्तर अपूर्व ज्ञानाभ्यास करने में ही तत्पर रहें और भोजन कर के मेरे पास आ कर प्रतिदिन यह कहा करें—“जितो भवान् वद्धते भीस्तस्मान्माहन-माहन” (अर्थात् आप जीते गये हैं, भय बढ़ रहा है, इसलिए आत्मगुणों को मत हणो, मत हणो)।

सम्राट का निमन्त्रण स्वीकार कर श्रावकगण वहीं भोजन करने लगे और भरतेश्वर को उद्बोधन करने लगे।

देवों के समान रति-क्रीड़ा में मग्न एवं प्रमादी बने हुए भरतेश्वर, उन बोधप्रद शब्दों को सुन कर विचार करते कि “मैं किससे जीता गया हूँ? मुझे किसने जीत लिया है? मुझे किसका भय है? किस प्रकार का भय बढ़ रहा है?” विचार करते, वे अपने मन से ही समाधान करते—“हाँ, हाँ, ठीक तो है। मैं क्रोधादि कषायों से जीता गया हूँ और इन कषायों से ही मेरे लिए भय-स्थान बढ़ रहा है। ये मेरे हितैषी मुझे सावधान कर रहे हैं और कह रहे हैं कि—“ओ मोहान्ध! सावधान हो जा। तेरे आत्मगुणों का हनन हो रहा है। अपनी आत्मा की तो दया कर। मत कर ऐ नादान! अपने आत्मगुणों की हत्या मत कर।” ये विवेकवंत साधर्मि बन्धु मुझे सावधान करते हैं। मुझ पर उपकार करते हैं। अहो! मैं कितना प्रमादी और कैसा विषय-लोलुप हूँ कि यह सब सुनता और समझता हुआ भी भूल जाता हूँ और कामदेव के प्रवाह में बहता ही जा रहा हूँ। यह कैसी विडम्बना है—मेरी। मैं अपने आत्मगुणों के प्रति इतना उदासीन क्यों हो गया?”

इस प्रकार भरतेश्वर कभी धर्म-चिन्तन में, तों कभी विषय-प्रवाह में बह जाते हैं। जब साधर्मियों द्वारा उद्बोधन मिलता, तो विकारी प्रवाह रुक कर धर्म-भावना प्रवाहित होने लगती और जब परम सुन्दरी श्रीदेवी अथवा अन्य मदनमोहिनी का मोहक रूप एवं उत्तेजक स्वर का आकर्षण बढ़ता, तो उस पवित्र भावना पर पानी फिर जाता। उदयभाव का जोर एवं बालवीर्य का प्रभाव दुर्द्धर्ष होता है। निकाचित उदय को रोकने की सामर्थ्य किसमें है? फिर भी हृदय में जगी हुई दर्शन-ज्योति व्यर्थ नहीं जाती। वह मोह के मशवेग को कालान्तर में नष्ट कर के ही रहती है।

भरतेश्वर की इस प्रकार की डोलायमान स्थिति चल रही है। एक दिन पाकाधिकारी (प्रधान रसोढ़ेदार) ने आ कर महाराजाधिराज से निवेदन किया;—

“स्वामिन् ! भोजनशाला में भोजन करने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है । बहुत से लोग झूठ-मूठ ही अपने को श्रावक बता कर भोजन कर जाते हैं । उनकी परीक्षा कैसे की जाय, जिससे असली-नकली का भेद किया जा सके ?”

—“अरे भाई ! तुम भी तो श्रावक हो । तुम्हें श्रावक की परीक्षा करना नहीं आता क्या ? अब जो अपने को श्रावक बतावे, उससे पूछो कि--श्रावक के व्रत कितने होते हैं और तुम कितने व्रतों का पालन करते हो ? जब वे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का स्वरूप बतावे और अपने को उनका पालक कहे, तो उसे मेरे पास भेजो । मैं उसके शरीर पर कांकिणी-रत्न से तीन रेखाएँ खिच दूँगा । ये रेखाएँ उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का परिचय देगी । जिसके शरीर पर उत्तरासंग के समान तीन रेखाएँ हों, उन्हें श्रावक समझो और उन्हीं को भोजन कराओ”--भरतेश्वर ने परीक्षा की छाप निश्चित कर दी । इसका प्रभाव भी अच्छा हुआ । नकली श्रावकों की भीड़ कम हो गई । भरतेश्वर के बाद उनके उत्तराधिकारी महाराज ‘सूर्ययश’ के शासन काल में कांकिणी-रत्न नहीं रहा, तब स्वर्ण के तीन तार पहिनना, श्रावक का परिचय माना गया । उनके बाद चाँदी की, यों होते-होते सूत्र के तीन धागे का परिचय-सूत्र धारण किया जाने लगा । इस परिचय चिन्ह को “जैनोपवित” कहा जाने लगा । जैनोपवित का अनुकरण ‘यज्ञोपवित’ के रूप में हुआ ।

वर्ष में दो बार श्रावकों की परीक्षा होती और नये बने हुए श्रावक उसमें सम्मिलित होते । श्रावकों के द्वारा भरतेश्वर को उद्बोधन दिया जाता रहा । वे “जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मान्” को सामान्य स्वर में और “माहन” शब्द को उच्च स्वर में कहते, इसलिए वे “माहन” उपनाम से प्रसिद्ध हुए । आगे चल कर यह माहन शब्द ‘ब्राह्मण’ के रूप में परिवर्तित हो गया । प्राकृत का माहन, संस्कृत में ब्राह्मण बन जाता है ।

जब धर्म-प्रिय चक्रवर्ती सम्राट, श्रावकों को सम्मानपूर्वक भोजन कराने लगे, तो प्रजा में भी उनके प्रति आदर बढ़ा और साधर्मि की भोजनादि से सेवा करने की शुभ प्रवृत्ति फैली । सम्राट ने सम्पत्ति-ज्ञान के प्रचार और स्वाध्याय के लिए जिनेश्वरों की स्तुति, तत्त्व बोध, आगार धर्म और अनगार धर्म--समाचारी से युक्त चार वेद की रचना की । इनका स्वाध्याय सर्वत्र होने लगा । आचार्य लिखते हैं कि आगे चल कर इन्हीं वेदों से आकर्षित हो कर अन्य विद्वानों ने अपने मतानुसार लौकिक वेदों की रचना की ।

मरीचि की कथा

भरतेश्वर का पुत्र “मरीचि” भी भगवान् ऋषभदेवजी का सर्वत्यागी शिष्य था । वह स्वभाव से ही सुकुमार और कष्ट सहन करने में कच्चा था । ग्रीष्म-ऋतु के मध्याह्न के प्रचण्ड ताप से तप्त भूमि पर चलते हुए मरीचि के पाँव जलने लगे, पसीना बहने लगा, शरीर पर धूल लग कर चिपकने लगी और मेल की दुर्गन्ध आने लगी । प्यास के मारे गला सूखने लगा । इस प्रकार के परीषहों से मरीचि घबड़ा उठा । उसकी भावना डिग गई, किन्तु अपने कुल का गौरव उसे पकड़े रहा । उसने सोचा—“मैं चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर का पुत्र और प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का पौत्र हूँ । मुझे कायरों की भाँति संयम-भ्रष्ट होना शोभा नहीं देता ।” इन विचारों ने उसे साधुता त्याग कर पुनः संसारी बनने से तो रोक दिया, किन्तु व्याप्त शिथिलता के कारण उसका निर्दोष रीति से संयम पालना असंभव हो गया उसने निश्चय किया कि—

“भगवान् के साधु तो मन, वचन और काया के तीनों दण्ड को जीते हुए हैं, किन्तु मैं इन तीनों दण्डों से दण्डित हूँ, इसलिए मैं ‘त्रिदण्डी’ बनूँगा । श्रमण अपने सिर के केशों का लोच इन्द्रियों का जय कर के मुण्डित सिर रहते हैं, किन्तु मैं लोच परीषह सहन नहीं कर सकता, इसलिए उस्तरे से मुँडन कराऊँगा और शिखा धारण करूँगा । ये अनगार महात्मा स्थावर और त्रस जीवों की विराधना से विरत हैं, तब मैं केवल त्रस जीवों के वध से ही विरत रहूँगा । ये निर्ग्रन्थ सर्वथा अपरिग्रही हैं, किन्तु मैं तो स्वर्ण-मुद्रिका रखूँगा । ये सर्वत्यागी संत उपानह भी नहीं पहिनते, किन्तु मैं तो पैरों में जूते पहिन कर काँटे, कंकर और गरमी के कष्ट से बचूँगा । ये शील की सुगन्धि से सुगन्धित एवं शीतल हैं, तब मैं चन्दन का लेप कर सुगन्धित एवं शीतल बनूँगा । मैं शीत और ताप से बचने के लिए छत्र धारण करूँगा । ये श्वेत वस्त्र पहिनते हैं, तो मैं कषाय से कलुषित होने के कारण कषौला—गेरुआ वस्त्र धारण करूँगा । ये मैल का परीषह जीत चुके हैं, किन्तु मैं तो परिमित जल से स्नान एवं पान करूँगा ।”

इस प्रकार अपने-आप विचार कर के अपना लिंग—वेश और आचार स्थिर किया और तदनुसार आचरण करता हुआ भगवान् के साथ ही विचरने लगा । जिस प्रकार खच्चर, न तो घोड़ा कहलाता है और न गधा ही, उसी प्रकार मरीचि न तो साधु रहा, न गृहस्थ ही । मरीचि के इस विचित्र वेश और आचार को देख कर लोग उससे उसके धर्म का उपदेश देने का आग्रह करने लगे, तो वह निर्ग्रन्थ-मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण वाले धर्म का ही उपदेश करता । यदि कोई उसे पूछता कि ‘आप इस धर्म का पालन क्यों

नहीं करते ?' तो वह अपनी अशक्ति ही बताता । यदि उसके प्रतिबोध से कोई विरक्त हो कर दीक्षा लेना चाहता, तो उसे वह भगवान् के पास भेज कर दीक्षा दिलवाता ।

इस प्रकार विचरते हुए कालान्तर में मरीचि के शरीर में असह्य रोग उत्पन्न हुआ । संयम-भ्रष्ट होने के कारण किसी भी साधु ने उसकी वैयावृत्य नहीं की । सेवा एवं सान्त्वना के अभाव में वह रोग उसे विशेष पीड़ाकारी लगा । उसे विचार हुआ--“हा, मैं अकेला रह गया । ऐसे विकट समय में कोई भी साधु मेरी सम्भाल नहीं करता । मैं सर्वथा निराधार हो गया । यह मेरा ही दोष है । ये शुद्धाचारी श्रमण मेरे जैसे हीनाचारी से सम्बन्ध नहीं रखते । यह इनका दोष नहीं है । जिस प्रकार उत्तम कुल के व्यक्ति, हीन कुल वाले म्लेच्छ से सम्बन्ध नहीं रखते, उसी प्रकार ये निरवद्य चर्या वाले श्रमण भी अपनी मर्यादा में रहते हुए मूझ सावद्य प्रवृत्ति वाले की सेवा नहीं करते । इन उत्तम निर्ग्रथों से सेवा कराना भी मुझे उचित नहीं है । क्योंकि इससे व्रत-भंजक पापाचारी का समर्थन होता है और अव्रत की वृद्धि होती है । जिस प्रकार गधे और गजराज का साथ नहीं रहता, उसी प्रकार मुझसे इनका सम्बन्ध एवं सहयोग नहीं रहता”--इस प्रकार विचार करते वह मन को शान्त करने लगा । रोग का प्रकोप कम हुआ और वह क्रमशः रोग मुक्त हो गया ।

किसी समय भगवान् के पास एक ‘कपिल’ नामका राजपुत्र आया । उसने धर्मोपदेश सुना, किन्तु प्रभु का उपदेश उसे रुचिकर नहीं हुआ । वह दुर्भग्य था । उसने विचित्र वेश वाले मरीचि को देखा । वह उसके पास आया और उसको धर्म सुनाने का आग्रह किया । मरीचि ने कहा--“यदि तुम्हें धर्म चाहिए, तो भगवान् के पास ही जाओ । धर्म वही है, मेरे पास नहीं है ।” कपिल फिर भगवान् के पास आया । उसके जाने बाद मरीचि को विचार हुआ कि--“यह पुरुष भी कैसा दुर्भागी है, जिसे भगवान् का उत्तमोत्तम धर्म नहीं रखा और मेरे पास आया ।” वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि कपिल पुनः मरीचि के पास आया और कहने लगा :—

“मुझे तो उनका धर्म अच्छा नहीं लगा । आपके पास भी धर्म होना ही चाहिए । यदि आप अपना धर्म मुझे सुनावें, मैं सुनना चाहता हूँ ।”

मरीचि ने सोचा--“यह भी कोई मेरे जैसा ही है । अच्छा है, मुझे भी एक सहायक की आवश्यकता है । यदि यह मेरा शिष्य बन जाय, तो मेरे लिए लाभदायक ही होगा ।” इस प्रकार विचार कर उसने कहा :—

“धर्म तो मेरे पास भी है और वहाँ भी है । यदि मेरे पास धर्म नहीं होता, तो मैं

इस प्रकार बयों रहता ।”

मरीचि ने इस प्रकार उत्सूत्र-भाषण कर के कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण उत्कट कर्म का बन्ध किया और संसार भ्रमण बढ़ाया । उसने कपिल को दीक्षित कर के अपना शिष्य बनाया । उसी समय से परित्राजक की परम्परा स्थापित हुई ।

मरीचि अंतिम तीर्थंकर होंगे

कालान्तर में जिनेश्वर भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए पुनः अष्टापद पर्वत पर पधारे । भरतेश्वर अपने परिवार के साथ वन्दन करने आये । धर्मोपदेश सुनने के बाद विनयपूर्वक पूछा;—

“प्रभो ! भविष्य में आपके समान और भी कोई धर्मनायक, धर्मचक्रवर्ती इस भरतखण्ड में होगा ?”

—“हां, भरत ! इस अवसर्पिणी काल में मेरे बाद और भी तेईस तीर्थंकर होंगे और तेरे अतिरिक्त ग्यारह चक्रवर्ती नरेश होंगे ।” प्रभु ने भावी तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों का समय और नाम-गोत्रादि सुनाया और वासुदेव-प्रतिवासुदेव का वर्णन भी सुनाया । सम्राट ने पुनः प्रश्न किया;—

“हे नाथ ! इस महापरिषद् में ऐसा कोई भाग्यशाली जीव है, जो भविष्य में तीर्थंकर पद प्राप्त कर के भव्य जीवों का उद्धारक बनेगा ?”

—“वह त्रिदण्ड धारण किया हुआ तुम्हारा पुत्र मरीचि, अभी तो मलिन हो गया है, किन्तु भविष्य में वह ‘त्रिवृष्ट’ नाम का प्रथम वासुदेव होगा, फिर कालान्तर में पश्चिम महाविदेह में ‘पुष्यमित्र’ नाम का चक्रवर्ती नरेश होगा । उसके बाद बहुत संसार परिभ्रमण कर के इसी भरत-क्षेत्र में ‘महावीर’ नाम का चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा और मुक्त हो जायगा ।”

भगवान् से भविष्यवाणी सुन कर भरतेश्वर मरीचि के निकट आये और शिष्टाचार साधते हुए बोले—

“मैं तुम्हारे इस पाखण्ड के कारण तुम्हें आदर नहीं देता और न तुम्हें वन्दना करने के लिए आया हूँ । मैं तुम्हें प्रभु की कही हुई यह भविष्यवाणी सुनाने आया हूँ कि तुम भविष्य में इस भरत-क्षेत्र में प्रथम वासुदेव और कालान्तर में महाविदेह में चक्रवर्ती और

उसके बहुत काल बीत जाने पर इसी भरत-क्षेत्र के चौबीसवें तीर्थकर होओगे ।”

इस प्रकार भविष्य कथन सुना कर सम्राट प्रभु के पास आये और वन्दन-नमस्कार कर के स्वस्थान गए ।

भविष्यवाणी सुन कर मरीचि परम प्रसन्न हुआ । उसकी प्रसन्नता हृदय में समाती नहीं थी । उसने करस्फोट करते हुए कहा—

“अहो, मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि सभी वासुदेवों में प्रथम वासुदेव होऊँगा, चक्रवर्ती भी बनूँगा और इसी भरत-क्षेत्र में इसी अवसर्पिणी काल का अंतिम तीर्थकर भी बनूँगा । अहा, मैं सभी उत्तम पदवियों का उपभोग कर के मोक्ष प्राप्त कर लूँगा । मेरा कुल भी कितना ऊँचा है कि जिसमें मेरे पितामह तो इस काल के प्रथम तीर्थकर भगवान् हैं, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती महाराजाधिराज हैं और मैं प्रथम वासुदेव होऊँगा । विश्वभर में मेरा कुल सर्वश्रेष्ठ है ।”

जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही बनाई हुई जाल में फँस जाती है, उसी प्रकार मरीचि ने भी कुल का गर्व कर के कुल-मद से ‘नीच-गोत्र’ कर्म का बन्ध कर लिया ।

भगवान् का मोक्ष गमन

भगवान् ऋषभदेवजी भव्य जीवों को मोक्षमार्ग बताते हुए और अपने तीर्थकर नामकर्मादि की निर्जरा करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे । भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर मोक्षाभिलाषी लाखों मनुष्य प्रव्रजित हुए और लाखों ने श्रावक धर्म धारण किया । प्रभु के मोक्षगमन का समय निकट आ रहा था । मोक्ष-कल्याण से सम्बन्धित क्षेत्र की ओर भगवान् का सहजरूप से पदार्पण हो रहा था । भगवान् अष्टापद पर्वत पर पधारे । एक शिला पर पद्मासन से विराजमान हो गए । अनाहारक दशा में बाधक आहार-पानी छूट गया । चौदह भक्त जितने काल तक निराहार तप और निश्चल—पादपोषगमन दशा में रहे । अघातिया कर्मों की स्थिति एवं शरीर सम्बन्ध क्षय होने ही वाला था । इस अपूर्व स्थिति को प्राप्त होने के लिए शुक्लध्यान की तीसरी मंजिल में प्रवेश हुआ और योगों का निरुध्द होने लगा । योग निरोध होते ही चरम गृणस्थान में प्रवेश कर शुक्ल-ध्यान के शिखर पर आरूढ़ हो गए । पर्वत के समान सर्वथा अटोल, अकम्प एवं अचल ऐसी अपूर्व स्थिरता को प्राप्त कर के शरीर और कर्म-बन्धनों को त्याग दिया और उस अणु समय में ही लोकाय

पर पहुँच कर सिद्ध हो गए। भगवान् इस देह का त्याग कर अजर, अमर अशरीरी, परमेश्वर परमात्मा हो गए। परम पारिणामिक भाव प्रकट कर के सादि-अनन्त सहज आत्म-सुख के भोक्ता बन गए।

अनन्तानन्त गुणों के स्वामी ऐसे परमात्मा के प्रस्थान कर जाने पर देह, उजड़े हुए घर के समान सुनसान हो गया। क्या करे अब उस देह का? हाँ, यह ठीक है कि उसमें जगदुद्धारक, अनन्त गुणों के भंडार परमपूज्य परमात्मा निवास कर चुके हैं। यह वही पाँच सौ धनुष ऊँचा, वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन और समवतुरस्र संस्थान संस्थित और परम शुभ लक्षणों से युक्त शरीर है। जिनकी प्राप्ति करोड़ों मनुष्यों को नहीं होती, अरे, अनन्तानन्त जीवों को नहीं होती। ऐसे अनन्त जीव मोक्ष पा चुके, जिन्हें वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन और प्रथम संस्थान तो मिला, किन्तु ऐसे उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त महाप्रभावशाली देह की प्राप्ति नहीं हुई। किन्तु इसका महत्व उस महान् आत्मा के साथ ही था। इसके संहनन, संस्थान और लक्षण, उस आत्मा के कारण ही महत्व रखते थे। उसके प्रस्थान करने के बाद इसका सारा महत्व लुप्त हो गया। हंस (आत्मा) = परमहंस चला गया और मानसरोवर सूना हो गया। अब इसको उचित रीति से नष्ट कर देना ही बुद्धिमानी है।

यह वही शरीर है, जिसके द्वारा लाखों मनुष्यों का उपकार हुआ और परम्परा से असंख्य जीवों का उद्धार हुआ। इसको देखते ही भव्य जीवों की प्रसन्नता का पार नहीं रहता था। जिनके दर्शन, श्रवण एवं वन्दन के लिए लोग तरसते थे। आज इस देह के होते हुए भी वे लोग शोकाकुल हो कर रो रहे हैं। क्यों? इसलिए कि वह देहेश्वर, देह छोड़ कर प्रयाण कर गया। अब यह घर सर्वथा सूना हो गया। अब इस शरीर से उन परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे उस परम प्रकाशमान् परमात्मा के विरह से रो रहे हैं। शुभ होते हुए भी उनमें पर दृष्टि तो है। जब तक अपने में रहे हुए परमात्मा स्वरूप आत्मा की परम दशा प्रकट नहीं होती, तब तक परमात्मा का अवलम्बन ही आधारभूत है। इस परम ज्योति के प्रकाश में अपनी सुसुप्त मन्दतम ज्योति भी क्रमशः सतेज की जा सकती है। पहलवान से शिक्षा पा कर एक बच्चा भी स्वयं पहलवान एवं अपराजित योद्धा बन सकता है।

भरतेश्वरादि भव्यात्मा, उस देह—अखण्ड एवं परिपूर्ण देह के उपस्थित होते हुए भी परमात्म-विरह से दुःखी हो रहे थे—रुदन कर रहे थे। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। ग्रंथकार श्रीमद् हेमचंद्राचार्य लिखते हैं कि—‘भगवान् के विरह का आघात नहीं सह सकने के कारण चक्रवर्ती सम्राट मूर्च्छित हो गए और बहुत समय तक संज्ञाशून्य

रहे ।' वहाँ उनके सामने, वही देह—अखण्ड एवं परिपूर्ण देह उपस्थित होते हुए भी वे अपना संतोष नहीं कर के तीर्थंकर भगवान् के विरह की वेदना से अपार दुःख का वेदन करने लगे ।

प्रथम स्वर्ग का अधिपति शक्रेन्द्र, अपने देव विमान में आनन्दानुभव कर रहे थे कि हटात् उनका आसन चलायमान हुआ । वे स्तब्ध रह गए । अवधिज्ञान का उपयोग लगाया । उन्हें जिनेश्वर का विरह मालूम हुआ । वे भी शोक-मग्न हो गए और परिवार सहित अष्टापद पर्वत पर आये । उसी प्रकार सभी इन्द्र और देवी-देव आये । सभी की आँखों में आँसू थे । सभी रुदन कर रहे थे ।

जिनेश्वर के उस शव को देवों ने स्नान कराया, वस्त्र पहिनाये और आभूषण भी पहिनाये । इसके बाद श्रेष्ठ गोशीर्ष की लकड़ी से तीन चिताएँ रची गई—१ भगवान् श्री ऋषभदेवजी के लिए २ गणधरों के लिए और ३ शेष सभी साधुओं के लिए । फिर तीन शिविकाएँ बनाई । एक शिविका में भगवान् के शरीर को स्थापन किया, दूसरी में गणधरों के शरीर को और तीसरी में शेष साधुओं के शरीर को रखा । उन तीनों शिविकाओं को चिताओं में स्थापन किया और अग्निकाय देव ने अग्नि उत्पन्न की । वायुकुमार देव ने वायु चला कर अग्नि को सतेज कर प्रज्वलित किया । चिता में अगर, तुरक, घृत आदि डाला गया । चिताओं में शरीर जल कर भस्म हो गए । फिर मेघ-कुमार देवों ने क्षीरोदक की वर्षा की । उसके बाद जिनेश्वर की चिता में से शक्रेन्द्र ने ऊपर की दाहिनी ओर की दाढ़ा ग्रहण की, ईशानेन्द्र ने बाँयी ओर की, अमुरेन्द्र चमर ने नीचे की ओर की दाहिनी और बलिन्द्र ने बाँयी ओर की डाढ़ ग्रहण की । इसके बाद अन्य देवों ने शेष अस्थि-भाग ग्रहण किया ।

उस दाह स्थान पर देवों ने चैत्य-स्तूप बनाये । निर्वाण महोत्सव किया । नन्दीश्वर द्वीप पर जा कर अष्टान्हिका महोत्सव किया । इसके बाद उन दाढ़ों आदि को ले कर स्वस्थान आये और उन दाढ़ों को डिब्बों में रख कर चैत्य-स्तंभ में रखी और उनकी अर्चना की ।

भगवान् ऋषभदेवजी के ८४ गणधर, ८४००० साधु, ब्राह्मी-सुन्दरी आदि ३००००० साध्विये, श्रेयांस आदि श्रावक ३०५००० और सुमद्रादि ५५४००० श्राविकाएँ थी । साधुओं में ४७५० जिन नहीं, किंतु जिन समान ऐसे चौदह पूर्वधर मुनि थे । ९००० अवधिज्ञानी, २०००० केवलज्ञानी, २०६०० वैक्रियलब्धि वाले, ११६५०+ विपुलमति मनः-

+ इसमें मतान्तर है, १२७५० भी माने जाते हैं ।

पर्ययज्ञानी, १२६५० वादिविजय लब्धि वाले, २२९०० अनुत्तर विमान में गये, २०००० साधु सिद्ध हुए, ४०००० साधिवयें सिद्ध हुई ।

भगवान् आदिनाथ स्वामी उत्तराषाढा नक्षत्र में, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से चव कर माता के गर्भ में आये । उत्तराषाढा नक्षत्र में ही जन्मे, राज्याभिषेक, दीक्षा और केवलज्ञान ये पाँचों प्रसंग उत्तराषाढा नक्षत्र में ही हुए और अभिजीत नक्षत्र में सिद्ध हुए ।

प्रभु बीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे । तिरसठ लाख पूर्व तक राज्यासीन रहे । इस प्रकार ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था में रहे । इसके बाद दीक्षा ग्रहण की । एक हजार वर्ष तक छदमस्थावस्था में साधु रहे और एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर रहे । कुल संयमी-जीवन एक लाख पूर्व का रहा और कुल आयु चौरासी लाख पूर्व थी । जब तीसरे आरे के तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहे, तब सिद्ध गति को प्राप्त हुए ।



प्रथम तीर्थंकर

भगवान्

ऋषभदेव स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण

भरतेश्वर को केवलज्ञान और निर्वाण

भरतेश्वर को भगवान् के मोक्ष-गमन का गहरा आघात लगा। उनके मन पर से शोक का प्रभाव हटता ही नहीं था। वे चिन्तामग्न रहने लगे। मन्त्रियों को चिन्ता हुई। उन्होंने मिल कर निवेदन किया—“भगवान् ने तो अपना मनोरथ सफल कर लिया। वे जन्म-मरण के फन्दे को तोड़ कर मृत्युंजय बन गये। वे परमात्मा अनन्त आत्म-सुखों में लीन हैं। उनके लिए शोक करना तो व्यर्थ ही है। अब आपका व हमारा कर्त्तव्य है कि हम शोकसन्ताप छोड़ कर अपना उत्तरदायित्व निभायें।”

मन्त्रियों के परामर्श से भरतेश्वर सम्भले और राज-कार्य में प्रवृत्त होने लगे। वे नगर के बाहर उपवन में घूमने जाया करते। कौटुम्बिकजन उन्हें उपवन-उद्यानों में ले जाते। वहाँ सुन्दर स्त्रियों का झुण्ड उपस्थित हो जाता और भरतेश्वर उनके साथ लता-मण्डपों में जा कर इन्द्रियों के विविध प्रकार के रसों में निमग्न हो जाते। वे रानियों के साथ कुण्ड में उतर कर जल-क्रीड़ा भी करते रहते थे।

भगवान् के मोक्ष-गमन के बाद पाँच लाख पूर्व तक उनका भोगी-जीवन रहा। वे कभी मोह में मस्त हो जाते, तो कभी विराग के भावों से विरक्त हो जाते। पूर्व-भव के चारित्र के संस्कार उनकी आत्मा को शकशोर कर जाग्रत करते रहते। उदित पुण्य-बन्ध को वेदते और निर्जरते हुए काल व्यतीत होने लगा और वेद-मोहनीयादि प्रकृति का बल भी कम होने लगा। घातीकर्मों की प्रकृतियों के क्षय होने का समय निकट आ रहा था। एक बार वे जल-क्रीड़ा के पश्चात् वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर अंतःपुर के आदर्श भवन में गये। वहाँ शरीर प्रमाण ऊँचे, निर्मल एवं उज्ज्वल दर्पण में अपने शरीर को देखने लगे। देखते-देखते उन्हें पुद्गल की परिवर्तनशीलता का विचार हुआ। अवस्था के अनुसार शरीर में परिवर्तन होने का दृश्य, उनकी दृष्टि में स्पष्ट हुआ। इस दृश्य ने उन्हें अनित्य भावना में जोड़ कर धर्मध्यान में लगा दिया। धर्मध्यान में तल्लीन होने के बाद वर्धमान परिणाम से वे शुक्लध्यान में प्रवेश कर गए और क्षपकश्रेणी चढ़ कर समस्त घातीकर्मों को नष्ट कर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए। भगवान् भरतेश्वर ने वस्त्रालंकार उतारे*, केशों का लोच

* ग्रंथकार लिखते हैं कि—भरतेश्वर की अंगुली में से एक अंगुठी निकल कर गिर गई थी। शरीर निरीक्षण के समय अंगुली को सूनी—नंगी—अशोभनीय देख कर उन्हें विचार हुआ कि—“क्या इस शरीर की शोभा, इन दूसरे पुद्गलों से ही है? इन्हीं से यह शोभनीय दिखाई देता है?” इस विचार ने दूसरी अंगुली से भी अंगुठी निकलवाई। वह भी वैसी ही अशोभनीय लगने लगी। फिर तो क्रमशः सारे शरीर के आभूषणों को उतार दिया। अब तो सारा शरीर ही अशोभनीय लगने लगा। इस पर से देह

किया। उस समय इन्द्र का आसन चलायमान हुआ। भरतेश्वर को केवलज्ञान होना जान कर इन्द्र, तत्काल वहाँ आया और मुनि का द्रव्य-लिङ्ग अर्पण किया। सर्वज्ञ भगवान् ने मुनिवेश स्वीकार किया। फिर आरिसा भवन से निकल कर अन्तःपुर के मध्य में होते हुए राज्य-सभा में आये। सभा को प्रतिबोध दे कर दस हजार राजाओं को प्रव्रजित किया और जनपद विहार करने लगे। कुछ कम एक लाख पूर्व तक धर्मोपदेश दे कर भव्य जीवों को मुक्तिमार्ग में लगाते रहे और एक मास तक अनशन कर के मोक्ष प्राप्त हुए।

की असारता एवं अनित्यता का विचार करते हुए वे क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ हो गए। किन्तु जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिसूत्र में—‘शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय से बढ़ते हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करने और उसके बाद आभरण—अलंकार उतारने और केशलुंचन करने का उल्लेख है। यहाँ हमने सूत्र के उल्लेख का अनुसरण किया है।



सुनार की कथा का औचित्य

महाराजाधिराज भरत के विषय में यह कथा प्रचलित है कि—उनकी निर्लिप्तता के विषय में जिनेश्वर भगवान् न समवसरण में कहा था—“भरत चक्रवर्ती सम्राट है। छःखंड का अधिपति, चौदह रत्न, नौ निधान और हजारों सुन्दरी रानियों का पति है। इतना वैभवशाली होते हुए भी वह जल-कमल-वत् निर्लिप्त है।” प्रभु का यह वचन एक सुनार को नहीं जँचा। वह इधर उधर बातें करने लगा—“भरतेश्वर, भगवान् के पुत्र हैं और चक्रवर्ती सम्राट हैं। पुत्र-मोह अथवा भरतेश्वर को खुश करने के लिए भगवान् ने यह बात कही है। वास्तव में वे निर्लिप्त नहीं हैं। क्या इतना वैभवशाली, राज्य के लिए युद्ध करने वाला और हजारों रानियों के साथ काम-भोग भोगने वाला भी कभी निर्लिप्त-मिष्काम रह सकता है?”

सुनार की बात महाराजा भरत के कानों में गई। उन्होंने सुनार को बुलाया और तेल से भरपूर कटोरा हाथ में दे कर कहा—

“तुम यह कटोरा ले कर सारे नगर में घूमो। नगर की शोभा देखो और फिर मेरे पास आओ। परन्तु याद रखो कि इस कटोरे में से एक बूँद तेल भी नीचे गिरा, तो इन सैनिकों की तलवार तुम्हारी गर्दन पर फिरी। तुम वहीं ढेर कर दिये जाओगे।”

सैनिकों से घिरा हुआ स्वर्णकार, तेल से भरा हुआ कटोरा लिये हुए नगरभर में घूमा, किंतु इतनी सावधानी के साथ कि एक बूँद भी नहीं गिरने दिया। वह सम्राट के समक्ष उपस्थित हुआ। सम्राट ने उससे नगर की शोभा का हाल पूछा। वह बोला;—

“महाराज ! मेरा ध्यान तो इस कटोरे में था। यदि मैं एकाग्र नहीं रह कर इधर-उधर देखता तो वहीं जीवन समाप्त हो जाता। आपके ये यमदूत जो नंगी तलवारें ले कर साथ थे। मैं नगरभर में घूमा, परन्तु मेरा ध्यान तो इस कटोरे पर ही केन्द्रित रहा। जरा भी इधर-उधर नहीं गया। फिर शोभा निरखने का तो अवकाश ही कहाँ था—महाराज !”

भरतेश्वर ने कहा—“भद्र ! जिस प्रकार तू नगरभर में घूमा, फिर भी तेरा ध्यान एकाग्र रहा, उसी प्रकार मैं भी इस सारे वैभव का अधिपति होते हुए भी अन्तर से निर्लिप्त रहता हूँ।” स्वर्णकार का समाधान हो गया।

उपरोक्त कथा का भाव अपने शब्दों में उपस्थित किया है। किन्तु यह जँचती कम है। माना कि भरतेश्वर की आत्मा उच्च प्रकार के संयम की साधना कर के स्वर्ग में गई थी। उनकी आत्मा बहुत हलकी थी। वे इसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले थे, फिर भी उनके उत्कृष्ट भोग-कर्मों का उदय था। लाखों पूर्व काल तक वे भोगासक्त रहे थे। उनके भोग का वर्णन जब हम ‘त्रिपिण्डि शलाका पुरुष चरित्र’ में देखते हैं, तो लगता है कि वे उत्कृष्ट भोग-पुरुष थे। श्री हेमचन्द्राचार्य यहाँ तक लिखते हैं कि—खण्ड-साधना के समय (स्त्री-रत्न प्राप्त होने के बाद भी) हजार वर्ष तक गंगादेवी के साथ भोग भोगते रहे और सेना वही पड़ी रही (पर्व १ सर्ग ४) उनके सन्तानें भी थी। ऐसी दशा में उन्हें सर्वथा

निलिप्त मानना जंचता नहीं है। हाँ, कभी-कभी उनकी आत्मा में पूर्व के संस्कार जाग्रत होते और वे निलिप्तता की स्थिति में आ जाते, किंतु फिर मोह के झपाटे से वे कामासक्त भी हो जाते थे। अप्रत्याख्यानावरण कषाय और वेद-मोहनीयादि के उदय से ऐसा होना असंभव नहीं है। यह भी ठीक है कि उनको जो बन्ध होता था, वह तीव्रतम और भवान्तर में भोगने रूप गाढ़ निकाचित नहीं था। फिर भी उन्हें बन्ध होता ही था। वे निलिप्त, अनासक्त एवं निष्काम नहीं थे। अतएव यह कथा कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण लगती है। जो व्यक्ति गृहस्थवास में रहता हुआ भी कम से कम ब्रह्मचारी, आवेश रहित और विकार रहित-सा हो, उसी पर सुनार का दृष्टान्त लागू हो सकता है।

यह कथा श्री हेमचन्द्राचार्य के 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' में नहीं है।

'तेलपात्रधर' का दृष्टान्त हमें 'ऋषिभाषित' सूत्र के ४५ वें अध्ययन की २२ वीं गाथा में मिला। वह गाथा इस प्रकार है—

“तस्मा पाणदयद्वाए, तेलपत्तधरो जधा ।

एगगमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥ २२ ॥”

—दयार्थी मुनि, प्राणियों पर दया करने के लिए, तेलपात्रधारक के समान एकाग्र मन हो कर विचरे।

उपरोक्त गाथा में तेलपात्रधर की एकाग्रता का दृष्टान्त है। इनमें तथा इनकी टीका में इस दृष्टान्त के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। टीका भी संक्षिप्त है। टीकाकार ने इस दृष्टान्त को अप्रमत्ता प्रदर्शक बताया है। जैसे—

“तस्मात् प्राणिदयार्थमेकाग्रमनाभूत्वा दयार्थी मुनिरप्रमत्तो विहरेद् यथा कश्चि-
त्तलपात्रधरः ।”

तेलपात्रधर की यह कथा आचार्य श्री हरीभद्रसूरिजी रचित “उपदेश पद” ग्रंथ की गाथा ९२२ से ९३१ तक विस्तार से मिलती है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं; —

“इह तेलपत्तिधारणाय तंतंतरेसुवि पसिद्धं ।

अइगंभीरत्थं खलु भावेयब्बं पयत्तेण ॥ ९२२ ॥

सद्धो पण्णो राया पायं तेणोवसामिओ लोगो ।

णियनगरे अवरं कोति सेट्ठिपुत्तो ण कम्मगुरू ॥ ९२३ ॥

सो लोगगहा मण्णइ हिंसिपि तहाविहं ण दुट्ठंति ।

हिंसाणं सुहभावा, दुहावि अत्थं तु दुद्देयं ॥ ९२४ ॥

अपसाय सारयाए णिव्विसयं तह जिणोवएसं पि ।

तवखगफणरयणगयं सिरत्तिसमणोवएसंव ॥ ९२५ ॥

तत्सुवसमणमिच्छन्ति जवखोच्छत्तो सभाणदिट्ठत्ति ।
 णिउणो कओ समप्पिय माणिककं सागमो तत्तो ॥६२६॥
 अवरो रायासण्णो अहंति परिवोहगो असमबिड्ढी ।
 कालेण वीसंभो तओ य सायापओगोत्ति ॥६२७॥
 णट्ठं रायाहरणं पउहग सिट्ठत्ति पउरघरलाभे ।
 माहण पच्छित्तं बहुभयमेवमदोस तहवित्ति ॥६२८॥
 जवखब्भत्थण विण्णवण ममत्थे तं णिवं सुदंडेण ।
 तच्चोयण परिणामो विण्णत्ती तहलपत्ति बहो ॥६२९॥
 संगच्छण जहसत्ती खगधक्खेव छणणिरूवणया ।
 तल्लिच्छ जत्तनयणं चोयणमेवन्ति पडिवत्ती ॥६३०॥
 एवमणंताणं इह भीया मरणाइयाण दुक्खाणं ।
 सेवन्ति अप्पमायं साह मोक्खत्थमुज्जुत्ता ॥६३१॥

उपरोक्त गाथाओं में बताया है कि किसी नगर का राजा जिनधर्म का श्रद्धालु एवं बुद्धिमान् था । उसके दानादि उपायों से बहुत से लोग जिनशासन के प्रति अनुराग रखते थे । नगर के प्रधान और सेठ आदि सभी धर्म में अनुरक्त थे । किन्तु एक सेठ का पुत्र, धर्म से प्रभावित नहीं था । वह भारीकर्मा, मिथ्यात्व के नाढ़ उदय से अधर्मप्रिय था । वह पाखंड के संसर्ग से, हिंसा का दुःखदायक परिणाम नहीं मान कर सुखदायक मानता था । वह जिनेश्वर के अप्रमत्तताप्रधान उपदेश को विनर्षिय--समझ से परे--असंभव मानता था । उसका कहना था कि जिस प्रकार किसी के सिर में महा पीड़ा हो रही हो और उसे कोई उपाय बतावे कि 'तुम महानाग--मणिधर सर्पराज के सिर की मणि ला कर अपने गले में बाँधो,' तो तुम्हारी पीड़ा मिट सकती है । यह उपाय जैसा असंभव है, वैसा ही जिनेश्वर का अप्रमत्तता का उपदेश भी असंभव है । उस मिथ्यादृष्टि श्रेष्ठिपुत्र के मिथ्यात्व का उपशमन करने के लिए, राजा ने यक्ष नाम के विद्यार्थी द्वारा मायापूर्वक, अपनी माणिक्य जड़ित मुद्रिका श्रेष्ठिपुत्र के आभरणों में रखवा दी । इसके बाद मुद्रिका खो जाने की हलचल हुई । ढिंढोरा पीटा गया और अंत में मुद्रिका श्रेष्ठिपुत्र के आभरणों में से निकली । वह पकड़ा गया । वह भयभीत हो गया । यक्ष नामक विद्यार्थी ने राजा से अपने मित्र को छोड़ने की प्रार्थना की, तो राजा ने यह शर्त रखी कि 'यदि अपराधी, तेल का पात्र भर कर नगरभर में घूमे और उस पात्र में से एक भी बूंद नहीं गिरने दे । यदि एक बूंद भी गिरी, तो सिर उड़ा दिया जायगा । वह तेल-पात्र भर कर चला । साथ में खड्गधारी सैनिक थे ।

बाजार में--तिराहे-बीराहे पर नृत्यादि जलसे हो रहे थे । किन्तु वह भयभीत सेठ-पुत्र, एकाग्र ही रहा । उसने दूसरी ओर ध्यान ही नहीं दिया और बिना एक भी बूंद गिराये वैसा ही पात्र राजा के सामने ले आया । राजा ने उससे नगर की शोभा और उत्सवों का हाल पूछा, तो वह बोला; --

“महाराज ! मेरा मन तो इस कटोरे में था । मैं क्या जानूँ नगर की शोभा, उत्सवों और नृत्य-नाटकों को । मैंने कुछ भी नहीं देखा—स्वामिन् !”

“अरे, तू जलसों के मध्य हो कर निकला, फिर भी उन्हें नहीं देख सका ? यह कैसे हो सकता है ?”

“नरेन्द्र ! मैं जलसा देख कर क्या मौत बुलाता ? मेरे सिर पर तो मौत मँडरा रही थी । फिर मैं नृत्य देखने का शौक कैसे करता ?”

“भाई ! जिस प्रकार तू मृत्युभय से, जलसों और नृत्य-नाटकों के बीच जाते हुए भी निर्लिप्त एवं अप्रमत्त रहा, उसी प्रकार अप्रमत्त मुनि भी संसार में रहते हुए अप्रमत्त रहते हैं । उनके सामने भी मृत्युभय और पाप के कटु फल-विपाक का डर सदैव रहता है । वे इसीलिए संसार से उदासीन एवं अप्रमत्त रहते हैं और संसार से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।”

यह है तेलपात्रधर का दृष्टांत । इसका सम्बन्ध अप्रमत्त संयती—महान् त्यागी नियंत्रियों से हैं, जो अप्रमत्त या अप्रमत्तवत् होते हैं । आचार्यश्री हरीभद्रसूरिजी ने गा. ९३१ के उत्तरार्द्ध में—“सेवन्ति अप्पमायं साहू” से और टीकाकार ने—“सेवन्तेऽप्रमादमुक्तलक्षणं साधवो मोक्षार्थं मुक्ति-निमित्तं उद्युक्ता उद्यमवन्ता” —इस उदाहरण का सम्बन्ध अप्रमत्त-संयत से जोड़ा है ।

श्रीहरीभद्रसूरिजी ने गा. ९३२ में यह भी बताया है कि ‘तेलपात्रधर का दृष्टांत तन्त्रान्तर—दर्शनान्तर में भी प्रसिद्ध है ।’ किंतु भरतेश्वर के चरित्र के साथ इस कथा का सम्बन्ध वास्तविक नहीं लगता ।



भ० अजितनाथजी



अर्हन्तमजितं विश्व-कमलाकर भास्करम् ।
अम्लानकेवलादर्श-संक्रांतजगतं स्तुवे । १॥
जयंत्यजितनाथस्य जितशोणभणिश्रियः ।
नम्रेन्द्रवदनादर्शाः पादपद्मद्वयीनखाः ॥२॥
कर्माहिपाशनिर्नाश-जांगुलिमन्त्र संतिभम् ।
अजितस्वामीदेवस्य चरितं प्रस्तवीम्यतः ॥ ३ ॥

—इस विश्व रूपी सरोवर के कमलों को अपने प्रकाश द्वारा विकसित करने में जो सूर्य के समान हैं, जिसने अपने केवलज्ञानरूपी दर्पण में तीन जगत् को प्रतिबिम्बित कर लिया है, ऐसे परम पूजित भगवान् अजितनाथ की मैं स्तुति करता हूँ ।

—रक्त वर्ण की मणियों की शोभा को जीतने वाले, प्रणाम करते हुए देवेन्द्र के मुख के लिए दर्पण रूप, ऐसे भगवान् अजितनाथ के दोनों चरण-कमल के नख जयवंत होवें ।

—अब कर्मरूपी सर्प के पास को नष्ट करने में जांगुलिमन्त्र के समान भगवान् अजितनाथ का चरित्र प्रारम्भ किया जाता है ।

जबद्वीप के मध्य भाग में महाविदेह श्रेव है । उसमें सीता नामक महा नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नामक विजय है । वह ऋद्धि, सम्पत्ति और वैभव से युक्त है ।

कुण्डों, वापिकाओं, नदियों, वृक्षों, लताओं, मण्डपों, वनखण्डों, उपवनों, ग्रामों, नगरों और राजधानी से सुशोभित है। उसमें सूसीमा नाम की नगरी थी, जो पृथ्वी के लिए तिलक समान भूषणरूप थी और देव-नगरी के समान अद्वितीय लगती थी। विमलवाहन राजा उस नगरी का स्वामी था। वह राजा के उत्तम गुणों से युक्त था। शूर-वीर एवं पराक्रमी विमल-वाहन से चारों ओर के अन्य राजा झुके हुए रहते थे। वह सज्जनों का पालन और महात्माओं की भक्ति करने में भी तत्पर रहता था। दुर्वासना और अध्रम विचार उसके मन में स्थान ही नहीं पा सकते थे।

एक दिन उसे बैठे-बैठे यों ही विचार हुआ—“धिवकार है इस संसार रूखी समुद्र को कि जिसमें विविध प्रकार की योनी रूप लाखों भँवर पड़ रहे हैं और उन भँवरों में पड़ कर अनन्त जीव दुःखी हो रहे हैं। इन्द्रजाल के समान इस संसार में कभी उत्पत्ति और कभी विनाश, कभी सुख तो कभी दुःख, कभी हर्ष तो कभी शोक और कभी उत्थान तो कभी पतन से सभी जीव मोहित हो रहे हैं। यौवन, पताका के समान चञ्चल है। जीवन, कुशाग्र बिन्दुवत् नाशवान है। मनुष्य-जन्म की प्राप्ति युग-शमिला प्रवेश तुल्य महा कठिन है। जिस प्रकार अर्द्ध रज्जु प्रमाण महाविशाल स्वयंभूरमण समुद्र की एक दिशा के किनारे, गाड़ी का जूआ डाला हो और उसके दूसरी ओर उसकी शमिला डाली हो, उन दोनों का तैरते हुए एक दूसरे के निकट आना और शमिला का अपने-आप जूए में गिरो जाना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन है—एक बार हारा हुआ मनुष्य-जन्म पुनः प्राप्त करना। ऐसे महत्वपूर्ण नरभव को पा कर भी जो धर्म की आराधना नहीं कर के विषय-कषाय में नष्ट कर देता है, वह अधोगति को प्राप्त हो कर दुःख-परम्परा बढ़ा लेता है।”

वैराग्य का निमित्त

राजा इस प्रकार सोच रहा था। वह चाहता था—यदि किसी महात्मा का पदार्पण हो जाय, तो अपना जन्म सफल करूँ। पुण्यवान् की इच्छा पूरी होने में विशेष विलम्ब नहीं होता। आचार्य श्री अरिदमन मुनिराज का पदार्पण हो गया। राजा ने सुना कि नगर के बाहर उद्यान में आचार्य महाराज पधार गये हैं, तो उसके हर्ष का पार नहीं रहा। वह तत्काल वन्दना करने पहुँचा। वे आत्मारामी महामुनि, ब्रह्मचर्य के तेज से देदिप्यमान्, संयम और तप के महाकवच से सुरक्षित और अनेक गुणों के भण्डार थे। उनके शिष्यों में से कोई

एक वृक्ष के नीचे बैठ कर स्वाध्याय में रम रहा था, तो कोई एकाग्रतापूर्वक अनुप्रेक्षा कर रहा था। कुछ संत आपस में तत्त्व-चर्चा कर रहे थे। एक वृक्ष के नीचे, एक उपाध्याय मुनिवर, कुछ साधुओं को श्रुत का अभ्यास करा रहे थे। एक ओर संत गोदोहासन से बैठ कर ध्यान कर रहे थे, तो कई विविध आसनों से तप कर रहे थे। राजा ने आचार्यश्री की वन्दना की और आचार्यश्री की अवग्रह-भूमि छोड़ कर विनयपूर्वक सामने बैठ गया। आचार्यश्री ने धर्मोपदेश दिया। राजा की वैराग्य भावना बढ़ी। उसने निवेदन किया;—

“भगवन् ! संसार अनन्त दुःखों की खान है। दुःखामुभव करते हुए भी जीवों को वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, फिर आप संसार से विरक्त कैसे हुए ? ऐसा कौन-सा निमित्त उपस्थित हुआ जिससे आप निर्ग्रन्थ बने ?”

आचार्य अपनी प्रव्रज्या का निमित्त बताते हुए बोले—“राजन् !” “वैराग्य के निमित्तों से तो सारा संसार भरा हुआ है। जिधर देखो, उधर वैराग्य के निमित्त उपस्थित हैं। इनमें से प्रत्येक विरागी को अपने योग्य निमित्त मिल जाता है। मेरे विरक्त होने का निमित्त इस प्रकार बना।”

“मैं एक बार सेना ले कर दिग्विजय करने निकला। मार्ग में एक अत्यन्त सुन्दर बगीचा मेरे देखने में आया। गहरी छाया, सुगन्धित एवं सुन्दर पुष्प, अनेक प्रकार के उत्तम फल, स्वच्छ और मीठे पानी के झरने, लतामण्डपों और कुञ्जों से वह बगीचा रमणीय एवं मनोहर था। वह मुझे नन्दन वन या भद्रशाल वन जैसा लगा। मैंने उस बगीचे में आराम किया और उसकी उत्तमता पर मोहित हो गया। किन्तु जब मैं दिग्विजय कर के पुनः उसी रास्ते से लौटा और उस बगीचे के पास आया, तो देखता हूँ कि उसका तो सारा रूप ही पलट चुका था। बगीचे की समस्त शोभा एवं सुन्दरता नष्ट हो चुकी थी। वह एकदम सूख कर नष्ट हो चुका था। उसमें हरियाली और छाया का नाम ही नहीं रहा था। सूखे हुए वृक्षों के टूँठ, पत्तों के ढेर, मरे हुए पक्षियों और सर्पादि की दुर्गन्ध से वह विरूप एवं घृणास्पद हो रहा था। यह देख कर मेरे मन में विचार हुआ। मैंने सोचा—सभी संसारी जीवों की ऐसी ही दशा होती है।”

“जो पुरुष, कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है, वही कालान्तर में भयंकर रोग होने पर एकदम कुरूप हो जाता है। जिसकी वाणी सुभाषित एवं बृहस्पति के समान प्रखर विद्वत्तापूर्ण है, वही कभी जिब्हा के स्खलित हो जाने से गूंगा हो जाता है। जिसकी चाल, गज और वृषभ के समान प्रशस्त है, वही कभी वात रोग या आघात आदि

से पंगु हो जाता है। सुन्दर आँखों वाला अन्धा हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों का शरीर यौवन और वृद्धि परिवर्तनशील है। सुन्दर से असुन्दर, अरम्य, अक्षम हो कर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार विचार करते मुझे वैराग्य हो गया और मैं महाव्रतधारी श्रमण बन गया।”

आचार्यश्री की वाणी सुन कर राजा भी विरक्त हो गया और राज्य का भार पुत्र को सौंप कर आचार्यश्री के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। संयम और तप का शुद्धतापूर्वक पालन करते हुए और उत्तम आराधना करते हुए विमलवाहन मुनिवर ने तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया और अनशन कर के विजय नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। वहाँ उनकी देह एक हाथ प्रमाण लम्बी और विशुद्ध पद्मगलों से प्रकाशमान थी। आयु थी तैत्तीस सागरोपम प्रमाण। उत्तम सुखों में काल निर्गमन करने हुए देवभक्त पूर्ण किया।

तीर्थंकर और चक्रवर्ती का जन्म

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में विनिता नाम की नगरी थी। यह वही नगरी थी, जहाँ भगवान् आदिनाथ हुए। भगवान् आदिनाथ के बाद सम्राट भरत आदि असंख्य नरेश विनिता नगरी की राजपरम्परा—इक्ष्वाकु वंश में हुए। उनमें से बहुत-से निर्ग्रन्थ बन कर मोक्ष प्राप्त हुए और बहुत-से अनुत्तर विमान में गये। उसी इक्ष्वाकु वंश में ‘जितशत्रु’ नाम का महापराक्रमी राजा हुआ। उसके छोटे भाई का नाम सुमित्रविजय था। यह भी असाधारण पराक्रमी था और युवराज पद को सुशोभित कर रहा था। जितशत्रु नरेश के ‘विजया-देवी’ नाम की महारानी थी और सुमित्रविजय की पत्नी का नाम ‘वैजयंती’ था। वे दोनों महिलाएँ रूप और गुणों से सुशोभित थी।

वैशाख-शुक्ला तेरस को विमलवाहन मुनिराज का जीव, महारानी विजयादेवी की कुक्षि में, विजय नाम के अनुत्तर विमान से आ कर उत्पन्न हुआ। उस रात के अंतिम प्रहर में महारानी ने चौदह महा स्वप्न देखे। उसी रात को युवराज सुमित्रविजय की रानी वैजयंती ने भी चौदह महास्वप्न देखे, किन्तु श्रीमती विजयादेवी के स्वप्नों की प्रभा की अपेक्षा इनके स्वप्नों की प्रभा कुछ मन्द थी। स्वप्न-पाठकों से स्वप्नों का अर्थ कराया। उन्होंने गम्भीर विचार के बाद कहा कि महारानी विजयादेवी के गर्भ में लोकोत्तम लोकनाथ तीर्थंकर भगवान् का जीव आया है और युवराज वैजयंती के गर्भ में चक्रवर्ती सम्राट भरत के समान चक्रवर्ती होने वाला महा भाग्यशाली जीव आया है।

माघ-शुक्ला अष्टमी की रात्रि को महारानी विजयादेवी की कुक्षि से एक लोकोत्तम पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल गया। नारक जीव भी कुछ समय के लिए सभी दुःखों को भूल कर सुख का अनुभव करने लगे। छप्पन कुमारी देवियों, चौसठ इंद्र-इन्द्रानियाँ, देव और देवांगनाओं ने भारत-भूमि पर आ कर तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया।

प्रभु के जन्म के थोड़ी देर बाद ही युवराज्ञी वैजयंती ने भी पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र और भतीजे के जन्म की बराई पा कर महाराज जितशत्रु की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। उन्होंने बधाई देने वाले का पीढ़ियों का दारिद्र्य दूर कर मालामाल कर दिया और दासत्व से मुक्त भी। उत्सवों की धूम मच गई। शुभ मुहूर्त में पुत्रों का नामकरण हुआ। महारानी विजयादेवी के गर्भ के दिनों में महाराजा के साथ पासे के खेल में सदा महारानी की ही जीत होती। वह महाराज से अजित ही रही। इस जीत को गर्भ का प्रभाव मान कर बालक का नाम 'अजित' रखा गया। यही अजित आगे चल कर भगवान् 'अजितनाथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। युवराज के पुत्र का नाम 'सगर' रखा, जो दूसरा चक्रवर्ती हुआ।

सभी जिनेश्वर पूर्व-भव से ही तीन ज्ञान साथ ले कर माता के गर्भ में आते हैं। तीर्थंकर नामकर्म की महान् पुण्य-प्रकृति का यह नियम है। श्री अजितकुमार भी तीन ज्ञान से युक्त थे। इसलिए उन्हें अध्यापकों से पढ़ाने और कलाएँ सिखाने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु सगरकुमार को विद्याध्ययन कराया जाने लगा। सगरकुमार की बुद्धि भी तीव्र थी। वे थोड़े ही दिनों में शब्द-शास्त्रों को पढ़ गए और सभी कलाओं में पारंगत हो गए। विद्याध्ययन करते हुए कुमार के मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न होती, उनका समाधान करना उपाध्याय के लिए कठिन होता, किन्तु श्री अजितकुमार उनका ऐसा समाधान करते कि जिसमें पूर्ण संतोष हो जाता और विशेष समझने को मिलता, तथा पुनः पूछने—समझने की इच्छा होती।

दोनों कुमार बालवय को पार कर यौवन अवस्था को प्राप्त हुए। वे वज्र-वृषभ-नाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, स्वर्ण के समान कान्ति से सुशोभित और अनेक उत्तम लक्षणों से युक्त थे। श्री अजितकुमार का सैकड़ों राजकन्याओं के साथ लग्न किया गया और सगरकुमार का भी विवाह किया गया। उदय में आये हुए भोग-फल देने वाले कर्मों का विचार कर के श्री अजितकुमार को लग्न करना पड़ा। वे रोग के अनुसार औषधी के समान भोग प्रवृत्ति करने लगे। जब श्री अजितकुमार अठारह लाख पूर्व के हुए, तब महाराजा जितशत्रु ने संसार से विरक्त हो कर मोक्ष—पुरुषार्थ साधने की इच्छा से पुत्र को राज्यभार

ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया, तब श्री अजितकुमार ने पिता से निवेदन किया—

“हे पिताश्री ! संसार का त्याग कर के मोक्ष की साधना करना आपके लिए भी उत्तम है, मेरे लिए भी और सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है । यदि भोगफलदायक कर्म बाधक नहीं बनते हों, तो मेरे लिये भी निर्ग्रन्थ धर्म का पालन करना आवश्यक है । जो मनुष्य विवेकवंत होता है, वह उत्तम साधना में आगे बढ़ने वाली भव्य आत्मा के मार्ग में बाधक नहीं बनता, अपितु सहायक बनता है । मैं भी आपश्री के निष्क्रमण में बाधक नहीं बनूँगा । आप प्रसन्नतापूर्वक निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण करें, किन्तु राज्याधिकार मेरे लघुपिता (काका) युवराज श्री सुमित्रविजय को प्रदान कीजिए । ये सभी प्रकार से योग्य है ।”

श्री अजितकुमार की बात को बीच में ही रोकते हुए युवराज सुमित्रविजय बोले—

“मैं किसी भी प्रकार इस संसारी राज्य के जंजाल में नहीं पड़ता । मैं भी मेरे ज्येष्ठ-बन्धु के साथ शाश्वत राज्य पाने का पुरुषार्थ करूँगा । शाश्वत राज्य पाने के लिए पहले खुद को अजर-अमर बनना पड़ता है । मैं भी जन्म-मरण के महारोग को नष्ट कर के सादि-अनन्त जीवन पाने के लिए प्रव्रजित बनूँगा और अनन्त आनन्द के धाम ऐसे महा-राज्य का अधिनायक होऊँगा । मैं अब आपका साथ छोड़ना नहीं चाहता ।”

श्री अजितकुमार ने ज्ञानोपयोग से सुमित्रविजय के प्रव्रजित होने में विलम्ब जान कर निवेदन किया—

“यदि आपकी इच्छा राज्यभार लेने की नहीं हो, तो आप भावयति के रूप में कुछ काल तक गृहवास में रहें । यह हमारे लिए उचित होगा ।” महाराजा जितशत्रु ने भी भाई को समझाते हुए कहा—

“भाई ! तुम कुमार की बात मत टालो । ये स्वयं तीर्थकर हैं । इनके शासन में तुम्हारी सिद्धि होगी और सगरकुमार चक्रवर्ती नरेन्द्र होगा । इसलिए तुम अभी भाव-त्यागी रह कर संसार में रहो ।”

सुमित्रविजय ने अपने ज्येष्ठ-बन्धु का वचन स्वीकार किया । महाराजा जितशत्रु ने उत्सवपूर्वक अजितकुमार का राज्याभिषेक किया । श्री अजित नरेश ने सगरकुमार को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया । जितशत्रु महाराज निष्क्रमण उत्सवपूर्वक प्रव्रजित हुए । वे भगवान् ऋषभदेवजी की परम्परा के स्थविर मुनिराज के अंतेवासी हुए और चारित्र की विशुद्ध आराधना कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मोक्ष में चले गए ।

महाराज अजितनाथजी का राज्य संचालन सुखपूर्वक होने लगा । उनके महान्

पुण्योदय से अन्य राजागण अपने आप उनके प्रति भक्तिमान हो कर आधीन हो गए । प्रजा में न्याय, नीति और सौहार्द्र की वृद्धि हुई । सुख-सम्पत्ति से राज्य की प्रजा संतुष्ट हुई । दुष्काल, रोग और विग्रह का तो नाम ही नहीं रहा । इस प्रकार तिरपन लाख पूर्व तक प्रजा का पालन करते रहे । अब उनके भोगावली कर्म बहुत कुछ क्षीण हो चुके थे । निष्क्रमण का समय निकट आ रहा था । एक बार एकान्त में चिन्तन करते हुए आपने विचार किया कि—“अब मुझे यह राज्य-प्रपञ्च, भोग और सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ कर अपना ध्येय सिद्ध करने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए । बन्धनों का छेदन कर निर्वन्ध, निष्कलंक और निर्विकार होने के लिए साधना करने में अब विलम्ब नहीं करना चाहिए ।” इस प्रकार का चिन्तन उनके मन में होने लगा । उधर लोकांतिक देव भी स्वर्ग से चल कर प्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए और विनयपूर्वक निवेदन करने लगे; —

“भगवान् ! आप स्वयंबुद्ध हैं । हम आपको क्या उपदेश करें ? फिर भी हम अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए निवेदन करते हैं कि—प्रभो ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवों का उद्धार करें ।”

इस प्रकार निवेदन किया और प्रणाम कर के स्वप्नाम चले गये । देवों के निवेदन से महाराजा अजितनाथजी की विचारणा को प्रोत्साहन मिला और उन्होंने तत्काल युव-राज सगर कुमार को बुला कर कहा; —

“भाई ! अब इस राज्यभार को तुम वहन करो । मैं अब इस प्रपञ्च से निकल कर निवृत्ति के परम पथ पर प्रयाण करना चाहता हूँ । सम्हालो इस भार को । मैं अब ऐसे किसी भी बन्धन में रहना नहीं चाहता ।”

श्री अजितनाथजी के उपरोक्त वचन, युवराज सगर के लिए क्लेश का कारण बन गये । वे गद्गद् हो कर बोले; —

“देव ! मैंने आपका ऐसा कौन-सा अपराध किया, जिसके दण्ड स्वरूप आप मुझ पर यह भार लादना चाहते हैं और मुझे छोड़ कर पृथक् होना चाहते हैं । मैं आपकी छाया के बिना अकेला कैसे रह सकूँगा । आपको खो कर पाया हुआ यह राज्य मेरे लिए दुःख-दायक ही होगा । मुझे जो सुख आपकी सेवा में मिलता है, वह राज्य में कदापि नहीं मिलेगा । इसलिए प्रभो ! अपना यह विचार छोड़ दीजिये और मुझे आप अपनी छाया में ही रहने दीजिये । यदि आपको संसारत्याग कर निर्ग्रन्थ बनना ही है, तो मैं भी आपके साथ ही रहूँगा । मैं आपसे पृथक् नहीं हो सकता ।”

सगर का राज्याभिषेक और प्रभु की प्रव्रज्या

श्री अजितनाथजी ने भाई को समझाया और अंत में भारपूर्वक आज्ञा प्रदान करते हुए कहा--“ मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम राज्य का भार सँभालो । मैं अब यह भार तुम्हें सौंपता हूँ ।”

दुःखित मन से प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर के युवराज ने राज्यारोहण स्वीकार किया । प्रभु ने महान् उत्सव के साथ सगरकुमार का राज्याभिषेक किया और स्वयं वर्षादान देने लगे । वर्षादान हो चुकने पर शकेन्द्र का आसन चलायमान हुआ । वह प्रभु के समीप आया । अन्य सभी इन्द्र और देव-देवियों आई और भगवान् अजितनाथ का दीक्षा महोत्सव हुआ । ‘सुप्रभा’ नामकी शिविका में भगवान् को विराजमान कर के नर-नारियों और देव-देवियों के समूह के साथ महान् धूमधाम से ‘जेजेनन्दा जेजेभट्टा’—मंगल शब्दों का उच्चारण करते हुए सहस्राम्रवन उद्यान में लाये ।

माघ मास के शुक्ल पक्ष की नौवीं तिथि के दिन, सायंकाल के समय जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र में आया, प्रभु ने बेले के तप सहित प्रव्रजित होने के लिए वस्त्रालंकार उतारे और इन्द्र का दिया हुआ देवदुष्य धारण किया । पंचमुष्ठी लोच किया और सिद्ध भगवंत को नमस्कार कर के सामायिक चारित्र्य स्वीकार किया । सामायिक चारित्र्य स्वीकार करते समय भगवान् प्रशस्त भावों के उत्तम रस युक्त अप्रमत्त गुणस्थान में स्थित थे । उन्हें उसी समय विशेष रूप से मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया । यह जीवों के मनोगत भावों को बताने वाला चौथा ज्ञान है । भगवान् के साथ एक हजार राजाओं ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की । इन्द्रादिदेव, सगर नरेश और सभी जन अपने-अपने स्थान गये । दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु के बेले का प्रथम पारणा, ब्रह्मदत्त राजा के यहाँ क्षीरान्न से हुआ । वहाँ दिव्य वृष्टि हुई । प्रभु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे ।

दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष तक भगवान् अजितनाथजी छद्मस्थपने विचरते रहे । अब प्रभु की अनादि छद्मस्थता का अंत होने का समय आ गया था । अनादिकाल से लगा हुआ कषायों का मल आज पूर्णतया नष्ट होने जा रहा था । पौष शुक्ला ११ के दिन सहस्राम्रवन उद्यान में बेले के तप से घातकर्मों का घात करने वाली क्षपक-श्रेणी का आरंभ हुआ । ध्यानस्थ दशा में अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से प्रभु ने ‘अपूर्व-कारण’ नामक आठवें गुणस्थान में प्रवेश किया ।

श्रुत के किसी शब्द का चिन्तन करते हुए अर्थ चिन्तन में और अर्थ का चिन्तन करते हुए शब्द पर ध्यान लगाते हुए, अनेक प्रकार के श्रुत विचार वाले ‘पृथक्त्व वितर्क

सविचार' नामक शुक्ल-ध्यान के प्रथम चरण को प्राप्त हुए। इस आठवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर और ध्यान-बल से हाम्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा, मोहनीय कर्म की इन छः प्रकृतियों को नष्ट करके "अनिवृत्ति वादर" नामक नीवें गुणस्थान में आये। ध्यान-शक्ति बढ़ती गई और वेदमोहनीय की प्रकृतियाँ तथा कषायमोहनीय के संज्वलन के क्रोध, मात और माया को नष्ट करते हुए 'सूक्ष्म-सम्पराय' नामक दसवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ। ज्यों ज्यों मोह क्षय होता गया, त्यों त्यों आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता गया और गुणस्थान बढ़ते गये। मोहनीय कर्म का समूल, सर्वथा नाश कर के प्रभु क्षीणमोह गुणस्थान में आये। यहाँ तक शुक्ल-ध्यान का प्रथम चरण कार्य-साधक बना। इसके बल से मोहनीय कर्म नष्ट हो गया और परम वीतरागता प्रकट हो गई।

बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में शुक्ल-ध्यान का 'एकत्व-वितर्क-अविचार' नामक दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ। इस ध्यान में प्रथम चरण के समान शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर ध्यान जाने की स्थिति नहीं रहती। इसमें स्थिरता बढ़ती है और एक ही वस्तु पर ध्यान स्थिर रहता है। चाहे शब्द पर हो या अर्थ पर। इस दूसरे चरण के प्राप्त होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीनों घातीकर्म एक साथ नष्ट हो गए। इनके नष्ट होते ही तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ। भगवान् अजितनाथजी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए। वे तीनों लोक के तीनों काल के, समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायों को हाथ में रही हुई वस्तु के समान सहज भाव से जानने लगे +।

देवों और इन्द्रों ने प्रभु का केवलज्ञान उत्पत्ति का महोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई। उद्यानपालक ने महाराजा 'सगर' को बधाई दी। महाराजा बड़े हर्ष, उल्लास

+ शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण प्राप्त होते ही सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता प्रकट हो जाती है। इसके साथ ही ध्यानान्तर दशा होती है। शुक्ल-ध्यान के प्रथम के दो चरण श्रुतावलम्बी है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर श्रुत का अवलम्बन नहीं रहता और अवलम्बन नहीं रहता, तो ध्यान भी नहीं रहता। फिर ध्यानान्तर दशा चलती है, वह जीवन के अन्तिम घण्टों तक रहती है। जब जीवन का अन्तिम समय निकट आता है, तब शुक्ल-ध्यान का तीसरा चरण "सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती" प्राप्त होता है। इसमें योगों का निरोध होता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद "अयोमी-केवली" नामक चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और "समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती" नामक शुक्ल-ध्यान का चौथा भेद भी। इसमें "शैलेशीकरण" हो कर आत्मा, पर्वत के समान अडोल, निष्कम्प एवं स्थिर होती है। यहाँ कायिकी आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती है और पाँच ह्रस्वाक्षर उच्चारण जितना काल रह कर आत्मा मोक्ष धाम को प्राप्त हो जाती है। फिर वहाँ सदा-सर्वदा के लिए स्थिर हो जाती है और परमानन्द परम सुख एवं परम शान्ति में रहती है।

और आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दन करने आये । भगवान् ने अपनी अमोघ देशना प्रारम्भ की ।

धर्म देशना—धर्मध्यान

“सुखाथियों ! जीव अज्ञान से इतने व्याप्त हैं कि उन्हें हिताहित का वास्तविक बोध ही नहीं होता । जिस प्रकार अज्ञान के कारण जीव काँव को वैदूर्यमणि समझ कर ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार इस दुःखमय असार संसार को सुखमय एवं सारयुक्त मानता है । अज्ञान के कारण विविध प्रकार के बँधते हुए कर्मों से प्राणियों का संसार बढ़ता ही जा रहा है । कर्मों की वृद्धि से संसार बढ़ता है और कर्मों के अभाव से संसार का अभाव होता है । इसलिए विद्वानों को कर्मों के नाश करने का ही उपाय करते रहना चाहिये ।

दुर्ध्यान से कर्मों की वृद्धि होती है और शुभ ध्यान से कर्मों का नाश होता है । कर्म-मैल को समूल नष्ट करने वाले शुभ ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है—

धर्मध्यान—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान चित्तन रूप चार प्रकार का है ।

आज्ञा-विचय

आप्त पुरुषों का वचन ‘आज्ञा’ कहाती है । यह आज्ञा दो प्रकार की होती है—एक है ‘आगम आज्ञा’ और दूसरी है—‘हेतुवाद आज्ञा’ । जो शब्द से ही पदार्थों का प्रतिपादन करता है, वह ‘आगम’ कहाता है और जो दूसरे प्रमाणों के संवाद से पदार्थों का प्रतिपादन करता है, वह ‘हेतुवाद’ कहाता है ।

आगम और हेतुवाद के तुल्य प्रमाण से एवं निर्दोष कारणों से जो आरंभ हो, वह लक्षण से ‘प्रमाण’ कहाता है । राग, द्वेष और मोह ये ‘दोष’ कहाते हैं । इनको सर्वथा नष्ट करने के कारण, अर्हंत में ये दोष बिलकुल नहीं होते । इसलिए दोष रहित आत्मा से उत्पन्न हुआ अर्हंतों का वचन प्रमाण होता है । अर्हंतों का वचन, नय और प्रमाण से सिद्ध, पूर्वोपर विरोध रहित, अन्य बलवान् शासनों से भी बाधित नहीं होने वाला, अंग उपांग एवं प्रकीर्णादि बहुत-से शास्त्र रूपी नदियों के मिलन से समुद्र रूप बना हुआ, अनेक प्रकार के अतिशयों की साम्राज्य-लक्ष्मी से सुशोभित, दुर्भग्य मनुष्यों के लिए दुर्लभ, भग्य जीवों के

लिए सुलभ, आचार्य के लिए रत्न-भण्डार के समान और मनुष्यों तथा देवों के लिए सदैव स्तुति करने योग्य है। ऐसे आगम-वचनों की आज्ञा का अवलम्बन कर के, स्यादवाद न्याय के योग से द्रव्य और पर्याय रूप से, नित्यानित्य वस्तुओं का विचार करना और स्वरूप तथा पररूप से सत् असत् रूप में रहे हुए पदार्थों में स्थिर प्रतीति करना—‘आज्ञा-विचय’ ध्यान कहलाता है।

अपाय-विचय

जिन जीवों ने जिनमार्ग का स्पर्श ही नहीं किया, जिन्होंने परमात्मा को जाना ही नहीं और जिन्होंने अपने भविष्य का विचार ही नहीं किया, ऐसे जीवों को हजारों अपाय (विघ्न—संकट) उठाने पड़ते हैं। जिसका चित्त माया-मोह के अंधकार से परवश हो गया है, ऐसा प्राणी अनेक प्रकार के पाप करता है और अनेक प्रकार के अपाय (कष्ट—दुःख सहता है। ऐसा दुःखी प्राणी यदि विचार करे कि—

“नारकी, तिर्यच और मनुष्यों में मैंने जो-जो दुःख भुगते हैं, वे सभी मैंने अपने अज्ञान और प्रमाद से ही उत्पन्न किये थे। परम बोधिवीज को प्राप्त करने पर भी अविरत रह कर मन, वचन और काया की कुचेष्टाओं से मैंने अपने ही मस्तक पर अग्नि प्रज्वलित करने के समान पाप-कृत्य किया और दुःखी हुआ। बोधिरत्न (सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर लेने पर मोक्षमार्ग मेरे सामने खुला हुआ था, किन्तु मैंने उसकी उपेक्षा की और कुमार्ग पर रुचिपूर्वक चलता रहा। इस प्रकार मैंने स्वयं ने ही अपनी आत्मा को अपायों के गर्त में गिरा दिया। जिस प्रकार उत्तम राज्य-लक्ष्मी प्राप्त होते हुए भी (अत्यागी) मूर्ख मनुष्य, भीख माँगने के लिए भटकता रहता है, उसी प्रकार मोक्ष का साम्राज्य प्राप्त करना मेरे अधिकार में होते हुए भी मैं अपनी आत्मा को संसार में परिभ्रमण करा रहा हूँ और दुःख-परम्परा का निर्माण कर रहा हूँ। यह मेरी कितनी बुरी वृत्ति है। इस प्रकार राग, द्वेष और मोह से उत्पन्न होते हुए अपायों का चिन्तन किया जाय, उसे ‘अपाय-विचय’ नाम का धर्म-ध्यान कहते हैं।

विपाक-विचय

कर्म के फल को ‘विपाक’ कहते हैं। यह विपाक शुभ और अशुभ, दो प्रकार का होता है और द्रव्य-क्षेत्रादि की सामग्री से यह विपाक विचित्र रूप में अनुभव में आता है।

द्रव्य-विपाक—स्त्री, पुष्पों की माला और हचिकर खाद्य आदि द्रव्यों के उपभोग से 'शुभ विपाक' कहाता है और सर्प, शस्त्र, अग्नि तथा विष आदि से जो दुःखद अनुभव होता है, वह 'अशुभ विपाक' कहाता है ।

क्षेत्र-विपाक—प्रासाद, भवन, विमान और उपवनादि में निवास करना शुभविपाक रूप है और श्मशान, जंगल, अटवी आदि में विवश हो कर रहना, अशुभ विपाक रूप है ।

काल-विपाक—शीत और उष्ण से रहित ऐसी वसंत आदि ऋतु में भ्रमण करना शुभ विपाक है और शीत, उष्ण की अधिकता वाली हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में भ्रमण करना पड़े, तो यह अशुभ विपाक है ।

भाव-विपाक—मन की प्रसन्नता और संतोष में शुभ विपाक और क्रोध, अहंकार तथा रौद्रादि परिणति में अशुभविपाक होता है ।

भव-विपाक—देव-भव और भोग-भूमि सम्बन्धी मनुष्यादि भव में शुभ विपाक और कुमनुष्य (जहाँ पापाचार की मुख्यता हो, जिनके संस्कार अशुभ हों और अशुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के अभाव दरिद्रतादि दुःख भोग रहे हों) तिर्यच तथा नरकादि भव में अशुभ विपाक होता है । कहा भी है कि—

“द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव को प्राप्त कर, कर्मों का उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम होता है ।” इसी प्रकार प्राणियों को द्रव्यादि सामग्री के योग से, कर्म अपना फल देते हैं ।

कर्म के मुख्यतः आठ भेद हैं । यथा—

१ **ज्ञानावरणीय**—जिस प्रकार आँखों पर पट्टी बाँधने से, नेत्र होते हुए भी दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार जिस कर्म के आवरण से सर्वज्ञ स्वरूपी जीव की ज्ञान-शक्ति दब जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म कहाता है । इसके १ मनि २ श्रुत ३ अवधि ४ मनःपर्यय और ५ केवलज्ञानावरण, ये पाँच भेद हैं ।

२ **दशनावरणीय**—पाँच प्रकार की निद्रा और चार प्रकार के दर्शन के आवरण से दर्शन-शक्ति को दबाने वाला कर्म । जिस प्रकार पहरेदार, राजा आदि के दर्शन होने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शन-शक्ति को रोकने वाला ।

३ **वेदनीय**—तलवार की तीक्ष्ण धार पर रहे हुए मधु को चाटने के समान यह कर्म है । जिस प्रकार तलवार की धार पर रहे हुए मधु को चाटने से, मधु की मिठास के साथ जीभ कटने की दुःखदायक वेदना भी होती है, उसी प्रकार सुखरूप और दुःखरूप

यों दो प्रकार से वेदन कराने वाला कर्म ।

४ मोहनीय—आत्मा को मोहित करने वाला । जिस प्रकार मद्यपान से मोहमस्त हुआ व्यक्ति, हिताहित और उचितानुचित नहीं समझ सकता, उसी प्रकार दर्शन-मोह के उदय से मिथ्यादर्शनी हो जाता है और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से विरति—चारित्रिक परिणति रुक कर जीव, सदाचार से वंचित रहता है ।

५ आयु—यह बन्दीगृह के समान है । इसके उदय से जीव नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देवगति में अपने आयु के अनुसार रहता है ।

६ नाम—यह कर्म चित्रकार के समान है । इसका प्रभाव शरीर पर होता है । इससे जाति आदि की विचित्रता होती है ।

७ गोत्र—यह ऊँच और नीच ऐसे दो भेद वाला है । यह कुंभकार जैसा है । जिस प्रकार कुंभकार क्षीर-पात्र भी बनाता है और मदिरा-पात्र भी, उसी प्रकार इस कर्म का परिणाम होता है ।

८ अन्तराय—इसकी शक्ति से दान, लाभ और भोगादि में बाधा उत्पन्न होती है । जिस प्रकार राजा द्वारा दिये हुए पुरस्कार में भंडारी बाधक होता है, उसी प्रकार यह कर्म भी दान-लाभादि में बाधक बनता है ।

इस प्रकार कर्म की मूल-प्रकृति के फल-विपाक का चिन्तन करना, 'विपाक-विचय' धर्मध्यान कहा जाता है ।

संस्थान-विचय

जिसमें उत्पत्ति, स्थिति, लय और आदि-अंत-रहित लोक की आकृति का चिन्तन किया जाय, वह 'संस्थान-विचय' ध्यान कहा जाता है ।

इस लोक की आकृति उस पुरुष जैसी है, जो अपने पाँव फैला कर और कमर पर दोनों हाथ रख कर खड़ा हो । लोक उत्पत्ति, स्थिति और नाश रूपी पर्यायों (अवस्थाओं) वाले द्रव्यों से भरा हुआ है । नीचे यह वेवासन (बेंत के बने हुए आसन—कुर्सी) जैसा है, मध्य में 'झालर' जैसा और ऊपर 'मृदंग' की आकृति के समान है । यह लोक तीन जगत् से व्याप्त है । इसमें प्रबल 'धनोदधि' (बर्फ प्रथवा जमे हुए घृत से भी अधिक ठोस पानी) 'धनवात' (ठोस वायु) और 'तनुवात' (पतला वायु) से सात पृथ्वियों घिरी हुई हैं । अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह 'तीन लोक' कहा जाता है । रुक्म-प्रदेश

की अपेक्षा से लोक के तीन विभाग होते हैं। मेरु-पर्वत के भीतर, मध्य में गाय के स्तन की आकृति वाले और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले, चार रुचक-प्रदेश ऊपर और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले चार रुचक-प्रदेश नीचे, यों आठ प्रदेश हैं। उन रुचक प्रदेशों के ऊपर और नीचे नौ सौ-नौ सौ योजन तक तिर्यक्लोक कहाता है। इस तिर्यक्लोक के नीचे अधोलोक है। अधोलोक नौ सौ योजन कम सात रज्जु प्रमाण है। अधोलोक में क्रमशः सात पृथ्वियाँ हैं। इनमें नपुंसकवेद वाले नारक जीवों के भयानक निवास हैं।

उन सात पृथ्वियों के नाम अनुक्रम से—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंक-प्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा हैं। इन पृथ्वियों की मोटाई (जाड़ाई) पहली रत्नप्रभा से लगा कर नीचे अनुक्रम से—एक लाख अस्सी हजार, एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अठ्ठावीस हजार, एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार और एक लाख आठ हजार योजन हैं। इनमें से रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं। दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में एक लाख में पाँच कम और सातवीं में केवल पाँच नरकावास हैं। रत्नप्रभादि सातों पृथ्वियों के प्रत्येक के नीचे और नीचे वाली के ऊपर-मध्य में बीस हजार योजन प्रमाण मोटा घनोदधि है। घनोदधि के नीचे असंख्य योजन प्रमाण घनवात है। इसके नीचे असंख्य योजन विस्तार वाला तनुवात है और तनुवात के नीचे असंख्य योजन तक आकाश रहा हुआ है। इनमें क्रमशः दुःख, वेदना, आयु, रोग और लेश्यादि अधिकाधिक हैं।

[रत्नप्रभा पृथ्वी X में असंख्य भवनपति देव भी रहते हैं और असंख्य नारक जीव भी। शर्कराप्रभा से लगा कर महातमःप्रभा तक नारक जीव ही रहते हैं और प्रत्येक में असंख्य-असंख्य नारक हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी की एक हजार योजन जाड़ाई छोड़ने के बाद भवनपति देवों के भवन तथा नरकावास आते हैं। इस एक हजार योजन में से ऊपर व नीचे दस-दस योजन छोड़ कर मध्य के नौ सौ अस्सी योजन में असंख्य व्यन्तर देव रहते हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी पर मनुष्य और तिर्यच जीव रहते हैं। यह तिर्यक्लोक है। इसकी ऊँचाई अठारह सौ योजन है। इनमें से नौ योजन रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर और नौ सौ योजन ऊपर इसकी सीमा है। व्यन्तर देव तिरछे लोक में हैं। ज्योतिषी देव, पृथ्वी से ऊपर हैं, फिर भी वह तिरछे लोक में ही है।

X लोक का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है। उस विस्तार को छोड़ कर कोण्ठक में संक्षिप्त विवेचन मैंने अपनी ओर से किया है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा मेरु-पर्वत है। सूर्य, चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रादि इससे ११२१ योजन दूर रहते हुए परिक्रमा करते रहते हैं। इसमें एक ध्रुव का तारा ही निश्चल (?) है। नक्षत्रों में सब से ऊपर स्वाति नक्षत्र है और सब से नीचे भरणी नक्षत्र है। दक्षिण में मूल और उत्तर में अभिजित् नक्षत्र है। इस जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। लवण-समुद्र में चार चन्द्र और चार सूर्य हैं। धातकीखण्ड में बारह चन्द्र और बारह सूर्य हैं। कालोदधि में बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य हैं। पुष्कराब्ध में ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं। प्रत्येक चन्द्र के साथ ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और छायसठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोटाकोटि ताराओं का परिवार है। ढाई द्वीप के भीतर रहे हुए ये चन्द्रादि भ्रमणशील हैं। इनके अतिरिक्त ढाई द्वीप के बाहर रहे हुए स्थिर हैं।

मध्य-लोक में जम्बूद्वीप और लवण-समुद्र आदि शुभ नाम वाले असंख्य द्वीप और समुद्र हैं और ये एक-दूसरे से उत्तरोत्तर द्विगुण अधिक विस्तार वाले हैं। सभी समुद्र वलयाकार से द्वीप को घेरे हुए हैं। अंत में स्वयंभूरमण समुद्र है।

जम्बूद्वीप के सात खण्ड ये हैं—१ भरत २ हेमवंत ३ हरिवर्ष ४ महाविदेह ५ रम्यक् वर्ष ६ हैरण्यवत और ७ ऐरवत। इनके मध्य में वर्षधर पर्वत रहे हुए हैं, जिनसे इनके उत्तर और दक्षिण ऐसे दो विभाग हो जाते हैं। इन पर्वतों के नाम—१ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नीलवंत ५ रुक्मि और ६ शिखरी।

भरत-क्षेत्र में गंगा और सिन्धु ये दो बड़ी नदियाँ हैं। जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार का है। इसके चारों ओर दो लाख योजन का लवण-समुद्र है। इसके आगे धातकी-खण्ड इससे द्विगुण अधिक विस्तार वाला है। उसके आगे आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र है। इसके बाद १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है। यह पुष्करवर द्वीप आधा (आठ लाख योजन) तो मनुष्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है और आधा मनुष्य-क्षेत्र के बाहर है। मनुष्य-क्षेत्र कुल पैंतालीस लाख योजन परिमाण लम्बा है *।

इसके बाद असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। यह तिरछा लोक एक रज्जु परिमाण लम्बा है।

* १ लाख योजन का लवण समुद्र, ४ लाख योजन धातकीखण्ड, ८ लाख योजन कालोदधि, ८ लाख योजन पुष्कराब्ध।

ये २२ लाख योजन पूर्व और २२ लाख योजन पश्चिम में और एक लाख योजन का जम्बूद्वीप, यों कुल ४५ लाख योजन का मनुष्य क्षेत्र हुआ।

ऊर्ध्व-लोक में वैमानिक देव रहते हैं। इसमें १२ देवलोक तो कल्पयुक्त छोटे-बड़े, स्वामी-सेवक और विविध प्रकार के व्यवहार में युक्त हैं और ३ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान, कल्पातीत—छोटे-बड़े के व्यवहार रहित—अहमेन्द्र हैं।

भवनपति और व्यन्तर देवों में अशुभ लेश्या की विशेषता है। भवनपति देवों में परमाधामी जैसे महान् क्रूर प्रकृति के महा मिथ्यात्वी देव भी हैं। इनके मनोरंजन क्रूरतापूर्ण भी होते हैं। ज्योतिषी देवों की परिणति वैसी नहीं है। उनके आमोद-प्रमोद भी उतनी क्लिष्ट परिणति वाले नहीं होते। वैमानिक देवों की आत्म-परिणति उनसे भी विशेष प्रशस्त होती है। उत्तरोत्तर ऊँचे देवलोकों में वैषयिक रुचि एवं परिणति भी कम होती जाती है। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देवों में विषय-वासना नहीं होती। सब से उँचा देवलोक सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान है। वहाँ परम शुक्ल-लेश्या वाले देव रहते हैं। अनुत्तर-विमानों में एकान्त सम्यग्दृष्टि और पूर्वभव में चारित्र्य के उत्तम आराधक महात्मा ही उत्पन्न होते हैं। ये अवश्य ही मोक्ष में जाने वाले होते हैं। सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान के ऊपर सिद्धशिला है। सिद्धशिला के ऊपर गोकाग्र पर सिद्ध भगवान् (मुक्त जांव) रहते हैं।

जो बुद्धिमान, अशुभ ध्यान का निवारण करने के लिए समग्र लोक अथवा लोक के किसी विभाग का चिन्तन करते हैं, उन्हें धर्मध्यान सम्बन्धी क्षयोपशमिकादि भाव की प्राप्ति होती है। उनकी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या शुद्धतर होती जाती है। उन्हें स्व-संवेद्य (स्वयं अनुभव करे ऐसा) अतीन्द्रिय सुख उत्पन्न होता है। जो स्थिर योगी महात्मा, निःसंग हो कर धर्मध्यान के चलते देह का त्याग करते हैं, वे ग्रैवेयकादि स्वर्गों में महान् ऋद्धिशाली उत्तम देव होते हैं। वहाँ वे अपना सुखी जीवन पूर्ण कर सम्पूर्ण अनुकूलता वाले उत्तम मनुष्य-जन्म को प्राप्त करते हैं और उत्तम भोग भोगने के बाद संसार का त्याग कर, चारित्र्य-धर्म की उत्कृष्ट आराधना कर के सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त हो जाते हैं।]

गणधरादि की दीक्षा

अपने प्रथम उपदेश में तीर्थंकर भगवान् ने धर्म-ध्यान का स्वरूप बताया। उपदेश सुन कर महाराजा सगर चक्रवर्ती के पिता सुमित्रविजय (भगवान् के काका जो भावसंयती के रूप में संसार में रहे थे) आदि हजारों नर-नारियों ने धर्म साधना के लिए संसार का त्याग कर दिया। एक साथ हजारों व्यक्ति मोक्ष की महायात्रा के लिए चल पड़े।

प्रव्रज्या स्वीकार करने वालों में श्री 'सिद्धसेन' आदि १५ महापुरुष ऐसे थे कि जिनके 'गणधर नामकर्म' का उदय होने वाला था। प्रभु ने उन्हें 'उत्पादव्यय और ध्रोव्य' की त्रिपदी सुनाई। इसमें सपस्त आगम—श्रुतज्ञान का मूल रहा हुआ है। इस त्रिपदी को सुनते ही—जिनको ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हो गया है और जो बीज को देख कर ही फल तक का स्वरूप समझ लेते हैं। ऐसे महापुरुषों ने चौदह पूर्व सहित द्वादशांगी की रचना कर ली। वे श्रुतकेवली—शास्त्रों के पारगामी हो गए। भगवान् सहस्राश्रयन उद्यान में से निकल कर जनपद विहार करने लगे।

शुद्धभट का परिचय

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् कौशाबी नगरी के निकट पधारे। समवमरण की रचना हुई। भगवान् की धर्मदेशना प्रारम्भ हुई। इतने में एक ब्राह्मण युगल आया और भगवान् को वन्दन कर के बैठ गया। देशना पूर्ण होने के बाद ब्राह्मण ने हाथ जोड़ कर पूछा—“भगवन् ! यह इस प्रकार क्यों है ?” भगवान् ने फरमाया—

“यह सम्यक्त्व की महिमा है। सम्यक्त्व सभी अनर्थों को नष्ट करने और सभी प्रकार की अर्थ-सिद्धि का एक प्रबल कारण है। जिस प्रकार वर्षा से दावाग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण से सभी प्रकार के वैर शान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार गरुड़ को देख कर सर्प भाग जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण से सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। दुष्कर्म तो इस प्रकार लय हो जाते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के ताप से बर्फ पिघल कर लय हो जाता है। सम्यक्त्व गुण, चिन्तामणी के समान मनोरथ पूर्ण करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ गजराज, वारी जाति के बन्धन से बंध जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनी आत्मा के देव का आयु अपने आप बँध जाता है और देव सानिध्य हो जाते हैं। यह तो सम्यग्दर्शन का साधारण फल है। इसका महाफल तो तीर्थंकर पद और मोक्ष प्राप्ति है।”

भगवान् के उत्तर से ब्राह्मण संतुष्ट हो गया, तब मुख्य गणधर महाराज ने ब्राह्मण के प्रश्न का रहस्य—श्रोताओं की जानकारी के लिए पूछा—

“भगवन् ! ब्राह्मण के प्रश्न और आपके उत्तर का रहस्य क्या है ?”

भगवान् ने कहा—“इस नगरी के निकट शालिग्राम नाम का एक गाँव है। उसमें दामोदर नामक ब्राह्मण रहता था। सोमा उसकी स्त्री का नाम था। 'शुद्धभट' नाम का उनके

पुत्र था। उस शुद्धभट का लग्न, सिद्धभट ब्राह्मण की सुलक्षणा नामकी पुत्री के साथ हुआ। कालान्तर में शुद्धभट के माता-पिता का देहान्त हो गया और सम्पत्ति भी नष्ट हो गई। यहाँ तक दशा बिगड़ी कि सुभिक्ष होते हुए भी उन्हें रात को भूखा ही सोना पड़ता। निर्धन के लिए तो सुभिक्ष भी दुःभिक्ष के समान ही होता है। दरिद्रता से पीड़ित शुद्धभट पत्नी को छोड़ कर गुपचुप विदेश चला गया। सुलक्षणा निराधार हो गई। वर्षाऋतु आने पर 'विपुला' नामक प्रवर्तिनी साध्वी आदि उसके घर चातुर्मास बिताने के लिए रह गई। सुलक्षणा ने साध्वी को रहने के लिए स्थान दिया। अब सुलक्षणा प्रतिदिन साध्वी का उपदेश सुनने लगी। धर्मोपदेश सुनने से उसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया और सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ। वह जीवादि पदार्थों को पदार्थ रूप से जानने लगी। उसने जैनधर्म ग्रहण किया। उसे विषयों के प्रति अरुचि हुई। उसने अणुव्रत ग्रहण किये। साध्वीजी, सुलक्षणा को श्राविका बना कर, वर्षाकाल समाप्त होते ही विहार कर गई।

कुछ काल बीतने पर शुद्धभट भी विदेश से बहुत-सा धन कमा कर घर आया। उसने पत्नी से पूछा—“प्रिये ! तेने मेरा दीर्घकाल का वियोग किस प्रकार सहन किया ?”

—“प्रियवर ! आपका वियोग असह्य था, किन्तु महासती श्री विपुला साध्वीजी के योग से वियोग दुःख टला और मैंने कल्याणकारी धर्म पाया। मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया”—सुलक्षणा ने कहा।

—“सम्यग्दर्शन क्या चीज है ? कैसा होता है वह”—शुद्धभट ने जिज्ञासा व्यक्त की।

“सुदेव में देव-बुद्धि, सद्गुरु में गुरु-बुद्धि और शुद्धधर्म में धर्म-बुद्धि रखना, इन पर दृढ़ श्रद्धा रखना, सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत कुदेव, कुगुरु और अधर्म में आस्था रखना, इनमें धर्म मानना, मिथ्यादर्शन कहाता है।”

राग-द्वेष आदि समस्त दोषों को नष्ट कर के परमवीतराग बनने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीनों लोक के पूज्य, हितोपदेष्टा अरिहंत परमेश्वर ही सुदेव हैं। इनका ध्यान करना, उपासना करना और इनकी शरण में जाना। यदि ज्ञान चेतना हो, तो इनके धर्म का प्रचार करना। यह सुदेव आराधना है। जो परमतारक देव तो कहाते हैं, परन्तु शस्त्र और भक्ष-सूत्रादि राग-द्वेष के चिन्हों को धारण करते हैं, जिनके साथ स्त्री रही हुई है, जो उपासकों पर अनुग्रह और दूसरों पर कोप करने में तत्पर हैं और जो नाट्य, अट्टहास और संगीत आदि में रस लेते हैं, वे सुदेव नहीं हो सकते। उनकी आराधना से मोक्षफल प्राप्त नहीं हो सकता। वे सुदेव नहीं हैं।

महाव्रतों के पालक, निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करने वाले और निरन्तर सामायिक चारित्र में रहने वाले शान्त, धीरजवान् और धर्म का उपदेश करने वाले सुगुरु होते हैं। इसके विपरीत प्रचुर अभिलाषा वाले सर्वभक्षी, परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले कुगुरु हैं। वे सुगुरु नहीं कहे जाते। जो गुरु कहा कर खुद आरंभ और परिग्रह में मग्न रहते हैं, वे दूसरों का उद्धार नहीं कर सकते।

धर्म वही है जो दुर्गति में गिरते हुए जीव को बचावे। वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तों का कहा हुआ संयम और क्षमादि १० प्रकार का धर्म ही मुक्ति देने वाला है। परम आप्त पुरुष के वचन ही धर्म-निर्देशक होते हैं। कोई भी वचन अपौरुषेय नहीं होता। अपौरुषेय वचन असंभवित है। आप्त पुरुषों के वचन प्रामाणिक होते हैं। मिथ्यादृष्टियों का माना हुआ, हिंसादि दोषों से कलुषित बना हुआ, ऐसे नाममात्र के धर्म को ही धर्म माना जाय, तो वह संसार में परिभ्रमण कराने वाला होता है।

यदि रागयुक्त देव भी सुदेव माना जाय, अब्रह्मचारी को गुरुमाना जाय और दयाहीन धर्म भी सुधर्म माना जाय, तो दुःख के साथ कहना होगा कि संसार भ्रमजाल में पड़ कर भवाटवी में भटकने को ही धर्म मान रहा है।

शम, संवेग, निर्वेद, अनुम्पा और आस्तिक्य, इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व की पहिचान होती है। स्थिर करना, प्रभावना, भक्ति, जिनशासन में कुशलता और चतुर्विध तीर्थ की सेवा, ये पाँच सम्यक्त्व के भूषण हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और मिथ्यादृष्टि का परिचय, ये पाँच सम्यग्दर्शन को दुषित करते हैं।

अपनी पत्नी से सम्यग्दर्शन का स्वरूप जान कर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसकी प्रशंसा की और स्वयं सम्यग्दर्ष्टि हुआ।

उस ग्राम में पहले बहुत-से लोग श्रावक-धर्म का पालन करते थे। किन्तु बाद में साधुओं का संसर्ग नहीं रहने से मिथ्यादृष्टि हो गए। शुद्धभट दम्पति को श्रावक-धर्म पालक जान कर वे मिथ्यादृष्टि लोग उनकी निन्दा करने लगे, किन्तु वे अपने धर्म में दृढ़ रहे। कालान्तर में उनके एक पुत्र का जन्म हुआ।

एक बार सर्दी के दिनों में अपने पुत्र को ले कर शुद्धभट 'धर्म अग्निष्टिका' के पास गया। वहाँ ब्राह्मण लोग अग्नि तार रहे थे। शुद्धभट को देखते ही उन्होंने कहा--“अरे ओ श्रावक ! तू जा यहाँ से। तू भ्रष्ट है और हमारे पास बैठने योग्य नहीं है।” इस तिरस्कार पूर्ण व्यवहार से शुद्धभट क्रोधित हो गया। उसने वहीं उच्च स्वर में कहा--

“यदि जिनधर्म संसार से तारने वाला नहीं हो, यदि सर्वज्ञ अरिहंत आप्त देव नहीं

हो और ज्ञान, दर्शन और चारित्र, मोक्ष का मार्ग नहीं हो तथा विश्व में इस प्रकार सम्यग्-दृष्टि नहीं हो, तो इस अग्नि में डालने पर मेरा यह पुत्र जीवित नहीं रहे और जल जाय और जो यह सब सत्य हो, तो मेरा यह पुत्र निर्विघ्न रहे और अग्नि शान्त हो जाय ।” इस प्रकार कह कर उसने अपने पुत्र को अग्नि में डाल दिया । यह देख कर वहाँ बैठे हुए सभी लोग हाहाकार कर उठे और बोले—“यह दुष्ट है इसने कोधी बन कर पुत्र हत्या की है ।” इस प्रकार तिरस्कार करने लगे । किन्तु ज्योंही उन्होंने अग्नि की ओर देखा, तो उनके आश्चर्य का पार नहीं रहा । उन्होंने देखा—अग्नि के स्थान पर एक विशाल कमल है और उस कमल पर बच्चा आनन्दपूर्वक खेल रहा है । वहाँ एक सम्यक्त्व सम्पन्न देवी रहती थी । उसने बालक की रक्षा की । पूर्व के मनुष्य-भव में संयम की विराधना कर के वह व्यन्तर जाति की देवी हुई थी । वह केवली भगवान् के उपदेश से प्रबुद्ध हो कर सम्यग्-दृष्टियों की सेवा करने में तत्पर रहती थी । इस समय सम्यक्त्व का माहात्म्य प्रकट करने के लिए उसने यह प्रभाव दिखाया था । ब्राह्मण लोग यह प्रभाव देख कर आश्चर्यान्वित हुए । शुद्धभट ने घर जा कर अपनी पत्नी से सारी घटना कह सुनाई । पत्नी ने कहा—“आपने यह क्या किया ? यह तो अच्छा हुआ कि सम्यग्दृष्टि देवी निकट थी और उसने तत्काल सहायता की, अन्यथा पुत्र जल जाता, तो लोग, धर्म की निन्दा करने और धर्म की हीनता होती । ऐसा दुःसाहस नहीं करना चाहिए ।”

इसके बाद सुलक्षणा श्राविका अपने पति को ले कर यहाँ धर्म श्रवण करने आई । शुद्धभट ने उस घटना को लक्ष कर प्रश्न किया था, जिसे मैंने सम्यक्त्व का प्रभाव बताया । भट दम्पति ने दीक्षा ली और विशुद्ध साधना से केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया ।

एक बार भगवान् अजितनाथजी साकेत नगर के उद्यान में पधारे । इन्द्रादि देवों और सगरादि राजाओं तथा अन्य नरनारियों की विशाल धर्म-परिषद् जुड़ी । भगवान् ने धर्मदेशना दी ।

मेघवाहन और सगर के पूर्वभव

वेताद्वय पर्वत पर ‘पूर्णमेघ’ नाम का विद्याधर रहता था । उसके पुत्र का नाम ‘मेघवाहन’ था । वहीं ‘सुलोचन’ नाम वाला एक दूसरा व्यक्ति रहता था । उसके पुत्र का नाम ‘सहस्रलोचन’ था । पूर्णमेघ ने पूर्ववद्ध वैर से प्रेरित हो कर सुलोचन को मार डाला ।

पिता के वध से क्रोधायमान हो कर सहस्रलोचन ने पूर्ण मेघ का वध कर दिया और उसके पुत्र मेघवाहन को भी मारने के लिए तत्पर हुआ। मेघवाहन भयभीत हो कर भागा। वह मोघा भगवान् के समवसरण में आया और वन्दन-नमस्कार कर के बैठ गया। सहस्रलोचन उसके पीछे पड़ा हुआ था। उसके मन में ज्वृता उभर रही थी। वह भी पीछा करता हुआ समवसरण में आ पहुँचा। किन्तु भगवान् का समवसरण देख कर स्तब्ध रह गया। उसके वैर-भाव का शमन हुआ। उसने शस्त्र डाल दिये और भगवान् की प्रदक्षिणा कर के बैठ गया। इसके बाद चक्रवर्ती महाराज सगर ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा—“प्रभो ! पूर्णमेघ और सुलोचन के वैर होने का क्या कारण है ?” भगवान् ने कहा;—

“सूर्यपुर नगर में ‘भावन’ नाम का एक क्रोधाधिपति व्यापारी था। वह अपनी समस्त सम्पत्ति अपने पुत्र हरिदास को सौंप कर धन कमाने के लिए देशान्तर चला गया। बारह वर्ष में उसने बहुत-सा धन कमा लिया। स्वदेश लौट कर वह नगर के बाहर ठहर गया। वह उत्सुकता वश अचानक रात्रि के समय अपने घर में आया और गुप्त रूप से घर में प्रवेश कर के इधर-उधर फिरने लगा। हरिदास की नींद खुल गई। उसे लगा—‘घर में चोर घुस गए हैं।’ वह उठा और तलवार का प्रहार कर ही दिया। घायल भावन सेठने देखा कि उसका पुत्र ही उसे मार रहा है, तो उसके क्रोध का पार नहीं रहा। वह अत्यंत वैर-भाव लिए हुए मर गया। जब हरिदास ने देखा कि उसके हाथ से उसका पिता ही मारा गया, तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने पश्चात्ताप पूर्वक अपने पिता का अंतिम संस्कार किया। कालान्तर में हरिदास भी मर गया। भव-भ्रमण करते हुए पिता का जीव पूर्णमेघ के रूप में उत्पन्न हुआ और हरिदास का जीव ‘सुलोचन’ हुआ। इस प्रकार इन दोनों का वैर पूर्वभव में ही चला आ रहा है और इस भव में वैर सफल हुआ।”

भगवान् का निर्णय सुन कर चक्रवर्ती ने फिर पूछा—

“इन दोनों के पुत्रों के वैर का क्या कारण है प्रभो ? और सहस्रलोचन के प्रति मेरे मन में स्नेह क्यों उत्पन्न हो रहा है ?”

—“सगर ! तुम पूर्वभव में एक सन्यासी थे। ‘रम्भक’ तुम्हारा नाम था। तुम्हारी दान देने में विशेष रुचि और प्रवृत्ति थी। तुम्हारे ‘शशि’ और ‘आवली’ नाम के दो शिष्य थे। आवली अपनी अतिशय विनम्रता के कारण तुम्हें विशेष प्रिय था। उसने एक गाय मोल ली। किन्तु शशि ने गाय बेचने वाले को कुसला कर वह गाय खुद ने मूल्य दे कर ले ली। इस पर शशि और आवली में झगड़ा हो गया। दोनों खूब लड़े और अन्त में

शशि ने आवली को मार डाला। भव-भ्रमण करते हुए शशि तो मेघवाहन हुआ और आवली सहस्रलोचन हुआ। रम्भक सन्यासी का जीव—तुम दान के प्रभाव से शुभ गतियों में होते हुए चक्रवर्ती हुए। सहस्रलोचन के प्रति तुम्हारा स्नेह पूर्वभव से ही है।”

राक्षस वंश

धर्म-सभा में उस समय ‘भीम’ नामक राक्षसाधिपति भी बैठा था। उसने मेघवाहन को देख कर स्नेहपूर्वक छाती से लगाया और बोला—

“वत्स! मैं पूर्वभव में पुष्करवर द्वीप के भरत-क्षेत्र में, वैताड्य पर्वत पर के कांचनपुर नगर का राजा था। मेरा नाम विद्युदंष्ट्र था और तू मेरा रतिवल्लभ नाम का पुत्र था। तू मुझे बहुत ही प्रिय था। आज तू मुझे मिल गया। यह अच्छा ही हुआ। मैं अब भी तुझे अपना प्रिय पुत्र मानता हूँ। अब तू मेरे साथ चल। मेरे सर्वस्व का तू अधिकारी है। लवण समुद्र में सात सौ योजन वाला, सभी दिशाओं में फैला हुआ एक ‘राक्षस द्वीप’ है। उसके मध्य में त्रिकूट नाम का वलयाकार पर्वत है। वह नौ योजन ऊँचा, पचास योजन विस्तार वाला और बड़ा ही दुर्गम है। उस पर्वत पर ‘लंका’ नाम की नगरी है। वह स्वर्णमय गढ़ से सुरक्षित है। मैंने ही यह नगरी बसाई है। उसके छः योजन पृथ्वी में नीचे ‘पाताल लंका’ नामकी अति प्राचीन नगरी हैं, जो स्फटिक रत्न के गढ़ और आवास आदि से सुशोभित है। इन दोनों नगरियों का स्वामी मैं ही हूँ। हे पुत्र! मैं इन दोनों नगरियों का स्वामित्व तुझे देता हूँ। तू इन पर राज्य कर। तीर्थकर भगवान् के दर्शन का तुझे यह अचिन्त्य लाभ मिल गया है।”

इस प्रकार कह कर राक्षसाधिपति ने अपनी नौ मणियों वाला बड़ा हार और राक्षसी विद्या मेघवान को वहीं देदी। मेघवाहन भगवान् को वन्दना कर के राक्षस द्वीप में आया और दोनों लंका नगरियों पर शासन करने लगा। राक्षस द्वीप का राज्य और राक्षसी विद्या के कारण मेघवाहन का वंश ‘राक्षसवंश’ कहलाया।

पुत्रों का सामूहिक मरण

चक्रवर्ती सम्राट के साठ हजार पुत्र विदेश भ्रमण के लिए गये थे। सामुदायिक

कर्म के उदय से भ्रमण-काल में ही किसी निमित्त से उनकी एक साथ मृत्यु हो गई * ।

* 'त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' में यहाँ एक कथा दी है, जिसमें लिखा है कि सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र एक साथ देशाटन के लिए निकले । उनके साथ स्त्री-रत्न को छोड़ कर चक्रवर्ती के १३ रत्न भी थे और सुवृद्धि आदि अमात्य भी । वे धूमते-धूमते अष्टापद पर्वत के निकट आये और उस पर के भव्य मन्दिर को देखा—जिसमें भगवान् आदिनाथ, अजितनाथ और भविष्य के २२ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ थी । वहाँ ऋषभपुत्रों आदि के चरण एवं मूर्तियाँ भी थी । उन्होंने उनकी पूजा-चन्दनादि की । फिर उन्होंने सोचा—'यह पवित्र तीर्थ भविष्य में इसी प्रकार स्थिर एवं सुरक्षित रहे । अर्थलोलुप और अधम मनुष्यों के द्वारा इसको क्षति नहीं पहुँचे, इसका प्रबन्ध हमें करना चाहिए । इस पवित्र पर्वत को मनुष्य की पहुँच से बचाने के लिए आस-पास एक बड़ी खाई खोद कर गंगा का पानी भर देना चाहिए ।' इस प्रकार सोच कर और दण्डरत्न से पृथ्वी खोद कर खाई बनाने लगे । एक हजार योजन गहरी खाई खुद गई । खाई खुदने से भवनपति के नागकुमार जाति के देवों के भवन टूटने लगे । अपने भवन टूटने से सारा नागलोक क्षुब्ध हो गया । सर्वत्र भय, त्रास और हाहाकार मच गया । ऐसी स्थिति देख कर नागकुमार देवों का राजा 'उबलनप्रभः' पृथ्वी से बाहर निकल कर, सगर चक्रवर्ती के पुत्रों के पास आया और क्रोधाभिभूत हो कर पृथ्वीदारण का कारण पूछा । उनका शुभाशय और विनय देख कर वह शान्त हो कर लौट गया । उसके जाने के बाद उस खाई को पानी से भरने के लिए, गंगा नगी के किनारे पर दण्डरत्न का प्रहार किया और नहर बना कर पानी पहुँचाया । वह गंगाजल उस कृत्रिम खाई में गिर कर नागकुमार के भवनों में पहुँचा । उनके भवन पानी से भर गए । नागकुमारों में पुनः त्रास बरत गया । उनका अधिपति, इस विपत्ति से भयंकर कुपित हुआ और बाहर निकल कर सभी—साठ हजार सगर पुत्रों को अपनी क्रोधाग्नि से जला कर भस्म कर दिया । पृथ्वी पर हाहाकार मच गया । सगर चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र जन्हुकुमार द्वारा गंगा का पानी अष्टापद तक लाया गया, इससे गंगा का दूसरा नाम 'जान्हवी' × पड़ा ।

यह संक्षिप्त कथा आई है । किन्तु इसकी वास्तविकता विचारणीय लगती है । कुछ खास बातें तो ऐसी हैं कि जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । जैसे—

(१) प्रथम पर्व के छठे सर्ग में लिखा है कि भरतेश्वर ने आठ योजन ऊँचे इस अष्टापद पर्वत पर 'सिंहनिषद्या' चैत्य और स्तूप बनवाने के बाद उन तक कोई मनुष्य नहीं पहुँच सके, इसके लिए 'लोहे के यन्त्र निर्मित आरक्षक खड़े किये' और पर्वत को छिलवा कर स्तंभ के समान सीधा-सपाट बना दिया, साथ ही प्रत्येक योजन पर मेखला के समान आठ सोपान बनाये । इस प्रकार के प्रयत्न से वह मनुष्यों के लिए दुर्गम ही नहीं, अगम हो गया था और पर्वत पर लोह-पुरुष रक्षक थे ही । फिर खाई खोदने की क्या आवश्यकता थी ?

× वैदिक साहित्य में 'जन्हु ऋषि' से उत्पन्न होने के कारण गंगा का नाम 'जान्हवी' बताया है ।

शोक-निवारण का उपाय

सगर-पुत्रों के मरण से शोकाकुल बने हुए सेनापति, सामन्त और मंडलेश्वरादि तथा साथ रही हुई अन्तःपुर की स्त्रियों के आक्रंद से सारा वन-प्रदेश व्याप्त हो गया। सभी ने राजधानी लौटने के बजाय मरना ही ठीक समझा। उनके करुणाजनक विलाप से सारा वातावरण ही शोकार्त हो गया। पत्थर-से हृदय को भी पिघला देने की शक्ति थी— उस सामूहिक आर्त्तनाद में। उस समय भगवें वस्त्र वाला एक ब्राह्मण वहाँ आया और उन रुदन करते हुए मनुष्यों से कहने लगा;—

“अरे, ओ विवेक-विकल मूर्खों! तुम इतने मूढ़ क्यों हो गए? क्या मरने वालों के साथ मर जाना भी समझदारी है? क्या कोई अमर हो कर आया है—संसार में? मरना तो सभी को है। कोई पहले मरता है और कोई पीछे। कई एक साथ जन्मते हैं और आगे-पीछे मरते हैं, कई आगे-पीछे जन्मते हैं, पर एक साथ मर जाते हैं। विभिन्न काल में और विभिन्न स्थानों पर जन्मे हुए बहुत-से मनुष्य एक काल में एक स्थान पर भी मरते हैं। यह

(२) कहा जाता है कि यह पर्वत शाश्वत है और उस पर्वत पर के चैत्य भी देव-सहाय्य से अब तक (कुछ कम एक करोड़ सागरोपम तक) सुरक्षित है, तब खाई खोदने की जरूरत ही क्यों हुई? वे देवता उस चैत्य की रक्षा करते ही थे?

(३) खाई एक हजार शाश्वत योजन खुद कर भवनपति के भवनों का भी तोड़-फोड़ दिया, तो ऊपर के एक सौ योजन के बाद आठ सौ योजन तक के क्षेत्र में व्यन्तर जाति के देवों के नगर हैं, उन नगरों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा? वे अछूते ही रह गए? यह कैसे हो सकता है?

(४) सगरकुमारों ने खाई खोदने की भूल की और उस भूल की क्षमा भी उसे नागराज ज्वलन-प्रभः से मिल गई, तो बाद में खाई में पानी तो विचार कर के ही भरना था। किसी ने यह भी नहीं सोचा कि—‘जब पृथ्वी फूट ही गई है, तो पानी भरने से वह पानी पहले नागकुमार के भवनों में ही जायगा और पुनः उपद्रव भड़केगा।’ सुबुद्धि आदि प्रधानों और पुरोहितादि शान्ति-प्रवर्तक रत्नों तथा तेरह रत्न के अधिष्ठाता देवों में से किसी के भी मन में यह बात क्यों नहीं आई?

(५) एक विचार यह भी होता है कि ऐसे अलौकिक एवं अमृत के समान उपकारी तीर्थ को मनुष्यों की पहुँच के परे क्यों रखा गया? यदि वह मनुष्यों की पहुँच के भीतर होता, तो भावुक उपासक दर्शन-पूजन का लाभ ले कर अपने जीवन को सफल करने का संतोष तो मानते? तीर्थ भी बनाया और ओझल भी कर दिया? समझ में नहीं आता कि भरतेश्वर ने भी उसे मनुष्यों द्वारा अस्पृश्य रखने का प्रयत्न क्यों किया?

(६) यदि अष्टापद का ओझल रखना उचित माना जाय, तो शत्रुंजय सम्मेदशिखर आदि अन्य तीर्थों का क्यों नहीं?

ऐसे अनेकों विचार उत्पन्न होते हैं, अस्तु।

कोई अनहोनी बात नहीं है। महामारी और युद्धादि में बहुत-से मनुष्य एक साथ मरते हैं। मृत्यु तो प्रत्येक संसारी जीव के साथ लगी ही हुई है। यदि संसार में रह कर ही अमर होने का कोई उपाय होता, तो चक्रवर्ती आदि नरेन्द्र और देवेन्द्रादि कभी नहीं मरते। मृत्यु सभी के लिए अनिवार्य है, फिर विक्षिप्त के समान विलाप करना और मरने के लिए तत्पर होना तो मात्र मूर्खता ही है। इसलिए तुम धैर्य धारण करो और अपने स्थान पर जाओ। तुम्हारे स्वामी को सम्हालने के लिए मैं उनके पास जाता हूँ।”

मांगलिक अग्नि कहाँ है ?

इस प्रकार सभी को समझा कर वह ब्राह्मण आगे बढ़ा और मार्ग में से किसी मरे हुए मनुष्य का शव उठा कर विनिता नगरी में प्रवेश किया। राजभवन के आँगन में जा कर वह ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा;—

—“हे चक्रवर्ती महाराज ! हे न्यायावतार ! हे रक्षक-शिरोमणि ! आपके राज्य में मुझ पर महान् अत्याचार हुआ है। आप जैसे महाबाहु राजेश्वर के राज्य में मैं लूट गया हूँ। मेरी रक्षा करो देव ! मैं आपकी शरण में आया हूँ।”

ब्राह्मण के ऐसे अश्रुतपूर्व शब्द सुन कर सगर महाराज चिंतित हुए। उसके दुःख को अपना ही दुःख मानते हुए उन्होंने द्वारपाल को भेज कर ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण रुदन करता हुआ राजा के सामने आया। महाराज ने ब्राह्मण से पूछा;—

—“तुझे किसने लूटा है ? कौन है तुझे दुःख देने वाला ?”

—“पृथ्वीनाथ ! आपके राज्य में सर्वत्र शांति है। कोई किसी को लूटता नहीं है, न चोरियाँ होती हैं, न छिनाक्षपटी होती है और न कोई धरोहर दबाता है। अधिकारीगण अपने कर्तव्य का सचाई के साथ पालन करते हैं। आरक्षक भी अपने स्वजनादि के समान प्रजा की रक्षा करते हैं। प्रजा भी सत्य और न्याय युक्त आचरण करती है। अन्याय, अनीति एवं दुराचार का नाम ही नहीं है। न लड़ाई-झगड़े हैं, न वैर-विरोध। सर्वत्र सुख-शांति और संतोष व्याप रहा है। कोई दुःखी-दरिद्र और दरिद्र नहीं है—आपके राज्य में। किन्तु मुझ गरीब पर ही वज्रपात हुआ है महाराज !”

“मैं अवंतीदेश के अश्वभद्र नगर का रहने वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण हूँ। मैं अपने एकमात्र पुत्र और पत्नी को छोड़ कर विशेष अध्ययन के लिए विदेश गया था। मेरा अध्ययन

सुखपूर्वक चल रहा था कि एक दिन मुझे अपने-आप ही उदासी आ गई और मन चिन्ता-मग्न हो गया। अनिष्ट की आशंका से मैं उद्विग्न हो उठा। मैंने सोचा—मेरे कुटुम्ब पर अवश्य ही कोई संकट आया होगा। मैं उसी समय घर के लिए चल दिया। मेरी बायीं आँख फड़कने लगी थी। एक कौआ सूखे हुए झाड़ के टूँठ पर बैठ कर कठोर शब्द बोल रहा था। मैं अपने घर के निकट पहुँचा, तो मेरा घर भी मुझे शोभाहीन दिखाई दिया। घर में पहुँचा, तो मेरी पत्नी रुदन कर रही थी। मेरा पुत्र मरा हुआ पड़ा था। यह देख कर मैं मूर्च्छित हो कर गिर पड़ा। सचेत होने पर मालूम हुआ कि मेरा पुत्र, सर्पदंश से मरा है। मेरे दुःख का पार नहीं रहा। मैं रात को भी शव के पास बैठा रोता रहा। इतने में मेरी कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—

—“वत्स ! रुदन क्यों करता है ? मैं कहूँ वैसा करेगा, तो तेरा यह मृत पुत्र जीवित हो जायगा। तू कहीं से ‘मांगलिक अग्नि’ ले आ।”

—“माता ! कहाँ मिलेगी मांगलिक अग्नि मुझे”—मैंने आशान्वित होते हुए पूछा।

—“जिस घर में कभी कोई मरा नहीं हो, उस घर से अग्नि ले आ। वह ‘मंगल-अग्नि’ होगी। जिस घर में सदा आनन्द-मंगल रहा हो, कभी शोक-संताप और मृत्यु नहीं हुए हों, वहाँ की अग्नि मंगलमय होती है”—देवी ने कहा।

—“महाराज ! देवी की बात सुन कर मैं उत्साहित हुआ और पुत्र को जीवित करने के लिए मैं उत्साहपूर्वक घर से निकल गया। मैं प्रत्येक गाँव और गाँव के प्रत्येक घर में गया, किन्तु ऐसा एक भी घर नहीं मिला कि जहाँ कोई मरा नहीं हो। सभी ने कहा—“हमारे वंश में असंख्य मनुष्य मर चुके हैं।” मैं मांगलिक अग्नि की खोज में भटकता हुआ आपकी शरण में आया हूँ। मुझे मांगलिक अग्नि दिलाइये—“महाराज ! आप चक्रवर्ती सम्राट हैं। सम्पूर्ण छह खंड में आपका राज्य है। वैताढ्य पर्वत पर की दोनों श्रेणियों में रहे हुए विद्याधर भी आपके आज्ञाकारी हैं और देव भी आपकी सेवा करते हैं तथा नव-निधान आपके सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार से मेरा मनोरथ पूर्ण कराइये—दयालु”—ब्राह्मण अत्यन्त दीनता पूर्वक याचना करने लगा।

ब्राह्मण की याचना सुन कर नरेन्द्र विचार में पड़ गए। यह अनहोनी माँग कैसे पूरी हो। उन्होंने ब्राह्मण को समझाते हुए कहा;—

‘हे भाई ! हमारे ही घर में तीन लोक के स्वामी अरिहंत भगवान् ऋषभदेवजी हुए। भरतेश्वर जैसे चक्रवर्ती नरेन्द्र हुए, जिनका सौधर्मन्द्र जैसे भी आदर करते थे और अपने साथ एक आसन पर बिठाते थे। वीर-शिरोमणि, महाबाहु बाहुबलीजी तथा आदित्यश

आदि नरेन्द्र हुए । ये सभी आयु पूर्ण होने पर देह का त्याग कर गये । हमारे वंश में असंख्य नरेन्द्र और उनके आत्मीयजन मर चुके, तब तुम्हारे लिए मांगलिक अग्नि कहाँ से लाई जाय ? काल तो दुरतिक्रम है भाई ! यह सर्वभक्षी और सर्वभेदी है । इसकी पहुँच से न कोई घर अछूता रहा और न कोई प्राणी बचा । इसलिए तू चाहता है वैसा मंगल-गृह तो कहीं नहीं मिल सकता । अब तू शोक करना छोड़ दे । मृत्यु आने पर सभी मरते हैं, चाहे वृद्ध हो या युवा अथवा बालक ही हो । जब एक बार सभी को मरना है, तो फिर शोक और रुदन क्यों करना चाहिए ? संसार में जो माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन और पत्नी आदि का सम्बन्ध है, वह पारमार्थिक नहीं है । जिस प्रकार नगर की धर्मशाला में विविध स्थानों और विभिन्न दिशाओं से आने वाले बहुत-से व्यक्ति ठहरते हैं और साथ रह कर रात्रि व्यतीत करते हैं, किन्तु प्रातःकाल होते ही सभी अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी विभिन्न गतियों से आ कर जीव, एक घर में एकत्रित होते हैं और समय पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में चले जाते हैं । ऐसे अनादि सिद्ध एवं अवश्यभावी तथा अनिवार्य विषय में कौन बुद्धिमान शोक करता है । नहीं, नहीं, यह शोक करने का विषय नहीं है । इसलिए हे द्विजोत्तम ! तुम मोह का त्याग कर के स्वस्थ बनो और विवेक धारण करो ।”

—“महाराज ! आपका उपदेश सत्य है—यथार्थ है । मैं भी यह जानता हूँ, किन्तु कल्लू क्या ? मुझ से पुत्र-मोहनहीं छूटता । पुत्र-वियोग ने मेरा सारा विवेक हर लिया है । यह दुःख वही जानता है, जो भुगत चुका है । जब तक पुत्र-विरह की वेदना भुगती नहीं, तब तक सभी लोग ऐसी बातें करते हैं और धीरज रखने और विवेकी बनने का उपदेश देते हैं । फिर आप तो अरिहंत भगवान् के वंशज हैं । निरर्थ-प्रवचन से आप का हृदय निर्मल हो चुका है । आप जैसे शक्तिशाली धैर्यवान् पुरुष विरल ही होते हैं । हे स्वामिन् ! आपने जो उपदेश मुझे दिया और मेरा मोह दूर किया, यह बहुत ही अच्छा किया । किन्तु यदि कभी आप पर भी ऐसी बीते, तो आप भी धीरज रख सकेंगे क्या ?”

“महाराज ! जिसके थोड़े पुत्र होते हैं, उसके थोड़े मरते हैं और अधिक पुत्र हैं, उसके अधिक मरते हैं । थोड़े मरते हैं, तो उनके पितादि को भी दुःख होता है और बहुत पुत्रों के मरने पर उनके माता-पितादि को भी दुःख होता है । जिस प्रकार थोड़े प्रहार से कीड़ी-कुंथू को और अधिक प्रहार से हाथी को समान पीड़ा होती है, उसी प्रकार पुत्रों के थोड़े बहुत मरने पर माता-पितादि को भी समान दुःख होता है । दुःख में न्यूनाधिकता नहीं होती । आपके उपदेश से मैं अपना मोह दूर करता हूँ । किन्तु राजेन्द्र ! आपको भी अपने

उपदेश को हृदयंगम कर के अखण्ड धैर्य धारण करना चाहिए । आपके पुत्र जो देशाटन करने गये थे, वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं । उनके साथ रहे हुए सेनापति, सामन्त आदि शोक संतप्त दशा में आये हैं । आपने जो उपदेश मुझे दिया, उसका स्वयं भी पालन करें और शोकमग्न परिवार को भी धीरज बँधावें ।”

ब्राह्मण की बात पूरी होते ही वे सेनापति आदि जो कुमारों के साथ गये थे, अभ्युपात करते हुए सभा में आये और राजा को प्रणाम कर नीचा मुख कर के बैठ गए ।

ब्राह्मण की बात सुन कर और कुमार के साथ गये हुए सेनापति आदि को अभ्युपात करते हुए, बिना पुत्रों के ही आया हुआ देख कर, नरेन्द्र जड़वत् स्तम्भित रह गए । उनके नेत्र स्थिर हो गए और वे मूर्च्छित हो गए । कुछ समय बाद स्वस्थ होने पर ब्राह्मण ने कहा ; —

“राजन् ! आप उन विश्ववंद्य महापुरुष भगवान् आदिनाथजी के वंशज और भगवान् अजितनाथजी के भाई हैं, जिन्होंने विश्व की मोह-निद्रा का नाश किया है । एक साधारण मनुष्य के समान आपको मोहाधीन हो कर शोक करना शोभा नहीं देता । इस समय की आपकी दशा, उन महापुरुषों और उस कुल के लिए अशोभनीय है ।”

नरेश, ब्राह्मण की बात सुन कर विचार में पड़ गए । वे समझ गए कि ब्राह्मण अपने पुत्र की मृत्यु के बहाने मुझे मेरे पुत्रों की मृत्यु का सन्देश देने आया है । जब राजा को कुमारों के मृत्यु का कारण बताया गया, तो वे विशेष आक्रन्द करने लगे । उनके शोक का पार नहीं रहा । राजा के हृदय में शान्ति उत्पन्न करने के लिए ब्राह्मण ने फिर कहा ; —

“नरेन्द्र ! आपको पृथ्वी का ही राज्य नहीं मिला है, वरन् प्रबोध का आध्यात्मिक अधिकार भी प्राप्त हुआ है—वंशानुगत मिला है । आप दूसरों को बोध देने योग्य हैं, फिर आपको दूसरा कोई उपदेश दे, यह उलटी बात है । मोहनिद्रा का समूल नाश करने वाले ऐसे भगवान् अजितनाथ के भाई को दूसरे बोध दें, क्या यह लज्जा की बात नहीं है ?”

ब्राह्मण की बात सुन कर राजा को कुछ धैर्य बँधा । किन्तु मोह भी महाप्रबल था । वह रह-रह कर उमड़ आता और ज्ञान को दबा देता था । यह देख कर ‘सुबुद्धि’ नाम के प्रधान मन्त्री ने निवेदन किया ; —

“महाराज ! समुद्र मर्यादा नहीं छोड़ता, कुलपर्वत कम्पायमान नहीं होते और पृथ्वी चपल नहीं बनती । यदि कभी समुद्र, पर्वत और पृथ्वी भी मर्यादा छोड़ दे, तो भी आप जैसे महानुभाव को तो दुःख प्राप्त होने पर भी अपना संतुलन नहीं खोना चाहिए । संसार की तो लीला ही विचित्र है । क्षणभर पहले जिसे सुखपूर्वक विचरण करते देखते हैं,

वह क्षणभर बाद ही नष्ट होते दिखाई देता है। इसलिए विवेकी पुरुष को संसार की विचित्रता का विचार कर के विवेक को जाग्रत रखना चाहिए।

इन्द्रजालिक की कथा

महाराजा सगर चक्रवर्ती का शोक दूर करने के लिए सुबुद्धि प्रधानमन्त्री इस प्रकार कथा सुनाने लगा—

“जम्बूद्वीप के इसी भरत-क्षेत्र के किसी नगर में एक राजा राज्य करता था। वह जैनधर्म रूपी सरोवर में हंस के समान था। सदाचारी और प्रजावत्सल था। न्याय-नीति-पूर्वक राज्य का संचालन करता था। एक समय वह सभा में बैठा हुआ था कि उसके सामने एक व्यक्ति उपस्थित हुआ। उसने राजा को प्रणाम कर के अपना परिचय देते हुए कहा—
“मैं वेदादि शास्त्र, शिल्पादि कला एवं अन्य कई विद्याओं में पारंगत हूँ। किन्तु इस समय मैं अपनी इन्द्रजालिक (जादुई) विद्या का परिचय देने के लिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। इस विद्या से मैं उद्यानों की रचना कर सकता हूँ, ऋतुओं का परिवर्तन और आकाश में गन्धर्वों द्वारा संगीत प्रकट कर सकता हूँ। मैं अदृश्य हो सकता हूँ। आग चबा सकता हूँ। धधकते हुए लोहे को खा सकता हूँ। जलचर, स्थलचर और खेचर (आकाश में उड़ने वाली पक्षी) बन सकता हूँ। इच्छित पदार्थ को दूर देश से मँगवा सकता हूँ। पदार्थों के रूप पलट सकता हूँ और अन्य अनेक प्रकार के आश्चर्यकारी दृश्य दिखा सकता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी कला देखें।”

“हे कलाविद्”—नरेश ने इन्द्रजालिक को सम्बोधन कर कहा—“अरे, तुमने बुद्धि को बिगाड़ने वाली इस कला के पीछे अपना अनुपम मानवभाव क्यों गँवाया? इस जन्म से तो परमार्थ की साधना करनी थी। अब तुम आये हो, तो मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार धन दे कर संतुष्ट करता हूँ, किन्तु ऐसे जादुई खेल देखने की मेरी रुचि नहीं है।”

“राजन्! मैं दया का पात्र नहीं हूँ। मैं कलाविद् हूँ। अपनी कला का परिचय दिये बिना मैं किसी का दान ग्रहण नहीं करता। यदि आपको मेरी कला के प्रति आदर नहीं है, तो रहने दीजिए”—कह कर और नमस्कार कर के जादूगर चलता बना। राजा ने उसे मनाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह नहीं रुका और चला ही गया।

वही जादूगर दूसरी बार एक ब्राह्मण का रूप बना कर राजा के सामने उपस्थित

हुआ और अपना परिचय देते हुए बोला—

—“मैं भविष्यवेत्ता हूँ। भूत, भविष्य और वर्तमान के भाव यथातथ्य बता सकता हूँ। आप मेरे ज्ञान का परिचय पाइए।”

—“अच्छा, यह बताओ कि अभी निकट भविष्य में क्या कुछ नई घटना घटने वाली है”—राजा ने पूछा।

—“महाराज ! आज से सातवें दिन, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ कर संसार में प्रलय मचा देगा। यह समस्त पृथ्वी जलमय हो जायगी”—ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की।

राजा चकित हो कर अपनी सभा के ज्योतिषियों की ओर देखने लगा। ज्योतिषियों ने भविष्यवेत्ता की हँसी उड़ाते हुए कहा—“महाराज ! यह कोई नया ही भविष्यवेत्ता है। इसके शास्त्र भी नये ही होंगे। किन्तु नभमंडल के ग्रह-नक्षत्रादि तो नये नहीं हो सकते। ज्योतिष-चक्र तो वही है स्वामिन् ! उससे तो ऐसा कोई योग दिखाई नहीं देता। यह कोई विलक्षण महापुरुष है, जो उन्मत्त के समान व्यर्थ बकवाद कर रहा है। यह झूठा है—महाराज ! इसकी बात कभी सत्य नहीं हो सकती।”

ज्योतिषियों की बात सुन कर भविष्यवेत्ता बोला—“महाराज ! आपकी सभा में या तो ये विद्वान् विदूषक (हँसोड़) हैं, या गाँवड़े के जंगली पंडित हैं। ऐसे नामधारी पंडितों से आपकी सभा सुशोभित नहीं होती। राजन् ! ये शास्त्र के रहस्य को नहीं जानते, किन्तु किसी प्रकार अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। यदि इन्हें मेरे भविष्य-कथन पर विश्वास नहीं हो, तो बात तो सात दिन की ही है। ये सात दिन मुझे आप अटक में रखिये। यदि मेरा भविष्य-कथन असत्य हो जाय, तो आप मुझे कठोरतम दण्ड दीजिए। मैं अपने ज्ञान को प्रत्यक्ष सिद्ध कर के दिखा दूंगा।”

राजा ने उस ब्राह्मण को अपने अंग-रक्षकों के रक्षण में दिया। नगर में इस बात के प्रसरने से जनता में भी हलचल मच गई। इस भविष्यवाणी को व्यर्थ मानने वाले भी आशंकित हो गए। छह दिन व्यतीत होने के बाद सातवें दिन राजा ने उस ब्राह्मण को बुलाया और कहा—

“विप्रवर ! आज का दिन याद है ? क्या आज ही प्रलय होगा ? आकाश तो बिलकुल स्वच्छ दिखाई दे रहा है। समुद्र भी अब तक अपनी सीमा में ही होगा। फिर वह प्रलय कहाँ से आएगा ?”

“राजन् ! थोड़ी देर धीरज धरें। मेरी भविष्यवाणी पूरी होने ही वाली है। मैंने

अपने ज्ञान और अनुभव के बल पर जो भविष्यवाणी की है, वह कदापि अन्यथा नहीं हो सकती। बस थोड़ी ही देर और हैं। आप, मैं, यह राज्य-सभा और यह हरी-भरी पृथ्वी, थोड़ी ही देर रहेंगे। फिर सब नष्ट हो जाएगा”—ब्राह्मण ने हँसते हुए कहा।

यह बात हो ही रही थी कि इतने में एक भयंकर गर्जना हुई। सभी लोग इस गर्जना से चौंक उठे। ब्राह्मण ने कहा—

“महाराज ! यह समुद्र की गंभीर गर्जना है। यह प्रलय की सूचना है। अब सावधान हो जाइए। देखिए, वह आ रहा है। वह.....वह.....वह.....

ब्राह्मण प्रलय का वर्णन करता जा रहा था। सभी लोगों की दृष्टि दूर-दूर तक पहुँच रही थी। इतने में सभी को दूर से ही, मृग-तृष्णा के समान सभी ओर से, पानी का प्रवाह अपनी ओर आता दिखाई दिया। ब्राह्मण राजा के निकट आ कर कहने लगा—

“देखिए, वह पहाड़ आधा डूब गया। वह विशाल वृक्ष देखिए, कितना डूब गया? अब तो वृक्षों की ऊपर की डालियाँ ही दिखाई दे रही हैं। वह गाँव जलमग्न हो गया। उधर देखो। वहाँ पानी के अतिरिक्त और है ही क्या? देखिए, यह प्रवाह इधर ही आ रहा है। ये वृक्ष, पशु और मनुष्यों के शव तैरते दिखाई दे रहे हैं। देखिये, अब तो आपके किले तक पानी आ गया है। ओह ! अब तो भवन के आंगन में भी पानी आ गया। नरेन्द्र ! कहाँ गया आपका नगर? अब तो आपके इस विशाल भवन के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता। सभी जलमग्न हो गया महाराज ! भवन का प्रथम खण्ड जलमग्न हो गया। अब दूसरा खण्ड भी भर रहा है। यह देखिये, अब तो तीसरे खण्ड में भी पानी भरने लगा है।” होते-होते सारा भवन डूबता दिखाई दिया। “कहाँ गये महाराज ! आपके वे मूर्ख ज्योतिषी ?” ब्राह्मण बोलता जा रहा था। राजा भयभीत था। बचने की कोई आशा नहीं रही थी। वह दिगमूढ़ हो कर कूद पड़ा—उस महासागर में। किन्तु उसने अपने को सिंहासन पर सुरक्षित बैठा पाया। न सागर का पता, न पानी का। सब ज्यों का त्यों।

विप्र, कमर में ढोल बाँध कर बजा रहा था और अपने ईश्वरदेव की स्तुति करता हुआ हर्षोन्मत्त हो रहा था। राजा ने पूछा—“यह सब क्या है ?”

“महाराज ! मैं वही इन्द्रजालिक हूँ। पहले आपने मेरी कला की उपेक्षा की, तो दूसरी बार मैं भविष्यवेत्ता बन कर आया और अपनी कला दिखलाई। मैंने आपके सुयोग्य सभासदों का तिरस्कार किया और आपको भी कष्ट दिया, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ”—नम्रतापूर्वक जादूगर ने कहा।

“विप्र ! तुम्हें क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं है । तुमने मेरा उपकार ही किया है । इन्द्रजाल के समान इस संसार असारता का प्रत्यक्ष बोध दे कर तुमने मुझे सावधान कर दिया ।”

राजा ने उस जादूगर को बहुत-सा पारितोषिक दे कर विदा किया और अपने पुत्र को राज्य का भार दे कर निर्ग्रन्थ अनगार बन गया ।

कथा को पूर्ण करते हुए सुबुद्धि प्रधान ने कहा—

“स्वामिन् ! यह सारा संसार ही इस कथा के इन्द्रजाल के समान है । इसमें संयोग और वियोग होते ही रहते हैं । आप तो जिनेश्वर भगवान् के कुल में चन्द्रमा के समान हैं और धर्मज्ञ हैं । आपको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए ।”

सुबुद्धि प्रधान के उद्बोधन से क्षणभर के लिए राजा का मोह हलका हुआ, किन्तु रह-रह कर पुनः उभरने लगा, तब दूसरा मन्त्री कहने लगा ।

मायावी की अद्भुत कथा

“राजन् ! संसार में अनुकूल और प्रतिकूल संयोग तो मिलते ही रहते हैं । उदय-भाव से उत्पन्न परिस्थितियों में हर्ष-शोक करना साधारण व्यक्ति के योग्य हो सकता है, परन्तु आप जैसे ज्ञानियों के लिए उचित नहीं है । संसार के संयोग नाटकीय दृश्यों के समान है । मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ । जरा शान्ति से सुनिये—

एक राजा के पास उसके द्वारपाल ने आ कर कहा—

—“महाराज ! एक पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है । वह अपने को उच्चकोटि का मायावी बतलाता है और अपने कर्तव्य दिखाने आया है । आज्ञा हो, तो उपस्थित करूँ ।”

राजा ने इन्कार करते हुए कहा—“नहीं, यह संसार ही मायामय है । इन्द्रजाल के मैंने भी कई दृश्य देख लिए । अब विशेष देखने की इच्छा नहीं है । उसे मना कर दो ।”

राजा की उपेक्षा से निराश एवं उदास हुआ मायावी चला गया । किन्तु उसकी इच्छा वैसी ही रही । थोड़े दिनों के बाद वह अपना मायावी रूप ले कर राजा के सामने उपस्थित हुआ । वह एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में भाला और साथ में एक सुन्दरतम स्त्री को लिये आकाश-मार्ग से राजा के सामने आ खड़ा हुआ । आश्चर्य के साथ राजा ने उससे पूछा—

“तुम कौन हो ? यह स्त्री कौन है ? यहाँ क्यों आये हो ?”

—“राजेन्द्र ! मैं विद्याधर हूँ । यह मेरी पत्नी है । एक दूसरे विद्याधर के साथ मेरा झगड़ा हो गया है । वह लम्पट मेरी इस स्त्री को हरण कर के ले गया था, किंतु मैं अपनी प्रिया को उससे छुड़ा कर ले आया । वह लम्पट फिर भी मेरे पीछे पड़ा हुआ है । मैं पत्नी को साथ रख कर उससे युद्ध नहीं कर सकता । इसलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ । आप न्यायी, सदाचारी, परदार-सहोदर, प्रबल पराक्रमी, धर्मार्ति एवं शरणागत-रक्षक हैं । आप मेरी पत्नी को धरोहर के रूप में रखें । मैं इसको आपके रक्षण में रख कर उस दुष्टात्मा का दमन करने जाता हूँ । उसे यमद्वार पहुँचा कर फिर अपनी प्राणप्रिया को ले जाऊँगा ।

“नरेन्द्र ! अर्थ-लिप्सा पर अंकुश रखने वाले तो मिल सकते हैं । किन्तु भोग-लिप्सा पर अंकुश रखने वाले संसार में खोज करने पर भी नहीं मिलते । मैंने सभी ओर देखा, किंतु आप जैसा स्वदार-संतोषी एवं परनारी-सहोदरवत् और कोई दिखाई नहीं दिया । आपकी यशध्वजा दिगंत व्याप्त है । इसीलिए वेताद्वय पर्वत से चल कर मैं आपकी शरण में आया हूँ । आप थोड़े दिनों के लिए मेरी पत्नी की रक्षा कीजिए” —मायावी ने हृदयस्पर्शी विनती की ।

—“भद्र ! तुमने यह क्या तुच्छ याचना की । मैं तेरे शत्रु उस दुष्ट लम्पट को ही उसकी दुष्टता का कठोर दण्ड देने के लिए तत्पर हूँ । तू चिन्ता मत कर और यहाँ सुख से रह” —राजा ने अपने वीरत्व के अनुकूल उत्तर दिया ।

—“कृपावतार ! आप केवल मेरी पत्नी की ही रक्षा कीजिए । यही उपकार बड़ा भारी है । क्योंकि चन्द्रमुखी रूप-सुन्दरी का पवित्रतापूर्वक रक्षण करना ही दुष्कर है । आप यही कृपा कीजिए । उस दुष्ट को तो मैं थोड़ी ही देर में मसल कर सदा के लिए सुला दूँगा” —आगत ने अपनी प्रार्थना पुनः दुहराई ।

—“स्वीकार है वीर ! तुम निश्चित रहो । तुम्हारी पत्नी यहाँ अपने पितृगृह के समान सुरक्षित रहेगी” —राजा ने आश्वासन दिया ।

राजा की स्वीकृति पाते ही वह मायावी उछला और पक्षी के समान आकाश में उड़ गया । राजा ने उस सुन्दरी से कहा—

“जाओ बेटी ! तुम अन्तःपुर में प्रसन्नतापूर्वक रहो । मैं वहाँ तुम्हारी सुविधा का सारा प्रबन्ध करवा दूँगा । तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो और जिस वस्तु की आवश्यकता हो.....

हठात् आकाश में घोर गजना हुई। सिंहनाद हुआ। तलवार और भाले की टक्कर की आवाजें आने लगी। “मैं तुझे आज यमघाम पहुँचा कर ही रहूँगा। ठहर, जाता कहाँ है? आज तेरे जीवन का अंतिम क्षण है,” इत्यादि आवाजें आने लगी। नरेश एवं सभासद् सभी अपने स्थान से उठ कर आकाश की ओर देखने लगे। इतने में उनके सामने एक कटा हुआ मानव हाथ, आकाश से आ कर गिरा। हाथ को देखते ही वह स्त्री चौंकी और रोने लगी। इतने में एक कटा हुआ पाँव आ कर गिरा। यह देख कर रोती हुई वह बोली—“यह हाथ और पाँव तो मेरे पति के ही हैं।” इसके बाद दूसरा हाथ, दूसरा पाँव, मस्तक और धड़ कटे हुए गिरे। स्त्री करुण क्रन्दन करती हुई कहने लगी—

“मेरा सर्वनाश हो चुका। उस दुष्ट ने मेरे पति को मार डाला। यह उन्हीं के अंग हैं। अब मैं जीवित नहीं रह सकती। मैं भी अब पति के साथ ही परलोक जाना चाहती हूँ। महाराज! शीघ्रता कीजिए। मुझे पतिघाम जाने के लिए आज्ञा दीजिए। चितारूपी शीघ्र-गति वाला वाहन बनाइए। मैं उस पर आरुढ़ हो कर जाना चाहती हूँ।”

—“हे पति-परायणा पुत्री! धैर्य धर। विद्याधरी लीला में अनेक प्रकार की मायावी रचना हो सकती है। कदाचित् उस दुष्ट लम्पट ने निराश हो कर तुझे भ्रमजाल में फँसाने के लिए यह सभी प्रपञ्च किया हो। इसलिए शान्ति धारण कर और थोड़ी देर प्रतीक्षा कर”—राजा ने सान्त्वना देते हुए कहा।

—“नहीं, महाराज! यह मेरा पति ही है। मैं पूर्णरूप से पहिचानती हूँ। इसमें किसी प्रकार का भ्रम अथवा धोखा नहीं है। मैं अब क्षणभर भी जीवित रहना नहीं चाहती। अब मेरा जीवित रहना मेरे पितृकुल एवं पतिकुल के लिए शोभनीय नहीं है। इसलिए अपने सेवकों को आज्ञा दे कर मेरे लिए शीघ्र ही विज्ञा रचाइए”—उस स्त्री ने कहा।

—“बहिन! तेरे दुःख को मैं जानता हूँ। फिर भी मेरा आग्रह है कि तू थोड़ा धीरज रख। बिना विचारे एकदम साहस कर डालना अच्छा नहीं होता। जो विद्याधर हैं, आकाश में उड़ सकते हैं, वे विविध प्रकार के भ्रम की सृष्टि भी कर सकते हैं। कौन जाने यह भी कोई छल हो”—राजा ने सन्देह व्यक्त किया।

राजा की बात सुनते ही सुन्दरी क्रोधित हो कर बोली—

—“राजन्! आप मुझे क्यों रोकते हैं? आपका ‘परस्त्री-सहोदर’ विरुद्ध वास्तविक है या मात्र भुलावा देने के लिए ही है? यदि वास्तव में आपकी दृष्टि शुद्ध है, तो कृपा कर शीघ्रता करिये और अपनी धर्मपुत्री को अपने कर्तव्य-मार्ग पर चलने दीजिए। मैं अब एक पल के लिए भी रुकना नहीं चाहती।”

राजा निराश हो गया और उसकी इच्छानुसार व्यवस्था करने की आज्ञा प्रदान कर दी। महिला ने स्नान-मंजन किया। वस्त्राभूषण पहिने। वह सम्पूर्ण रूप से शृंगारित हो कर रथ में बैठ गई और पति के अंगों को भी ले लिये। रथ इमशान भूमि की ओर चलने लगा। पीछे राजा एवं नागरिकजन पैदल चलने लगे। चिता रची गई। चिता में प्रवेश होने के पूर्व उस महिला ने राजा के दिये हुए धन का मुक्त हस्त से दान किया और सभी लोगों को प्रणाम किया। उसके बाद चिता की प्रदक्षिणा कर के उसमें बैठ गई और पति के अंगों के साथ जल गई। राजा और नागरिकजन शोकाकुल हृदय से घर लौटे।

राजा सभा में बैठा था, तब वही मायावी पुरुष हाथ में तलवार और भाला ले कर सभा में उपस्थित हुआ। राजा और सभी लोग उसे देख कर चकित रह गए। वह पुरुष बोला—

“राजेन्द्र ! ज्योंही मैं आपके पास से गया, त्योंही मेरा उस दुष्ट से साक्षात्कार हो गया। वह यहीं मेरे पीछे आ रहा था। मैंने उसे ललकारा और गर्जना के साथ हमारा युद्ध प्रारम्भ हो गया। लड़ते-लड़ते मैंने कौशल से पहले उसका एक हाथ काट दिया, फिर पाँव, इस प्रकार लड़ते-लड़ते उसके छह टुकड़े कर दिये और उसके सभी अंग आपकी सभा में ही गिरे। इस प्रकार आपकी कृपा से मैंने अपने शत्रु को समाप्त कर दिया। अब मैं बिलकुल निर्भय हूँ। अब मेरी पत्नी मुझे दे दीजिए, सो मैं अपने घर जा कर शान्ति से जीवन व्यतीत करूँ।”

मायावी के वचन सुन कर राजा चिंतामग्न हो कर कहने लगा—

“भद्र ! तुम्हारी पत्नी मेरे पास थी। किन्तु तुम्हारे युद्ध के परिणाम स्वरूप कटे हुए शरीर को देख कर वह समझी कि मेरा पति मारा गया है और ये हाथ आदि अंग उसी के हैं। वह शोकसागर में डूब गई और उस शरीर के साथ जल मरने को आतुर हो गई। हमने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं मानी और उस शरीर के साथ जल गई। हम सब अभी उसे जला कर आये हैं और उसी चिन्ता में बैठे हैं। अब हम उसे कहाँ से लावें ? मुझे आश्चर्य होता है कि वे शरीर के टुकड़े तुम्हारे नहीं थे, अथवा पहले जो आया था, वह कोई दूसरा था और अब तुम दूसरे हो, क्या बात है ?”

“राजन् ! आप क्या कह रहे हैं ? क्या आपकी मति पलट गई ? आप भी मेरी पत्नी के रूप पर मोहित हो कर बदल रहे हैं ? क्या यही आपका परनारी सहोदरपना है ? क्या आप भी मेरे साथ शत्रुता करने लगे हैं ? यदि आप सदाचारी और निर्लिप्त हैं, तो कृपा कर मेरी पत्नी मुझे अभी दीजिए और अपनी उज्ज्वल कीर्ति की रक्षा कीजिए।”

“भाई ! मैंने जो कुछ कहा, वह सत्य है । यह सारी सभा इसकी साक्षी है । अब मैं तुम्हारी स्त्री को कहां से लाऊँ”—राजा अपनी विवशता बतलाने लगा ।

“राजन् ! क्या आप झूठ भी बोलने लग गये । मुझ जीते-जागते को मरा हुआ बता कर, मेरी स्त्री को दवाना चाहते हैं ? किन्तु ऐसा नहीं हो सकेगा । आप मेरी स्त्री को नहीं छुपा सकेंगे । आपका पाप खुला हो चुका है । देखिए, आपके पीछे वह कौन बैठी है । इस प्रत्यक्ष सत्य को भी नहीं मानेंगे आप ?”

राजा ने अपने पीछे देखा, तो वही स्त्री, उसी रूप में साक्षात् बैठी दिखाई दी । राजा को लगा कि वह कलंकित हुआ है । उस पर पराई स्त्री को दवाने का दोष लगा है । चिन्ता से उसका चेहरा म्लान हो गया । यह देख कर वह मायावी पुरुष हाथ जोड़ कर बोला—

“महाराज ! मैं वही पुरुष हूँ जिसे कुछ दिन पूर्व आपने निराश कर लौटा दिया था । किन्तु मैं बड़े परिश्रम से प्राप्त अपनी विद्या का चमत्कार आपको दिखाना चाहता था । इसलिए यह सारा मायाजाल मैंने खड़ा किया और आपको अपनी कला दिखा कर कृतार्थ हुआ हूँ । अब आज्ञा दीजिए, मैं अपने स्थान जाता हूँ ।”

राजा ने उसे पारितोषिक दे कर विदा किया और स्वयं ने विचार किया कि जिस प्रकार मायावी का मायाजाल व्यर्थ है, उसी प्रकार यह संसार भी निःसार एवं नाशवान् है । इस प्रकार चिन्तन करता हुआ राजा, संसार से विरक्त हो कर प्रव्रजित हो गया ।

मन्त्री ने चक्रवर्ती महाराज सगर को उपरोक्त कथा सुना कर कहा—

“महाराज ! यह संसार उस माया-प्रयोग के समान है । इसलिए आप शोक का त्याग कर के धर्म की आराधना करने में तत्पर बनें ।”

सगर चक्रवर्ती की दीक्षा

इस प्रकार दोनों मन्त्रियों के वचन सुन कर चक्रवर्ती महाराज को भव-निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न हो गया । वे मन्त्रियों से कहने लगे;—

“तुमने मुझे अच्छा उपदेश दिया । जीव अपने कर्मानुसार ही जन्म लेता है, जीता है और मरता है । इस विषय में बालक, युवक और वृद्ध का कोई विचार या निर्धारित परिमाण नहीं होता । माता, पिता और बान्धवादि का संगम स्वप्नवत् है । संपत्ति, हाथी

के कान के समान चंचल है। यौवन और लक्ष्मी, बरसाती नाले के समान बह जाने वाले हैं। जीवन, घास के अग्रभाग पर रहे हुए जलबिन्दु तुल्य है। वृद्धावस्था, आयुष्य का अंत करने वाली राक्षसी के समान है। जब तक वृद्धावस्था नहीं आती और इन्द्रियाँ विकल नहीं होती, तब तक सामर्थ्य रहते ही संसार का त्याग कर के निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या धारण कर, आत्महित साध लेना ही श्रेयस्कर है। जो मनुष्य, इस असार संसार का त्याग कर के मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ में पराक्रमी बनता है, वह इस नश्वर शरीर रूपी तुच्छ कंकर से, शाश्वत सुख रूपी महान् रत्न का महालाभ प्राप्त करता है।”

महाराजाधिराज सगर इस प्रकार संसार की असारता बता कर आत्म-कल्याण के लिए प्रव्रजित होने का मनोभाव व्यक्त करने लगे। वे विरक्त हो गए। संसार में रहना अब उन्हें नहीं सुहाता था। उनका वैराग्य भाव वर्द्धमान हो रहा था +। उन्होंने अपने

+ ग्रंथकार बतलाते हैं कि चक्रवर्ती महाराजा के सामने अष्टापद पर्वत के समीप रहने वाले बहुत-से लोगों का एक झुंड आया और आर्त्त स्वर में चिल्लाया—“महाराज ! हमारी रक्षा कीजिए। हम दुःखी हो गए हैं।” उन्होंने आगे कहा—“आपके पुत्रों ने अष्टापद पर्वत के समीप जो खाई खोद कर गंगा के जल से भरी, वह जल हमारा सर्वनाश कर रहा है। खाई भर जाने के बाद सारा जल हमारे प्रदेश में फैल गया और आस-पास के गाँवों को डूबा कर नष्ट करने लगा। हम सभी जीवन बचाने के लिए वहाँ से भाग निकले। हमारे घर, सम्पत्ति और सभी साधन नष्ट हो रहे हैं। हमारी रक्षा करिये कृपालु ! अब हम क्या करें ? कहाँ रहें ?” ग्राम्यजनों की कर्षण कहानी सुन कर सम्राट को खेद हुआ। उन्होंने अपने पौत्र भगीरथ को बुलाया और कहा—“बेटा ! तुम जाओ और दण्ड-रत्न से गंगा के प्रवाह को आकर्षित कर के पूर्व के समुद्र में मिला दो। जब तक पानी को रास्ता नहीं बताया जाता, तब तक वह अन्धे के समान इधर-उधर भटक कर जीवों के लिए दुःखदायक बनता रहता है। जाओ, शीघ्र जाओ और इन दुखियों का दुःख दूर करो।” भगीरथ गया। उसने तेले का तप कर के ‘ज्वलप्रभः’ नामक नागकुमारों के अधिपति का आराधन किया और उसकी आज्ञा ले कर दण्ड-रत्न के प्रयोग से गंगा के लिए मार्ग करता हुआ चला। आगे-आगे भगीरथ और पीछे बहती हुई गंगा। वह कुक्षदेश के मध्य में से ले कर हस्तिनापुर के दक्षिण से, कोशलदेश के पश्चिम से, प्रयाग के उत्तर से, काशी के दक्षिण में, विंध्याचल के दक्षिण में और अंग तथा मगध देश के उत्तर की ओर हो कर गंगा को ले चला। मार्ग में आती हुई छोटी बड़ी नदियाँ भी उसमें मिलती गईं। अंत में उसे पूर्व के समुद्र में मिला दी गई। उसी समय से वहाँ ‘गंगासागर’ नामक तीर्थ हुआ। भगीरथ के द्वारा खिंची जाने के कारण गंगा का तीसरा नाम ‘भगीरथी’ हुआ।

गंगा को समुद्र की ओर लाते हुए मार्ग में सर्पों के निवास-स्थान टूटे, उन्हें त्रास हुआ। वहाँ भगीरथ ने नागदेव को बलिदान दिया। भगीरथ ने ज्वलनप्रभः के कोप से भस्म हुए सगरपुत्रों की

पौत्र भगीरथ का राज्याभिषेक किया। इतने में उद्यान पालक ने तीर्थंकर भगवान् अजित-नाथजी के शुभागमन की बधाई दी। महाराज, भगवंत को वंदन करने गये और भगवान् की धर्मदेशना सुन कर प्रव्रज्या प्रदान करने की प्रार्थना की। भगीरथ ने सगर महाराज का अभिनिष्क्रमण महोत्सव किया। सगर महाराज सर्वत्यागी निर्ग्रन्थ हो गए। आपके साथ अनेक सामन्तों और मन्त्रियों ने भी दीक्षा ली। दीक्षा लेने के बाद सम्राट ज्ञानाभ्यास एवं संयम की साधना में तत्पर हो गए। संसार में राज्य-साधना में अग्रसर हुए थे, तो दीक्षा

अस्थियाँ भी गंगा के साथ समुद्र में प्रक्षिप्त की। भगीरथ ने अपने पितृओं की अस्थियाँ जल में डाली। उसका अनुकरण लोग अब तक करते हैं।

(वैदिक सम्प्रदाय भी गंगा को 'भागीरथी' के नाम से पुकारता है। उनका कहना है कि राजा दिलीप का पुत्र भगीरथ, घोर तपस्या कर के गंगा को आकाश से उतार कर पृथ्वी पर लाये, इसी से यह 'भागीरथी' कहलाई)

भगीरथ वापिस लौट रहा था। रास्ते में उसे केवलज्ञानी भगवंत के दर्शन हुए। उसने अपने पिता, काका आदि के एक साथ भस्म हो जाने का कारण पूछा। केवली भगवान् ने कहा—'एक संघ तीर्थयात्रा करने जा रहा था। वह चोरपल्ली के पास पहुँच कर वहीं ठहर गया। ऋद्धि-सम्पन्न संघ को देख कर ग्रामवासी चोर लोभ खुश हुए। उन्होंने उसे लूटने का विचार किया। किंतु एक कुंभकार ने उन्हें समझाया कि यह तो धर्मसंघ है। इसे सजाना अच्छा नहीं है। कुम्हार के समझाने से संघ सुरक्षित रहा। कालान्तर में राजा ने कुपित हो कर चोरपल्ली को ही जला डाला। वहाँ के निवासी सभी जल मरे, केवल वह कुंभकार ही—अन्यत्र चला गया था, सो बच गया। कुंभकार आयुष्य पूर्ण होने पर विराट देश में एक धनाढ्य व्यापारी हुआ और ग्रामवासी चोर वहाँ के साधारण मनुष्य हुए। कुंभकार का जीव वहाँ से मर कर उसी देश का राजा हुआ वहाँ से मर कर ऋद्धिवंत देव हुआ और देवभव पूर्ण कर के तुम भगीरथ के रूप में जन्मे। वे ग्रामवासी भवान्तर में तुम्हारे पिता और काका हुए। उन्होंने मन से ही संघ का विनाश चाहा था, उस पाप से वे सभी एक साथ भस्मीभूत हो गए। तुमने चोरों को समझा कर संघ को बचाया, इसलिए तुम वहाँ भी बचे और यहाँ भी उस विनाश से बचे। यह सुन कर भगीरथ विरक्त हुआ, किंतु शितामह की शोक-संतप्त स्थिति देख कर—'उन्हें दुःख नहीं हो'—यह सोच कर वह दीक्षित नहीं हो कर स्वस्थान चला आया।

×

×

×

×

साठ हजार पुत्रों की उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है। एक मत तो यह है कि इसकी माता भिन्न-भिन्न थी, किंतु दूसरा मत है कि इन सभी की एक ही माता थी। 'भोजचरित्र' के अनुसार एक देव ने चक्रवर्ती को एक फल दिया। उस फल के टुकड़े सभी रानियों में बाँटे जाते, तो सभी को पुत्र होते, किंतु पटरानी ने पाटवी पुत्र की माता बनने के लोभ में पूरा फल खा लिया। उसे गर्भ रह्य और कीड़े-मकोड़े जैसे साठ हजार पुत्र उनके गर्भ से जन्मे। उन्हें घृत और रुई में रख कर पालन किया गया।

लेते ही धर्मराज्य—आत्मलक्ष्मी साधने में तत्पर हो गए और संयम तथा तप के प्रबल पराक्रम से घातिकर्मों को सर्वथा नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् बन गए ।

भगवान् का निर्वाण

भगवान् श्री अजितनाथजी के ९५ गणधर हुए । मुनिवर एक लाख, महासती मंडल तीन लाख तीस हजार, ३०५० चौदह पूर्वधारी, १४५० मनःपर्यवज्ञानी, ६४०० अवधि-ज्ञानी, २३००० केवलज्ञानी, ३२४०० वादी, २०४०० वैक्रिय लब्धिधारी, २६८००० श्रावक और ५४५००० श्राविकाएँ थीं । दीक्षा के बाद एक पूर्वांग कम लाख पूर्व व्यतीत होते, अपना निर्वाण काल उपस्थित जान कर प्रभु समेदशिखर पर्वत पर चढ़े । उन्होंने एक हजार श्रमणों के साथ पादपोषगमन अनशन किया । एक मास का अनशन पूर्ण कर के चैत्र-शुक्ला पञ्चमी के दिन मृगशिर नक्षत्र में चन्द्रमा आने पर, पर्यङ्कासन से प्रभु अपना बहत्तर लाख पूर्व आयु पूर्ण होते मोक्ष पधारे । इन्द्रों ने प्रभु का निर्वाण उत्सव किया ।

भगवान् श्री अजितनाथ स्वामी अठारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे । तिरपत लाख पूर्व और एक पूर्वांग तक राज किया । बारह वर्ष छद्मस्थ रहे और एक पूर्वांग तथा बारह वर्ष कम एक पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर पद का पालन कर मोक्ष पधारे ।

दूसरे तीर्थंकर

भगवान्

॥ अजितनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० संभवनाथजी



त्रेलोक्यप्रभवे पुण्य, संभवाय भवच्छिदे ।
श्रीसंभवजिनेन्द्राय मनोभवभिदे नमः ॥ १ ॥

जो तीन लोक के नाथ हैं, जिनका जन्म पवित्र है, जो संसार का छेदन और कर्म का भेदन करने वाले हैं, ऐसे जिनेश्वर भगवान् श्री संभवनाथ को नमस्कार करके भवचक्र का भेदन करने वाला भगवान् का जीवन-चरित्र प्रारम्भ किया जाता है ।

धातकीखंड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में क्षेमपुरी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी । वहाँ का विपुल वाहन नाम का तेजस्वी एवं पराक्रमी राजा था । वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था । वह राजा ऐसा नीतिवंत था कि अपने खुद के किसी दोष को भी दूसरे के दोष की तरह सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उसे दूर किये बिना चेन नहीं लेता था । वह अपराध का दण्ड और गुणों की पूजा उचित रूप से करता था । उसके मन में जिनभक्ति का स्थायी निवास हो गया था । उसकी वाणी में जिनेश्वर एवं उनके शासन की प्रशंसा होती रहती थी । वह झुकता था तो जिनेश्वर देव और निर्ग्रन्थ गुरु के चरणों में ही, शेष सभी उसके आगे झुकते थे । वह परम उदार था । उसके राज्य में सभी सुखी और समुद्ध थे ।

भयंकर दुष्काल में संघ-सेवा

राजा नीतिपूर्वक राज कर रहा था । कालान्तर में अशुभ कर्म के उदय से राज्य

में दुष्काल पड़ गया। वर्षा के अभाव में वर्षाकाल भी दूसरा ग्रीष्मकाल बन गया था। नैऋत्यकोण के भयंकर वायु से रहेसहे पानी का शोषण और वृक्षों का उच्छेद होने लगा। सूर्य काँसे की थाली जैसा लगता था और लोग धान्य के अभाव में तापसों की तरह वृक्ष की छाल, कन्द, मूल और फल खा कर जीवन बिताने लगे। उस समय लोगों की भूख भी भस्मक व्याधि के समान जोरदार हो गई थी। उनको पर्याप्त खुराक मिलने पर भी तृप्ति नहीं होती थी। जो लोग भीख माँगना लज्जाजनक मानते थे, वे भी दंभपूर्वक साधु का वेश बना कर भिक्षा के लिए भ्रमण करने लगे। माता-पिता भूख के मारे अपने बच्चों को भी छोड़ कर इधर-उधर भटकने लगे। यदि कभी अन्न मिल जाता, तो अपना ही पेट भरने की रुचि रखते। माताएँ थोड़े से—आधसेर धान के लिए अपने पुत्र-पुत्री बेचने लगी। धनवानों के द्वार पर बिखरे हुए धान्य के दानों को गरीब मनुष्य पक्षी की तरह एक-एक दाना बिन कर खाने लगे। यदि दिनभर में उन्हें आधी रोटी जितना भी मिल जाता, तो वह दिन अच्छा माना जाता। मनुष्यों के भटकते हुए दुर्बल कंकालों से नगर के प्रमुख बाजार और मार्ग भी श्मशान जैसे लग रहे थे। उनका कोलाहल कर्णशूल जैसा लग रहा था।

ऐसे भयंकर दुष्काल को देख कर राजा बहुत चिंतित हुआ। उसे प्रजा को दुष्काल की भयंकर ज्वाला से बचाने का कोई साधन दिखाई नहीं दिया। उसने सोचा—‘यदि मेरे पास जितना धान्य है, वह सभी बाँट दूँ, तो भी प्रजा की एक समय की भूख भी नहीं मिटा सकता। इसलिए इस सामग्री का सदुपयोग कैसे हो? उसने विचार कर के निश्चय किया कि प्रजा में भी साधर्मी, अधिक गुणवान् एवं प्रशस्त होते हैं और साधर्मी से साधु विशेष रक्षणीय होते हैं। मेरी सामग्री से संघ रक्षा हो सकती है।’ उसने अपने रसोइये को बुला कर कहा—

“तुम मेरे लिए जो भोजन बनाते हो, वह साधु-साध्वियों को बहराया जावे और अन्य आहार, संघ के सदस्यों को दिया जावे। इसमें से बचा हुआ आहार मैं काम में लूँगा।”

राजा इस प्रकार चतुर्विध संघ की वैयावृत्य करने लगा। वह स्वयं उल्लासपूर्वक सेवा करने लगा। जब तक दुष्काल रहा, तब तक इसी प्रकार सेवा करता रहा। संघ की वैयावृत्य करते हुए भावों के उल्लास में राजा ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

एक दिन राजा आकाश में छाई हुई काली घटा देख रहा था। बिजलियाँ चमक रही थी। लग रहा था कि घनघोर वर्षा होने ही वाली है, किन्तु अकस्मात् प्रचण्ड वायु चला और नम-मण्डल में छाये हुए बादल, टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गए। क्षणभर में

बादलों का नभ-मण्डल में छा जाना और क्षणभर में बिखर जाना देख कर राजा विचार में पड़ गया । उसने सोचा—

“अहो ! यह कैसी विडम्बना है ? सघन मेघ को न तो व्यापक रूप से आकाश मण्डल पर अधिकार जमाते देर लगी और न बिखर कर छिन्न-भिन्न होते देर लगी । इसी प्रकार इस संसार में सभी प्रकार की पौद्गलिक वस्तुएँ भी नष्ट होने वाली है । मनुष्य अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाता है । अनेक प्रकार की सामग्री संग्रह करता है, हँसता है, खेलता है, भोगोपभोग करता है और वैभव के मोह में रंगा जाता है, किन्तु जब प्रतिकूल दशा आती है, तो सारा वैभव लुप्त हो जाता है और दुःख में झुरता हुआ प्राणी, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

कोई धोड़े पर चढ़ कर धमण्डपूर्वक इधर-उधर फिरता है, किन्तु जब अशुभ कर्म का उदय होता है, तो वह धोड़ा उसको नीचे पटक कर ठण्डा कर देता है । कई वैभव में रचे-मचे लोगों को चोर-डाकू, घन और प्राण लूट कर कुछ क्षणों में ही सारा दृश्य बिगाड़ देते हैं । अग्नि से जल कर, पानी की बाढ़ में बह कर, दिवाल गिरने पर उसके नीचे दब कर, इस प्रकार विविध निमित्तों से नष्ट होने और मरने में देर ही कितनी लगती है । इस प्रकार नाशवान् संसार और प्रतिकूल मृत्यु की ओर जाते हुए इस मानव जीवन पर मोह करना बड़ी भारी भूल है ।

मनुष्य सोचता है—में भव्य भवन बनाऊँ । उच्चकोटि के वाहन, शयन, आसन और शृंगार प्रसाधनों का संग्रह करूँ । मनोहर गान, वादित्र, नृत्य और रमणियों को प्राप्त कर सुखोपभोग करूँ । मैं महान् सत्ताधारी बनूँ । वह इस प्रकार की उधेड़बुन में ही रहता है और अचानक काल के झपाटे में आ कर मर जाता है । इस प्रकार विडम्बना से भरे इस संसार में तो क्षणभर भी नहीं रहना चाहिए ।”

इस प्रकार सोचते हुए राजा विरक्त हो गया । अपने पुत्र विमलकीर्ति को राज्याधिकार सौंप कर आचार्य श्रीस्वर्यभवस्वामी के समीप दीक्षित हो गया । प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद मुनिराज, पूर्ण उत्साह के साथ साधना करने लगे । परिणामों की उच्चता से तीर्थंकर नामकर्म की पुष्ट किया और समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर के ‘आनत’ नामक नीवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए । स्वर्ग के सुख भोग कर, आयुष्य पूर्ण होने पर श्रावस्ति नगरी के ‘जितारि’ नाम के प्रतापी नरेश की ‘सेनादेवी’ नामकी महारानी की कुक्षि में उत्पन्न हुए । महास्वप्न और उत्सवादि, तीर्थंकर के गर्भ एवं जन्म-कल्याणक के अनुसार हुए × ।

× इसका वर्णन भ० आदिनाथ के चरित्र पृ. ३६ में हुआ है । वहाँ देखना चाहिए ।

भगवान् का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला १४ को हुआ। प्रभु का शरीर चार सौ धनुष ऊँचा था। युवावस्था में लग्न हुए। पन्द्रह लाख पूर्व तक कुमार, युवराज पद पर रहे। पिता ने प्रभु को राज्याधिकार दे कर प्रव्रज्या ले ली। प्रभु ने चार पूर्वांग और ४४ लाख पूर्व की उम्र होने पर वर्षादान दे कर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। प्रभु चौदह वर्ष तक छद्मस्थ रहे। कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन ब्रह्मे के तप युक्त प्रभु के घातिकर्म नष्ट हो गए और केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया। प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की।

धर्मदेशना

अनित्य भावना

“इस संसार में सभी वस्तुएँ अनित्य—नाशवान् हैं, फिर भी उनकी प्राथमिक मधुरता के कारण जीव उन वस्तुओं में मूर्च्छित हो रहे हैं। संसार में जीवों को अपने आप से, दूसरों की ओर से और चारों ओर से विपत्ति आती रहती है। जीव, यमराज के दाँत रूप काल के जबड़े में रहे हुए, कितने कष्ट से जी रहे हैं, फिर भी नहीं समझते।

अनित्यता, वज्र जैसे दृढ़ और कठोर देह को भी जर्जरित कर के नष्ट कर देती है, तब कदली के गर्भ के समान कोमल देह का तो कहना ही क्या है? यदि कोई व्यक्ति इस निःसार एवं नाशवान् शरीर को स्थिर करना चाहे, तो उसका प्रयत्न सड़े हुए घास से बनाये हुए नकली मनुष्य * जैसा है, जो हवा और वर्षा के वेग से नष्ट हो जाता है। काल रूपी सिंह के मुख के समान गुफा में रहने वाले प्राणियों की रक्षा कौन कर सकता है? मन्त्र-तन्त्र, औषधी, देव-दानव आदि सभी शक्तियाँ काल के सामने निष्क्रिय हैं—विवश हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों आयु से बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे जरावस्था (बुढ़ापा) घेरती रहती है और उसके लिए मौत की तय्यारी होती रहती है। अहो! प्राणियों के जन्म को धिक्कार है। जिस जन्म के साथ ही मृत्यु का महा भय लगा हुआ है, वह प्रशंसनीय नहीं होता।”

“मेरा शरीर कालरूपी विकराल यमराज के अधीन रहा हुआ है। न जाने कब वह इसे नष्ट कर दे”—इस प्रकार समझ लेने पर किसी भी प्राणी को खान-पान में आनन्द नहीं रहता, फिर पाप-कर्म में तो रुचि हो ही कैसे? जिस प्रकार पानी में परपोटा उत्पन्न

* खेती की रक्षा के हेतु पशु-पक्षी को डराने के लिए, किसान लोग ऐसा नकली मनुष्य बनाते हैं।

हो कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर भी उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाते हैं। काल का स्वभाव ही नष्ट करने का है। वह घनाढ्य या निर्धन, राजा या रंक, समझदार या मूर्ख, ज्ञानी या अज्ञानी और सज्जन अथवा दुर्जन का भेद नहीं रखते हुए सब का समान रूप से संहार करता रहता है। काल का गुणी के प्रति अनुराग और दुर्गुणी के प्रति द्वेष नहीं है। जिस प्रकार दावानल, बड़े भारी अरण्य को, हरे, सूखे, अच्छे, बुरे और सफल-निष्फल आदि का भेद रखे बिना अपनी लपट में आने वाले सभी को भस्म कर देता है, उसी प्रकार काल भी सभी प्राणियों का संहार किया करता है। किसी कुशास्त्र ने यह लिख भी दिया हो कि—‘किसी उपाय से यह शरीर स्थायी—अमर रहता है,’ तो ऐसी शंका को मन में स्थान ही नहीं देना चाहिए। जो देवेन्द्रादि सुमेरु पर्वत का बँड और पृथ्वी का छत्र बनाने में समर्थ हैं, वे भी मृत्यु से बचने में असमर्थ हैं। उनका शक्तिशाली शरीर भी यथासमय अपने-आप काल के गाल में चला जाता है। छोटे-से कीड़े से लगा कर महान् इन्द्र पर यमराज का शासन समान रूप से चल रहा है। ऐसी स्थिति में काल को भुलावा देने की बात, कोई सुज्ञ प्राणी तो सोच ही नहीं सकता। यदि किसी ने अपने पूर्वजों में से किसी को भी अमर रूप में जीवित देखा हो, तब तो काल को ठग लेने (भुलावा देने) की बात (न्याय मार्ग से विपरीत होते हुए भी) शंकास्पद होती है, किन्तु ऐसा तो दिखाई नहीं देता। अतएव सभी शरीरधारियों के लिए मृत्यु अनिवार्य है।

वृद्धावस्था, बल और रूप का हरण करती है और शिथिलता ला देती है। बल, सौन्दर्य और यौवन, ये सभी अनित्य हैं। जो कामिनियाँ, कामदेव की लीला के वश हो कर यौवनवय में जिन पुरुषों की ओर आकर्षित होती थी और उनका सम्पर्क चाहती थी, वे ही उन्हीं पुरुषों को वृद्धावस्था में देख कर घृणा करती हुई त्याग देती है। फिर उनका अस्तित्व भी उन्हें नहीं सुहाता। तात्पर्य यह कि शारीरिक शक्ति, सामर्थ्य रूप, सौन्दर्य और यौवन भी अनित्य है। वृद्धावस्था इन सब को बिगाड़ देती है।

जिस धन को अनेक आपत्तियों, क्लेशों और कष्टों को सहन कर के जोड़ा गया और बिना उपभोग किये सुरक्षित रखा गया, धनवानों का वह प्रिय धन भी अचानक क्षणभर में नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अग्नि, पानी आदि अनेक कारणों से, वर्षों के परिश्रम और दुःखों से जोड़ा गया धन भी नष्ट हो जाता है। अतएव वह भी पानी के परपोटे और समुद्र के फेन के समान अनित्य है।

पत्नी पुत्र और बान्धवादि कुटुम्बियों तथा मित्रों का कितना ही उपकार किया

जाय, कितना ही गहरा संबंध रखा जाय और उस सहयोग को कितना ही दृढ़ बनाया जाय, किन्तु वह अवश्य ही टूटने वाला है। सभी प्रकार के कौटुम्बिक संयोगों का वियोग अवश्य होता है।

जो भव्यात्मा सदा अनित्यता का ध्यान करते रहते हैं, वे अपने परम प्रिय पुत्र के वियोग से भी शोक नहीं करते, और जो मोहमूढ़ प्राणी, नित्यता का आग्रह करते हैं, वे अपने घर की एक भीत के गिर जाने से भी रुदन करने लगते हैं। शरीर, यौवन, धन एवं कुटुम्ब आदि ही अनित्य है—ऐसी बात नहीं है, यह समस्त सचराचर संसार ही अनित्य है।

इस प्रकार सभी को अनित्य जान कर, आत्मार्थीजनों को चाहिए कि परिग्रह का त्याग कर के नित्यानन्दमय परम पद (मोक्ष) प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

“यत्प्रातस्तन्न मध्यान्हे, यन्मध्यान्हे नतन्निशि ।

निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हा, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥

शरीरं देहिनां सर्वं, पुरुषार्थानिबन्धनम् ।

प्रचंडपवनोद्धूत, घनाघन विनश्वरम् ॥ २ ॥

कल्लोलचपला लक्ष्मीः, संगमाः स्वप्नसंनिभा ।

वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्त, तूलतुल्यं च यौवनम् ॥ ३ ॥

इत्यनित्यं जगद्वृत्तं, स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् ।

तृष्णाकृष्णाहि मन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ ४ ॥ +

—जिस वस्तु की जो स्थिति एवं सुन्दरता प्रातःकाल में होती है, वह मध्यान्ह में नहीं रहती और जो मध्यान्ह में होती है, वह रात्रि में नहीं दिखाई देती। इस प्रकार इस संसार में सभी पदार्थों की अनित्यता दिखाई देती है। प्राणियों के लिए जो शरीर, सभी प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि का कारण है, वह भी इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिस प्रकार प्रचंड वायु से बादल बिखर कर विलय हो जाते हैं। लक्ष्मी, समुद्र की लहरों की भाँति चंचल है। स्वजनों का संयोग भी स्वप्न के समान है और यौवन वायु के बहाव में उड़ते हुए अर्कतुल (आक की रई) के समान अस्थिर है। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक जगत् की अनित्यता के चिन्तन रूपी मन्त्र से, तृष्णा रूपी काले साँप को वश में कर के निर्ममत्व होना चाहिए।

प्रभु के दो लाख साधु, तीन लाख छत्तीस हजार साध्वियों, २१५० चौदह पूर्वधर,

+ योगशास्त्र से उद्धृत।

६६०० अवधिज्ञानी, १२१५० मनःपर्यवज्ञानी, १५००० केवलज्ञानी, १९८०० वैक्रिय-लब्धि-धारी, १२००० वादी, २९३००० श्रावक तथा ६३६००० श्राविकाएँ हुई ।

भगवान् ने केवलज्ञान होने के बाद चार पूर्वांग और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद पालन कर के एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर, चैत्र-शुक्ला ५ के दिन मोक्ष प्राप्त किया । भगवान् का कुल आयुष्य साठ लाख पूर्व का रहा ।

तीसरे तीर्थंकर

भगवान्

॥ संभवनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥



भ० अभिनन्दनजी



जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में 'मंगलावती' नाम का एक विजय है, उसमें 'रत्नसंचया' नाम की नगरी थी। 'महाबल' नाम का महा पराक्रमी राजा वहाँ राज करता था। वह बल और पराक्रम से भरपूर था और दृष्टि, विवेक तथा आत्म-जाग्रति से भी भरपूर था। दान, शील, तप और भाव में वह सदा तत्पर रहता था। कालान्तर में राजा, संसार का त्याग कर, महामुनि विमलचन्द्रजी के सर्वत्यागी निग्रंथ शिष्य बन गये और निग्रंथ धर्म की साधना करने हुए आत्मा की उन्नति करने लगे। उनकी मनोवृत्ति संसार से एकदम विपरीत थी। यदि कोई उनका आदर-सत्कार करता, तो वे खेदित हो कर विचार करते कि "मुझ जैसे साधारण जीव में सन्मान के योग्य ऐसा है ही क्या? मैं अयोग्य हूँ, फिर भी ये मेरा आदर करते हैं—यह मेरे लिए लज्जा की बात है।" यदि कोई उनका तिरस्कार करता, कष्ट पहुँचाता, तो वे प्रसन्न होते और सोचते—“ये मेरे हितैषी हैं। साधना में सहायक बन रहे हैं। ऐसे अवसर ही साधना में विशेष सहयोगी होते हैं।” उन्होंने उग्र तप आदि से तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित किया और दीर्घ काल तक संयम पाल कर 'विजय' नाम के अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

इस भरत-क्षेत्र में 'अयोध्या' नाम की नगरी थी। उसमें 'संवर' नाम का राजा राज करता था। उसकी रानी का नाम 'सिद्धार्थ' था। विजयविमान की उत्कृष्ट तेतीस साणरोपम प्रमाण आबु पूर्ण कर, महाबल मुनि का जीव रानी की कुक्षि से उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह स्वप्न देखे। माघ-शुक्ला द्वितीया को जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि हुए।

प्रभु के गर्भ में आने पर राज्य और नगर में सर्वत्र अभिनन्द (आनन्द) व्याप्त हो गया, इससे आपका नाम 'अभिनन्दन' दिया गया। साढ़े बारह लाख पूर्व तक आप राजकुमार रहे। इसके बाद पिता ने आपका राज्याभिषेक कर के सर्वविरति स्वीकार कर ली। इस प्रकार आपने छत्तीस लाख पूर्व और आठ पूर्वांग व्यतीत किया। इसके बाद वर्षादान दे कर माघ शु. १२ के दिन अभिचिनक्षत्र में, बेल के तप से संसार का त्याग कर दिया। प्रव्रज्या लेते ही आप को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। आपके साथ अन्य एक हजार राजा भी दीक्षित हुए। प्रभु अठारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और पौष-शुक्ला १४ को अभिचिनक्षत्र में ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के तीर्थ की स्थापना की। आपने प्रथम धर्म-देशना इस प्रकार दी।

धर्मदेशना

अशरण भावना

“यह संसार अनेक प्रकार के दुःख, शोक, संकट एवं विपत्ति की खान है। इस खान में पड़ते हुए मनुष्य को बचाने में कोई भी शक्ति समर्थ नहीं है। माता, पिता, बन्धु, पुत्र, पति, पत्नी और मित्रादि स्वजन-परिजन कोई भी रोग के आक्रमण से होते हुए कष्ट से भी नहीं बचा सकते, तब मौत से तो कैसे बचावेंगे? इन्द्र और अहमेन्द्रादि जैसे महान् बलशाली भी मृत्यु के झपाटे में पड़ जाते हैं। उन्हें मृत्यु के मुख से बचाने वाला—काल का भी काल ऐसा कौन-सा आश्रय है? अर्थात् कोई नहीं है।

मृत्यु के समय माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र, पत्नी आदि सभी देखते ही रह जाते हैं। उसे बचाने की शक्ति किसी में नहीं होती। उस निराधार प्राणी को कर्म के अधीन हो कर अकेला जाना ही पड़ता है। इस प्रकार मृत्यु पाते हुए जीव के मोहमूढ़ सम्बन्धीजन विलाप करते हैं। उन्हें स्वजन के मर जाने का दुःख तो होता है, किन्तु वे यह विचार नहीं करते कि—‘मैं स्वयं भी अशरणभूत हूँ। मेरा रक्षक भी कोई नहीं है। मुझे भी इसी प्रकार मरना पड़ेगा।’ जिस प्रकार महा भयंकर बन में चारों ओर उग्र दावानल जल रहा हो, उसकी लपटें बहुत ऊँची उठ रही हों, जिसमें गजराज जैसे बड़े प्राणी भी नहीं बच सकते, तब बिचारे मृग के छोटे बच्चे की तो बात ही क्या है? उसी प्रकार मौत की महाज्वाला में जलते हुए संसार में, प्राणी का रक्षक कोई नहीं है।

मनुष्य के भयंकर रोगों को दूर करने की शक्ति धराने वाले, अष्टांग आयुर्वेद, संजीवनी औषधियों और महामृत्युंजयादि मन्त्र भी मृत्यु से नहीं छुड़ा सकते। चारों ओर शस्त्रास्त्रों की बाड़ लगा दी गई हो और योद्धाओं की सेना, तत्परता के साथ अपने महाराजाधिराज की रक्षा के लिए जी-जान से जुट गई हो, ऐसे सुदृढ़ प्रबन्ध की भी उपेक्षा कर के विकराल काल, आत्मा को पकड़ कर ले जाता है और सारी व्यवस्था व्यर्थ हो जाती है।

जिस प्रकार पशु-वर्ग, मृत्यु से बचने का उपाय नहीं जानता, उसी प्रकार महान् बुद्धि का धनी मनुष्य-वर्ग भी नहीं जानता। यह कैसी मूर्खता है? जो एक खड्ग के साधन मात्र से पृथ्वी को निष्कण्टक करने की शक्ति रखते हैं, वे भी यमराज की भृकुटी से भयभीत हो कर दसों अंगुलियों मुँह में रखते हैं। यह कैसी विचित्र बात है?

पाप का सर्वथा त्याग कर के जिन्होंने निष्पाप जीवन अपनाया, ऐसे मुनियों के, तलवार की धार पर चलने जैसे महान् व्रत भी मृत्यु को नहीं टाल सके, तो शरण-रहित, पालक एवं नायक से रहित और निरुपाय ऐसा यह संसार, यमराज (मृत्यु) रूपी राक्षस के द्वारा भक्षण होते हुए कैसे बच सकता है? एक धर्म रूपी उपाय, जन्म को तो नष्ट कर सकता है, परन्तु मृत्यु को नहीं रोक सकता। जन्म की जड़ को नष्ट करने के बाद भी प्राप्त जन्म से तो मरण होता ही है। किन्तु वह मरण, अन्तिम होता है। इसके साथ ही आत्मा स्वयं मृत्युंजय बन जाता है। मौत की जड़, जन्म के साथ ही लगी हुई है। यदि जन्म होता रुक जाय, तो मृत्यु अपने-आप रुक जाती है। आयुष्य के बन्ध के साथ ही अन्त निश्चित हो जाता है, इसलिए धर्म रूपी शुभ उपाय अवश्य करना चाहिए। जिससे मृत्यु हो, तो भी दुर्गति नहीं हो कर शुभ-गति हो।

मृत्युंजय बनने के लिए प्रत्येक आत्मार्थी को निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या रूपी प्रबल उपाय कर के, अक्षय सुख के भण्डार ऐसे मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए। इस महा उपाय से वह स्वयं अपना रक्षक बन जाता है और दूसरों के लिए भी अपना आदर्श रख कर शरणभूत बनता है।

“इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्याति गोचरं। अहो तदंतकातंके कः शरीरिणां ॥१॥
पितुर्मतुः स्वसुभ्रातुस्तनयानां च पश्यतां। अत्राणो नीयते जंतुः कर्मभिर्यम सन्नति ॥२॥
शोचंते स्वजनानंतं मीयमानान् स्वकर्मभिः। नेष्यमाणं तु शोचंति नात्मानं मूढबुद्धयः ॥३॥
संसारे दुःखदावाग्निज्वलज्वालाकरालिते। बने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥४॥”

--अहो ! इन्द्र और उपेन्द्र * वासुदेवादि भी मृत्यु के अधीन हो जाते हैं, तो मृत्यु रूपी महा भय के उत्पन्न होने पर इन पामर प्राणियों के लिए कौन शरणभूत होगा ? माता, पिता, बहिन, भ्राता एवं पुत्रादि के देखते ही प्राणी को उसके कर्म, यमराज के घर की ओर (चारों गति में) ले जाते हैं । अपने कर्मों से ही मृत्यु का ग्रास बनते हुए, अपने प्रिय सम्बन्धी को देख कर मोहमूढ़ प्राणी रोते हैं, शोक करते हैं । किन्तु यह नहीं सोचते कि थोड़े समय के बाद मेरी भी यही दशा होगी । मुझे भी मौत के मुँह में जाना पड़ेगा ।

दुःख रूपी दावानल की उठती हुई प्रबल ज्वालाओं से भयंकर बने हुए इस संसार रूपी महा वन में, मृग के बच्चों के समान प्राणियों के लिए धर्म के अतिरिक्त कोई भी शरणभूत नहीं है ।”

भ० अभिनन्दन स्वामी के ‘वज्रनाभ’ आदि ११६ गणधर हुए । तीन लाख साधु, छः लाख तीस हजार साध्वियों, ९८०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वी, ११६५० मनःपर्यवज्ञानी, ११००० वादलब्धि वाले, २८८००० श्रावक और ५२७००० श्राविकाएँ, प्रभु के धर्म-तीर्थ में हुए । केवलज्ञान और तीर्थ स्थापना के बाद आठ पूर्वांग और अठारह वर्ष कम लाख पूर्व व्यतीत हुए, तब एक मास के अन्तर्गत् से समेदशिखर पर्वत पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को पुष्प नक्षत्र में सिद्ध हुए और शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लिया । देवों और इन्द्रों ने प्रभु का निर्वाण उत्सव मनाया ।

चौथे तीर्थंकर

भगवान्

॥ अभिनन्दनजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

* जैन साहित्य में ‘उपेन्द्र’ पद का उल्लेख अन्यत्र देखने में नहीं आया । कोषकारों ने ‘उपेन्द्र’ शब्द का अर्थ ‘वामन अवतारी विष्णु’ किया है ।

भ० सुमतिनाथजी



जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय में शंखपुर नाम का नगर था । विजयसेन राजा और सुदर्शना रानी थी । एक बार किसी उत्सव के प्रसंग पर सभी नगरजन उद्यान में क्रीड़ा करने गये । रानी भी अपनी ऋद्धि सहित हथिनी पर सवार हो कर और छत्र-चँवरयुक्त उद्यान में पहुँची । वहाँ उसने सुन्दर और अलंकृत आठ स्त्रियों के साथ आई हुई एक ऐसी स्त्री देखी, जो अप्सराओं के बीच इन्द्रानी जैसी सुशोभित हो रही थी । रानी उसे देख कर विस्मित हुई । उसे विचार हुआ—“यह स्त्री कौन है ? इसके साथ ये आठ सुन्दरियाँ कौन है ?” यह जानने के लिए उसने अपने नाजर को पता लगाने की आज्ञा दी । उसने लौट कर कहा—“वह भद्र महिला यहाँ के प्रतिष्ठित सेठ नन्दीषेण की सुलक्षणा नाम की पत्नी है और आठ स्त्रियाँ उसके दो पुत्रों की (प्रत्येक की चार-चार) पत्नियाँ हैं । ये अपनी सास की सेवा दासी के समान करती हैं ।” यह सुन कर रानी को विचार हुआ—“यह स्त्री धन्य है, सौभाग्यवती है कि जिसे पुत्र और उसकी देवांगना जैसी बहुएँ प्राप्त हुई हैं और वे इसकी सेवा में रत हैं । मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि मुझे न तो पुत्र है, न बहू । यद्यपि मैं अपने पति के हृदय के समान हूँ, फिर भी मैं पुत्र और पुत्रवधू के सुख से वंचित हूँ”—इस प्रकार चिन्तामग्न रानी भवन में लौट आई । उसकी चिन्ता का कारण जान कर राजा ने उसे सान्त्वना दी और कुलदेवी की आराधना की । कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—“एक महान् ऋद्धिशाली देव, रानी की कुक्षी में पुत्रपने आने वाला है ।” राजा-रानी प्रसन्न हुए । रानी सिंह स्वप्न के साथ गर्भवती हुई । उसे सभी प्राणियों को अभयदान देने का दोहद हुआ । दोहद पूर्ण हुआ और यथावसर एक सुन्दर पुत्र का जन्म

हुआ। 'पुरुषसिंह' नाम दिया। यौवनवय में आठ राजकन्याओं के साथ लग्न हुए। एक बार उद्यान में क्रीड़ा करते हुए कुमार ने श्री विनयनन्दन मुनिराज को देखा और उनका उपदेश सुन कर विरक्त हुआ। माता-पिता की आज्ञा ले कर दीक्षित हुआ और उत्कृष्ट भावों से आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध, दृढ़ीभूत कर लिया। फिर काल कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में विनिता नगरी में 'मेघरथ' राजा थे। उनकी रानी का नाम 'सुमंगलादेवी' था। पुरुषसिंह का जीव, वैजयंत विमान की ३३ सागरोपम की आयु पूर्ण कर के सुमंगलादेवी की कुक्षी में, थावग-शुक्ला द्वितीया को गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ।

महारानी का न्याय

उस समय एक धनाढ्य व्यापारी अपनी दो पत्नियों को साथ ले कर व्यापार करने के लिए विदेश गया था। वहाँ एक स्त्री के पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का पालन दोनों सपत्नियों ने किया। धनार्जन कर के वापिस घर आते समय रास्ते में ही वह व्यापारी मर गया। उनके धन का मालिक उसका पुत्र था। नपूनी स्त्री ने सोचा—“यह पुत्र वाली है, इसलिए मालकिन यह हो जायगी और मेरी दुर्दशा हो जायगी।” उसने कहा—“पुत्र मेरा है, तेरा नहीं है।” दोनों झगड़ती हुई विनिता नगरी में आई और नरेश के सामने अपना झगड़ा उपस्थित किया। राजा विचार में पड़ गया।

दोनों स्त्रियों वर्ण एवं आकृति में समान थीं और पुत्र छोटा था। वह बोल भी नहीं सकता था। यदि आकृति में विषमता होती, तो जिसकी आकृति से बच्चे की आकृति मिलती, या बच्चा स्वयं बोल कर अपनी जननी का परिचय देता, तो निर्णय का कुछ आधार मिलता। बच्चे को दोनों ने पाला था, इसलिए वह दोनों के पास जाता था। अब निर्णय हो भी तो किस आधार पर?

नरेश और सभासद सभी उलझन में पड़ गए। समय हो जाने पर भी सभा विसर्जित नहीं हुई। भोजनादि का समय भी निकल गया। अंत में मन्त्रियों की सलाह से वाद को भविष्य में विचार करने के लिए छोड़ कर सभा विसर्जित की गई। राजा अन्तःपुर में गया। रानी ने बिलम्ब का कारण पूछा। राजाने विवाद की उलझन बताई। रानी भी उस विवाद को सुन कर प्रभावित हुई। गर्भ के प्रभाव से उसकी मति प्रेरित हुई। रानी ने कहा—

“महाराज ! स्त्रियों के विवाद का निर्णय, स्त्री ही सरलता से कर सकती है । इसलिए यह विवाद आप मुझे सौंप दीजिए ।”

दूसरी सभा में रानी भी उपस्थित हुई । वादी-प्रतिवादी महिलाएँ बुलाई गई । दोनों पक्षों को सुन कर राजमहिषि ने कहा—

“तुम्हारा झगड़ा साधारण नहीं है । सामान्य ज्ञान वाले से इसका निर्णय होना सम्भव नहीं है । मेरे गर्भ में तीर्थंकर होने वाली भव्यात्मा है । तुम कुछ महीने ठहरो । उनका जन्म हो जाने पर वे अवधिज्ञानी तीर्थंकर तुम्हारा निर्णय करेंगे ।”

रानी की आज्ञा विमाता ने तो स्वीकार कर ली, किन्तु खरी माता ने नहीं मानी और बोली,—

“महादेवी ! इतना विलम्ब मुझ से नहीं सहा जाता । इतने समय तक मैं अपने प्रिय पुत्र को इसके पास छोड़ भी नहीं सकती । मुझे इसके अनिष्ट की शंका है । आप तीर्थंकर की माना हैं, तो आज ही इसका निर्णय करने की कृपा करें ।”

महारानी ने यह बात सुन कर निर्णय कर दिया—“असल में माता यही है । यह अपने पुत्र का हित चाहती है । इसका मातृहृदय पुत्र को पृथक् होने देना नहीं चाहता । दूसरी स्त्री तो धन और पुत्र की लोभिनी है । इसके हृदय में माता के समान वास्तविक प्रेम नहीं है । इसीलिए यह इतने लम्बे काल तक अनिर्णित अवस्था में रहना स्वीकार करती है ।”

इस प्रकार निर्णय कर के रानी ने पुत्र वाली को पुत्र दिलवाया । सभा चकित रह गई ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को मघा-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । गर्भकाल में माता द्वारा सुमति (बाद निर्णय में बुद्धिमत्ता) का परिचय मिलने पर प्रभु का “सुमति” नाम दिया गया । यौवन-वय में सुन्दर राज कन्याओं के साथ लग्न हुआ । दस लाख पूर्व बीतने पर पिता ने अपना राज्यभार आपको दिया । उनतीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग तक राज्य का पालन किया और वैशाख-शुक्ला नवमी को मघा-नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संसार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की । बीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद चैत्र-शुक्ला एकादशी के दिन मघा-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

धर्मदेसना

एकत्व भावना

जिन भव्य प्राणियों में हिताहित और कार्याकार्य को समझने की योग्यता है, उन्हें कर्तव्य-पालन में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि से सम्बन्धित तथा स्वयं के शरीर सम्बन्धी जो भी क्रिया की जाती है, वह सब 'परक्रिया' है--दूसरों का कार्य है। स्वकार्य बिलकुल नहीं है। क्योंकि अपनी आत्मा के अतिरिक्त सभी 'पर' हैं--दूसरे हैं। इन दूसरों का संयोग, उदय-भाव जन्य है, जिसका वियोग होता ही है जो वस्तु सदैव साथ रहे, वही स्व (अपनी) हो सकती है और जिसका कालान्तर में भी वियोग होता है, वह अवश्य पर है।

यह जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अपने संचित किये हुए कर्म का अनुभव भी अकेला ही करता है। एक द्वारा चोरी कर के लाया हुआ धन, सभी कुटुम्बी मिल कर खा जाते हैं, किन्तु चोरी का दण्ड तो चोरी करने वाला अकेला ही भुगतता है। उसे नरक गति में अपनी करणी का दुःखदायक फल भुगतना ही पड़ता है। उस समय खाने वाला कोई भी दुःख-भोग में साथी नहीं रहता। दुःख रूपी दावानल से भयंकर बने हुए और अत्यन्त विस्तार वाले, भव रूपी अरण्य में कर्म के बशीभूत हुआ प्राणी अकेला ही भटकता रहता है। उस समय उसके कुटुम्बी और प्रियजनों में से कोई एक भी सहायक नहीं होता।

यदि कोई अपने शरीर को ही सुख-दुःख का साथी मानता है, तो यह भी ठीक नहीं है। शरीर तो सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला है। इसीके निमित्त से आत्मा दुःख भोगती है। रोग, जरा और मृत्यु शरीर में ही होते हैं। यदि शरीर नहीं हो, तो ये दुःख भी नहीं होते।

यदि शरीर को ही सदा का साथी माना जाय, तो यह भी उचित नहीं है। औदारिक और वैक्रिय शरीर तो जन्म के साथ बनता है और मृत्यु के साथ छूट जाता है। यह पूर्वभव से साथ नहीं आता, न अगले भव में साथ जाता है। पूर्वभव और पुनर्भव के मध्य के भव में आई हुई काया को सदा की साथी कैसे मानी जा सकती है ?

यदि कहा जाय कि आत्मा के लिए धर्म अथवा अधर्म साथी हैं, तो यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्म की सहायता मोक्ष में कुछ भी नहीं है। इसलिए संसार में शुभ और अशुभ कर्म करता हुआ जीव, अकेला ही भटकता रहता है और अपने शुभाशुभ

कर्म के योग्य शुभाशुभ फल का अनुभव करता है। इसी प्रकार मोक्ष रूपी महाफल भी जीव अकेला ही प्राप्त करता है। पर के सम्बन्धों का आत्यन्तिक वियोग ही मोक्ष है। मोक्ष में मुक्त आत्मा अकेली ही अपने निज-स्वभाव में रहती है।

जिस प्रकार हाथ, पाँव, मुख और मस्तक आदि रस्सी से बाँध कर समुद्र में डाला हुआ मनुष्य, पार पहुँचने के योग्य नहीं रहता, किंतु खुले हाथ-पाँव वाला व्यक्ति तैर कर किनारे लग जाता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, धन और देवादि में आसक्ति रूपी बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा, संसार-समुद्र का पार नहीं पा सकती और उसी में दुःखपूर्वक डूबती-उतराती रहती है। इसके विपरीत परकी आसक्ति से रहित, अकेली स्वतन्त्र--बन्ध रहित बनी हुई आत्मा, भव-समुद्र से पार हो जाती है। इसलिए सभी सांसारिक सम्बन्धों को त्याग कर के एकाकी भाव युक्त हो कर शाश्वत सुखमय मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

एक उत्पद्यते जंतुरेक एव विपद्यते ।

कर्माण्यनुभवत्येकः प्रचितानि भवांतरे ॥ १ ॥

अन्यैस्तेनाजितं वित्तं, भूयः संभूय भुज्यते ।

सत्वेको नरकक्रीडे, विलश्यते निजकर्मभिः ॥ २ ॥

अर्थात्--यह जीव भवान्तर में अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अपने किये हुए कर्मों का फल--इस भव में या परभव में--अकेला ही अनुभव करता है।

एक व्यक्ति के उपार्जन किये हुए द्रव्य का दूसरे अनेक मिल कर उपभोग करते हैं, किन्तु पाप-कर्म कर के धन का उपार्जन करने वाला व्यक्ति, अपने कर्मों से नरक में जा कर अकेला ही दुःखी होना है। इसलिए एकत्व भावना का विचार कर के आत्महित साधना चाहिए।

प्रभु के 'चमर' आदि एक सौ गणधर हुए, ३२०००० साधु, ५३०००० साध्विये, २४०० चौदहपूर्वी, ११००० अवधिज्ञानी, १०४५० मनःपर्यवज्ञानी, १३००० केवलज्ञानी, १८४०० वैक्रिय लब्धिधारी, १०६५० वाद लब्धिधारी, २८१००० श्रावक और ५१६००० श्राविकाएँ हुई।

केवलज्ञान होने के बाद भगवान् बीस वर्ष और बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक भाव तीर्थकरपने, इस पृथ्वी-तल पर विचरते रहे और एक मास के अनशन से समेदशिखर

पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ, कुल चालीस लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर चैत्र-शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में मोक्ष पधारे ।

पाँचवें तीर्थकर

भगवान्

॥ सुमतिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥



भ० पद्मप्रभःजी



धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्स विजय में 'सुसीमा' नामकी एक नगरी थी। 'अपराजित' नाम का वहाँ का राजा था। वह धर्मात्मा, न्यायी, प्रजापालक और पराक्रमी था। एक बार अरिहंत भ.वान् की वाणी रूपी अमृत का पान किया हुआ नरेन्द्र अनित्यादि भावना में विचरण करता हुआ मुनिमार्ग ग्रहण करने को तत्पर हो गया और अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप कर एक महान् त्यागी संयमी आचार्य भगवंत के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। निर्दोष संयम एवं उग्र तप से आत्मा को उन्नत करते हुए, शुभ अध्यवसायों की तीव्रता में तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के ऊपर के सर्वोच्च ग्रंथेयक में महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'वत्स' नामका देश है। उसमें 'कौशांबी' नामकी नगरी थी। 'धर' नाम का राजा वहाँ का शासक था। 'सुसीमा' नामकी उसकी रानी थी। अपराजित मुनिराज का जीव, सर्वोपरि ग्रंथेयक का ३१ सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के चौदह महास्वप्न पूर्वक माघ-कृष्णा छठ की रात्रि में चित्रा नक्षत्र में महारानी 'सुसीमा' की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। कार्तिक कृष्णा द्वादशी को चित्रा नक्षत्र में जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि तीर्थंकर-परंपरा के अनुसार हुआ। गर्भ में माता को पद्म की शय्या का दोहद होने से बालक का नाम 'पद्मप्रभः' दिया गया। विवाह हुआ। साढ़े सात लाख पूर्व तक युवराज रह कर राज्याभिषेक हुआ। साढ़े इक्कीस लाख पूर्व और सोलह पूर्वांग तक राज्य संचालन किया और बले के तप के साथ कार्तिक कृष्णा १३ को चित्रा नक्षत्र में प्रव्रज्या स्वीकार की। छः महीने तक छद्मस्थ अवस्था में रह कर चैत्र-शुक्ला पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र में घातीकर्मों

का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई; —

धर्मदेशना

संसार भावना

जिस प्रकार समुद्र में अपार पानी भरा हुआ है, उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र भी अपरम्पार है । महासागर जैसे अपार संसार में चौरासी लाख जीव योनी में यह जीव भटकता ही रहता है और नाटक के पात्र के समान विविध प्रकार के स्वांग धारण करता है । कभी यह श्रोत्रीय ब्राह्मण जैसे कुल में जन्म लेता है, तो कभी चाण्डाल बन जाता है । कभी स्वामी तो कभी सेवक और कभी देव तो कभी क्षुद्र कीट भी हो जाता है । जिस प्रकार भाड़े के मकान में रहने वाला मनुष्य, विविध प्रकार के मकानों में निवास करता रहता है । कभी भव्य भवन में, तो कभी टूटे झोंपड़े में । इसी प्रकार यह जीव भी शुभाशुभ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न हुआ और मरा । ऐसी कौन-सी योनी है कि जिसमें यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ + ? लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं रहा कि जहाँ इस जीव ने कर्म से प्रेरित हो कर, अनेक रूप धारण कर के स्पर्श नहीं किया हो और पृथ्वी का एक बालाग्र जितना अंश भी शेष नहीं रहा कि जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो । यह जीव समस्त लोकाकाश को विविध रूपों में स्पर्श कर चुका है ।

नारक की भयंकर वेदना

मोटे तोर पर संसार में १ नारक २ तीर्थंकर ३ मनुष्य और ४ देव, इस प्रकार चार प्रकार के प्राणी हैं । ये प्रायः कर्म के सम्बन्ध से बाधित हो कर अनेक प्रकार के दुःख भोगते रहते हैं । प्रथम तीन नरक में मात्र उष्ण वेदना है और अंत के तीन नरकों में शीत वेदना है । चौथी नरक में उष्ण और शीत—दोनों प्रकार की क्षेत्र वेदना है । प्रत्येक नरक में

+ अनुत्तर विमान के देव, अपवाद रूप होने से आचार्यश्री ने बृहद् पक्ष की अपेक्षा से कथन किया है ।

क्षेत्र के अनुसार वेदना होती रहती है। उन नारक क्षेत्रों की गर्मी और सर्दी इतनी अधिक है कि जहाँ लोहे का पर्वत भी यदि ले जाया जाय, तो उस क्षेत्र का स्पर्श करने के पूर्व ही वह गल जाता है, या बिखर कर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस प्रकार नरक की क्षेत्र-वेदना भी महान् भयंकर और असह्य है। इसके अतिरिक्त नारक जीवों के द्वारा एक दूसरे पर परस्पर किये जाने वाले प्रहारादि जन्य दुःख तथा परमाधामी+ देवों द्वारा दिये जाने वाले दुःख भी महान् भयंकर और सहन नहीं हो सकने योग्य होते हैं। इस प्रकार नारक जीवों को क्षेत्र सम्बन्धी, पारस्परिक मारकाट सम्बन्धी और परमाधामी देवों द्वारा दी हुई, यों तीन प्रकार की महादुःखकारी वेदना होती रहती है।

नारक जीव, छोटे-सकड़े मुँह वाली कुंभी में उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सीसे आदि धातुओं की मोटी सलाइयों को यन्त्र में से खींच कर पतले तार बनाये जाते हैं, उसी प्रकार सकड़े मुँह वाली कुंभी में से परमाधामी देव, नारक जीवों को खींच कर बाहर निकालते हैं। कई परमाधामी देव नारकों को इस प्रकार पछाड़ते हैं, जिस प्रकार घोड़ी वस्त्रों को शिला पर पछाड़ता है। कोई परमाधामी नेरिये को इस प्रकार चीरता है, जिस प्रकार बड़ई कर-वत से लकड़ी चीरता हो। कोई परमाधामी, नारक को घाने में डाल कर पीलते हैं।

नारक जीव नित्य तृषातुर रहते हैं। उन वेचारों को परमाधामी देव, उस वैतरिणी नदी पर ले जाते हैं, जिसका पानी तप्त लोह रस और सीसे जैसा है। उसमें उन्हें धकेल देते हैं। उनको वह तप्त रस बरबस पिलाया जाता है। पाप के भीषण उदय से पीड़ित उन नरकात्माओं की पीड़ा कितनी दारुण होती है? असह्य गर्मी से पीड़ित वे नारक किसी वृक्ष की शीतल छाया में बैठने की इच्छा करते हैं, तब परमाधामी उन्हें असिपत्र वन में ले जाते हैं। उन वृक्षों के तलवार की धार के समान पत्र जब उन पर पड़ते हैं, तब उनके अंग कट-कट कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। नारकों को दुःखी करने में ही सुख मानने वाले क्रूर परिणामी, महामिथ्यादृष्टि वे परमाधामी देव, उन नारकों को वज्रशूल जैसे अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों वाले शालमलि वृक्ष अथवा अत्यन्त तप्त वज्रांगना से आलिंगन करवाते हैं और उन्हें पर-स्त्री आलिंगन की अपनी पापी मनोवृत्ति का स्मरण करवाते हैं। कहीं-कहीं नेरियिक की मांस-भक्षण की लोलुपता का स्मरण कराते हुए उन्हें उन्हीं के अंगों का मांस* काट-काट

+ परमाधामी (परम अधर्मी) पापकर्म में ही रत रहने वाले। नारक जीवों को विविध प्रकार के दुःख दे कर अपना मनोरंजन करने वाले क्रूर एवं अधम देव।

* यह मांस और वृक्षादि औदारिक शरीर के नहीं, वैक्रिय के तदनुरूप परिणत पुद्गल हैं।

कर खिजाते हैं और पूर्व के मद्यपान का स्मरण करा कर, तप्त लोहरस का बरबस पान कराया जाता है। प्रबल पापोदय से दीन-हीन और अत्यन्त दुःखी हुए उन दुर्भागियों के उस वैक्रिय-शरीर में भी कोढ़, खुजली, महाशूल और कुंभीपाक आदि की भयंकर वेदना का निरन्तर अनुभव होता रहता है। उन्हें मांस की तरह आग में जीवित सेंका जाता है। उनकी आँख आदि अंगों को काग, बक आदि पक्षियों के द्वारा खिचवाया जाता है। इतना भयंकर दुःख भोगते हुए और अंगोपांग के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी वे बिना स्थिति क्षय हुए मरते नहीं। उनके छिन्न-भिन्न अंग, पारे की तरह पुनः मिल कर जुड़ जाते हैं और दुःख-भोग चालू ही रहता है। इस प्रकार के दुःख वे नारक जीव अपनी आयु के अनुसार—कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण काल तक भोगते ही रहते हैं।

तिर्यच गति के दुःख

तिर्यच गति में इतनी विविधता और विचित्रता है कि जितनी अन्य गतियों में नहीं है। इसमें एकेन्द्रिय से लगा कर पंचेन्द्रिय तक के जीव हैं। जो भारीकर्मा जीव हैं, वे एकेन्द्रिय में और वह भी पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो कर हल आदि शस्त्रों से खोदे व फाड़े जाते हैं। हाथी, घोड़ा आदि से रोंदे जाते हैं। जल-प्रवाह से प्लावित होते हैं, दावानल से जलते हैं, कटु-तीक्ष्णादि रस और मूत्रादि से व्यथित होते हैं। कोई नमक के क्षार को प्राप्त होते हैं, तो कोई पानी में उबाले जाते हैं। कुंभकारादि पृथ्वीकाय के देह को खोद कर, कूट-पीस कर, घट एवं ईटादि बना कर पचाते हैं। घर की भीतों में चुने जाते हैं। शिलाओं को टाँकी, छेनी आदि औजारों से छिला जाता है और पर्वत-सरिता के प्रवाह से पृथ्वीकाय का भेदन हो कर विदारण होता है। इस प्रकार अनेक प्रकारों से पृथ्वीकाय की विराधना होती है।

अपकाय के रूप में उत्पन्न हुए जीव को सूर्य की प्रचण्ड गर्मी से तप कर मरणान्तक दुःख भोगना पड़ता है। बर्फ के रूप में घनीभूत होना पड़ता है। रज के द्वारा शोषण किया जाता है और क्षार आदि रस के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। प्यासे मनुष्यों और पशुपक्षिआदि से पिये जा कर भी अपकाय के जीवों की विराधना होती है। इन जीवों की विराधना भी अनेक प्रकार से होती है।

तेजस्काय में उत्पन्न जीव, पानी आदि से बुझा कर मारे जाते हैं, घन आदि से कूटे-पीटे जाते हैं, ईधनादि से दग्ध किये जाते हैं।

वायुकाय के रूप में उत्पन्न जीवों की पंखा आदि से विराधना होती है और शीत

तथा उष्णादि द्रव्यों के योग से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। प्राचीन वायुकाय के जीवों का नवीन वायुकाय के द्वारा नाश होता है। मुख आदि से निकले हुए पवनों से बाधित होते हैं और सर्प आदि के द्वारा पान किये जाते हैं।

कंद आदि दस प्रकार की वनस्पति में उत्पन्न जीवों का तो सदैव छेदन-भेदन होता है। अग्नि पर चढ़ा कर पचाये जाते हैं। पारस्परिक वर्ण से पीड़ित होते हैं। नस-लोलुप जीव, सार आदि लगा कर जलाते हैं और कंदादि सभी अवस्था में भक्षण किये जाते हैं। वायु के वेग से टूट कर नष्ट होते हैं। दावानल से बल-जल कर भस्म होते हैं और नदी के प्रवाह से उखड़ कर गिर जाते हैं। इस तरह सभी प्रकार की वादर वनस्पति, सभी जीवों के लिए भक्ष्य हो कर सभी प्रकार के शस्त्रों में छेदन-भेदन को प्राप्त होती है। वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव, सदा ही क्लेश की परम्परा में ही जीवन व्यतीत करता है।

वेइन्द्रियपने उत्पन्न जीव, पानी के साथ पिये जाते हैं। आग पर चढ़ा कर उवाले जाते हैं। धान्य के साथ पकाये जाते हैं। पाँवों के नीचे कुचले जाते हैं और पक्षियों द्वारा भक्षण किये जाते हैं। शंख—सीपादि रूप में हो, तो फोड़े जाते हैं, जोंक आदि हों, तो सूँते जाते हैं। गिडोला आदि को औषधी के द्वारा पेट में से बाहर निकाला जाता है।

तेइन्द्रियपने में जीव, जूँ और खटमल के रूप में शरीर के साथ मसले जाते हैं। उबलता हुआ पानी डाल कर मारे जाते हैं। चिटियाँ पैरों तले कुचल कर मारी जाती हैं। झाड़ने-बुहारने में भी मर जाती हैं और कुंयुआदि बारीक जीवों का अनेक प्रकार से मर्दन होता है।

चौरिन्द्रिय जीवों में मधुमक्खी और भौरों आदि का मधु-लोभियों द्वारा नाश किया जाता है। डांस-मच्छरादि प्राणी पंखे आदि से और धूम्र प्रयोग से मारे जाते हैं और छिपकली आदि द्वारा खाये जाते हैं।

पंचेन्द्रियपने जलचर में परस्पर एक दूसरे का भक्षण (मच्छ गलागल) करते हैं। मच्छीमारों द्वारा पकड़े जा कर मारे जाते हैं। चर्बी के लिए भी जलचर जीवों की हिंसा होती है।

स्थलचर पंचेन्द्रिय जीवों में मृग आदि जीवों को सिंहादि क्रूर जीव खा जाते हैं। शिकारी मनुष्य, अपने व्यसन तथा मांस-लोलुपता के कारण निरपराधी जीवों की अनेक प्रकार से घात करते हैं। कई प्राणी क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण और अतिभार वहन के कारण दुःखी जीवन व्यतीत करने हैं। उन पर चावुक की मार तथा अंकुश एवं शूल भोंक

कर उत्पन्न की हुई असह्य वेदना सहन करते हैं ।

खेचर (उड़ने वाले) प्राणियों में तीतर, पोपट, कपोत और चिड़िया आदि पक्षियों का मांस-लोलुप श्येन बाज और गिद्ध आदि पक्षी भक्षण करते हैं । मांस-भक्षी मनुष्य भी अनेक प्रकार के जाल फैला कर या शस्त्रादि से मार कर विनाश करते हैं । तिर्यंच पक्षियों को वर्षा से दुःखी हो कर मरने, अग्नि (दावानल आदि) में जल कर भस्म होने और शस्त्र के आघात आदि सभी प्रकार का भय बना रहता है । तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के विविध प्रकार के दुःखों का वर्णन कितना किया जाय ! उनके दुःख भी वर्णनातीत है ।

मनुष्य गति के दुःख

मनुष्यत्व प्राप्त कर के यदि अनार्य देश में उत्पन्न हुआ, तो वहाँ इतना पाप करता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता । आर्य-देश में भी चांडाल आदि जानि में अनार्य के समान पाप की प्रचुरता होती है और महान् दुःख का अनुभव करते हैं । आर्य-देश वासी कई मनुष्य, अनार्य-कृत्य करने वाले होते हैं । परिणाम स्वरूप दारिद्र्य एवं दुर्भाग्य से दग्ध हो कर निरन्तर दुःख भोगते हैं । कई मनुष्य दूसरों को सम्पत्तिशाली तथा अपने को दरिद्र देख कर, दुःख एवं संतापपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं । कई मनुष्य रोग, जरा और मरणाभिमुख हो कर और असाता-वेदनीय के उग्र उदय से दुःखी हो कर ऐसी विडम्बना में पड़े हैं कि जिन्हें देख कर दया आती है ।

मनुष्य के गर्भवास के दुःख भी नरक के घोर दुःख के समान हैं । गर्भवास ऐसे दुःख का कारण है कि जैसे दुःख, रोग, वृद्धावस्था, दासत्व एवं मृत्यु के भी नहीं हैं । आग में तपा कर गर्म की हुई सूइयों को मनुष्य के प्रत्येक रोम में एक साथ भोंकी जाने पर जितना दुःख होता है, उससे आठ गुना अधिक दुःख जीव को गर्भवास में होता है और जन्म के समय जीव को जो दुःख होता है, वह गर्भवास के दुःख से भी अनन्त गुण है ।

जन्म के बाद बाल अवस्था में मूत्र एवं विष्टा से, यौवनवय में रति-विलास से और वृद्धावस्था में श्वास, खांसी आदि रोग से पीड़ित होता है, फिर भी वह लज्जारहित रहता है ।

मनुष्य बालवय में विष्टा का इच्छुक—भंडसूर, युवावस्था में कामदेव का गधा और वृद्धावस्था में बूढ़ा बैल बन जाता है । किन्तु वह पुरुष होते हुए भी पुरुष नहीं बनता (पशु जैसा रहता है) शिशु-वय में मातृमुखी (माता के मुख को ताकने वाला) यौवन में खुमी-स्त्री (स्त्री की गरज करनेवाला) और बुढ़ापे में पुत्र-मुखी (पुत्र के आश्रय में जन्म

जिताने वाला) रहता है, किन्तु वह कभी अन्तर्मुखी नहीं होता। धन की इच्छा से विवहल बना हुआ मनुष्य, चाकरी, कृषि, व्यापार और पशुपालन आदि उद्योगों में अपना जन्म निष्फल गँवाता है। कभी चोरी करता है, तो कभी जूआ खेलता है और कभी जार-कर्म कर के मनुष्य संसार-परिभ्रमण बहुत बढ़ा लेता है। कई सुख-सामग्री प्राप्त मनुष्य, मोहान्ध हो कर काम-विलास से दुःखी हो जाते हैं और दीनता तथा रुदन करते हुए मनुष्य-जन्म को खो देते हैं, किन्तु धर्म-कार्य नहीं करते। जिस मनुष्य-जन्म से अनन्त कर्मों के समूह का क्षय किया जा सकता है, उस मनुष्य-जन्म से पापी मनुष्य, पाप ही पाप किया करते हैं। मनुष्य-जन्म, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य, इन तीन रत्नों का पात्र रूप है। ऐसे उत्तमोत्तम जन्म में पाप-कर्म करना तो स्वर्ण पात्र में मदिरा (अथवा मूत्र) भरने जैसा है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति 'शमिलायुग' * के समान महान् दुर्लभ है। मूर्ख मनुष्य, चिन्तामणी रत्न के समान इस मानव-भव को पाप-कर्म में गँवा कर हार जाता है। मनुष्य-जन्म, स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप है, किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य, पाप-कर्म के द्वारा इसे नरक प्राप्ति का साधन बना लेता है। मनुष्य-भव की अनुत्तर विमान के देवता भी आशा करते हैं। किन्तु पापी मनुष्य ऐसे दुर्लभ मानव-भव को पा कर भी पाप-कर्म में ही आसक्त रहते हैं। यह कितने दुःख की बात है। नरक के दुःख तो परोक्ष हैं, किन्तु मनुष्य-भव के दुःख तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। इसलिए मनुष्य-सम्बन्धी दुःखों का विशेष वर्णन करना आवश्यक नहीं है।

देव-गति के दुःख

देव-गति में भी दुःख का साम्राज्य चल रहा है। शोक, अमर्ष, खेद, ईर्ष्या और दीनता से देवों की बुद्धि भी बिगड़ी हुई रहती है। दूसरों के पास विशेष ऋद्धि देख कर देव भी अपनी हीन-दशा पर खेद करते हैं। उन्हें अपने पूर्व-जन्म के उपाजित शुभ-कर्म की कमी का शोक रहता है। दूसरे बलवान् और ऋद्धिशाली देवों द्वारा होते हुए अपमान एवं अङ्ग-चनों और उसके प्रतिकार की असमर्थता के कारण अल्प-ऋद्धि वाले देव, चिन्ता एवं शोक

* गाड़ी की धुरी अथवा जूआ और खीली, दोनों को स्वयंभुरमण समुद्र में एक-दूसरे को पूर्व-परिषम के समान विपरीत दिशा में डाल दिया जाय, तो दोनों का परस्पर मिल कर जुड़ जाना महान् कठिन है। इसी प्रकार मनुष्य-जन्म की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है।

ग्रस्त रहा करते हैं। वे मन में पश्चात्ताप करते रहते हैं कि मैंने पूर्व-जन्म में कुछ भी सुकृत्य नहीं किया, जिससे यहाँ देव भव पा कर भी सेवक—दास के रूप में उत्पन्न हुआ ? इस प्रकार चिन्ता करते और अपने से अधिक सम्पत्तिशाली देवों के वैभव को देख कर खेद करते रहते हैं। वे अन्य देवों के विमान, देवांगनाएँ एवं उपवन सम्बन्धी सम्पत्ति देख देख कर जीवनपर्यंत ईर्ष्या रूपी अग्नि में जलते रहते हैं। कई बलिष्ठ देव, अल्प सत्त्व वाले देव की ऋद्धि, देवांगना आदि छीन लेते हैं। इससे निराश्रित बने हुए देव, निरन्तर शोक करते रहते हैं। पुण्य-कर्म से देव-गति प्राप्त करने पर भी वे काम, क्रोध और भय से आतुर रहते हैं। वे कभी भी स्वस्थता एवं शांति का अनुभव नहीं करते।

जब देव का आयुष्य पूर्ण होने वाला होता है, तब छह महीने पूर्व से ही मृत्यु के चिन्ह देख कर भयभीत हो जाते हैं और मृत्यु से बचने के लिए, छुपने का प्रयत्न करते हैं।

कल्पवृक्षों के पुष्पों की बनी हुई माला कभी मुरझाती नहीं है। वह सदैव विकसित ही रहती है, किन्तु जब देव के च्यवन (मृत्यु) का समय निकट आता है, तब उस देव का मुख-कमल भी म्लान हो जाता है और वह पुष्पमाला भी मुरझा जाती है। वहाँ के कल्प-वृक्ष इतने दृढ़ होते हैं कि बड़े बलवान् मनुष्यों के हिलाने पर भी नहीं हिलते हैं, किन्तु देवता का च्यवन समय निकट आने पर वे कल्पवृक्ष भी शिथिल हो जाते हैं। उत्पत्ति के साथ ही प्राप्त हुई और अत्यन्त प्रिय लगने वाली ऐसी लक्ष्मी और लज्जा भी उनसे हठ जाती हैं। निरन्तर निर्मल एवं सुशोभित करने वाले उनके वस्त्र भी मलिन एवं अशोभनीय हो जाते हैं। जब चींटियों की मृत्यु का समय निकट आता है, तब उनके पंख निकल आते हैं, उसी प्रकार च्यवन समय निकट आने पर देवों में, अदीन होते हुए भी दीनता और निद्रा रहित होते हुए भी निद्रा आती है। जिस प्रकार असह्य दुःख से घबरा कर मृत्यु को चाहने वाला मनुष्य, विष-पान करता है, उसी प्रकार अज्ञानी देव, च्यवन समय आने पर न्याय एवं धर्म को छोड़ कर विषयों के प्रति विशेष रागी बन जाता है। यद्यपि देवों को किसी प्रकार का रोग नहीं होता, किन्तु मृत्यु समय निकट आने पर वेदना से उनके अंगोपांग और शरीर के जोड़ शिथिल हो कर ददं करने लगते हैं और उन्हें आलस्य घेर लेता है। उनकी दृष्टि भी मंद हो जाती है। 'भविष्य में उन्हें गर्भवास में रहना पड़ेगा'—इस विचार व उस घृणित एवं दुःखमय स्थिति का अनुभव कर के उनका शरीर ऐसा धूजने लगता और विकृत हो जाता है कि जिसे देखने वाला भी डर जाता है। इस प्रकार च्यवन के चिन्हों को देख कर और अपना मरणकाल निकट जान कर उन्हें वैसी बेचैनी होती है

कि जैसी किसी मनुष्य को अग्नि से जलने पर होती है । उस घबराहट को मिटाने में न तो वे विमान सहायक हो सकते हैं, न वापिका और नन्दनवन आदि ही । उन्हें कहीं भी शांति नहीं मिलती । उस समय वे विलाप करते हैं और कहते हैं कि—

“हा, मेरी प्राणप्रिय देवांगना ! हाय मेरे विमान ! हाय कल्पवृक्ष ! हाय मेरी पुष्करणी वापिका ! हाय, मैं इनसे बिछुड़ जाऊँगा । फिर इन्हें कब देख सकूँगा ।

हाय ! अमृत की बेल के समान और अमृतमय वाणी से आनन्दित करने वाली मेरी कान्ता, रत्न के स्तंभ वाले विमान, मणिमय भूमि और रत्नमय वेदिकाएँ, अब तुम किसकी हो कर रहोगी ?

हे रत्नमय पद-पङ्क्ति युक्त एवं श्रेणि-बन्ध कमलवाली पूर्ण वापिकाओं ! अब तुम्हारा उपभोग कौन करेगा ? हे पारिजात, सतान, हरिचन्दन और कल्पवृक्ष ! क्या तुम अपने इस स्वामी को त्याग दोगे ?

अरे, क्या स्त्री के गर्भ रूपी नर्क में मुझे बरबस रहना पड़ेगा ? और अशुचि रस का आस्वादन करने हुए उसीसे शरीर बनाना होगा ?

हा, अपने कर्मों के बन्धन में जकड़ा हुआ मुझे जठराग्नि रूपी अँगीठी में पकने रूप दुःख भी सहन करना पड़ेगा । हाय, कहाँ तो रति-सुख की खान ऐसी ये मेरी देवांगनाएँ और कहाँ अशुचि की खान एवं बीभत्स ऐसी मानवी स्त्रियों का भोग ?”

इस प्रकार स्वर्गीय सुखों का स्मरण करते हुए देवता, उस प्रकार वहाँ से व्यवजाते हैं, जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है । इस प्रकार देवगति भी दुःख रूप है । इसलिए बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि इस संसार को अमार जान कर दीक्षा रूपी उपाय के द्वारा संसार का अन्त कर के मुक्ति को प्राप्त करें ।

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी, पतिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः ।

संसारनाट्ये नटवत्, संसारी हंत चेष्टते ॥१॥

न याति कतमां योनिं कतमां वा न मुञ्चति ।

संसारो कर्मसंबन्धादवक्रयकुटीमिव ॥२॥

समस्तलोकाकाशेऽपि, नानारूपैः स्वकर्मभिः ।

बालाग्रमपि तन्नास्ति, यन्नस्पृष्ट शरीरिभिः ॥३॥

—इस संसार की अनेक योनियों में परिभ्रमण करने रूप नाटक में संसारस्थ जीव नट के समान चेष्टा करते रहते हैं । ऐसी संसार रूपी रंगभूमि पर वेद-वेदांग का पारगामी

भी कर्मोदय से मर कर चाण्डालपने उत्पन्न हो जाता है। स्वामी मर कर सेवक और प्रजापति मर कर एक तुच्छ कीड़ा हो जाता है। संसारी जीव, कर्मोदय से भाड़े की कुटिया के समान एक योनि छोड़ कर दूसरी, यों विभिन्न योनियों में भटकते ही रहते हैं, एक योनि छोड़ कर दूसरी में प्रवेश करते हैं। इस समस्त संसार में, एक बाल के अग्रभाग पर आवे, उतना भी स्थान ऐसा नहीं है कि जिसे कर्म के वश हो कर इस जीव ने अनेक रूप धारण कर के, उस स्थल का स्पर्श नहीं किया हो। इस प्रकार संसार भावना का विचार करना चाहिये।

भगवान् ने सोलह पूर्वार्ग कम एक लाख पूर्व तक संयम पाला। इस प्रकार कुल तीस लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर, मार्गशीर्ष-कृष्ण एकादशी को चित्रा-नक्षत्र में, एक मास के संधारे से सम्मेदशिखर पर्वत पर ३०८ मुनियों के साथ सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

प्रभु के 'सुव्रत' आदि १०७ गणधर हुए और ३३०००० साधु, ४२०००० साध्वी, २३००० चौदह पूर्वधर, १०००० अवधिज्ञानी, १०३०० मनःपर्यवज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० वैक्रिय लब्धिधारी, १६०० वादलब्धि सम्पन्न, २७६००० श्रावक और ५०५००० श्राविकाएँ हुई।

* त्रि. श. पुं. च. में चौदह पूर्वधर २२०० बताये हैं।

छठे तीर्थंकर

भगवान्

॥ पद्मप्रभःजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० सुपार्श्वनाथजी



धातकीखंड के पूर्व-विदेह क्षेत्र में क्षेमपुरी नगरी थी । नन्दीषेण उसका राजा था । उस धर्मात्मा राजा को संसार से वैराग्य हो गया और उसने अरिदमन नाम के आचार्य के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की । संयम एवं तप की उत्तम भावना में रमण करते हुए नन्दीषेण मुनि ने तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के छठे श्रैवेयक विमान में देव हुए उनका आयुष्य २८ सागरोपम का था ।

काशी देश के वाराणसी नगरी में 'प्रतिष्ठसेन' नाम का राजा राज करता था । उसकी रानी का नाम 'पृथ्वी' था । नन्दीषेण मुनि का जीव देवलोक से न्यव कर भाद्रपद-कृष्णा अष्टमी को, अनुराधा नक्षत्र में महारानी पृथ्वी की कुक्षि में, चौदह महास्वप्न पूर्वक उत्पन्न हुआ । ज्येष्ठ-शुक्ला द्वादशी को विशाखा-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । देवी-देवता और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया । गर्भकाल में माता के पार्श्व (छाती और पेट के अगल-बगल का हिस्सा) बहुत ही उत्तम और सुशोभित हुए इसलिए पुत्र का 'सुपार्श्व' नाम दिया गया । यौवनवय में अनेक राजकुमारियों के साथ उनका विवाह हुआ । पाँच लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहने के बाद, पिता ने प्रभु को राज्य का भार दे दिया । चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वांग तक राज्य का संचालन करने के बाद ज्येष्ठ-कृष्णा त्रयोदशी को, अनुराधा नक्षत्र में, ब्रह्मे के तप सहित संसार का त्याग कर के पूर्ण संयमी बन गए । ती मास तक संयम और तप की विशिष्ट प्रकार से आराधना करते हुए फाल्गुन-कृष्णा छठ को विशाखा नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया । प्रभु की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई; —

धर्मदेशना

अन्यत्व भावना

“स्त्री, पुत्र, माता, पिता, कुटुम्ब, परिवार, धन-धान्यादि और अपना शरीर, ये सब अपनी आत्मा से भिन्न एवं अन्य वस्तुएँ हैं। मूर्ख मनुष्य, इन्हें अपना मान कर इन पर वस्तुओं के लिए पाप-कर्म करता है और भवसागर में डूबता है। जब जीव, शरीर के साथ संलग्न होने पर भी भिन्नता रखता है, तो स्पष्ट रूप से एकदम भिन्न ऐसे कुटुम्ब और धन-धान्यादि की भिन्नता के विषय में तो कहना ही क्या है ?

जो सुज्ञ आत्मा, अपनी आत्मा को देह, कुटुम्ब और धनादि से भिन्न देखता है, उसे शोक रूपी शूल की वेदना नहीं होती। यह भिन्नता एक दूसरे के लक्षण की विलक्षणता से ही स्पष्ट ज्ञात होती है। आत्मा के स्वभाव और शरीर के पौद्गलिक स्वभाव का विचार करने पर यह भेद ‘साक्षात्’ हो जाता है। देहादि पदार्थ, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु आत्मा तो केवल अनुभव गोचर होती है। जब दोनों में इस प्रकार की भिन्नता प्रत्यक्ष हो रही है, तब दोनों की अनन्यता=एकता कैसे मानी जाय ?

शंका—यदि आत्मा और देह भिन्न है, तो शरीर पर पड़ती हुई मार की पीड़ा आत्मा को क्यों होती है ?

समाधान—शंका उचित है, किन्तु पीड़ा उसी को होती है, जिसकी देह में ममत्व बुद्धि है—अभेद भाव है। जिन महात्माओं को आत्मा और देह के भेद का भली प्रकार से अनुभव ज्ञान हो गया, उन्हें देह पर होते हुए प्रहारादि की वेदना नहीं होती×। जो ज्ञानवंत आत्मा है, उसे पितृ-वियोग जन्य दुःख होने पर भी पीड़ा नहीं होती, किन्तु जिस अज्ञानी की पर में ममत्व बुद्धि है, जिसे भेद-ज्ञान नहीं है, उसे तो एक नौकर सम्बन्धी दुःख होने पर भी पीड़ा होती है। अनात्मीय—अन्यत्व रूप से ग्रहण किया हुआ पुत्र भी भिन्न है, किन्तु आत्मीय—एकत्व रूप में माना हुआ नौकर भी पुत्र से अधिक हो जाता है। आत्मा जितने संयोग सम्बन्धों को अपने आत्मीय रूप में मान कर स्नेह करता है। उतने ही शोक रूपी शूल उसके हृदय में पहुँच कर दुःखदायक होते हैं। इसलिए जितने भी पदार्थ इस जगत् में हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न ही हैं—इस प्रकार की समझ से जिस आत्मा की अन्यत्व भेद

× आत्मा शरीर से कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है। देह और आत्मा दूध-पानी के समान एकमेक हैं, अत्यंत निकट हैं, इसलिये वेदना होती है। वेदना होने में असातावेदनीय कर्म के उदय का जोर है, इसलिये वेदना होती है।

बुद्धि हो जाती है, वह किसी भी वस्तु का वियोग होने पर तात्त्विक विषय में मोह को प्राप्त नहीं होता । जिस प्रकार तुम्हरी पर का लेप धुल जाने पर वह ऊपर उठ जाती है उसी प्रकार अन्यत्व रूपी भेद ज्ञान से जिस आत्मा ने मोह-मल को धो डाला है, वह प्रव्रज्या को ग्रहण कर स्वल्प काल में ही शुद्ध हो कर संसार से पार हो जाती है ।

यथायत्वं शरीरस्य, वैसादृश्याच्छरीरिणः ।

धनबन्धुसहायानां, तत्रान्यत्वं न दुर्वचम् ॥१॥

यो देहधनबन्धुभ्यो, भिन्नमात्मान मीक्षते ।

यव शोकशंकुना तस्य हंतातंकः प्रतन्यते ॥२॥

—जहाँ मूर्त-अमूर्त, चेतन-जड़ और नित्य-अनित्यादि विसदृश्यता से, आत्मा से शरीर की भिन्नता स्वतः सिद्ध है, वहाँ धन-बान्धवादि सहायकों की भिन्नता बताना अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता । जो सुज्ञ मनुष्य, देह, धन और बन्धुजनादि से आत्मा को भिन्न देखता है, उसे वियोगादि जन्य शोक रूपी शल्य कैसे पीड़ित कर सकता है ? इस प्रकार देह, मेह और स्वजनादि से आत्मा भिन्न है—ऐसा विचार करना चाहिए ।

प्रभु के विदर्भ आदि ६५ गणधर हुए । तीन लाख साधु, चार लाख तीस हजार साध्वियाँ, २०३० चौदह पूर्वधर, ९००० अवधिज्ञानी, ९१५० मनःपर्यवज्ञानी, ११००० केवलज्ञानी, १५३०० वैकिण-लब्धिप्राप्ति, ८४०० वाद-लब्धि सम्पन्न, २५७००० श्रावक और ४९३००० श्राविकाएँ हुई ।

भगवान् केवलज्ञान के बाद ग्रामानुग्राम विहार कर के भव्य जीवों को प्रतिबोध देते रहे । वे बीस पूर्वांग और ती मास कम एक लाख पूर्व तक विवरते रहे । आयुष्यकाल निकट आने पर सम्मेदशिखर पर्वत पर पाँच सौ मुनियों के साथ, एक मास के अनशन से, फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को, मूल-नक्षत्र में सिद्धगति को प्राप्त हुए । प्रभु का कुल आयु बीस लाख पूर्व का था ।

सातवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ सुपाश्वर्यनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० चन्द्रप्रभः स्वामी



धातकीखण्ड के प्राग्निदेह क्षेत्र में मंगलावती विजय में 'रत्नसंचया' नाम की नगरी थी। 'पद्म' नाम के राजा वहाँ के शासक थे। वह परम प्रतापी राजा, श्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता था और संसार में रहते हुए भी वैराग्य युक्त था। उसने युगन्धर मुनिवर के पास दीक्षा ग्रहण की और साधना के सोपान पर चढ़ते हुए, जिन नाम-कर्म को दृढ़ीभूत किया और कालान्तर में आयुष्य पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'चन्द्रानना' नाम की नगरी थी। 'महासेन' नाम का नरेश वहाँ का अधिपति था। 'लक्ष्मणा' नाम की उसकी रानी थी। पद्म मुनिवर का जीव वैजयंत विमान का तेतीस सागरोपम का आयु पूर्ण कर के चैत्र-कृष्ण पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में महारानी लक्ष्मणा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और पौष-कृष्ण द्वादशी को अनुराधा नक्षत्र में जन्म हुआ। माता को चन्द्र-पान करने का दोहद होने और पुत्र की चन्द्र के समान कान्ति होने से 'चन्द्रप्रभः' नाम दिया गया। यौवन वय में प्रभु ने राजकुमारियों के साथ विवाह किया। ढाई लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहने के बाद प्रभु का राज्याभिषेक हुआ। साढ़े छह लाख पूर्व और चौबीस पूर्वांग तक राज्य का संचालन किया। पौष-कृष्ण त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संसार त्याग कर पूर्ण संयमी बन गये। तीन महीने तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद फाल्गुन-कृष्ण सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

भगवान् ने प्रथम समवसरण में धर्मोपदेश दिया। यथा—

धर्मदेशना

अशुचि भावना

अनन्त क्लेश रूपी तरंगों से भरा हुआ यह भवसागर, प्रति-क्षण सभी प्राणियों को ऊपर नीचे और तिरछे फेंकता रहता है। जिस प्रकार समुद्र की लहरें स्थिर नहीं रहती, उसी प्रकार प्राणियों का जीवन भी स्थिर नहीं रहता। किन्तु ऐसे अस्थिर जीवन में भी प्राणी मूर्च्छित हो रहा है। जिस प्रकार विष्टादि अशुचि से कीड़े प्रीति करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अशुचिमय क्षणिक शरीर से स्नेह करता है। वह शरीर ही उसके लिए बन्धन रूप बन जाता है।

रस, रुधिर, मांस, चर्बी, अस्थि, मज्जा, वीर्य, अंति और विष्टादि अशुचि के स्थान रूप देह में पवित्रता कहाँ है? नव द्वारों में से झरते हुए दुर्गन्धमय झरनों से बिगड़े हुए इस देह में, पवित्रता का संकल्प करना, यही मोहराज की महा मस्ति है। वीर्य और रुधिर से उत्पन्न, मलिन रस से बढ़ा हुआ और गर्भ में जरायु से ढँका हुआ यह देह, कैसे पवित्र हो सकता है?

माता के खाये हुए भोजनादि से उत्पन्न और रस नाड़ी में हो कर आये हुए रस का पान कर के बढ़े हुए शरीर को कोई भी सुज्ञ पवित्र नहीं मान सकता।

दोष, धातु और मल से भरे हुए, कृमि और गिडोले के स्थान रूप तथा रोग रूपी सर्पों से डसे हुए शरीर को शुद्ध मानने की भूल कोई भी सुज्ञ नहीं कर सकता।

अनेक प्रकार के सुगन्धी द्रव्यों से किया हुआ विलेपन, तत्काल मल रूप हो जाता है। ऐसे शरीर को पवित्र कहना भूल है। मुँह में सुगन्धित ताम्बूल चबा कर सोया हुआ मनुष्य, प्रातःकाल उठ कर अपने ही मुख की दुर्गन्ध से घृणा करता है। सुगन्धी पुष्प, पुष्पमाला और धूपादि भी जिस शरीर के द्वारा दुर्गन्धमय बन जाते हैं, उस शरीर को शुद्ध नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार शराब का घड़ा दुर्गन्धमय रहता है, उसी प्रकार उच्च प्रकार के सुगन्धित तेल और उबटन से स्वच्छ कर के प्रचूर पानी से धोया हुआ शरीर भी अपवित्र ही रहता है।

जो लोग कहते हैं कि यह शरीर मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु और सूर्य की किरणों के स्नान से शुद्ध होता है, उन्होंने शरीर की वास्तविकता नहीं समझी और चमड़ी को देख कर ही रीझे हुए हैं।

जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य, खारे पानी के समुद्र में से रत्न ढूँढ कर निकालते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यों को ऐसे दुर्गन्धमय देह से, केवल मोक्ष रूपी फल का उत्पादक ऐसा तप ही करना चाहिए। इसी से महान् मुक्त की प्राप्ति होती है।

रसासृग्मांसमेदोस्थिमज्जशुक्रांत्रवर्चसां ।

अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥ १ ॥

नवलोतः स्रवद्विस्ररसनिःस्यंदपिच्छले ।

देहेपि शौचसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥ २ ॥

—रस, रुधिर मांस मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, अंतड़ियाँ एवं विष्ठादि अशुचि के धर रूप इस शरीर में पवित्रता है ही कहाँ? देह के नौ द्वारों से बहता हुआ दुर्गन्धित रस और उससे लिप्त देह की पवित्रता की कल्पना करना या अभिमान करना, यह तो महान्-मोह की चेष्टा है। इस प्रकार का विचार करने से मोह-ममत्व कम होता है।

भगवान् के 'दत्त' आदि ९३ गणधर हुए। २५०००० साधु, ३८०००० साध्वियाँ, २००० चौदह पूर्वधर, ८००० अवधिज्ञानी, ८००० मनःपर्यवज्ञानी, १०००० केवली, १४००० वैक्रिय लब्धिधारी, ७६०० वादी, २५०००० भावक और ४९१००० आविकाएँ हुई।

प्रभु चौबीस पूर्वांग और तीन महिने कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकरपने विचरते हुए भव्य जीवों का उपकार करते रहे। फिर मोक्ष-काल निकट आने पर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर एक मास के अनशन से भाद्रपद-कृष्ण सप्तमी को श्रवण-नक्षत्र में सिद्ध गति को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयु दस लाख पूर्व का था।

आठवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ चन्द्रप्रभः स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० सुविधिनाथजी



पुष्करवर दीपाद्वे के पूर्व-विदेह में पुष्कलावती विजय है। उस विजय में 'पुंडरि-किनी' नाम की नगरी थी। 'महापद्म' वहाँ का शासक था। वह बड़ा ही धर्मात्मा एवं हलुकर्मी था। उसने संसार का त्याग कर के जगन्नाथ मुनिराज के पास सर्वविरति स्वीकार कर ली। साधना में उन्नत होते हुए उन्होंने जिन नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत में 'काकंदी' नाम की नगरी थी। उस भव्य नगरी का शासन महाराजा 'सुग्रीव' करते थे। महारानी 'रामा' उनकी प्रिय पत्नी थी। वैजयंत विमान में ३३ सागरपद्म का आयु पूर्ण कर के महापद्म देव, फाल्गुन-कृष्णा नौमी को मूल-नक्षत्र में रामादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। चौदह महास्वप्न देखे। मार्गशीर्ष-कृष्णा पंचमी को मूल-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियों और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। गर्भावस्था में, गर्भ के प्रभाव से रामादेवी सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने की विधि में कुशल हुई। इसलिए पुत्र का नाम 'सुविधि' रखा और पुष्प के दोहद से पुत्र के दाँत आये, इसलिए दूसरा नाम 'पुष्पदंत' हुआ। यौवन वय में राजकुमारियों के साथ लग्न किया। पचास हजार पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे। फिर पिता ने आपको राज्याधिकार प्रदान किया। पचास हजार पूर्व और अठ्ठाईस पूर्वांग तक राज्य का शासन किया। उसके बाद मार्गशीर्ष-षष्ठी के दिन मूल-नक्षत्र में ब्रह्मे के तप सहित सर्वत्यागी बन गए। आपके साथ एक हजार राजाओं ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की। चार मास तक प्रभु लुप्तस्थ रहे और कार्तिक-शुक्ला

तृतीया के दिन मूल-नक्षत्र में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो कर तीर्थंकर नाम-कर्म को पूर्ण रूप से सफल किया ।

धर्मदेशना

आस्रव भावना

भगवान् का प्रथम उपदेश इस प्रकार हुआ—

यह संसार अनन्त दुःखों के समूह का भंडार है । जिस प्रकार विष की उत्पत्ति का स्थान विषधर (सर्प) है, उसी प्रकार दुःखमय संसार की उत्पत्ति का कारण 'आस्रव' है ।

आस्रव का अर्थ है—'कर्म पुद्गलों का आत्मा में प्रवेश करने का कारण । आत्मा में कर्म के प्रवेश करने का मार्ग ।'

जीवों के मन वचन और काया से जो क्रिया होती है, वह 'योग' कहलाता है । ये योग ही आत्मा में शुभाशुभ कर्म को आस्रवते (लाते) हैं । इसी से यह 'आस्रव' कहलाता है । मैत्री आदि शुभ भावना से वासित जीव, शुभ कर्म का बन्ध करता है और कषाय तथा विषयों से आक्रान्त हुए चित्त से आत्मा, अशुभ कर्म बांधता है । श्रुतज्ञान के आश्रय से बोला हुआ सत्य वचन, शुभ कर्मों का कारण है । इसके विपरीत वचन अशुभ कर्मों का सर्जक है । बुरे कामों से रोक कर अच्छे कार्यों में लगाये हुए शरीर से शुभ कर्म की उत्पत्ति होती है और आरम्भ तथा हिंसादि सावद्य कार्यों में लगी हुई शारीरिक प्रवृत्ति से बुरे—दुःख-दायक कर्मों का आस्रव होता है ।

विषय, कषाय, योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व तथा आर्त्त और रौद्र ध्यान—ये अशुभ आस्रव के कारण हैं ।

आस्रव के द्वारा आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्मों के ज्ञानावरणीयादि, आठ भेद हैं । ज्ञान और दर्शन के विषय में, ज्ञानी व दर्शनी के प्रति और ज्ञान दर्शन उत्पन्न करने के कारणों में विघ्न (बाधा) खड़ी करना, निन्वहता करना, पिशुनता एवं आशातना करना, उनकी घात करना और मात्सर्यता करना—ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म बाँधने के हेतुभूत आस्रव हैं ।

देव की आराधना, गुरुसेवा, पात्र-दान, दया, क्षमा, सरागसंयम, देशविरति, अकामनिर्जरा, शीघ्र (भावविशुद्धि, निरतिचार व्रत पालनादि) और बालतप—ये सातावेदनीय कर्म बाँधने के आस्रव हैं ।

स्व, पर अथवा स्वपर (उभय) को दुःख, शोक, वध, ताप, आक्रन्द और विलाप अथवा पश्चात्ताप उत्पन्न करना या करवाना—ये असातावेदनीय कर्म बाँधने के कारण हैं ।

वीतराग भगवंत के, शास्त्र के, संघ के, धर्म के और सभी देवताओं के अवर्णवाद बोलना (बुराई करना—निन्दा करना) मिथ्यात्व के तीव्र परिणाम करना, सर्वज्ञ भगवान् और सिद्ध भगवान् का निन्द्व बनना (उनमें देवत्व नहीं मानना, उनके विपरीत बोलना, उनके गुणों का अपलाप करना आदि) धार्मिक मनुष्यों को दोष देना, उनकी निन्दा करना, उन्मार्ग का उपदेश करना, अनर्थ का आग्रह करना, असंयमी का आदर सत्कार एवं पूजा करना, बिना विचारे कार्य करना और गुरु आदि की अवज्ञा करना इत्यादि कुकृत्यों से दर्शनमोहनीय-कर्म का आस्रव होता है ।

कपाय के उदय से आत्मा के तीव्र परिणाम होना—चारित्र-मोहनीय कर्म बाँधने का कारण है ।

किसी की हँसी करना, सकाम उपहास (स्थिरादि से कामोत्पादक हँसी करना) विशेष हँसने की आदत, वाचालता और दीनता बताने की प्रवृत्ति—हास्य-मोहनीय कर्म का आस्रव है ।

देश-विदेश में भ्रमण कर नये-नये दृश्य देखने की इच्छा, अनेक प्रकार के खेल खेलना और दूसरों के मन को अपनी ओर आकर्षित करना—वशीभूत करना ये—रति-मोहनीय के आस्रव हैं ।

असूया = वृणा (गुणों को भी दोष रूप में देखना) पाप करने की प्रकृति दूसरे की सुख-शान्ति नष्ट करना और किसी का अनिष्ट होता हुआ देख कर खुश होना, यह अरतिमोहनीय के आस्रव हैं ।

स्वयं अपने मन में भय को स्थान देना, दूसरों को भयभीत करना, वास देना और निर्दय बनना—भय-मोहनीय कर्म का आस्रव है ।

स्वयं शोक उत्पन्न कर के चिन्ता करना, दूसरों के हृदय में शोक एवं चिन्ता उत्पन्न करना और रुदन करने में अति आसक्ति रखना, ये शोक-मोहनीय कर्म के आस्रव हैं ।

चतुर्विध संघ के अवर्णवाद बोलना, तिरस्कार करना और सदाचार की निंदा करना, यह—**जुगुप्सा-मोहनीय** के आस्रव हैं ।

ईर्ष्या, विषयों में लोलुपता, मृषावाद, अतिवक्रता और परस्त्री-गमन में आसक्ति—**ये स्त्रीवेद बन्ध के आस्रव हैं ।**

स्वस्त्री में संतोष, ईर्ष्या रहित—**भद्र स्वभाव**, कषायों की मन्दता, प्रकृति की सरलता और सदाचार का पालन—**ये पुरुषवेद के आस्रव हैं ।**

स्त्री और पुरुष, दोनों की चुम्बनादि अनंग-सेवन, उग्र कषाय, तीव्र कामेच्छा, पाखंडीपन और स्त्री के व्रत का भंग करना—**ये नपुंसकवेद बन्धन के आस्रव हैं ।**

साधुओं की निन्दा करना, धर्मिष्ठ लोगों के लिए बाधक बनना, जो मद्य-मांसादि के सेवन करने वाले हैं, उनके सामने मद्य-मांसादि भक्षण की प्रशंसा करना, देश-विरत श्रावक के लिए बार-बार अन्तराय उत्पन्न करना, अविरत हो कर स्त्री आदि के गुणों का व्याख्यान करना, चारित्र्य को दूषित करना और दूसरों के कषाय तथा नोकषाय की उदीरणा करना—**ये चारित्र्य-मोहनीय कर्म बाँधने के मुख्य आस्रव हैं ।**

पंचेन्द्रिय जीवों का वध, महान् आरम्भ और महा परिग्रह, अनुकम्पा रहित होना, मांस-भक्षण, स्थायी वैर-भाव, रौद्रध्यान, अतन्तानुबन्धी कषाय, कृष्ण, नील और कापोत लेश्या, असत्य-भाषण, परद्रव्य हरण, बार-बार मैथुन सेवन और इन्द्रियों के वशीभूत हो जाना, **ये नरक-गति के आयुष्य कर्म के आस्रव हैं ।**

उन्मार्ग का उपदेश, सन्मार्ग का नाश गुप्ततापूर्वक धन का रक्षण, आर्त्तध्यान, शल्ययुक्त हृदय, माया (कपट) आरम्भ-परिग्रह, शील एवं व्रत को दूषित करना, नील और कापोत लेश्या और अप्रत्याख्यानी कषाय—**ये तिर्यच-गति का आयुष्य बाँधने के आस्रव हैं ।**

अल्प परिग्रह तथा अल्प आरम्भ, स्वभाव की कोमलता और सरलता, कापोत और पीत लेश्या (तेजो लेश्या), धर्मध्यान में अनुराग, प्रत्याख्यानी कषाय, मध्यम परिणाम, दान देने की रुचि, देव और गुरु की सेवा, पूर्वालाप (आने वाले का 'पधारो' आदि से पहले से आदरयुक्त बोलना) प्रियालाप, प्रेमपूर्वक समझाना, लोक-समूह में मध्यस्थता—**ये मनुष्य-गति आयुष्य बन्धन के आस्रव हैं ।**

सराग-संयम, देशसंयम, अकामनिर्जरा, कल्याणमित्र (सुगुरु) का परिचय, धर्म

श्रवण करने की रुचि, पात्र-दान, तप, श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप तीन रत्नों की आराधना, मृत्यु के समय तेजो और पद्म लेश्या का परिणाम, बालतप, अग्नि, जल आदि साधनों से मृत्यु पाना, फाँसी खा कर मरना और अव्यक्त समभाव—ये देवगति का आयुष्य बाँधने के आश्रय हैं।

मन, वचन और काया की वक्रता, दूसरों को ठगना, कपटाई करना, मिथ्यात्व, पशुन्य, मानसिक चञ्चलता, नकली मिक्का, चाँदी, सोना आदि बना कर ठगना, झूठी साक्षी देना, वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को बदल कर धोखा देना, किसी जीव के अंग-उपांग काटना और कटवाना, यन्त्रादि की क्रिया, खोटे तोल-माप आदि का उपयोग कर के ठगाई करना, स्वात्म-प्रशंसा, पर-निन्दा, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, महा आरम्भ, महा परिग्रह, कठोर-वचन, तुच्छ-भाषण, उज्ज्वल वेशादि का अभिमान करना, वाचालता, आक्रोश करना, किसी के सौभाग्य को मिटाने का प्रयत्न, कामण (किसी को हानि पहुँचाने, दुःखी करने या मारने के लिए मन्त्र-तन्त्रादि करना) त्यागीपन का दम्भ कर के उत्तमार्ग गमन करना, साधु आदि हो कर दूसरों के मन में कौतुक उत्पन्न करना, वेश्यादि को अलंकारादि देना, दावानल सुलगाना, चोरी करना, तीव्र कषाय, अंगारादि १५ कर्मादान की क्रिया करना—ये सभी अशुभ नामकर्म के आश्रय हैं। इनसे विपरीत क्रियाएँ—संसार से भीरुता, प्रमाद का नाश, सद्भाव की अर्पणता, क्षान्ति आदि गुण, धार्मिक पुरुषों के दर्शन, सेवा और सत्कार, ये शुभ नाम यावत् तीर्थकर नामकर्म बन्ध के आश्रय हैं।

१ अरिहंत २ सिद्ध ३ गुह ४ स्थविर ५ बहुधुन ६ गच्छ ७ श्रुतज्ञान ८ तपस्वियों की भक्ति ९ आवश्यकादि क्रिया १० चारित्र्य ११ ब्रह्मचर्य पालन में अप्रमाद १२ विनय १३ जानाभ्यास १४ तप १५ त्याग (दान) १६ शुभध्यान १७ प्रवचन-प्रभावना १८ चतुर्विध संघ में समाधि उत्पन्न करना तथा साधुओं की वैयावृत्य करना १९ अपूर्वज्ञान का ग्रहण करना और २० सम्यग्दर्शन की शुद्धि, × इन बीस स्थानकों का प्रथम और चरम तीर्थकर ने स्पर्श किया है और अन्य तीर्थकरों ने इनमें से एक, दो अथवा तीन स्थानकों का स्पर्श किया है।

पर-निन्दा, अवज्ञा, उपहास, सद्गुणों का लोप, सत् अथवा असत् दोषों का आरोपण, स्वात्म-प्रशंसा, अपने सत्-असत् गुणों का प्रचार, अपने दोषों को दबाना और जाति आदि

× इन बीस स्थानकों के क्रम में भी अन्तर है और प्रकार भेद से नामों में भी अन्तर है।

का मद (अभिमान) करना—ये नीच-गोत्र कर्म के आस्रव हैं। नीच गोत्र में बताये हुए दोषों से विपरीत गुणों—गर्व रहितता और मन, वचन और काया से विनय करना—ये उच्च गोत्र के आस्रव हैं।

दान, लाभ, वीर्य, भोग तथा उपभोग में किसी कारण से या बिना कारण ही किसी को विघ्न करना—वाधक बनना, ये अन्तराय कर्म के आस्रव हैं।

इस प्रकार आस्रव से उत्पन्न, इस अपार संसार रूपी समुद्र को दीक्षा रूपी जहाज के द्वारा तिर कर पार हो जाना बुद्धिमानों का कर्तव्य है।

मनोवाक्काय कर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभं ।

यदाश्रवंति जंतूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥१॥

मैत्र्यादिवासितं चेत, कर्म सूते शुभात्मकम् ।

कषायविषयाक्रान्तं, वितनोत्यशुभं पुनः ॥२॥

शुभार्जनाय सुतथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः ।

विपरीतं पुनर्जयमशुभार्जन हेतवे ॥३॥

शरीरेण सुगुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभम् ।

सततारंभिणा जंतुघातकेनाशुभं पुनः ॥४॥

कषायविषयायोगाः प्रमादाविरति ता ।

मिथ्यात्वमार्तरौद्रं चेत्यशुभं प्रति हेतवः ॥५॥

—मन, वचन और काया का व्यापार, 'योग' कहलाता है। इन योगों के द्वारा प्राणियों में शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता है। शुभाशुभ कर्म के आगमन को ही 'आस्रव' कहते हैं।

जब मन, मैत्री प्रमोदादि भावना से शुभ परिणाम युक्त होता है, तब शुभ कर्म की उत्पत्ति करता है और क्रोधादि कषाय युक्त और इन्द्रियों के विषयों से आक्रान्त होता है, तब अशुभ कर्म का सञ्चय करता है।

श्रुतज्ञान के आश्रय से बोला हुआ सत्य वचन, शुभ कर्म के आस्रव का कारण होता है। इसके विपरीत वचन प्रवृत्ति से, अशुभ कर्म के आस्रव का कारण होता है।

शरीर को बुरी प्रवृत्ति से भली प्रकार से रोक कर, धार्मिक प्रवृत्ति में लगाने से आत्मा शुभकर्म का आस्रव करता है और जीव-घातादि अशुभ कार्यों में निरन्तर लगाये

रहने से अशुभ कर्म का आगमन होता है ।

क्रोधादि कपाय, इन्द्रियों के विषय, तीन योग, प्रमाद, अव्रत, मिथ्यात्व, आत्तं और रोद्र ध्यान आदि अशुभ कर्मों के आस्रव के कारण हैं । इन अशुभ कर्मों से पीछे हटना, यह आस्रव भावना का हेतु है ।

भगवान् के 'वराह' आदि ८८ गणधर हुए । २००००० साधु, १२०००० साधिवयें ८४०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वधर, ७५०० मनःपर्यवज्ञानी, ७४०० केवलज्ञानी, १३००० वैक्रिय-लब्धि वाले, ६००० वादलब्धि वाले, २२९००० श्रावक और ४७२००० श्राविकाएँ हुई ।

आयुष्य-काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ पधारे । एक मास का अनशन हुआ और कार्तिक-कृष्ण नौमी को मूल नक्षत्र में, अट्ठाइस पूर्वांग और चार मास कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद भोग कर मोक्ष पधारे । प्रभु का कुल आयुष्य दो लाख पूर्व का था ।

धर्म-विच्छेद और असंयती-पूजा

प्रभु के निर्वाण के बाद कुछ काल तक तो धर्मशासन चलता रहा, किन्तु बाद में हुंदावसर्पिणी काल के दोष से श्रमण धर्म का विच्छेद हो गया । एक भी साधु नहीं रहा । लोग, वृद्ध श्रावकों से धर्म का स्वरूप जानने लगे । श्रावक ही धर्म सुनाते, तब श्रोतागण श्रावकों की अर्थ-पूजा करने लगे । वे श्रावक भी अर्थ-पूजा के लोभी बन गए । उन्होंने नये-नये शास्त्र रचे और दान के फल का महत्त्व बढ़ा-चढ़ा कर बताने लगे । फिर वे पृथ्वी-दान, लोहदान, तिलदान, स्वर्णदान, गृहदान, गोदान, अश्वदान, गजदान, शय्यादान और कन्यादान आदि का प्रचार कर के वैसा दान ग्रहण करने लगे । वे अपने को दान ग्रहण करने योग्य महापात्र बतला कर और दूसरों को कुपात्र कह कर निन्दा करने लगे । वे स्वयं लोगों के गुरु बन गए । इस प्रकार भ० सुविधिनाथजी का तीर्थ विच्छेद हो कर असंयत-अविरत की पूजा होने लगी ।

जौवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ सुविधिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० शीतलनाथजी



पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व महाविदेह के वज्र नाम के विजय में सुसीमा नाम की नगरी थी । पद्मोत्तर नाम के नरेश वहाँ के स्वामी थे । उन्होंने संसार से विरक्त हो कर त्रिस्ताम्र नाम के आचार्य के समीप दीक्षा अंगीकार की और चारित्र्य की आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया । आयुष्य पूर्ण कर प्राणत नाम के दसवें स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'भद्रिलपुर' नगर था । 'दृढरथ' नाम के महाराज वहाँ के शासक थे । उनकी महारानी का नाम 'नन्दादेवी' था । पद्मोत्तर मुनिराज का जीव, प्राणत देवलोक का बीस सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के वैशाख-कृष्ण छठ को पूर्वाषाढा नक्षत्र में नन्दादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । माघ-कृष्ण द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में उनका जन्म हुआ । गर्भकाल में महाराजा का शरीर किसी रोग के कारण तप्त हो गया था, किन्तु महारानी के स्पर्श से सारी तपन मिट कर शीतलता व्याप गई । इसे गर्भस्थ जीव का प्रभाव मान कर पुत्र का नाम 'शीतलनाथ' रखा गया । यौवनवय में कुमार का विवाह किया गया । श्री शीतलनाथजी पच्चीस हजार पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे । महाराजा दृढरथ ने अपना राज्य-भार शीतलनाथजी को दिया । आपने पचास हजार पूर्व तक राज्य-भार वहन किया । इसके बाद माघ-कृष्ण द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संसार का त्याग कर के संयम साधना में तत्पर हो गए । तीन महीने तक प्रभु छद्मस्थ रह कर चारित्र्य का विशुद्ध रीति से पालन करते रहे । पौष मास के

कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में घातीकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त किया। इन्द्रादि देवों ने केवल-महोत्सव किया।

धर्मदेशना

संवर भावना

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान् ने प्रथम धर्मोपदेश में फरमाया—

“इस संसार में सभी पौद्गलिक पदार्थ, विविध प्रकार के दुःख के कारण हैं और क्षणिक हैं। पौद्गलिक-रुचि ही आस्रव की मूल और दुःख की सर्जक है और आस्रव का निरोध करना ‘संवर’ है। संवर अनन्त सुखों के भण्डार रूप मोक्ष को प्राप्त करने का साधन है।

संवर दो प्रकार का है—१ द्रव्य संवर और २ भाव संवर। जिससे कर्म-पुद्गलों का ग्रहण रुके, वह द्रव्य-संवर है और जिससे संसार की हेतु ऐसी परिणति और क्रिया का त्याग हो, वह भाव-संवर है। जिन-जिन उपायों से जिस-जिस आस्रव का निरोध हो, उस आस्रव की रोक के लिए बुद्धिमानों को वैसे ही उपाय करना चाहिये। संवर धर्म के वे उपाय इस प्रकार हैं—

क्षमा—सहनशीलता से क्रोध के आस्रव को रोकना चाहिए। कोमलता (नम्रता) से मान का, सरलता से माया का और निस्पृहता से लोभ का। इस प्रकार चार प्रकार की संवरमय साधना से, संसार के सब से बड़े आस्रव रुक जाते हैं।

बुद्धिशाली मनुष्य का कर्तव्य है कि असंयम से उन्मत्त बने हुए, त्रिष के समान त्रिषयों का, अखण्ड संयम के द्वारा निरोध करे। मन वचन और काया के योग जन्म आस्रव को, तीन गुप्तियों के अंकुश से बश में करना चाहिए।

मद्य एवं विषय-कषायादि प्रमाद आस्रव का अप्रमत्त भाव से संवरण करना और सभी प्रकार के सावद्य-योग के त्याग के द्वारा अविरति को रोक कर विरति रूपी संवर की आराधना करनी चाहिए।

संवर की साधना करते वाले को सर्व-प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व के महान् आस्रव को बन्द कर देना चाहिए।

चित्त की उत्तमता, पवित्रता एवं शुभ ध्यान में स्थिरता के द्वारा आर्त्त और रीद्र ध्यान पर विजय पाना चाहिए ।

जिस प्रकार अनेक द्वार वाले भवन के सभी द्वार खुले रहें, तो उसमें धूल अवश्य ही घुस जाती है और इस प्रकार घुसी हुई धूल, तेल आदि की चिकास के संयोग से चिपक कर तन्मय हो जाती है । यदि घर के सभी द्वार बन्द रहें, तो धूल घुसने का अवसर ही नहीं आवे । उसी प्रकार आत्मा में कर्म-पुद्गल के प्रवेश करने के सभी द्वारों को बन्द कर दिया जाय, तो कर्म का आना ही रुक जाय ।

जिस प्रकार किसी सरोवर में पानी आने के सभी नाले खुले रहें, तो उसमें चारों ओर से पानी आ कर इकट्ठा होता जाता है और नाले बन्द कर देने पर पानी आना बन्द हो जाता है । फिर उसमें बाहर का पानी नहीं आ सकता । उसी प्रकार अविरति रूपी आस्रव द्वार बन्द कर देने से आत्मा में कर्मों की आवक रुक जाती है ।

जिस प्रकार किसी जहाज के मध्य में छिद्र हो गये हों, तो उन छिद्रों में से जहाज में पानी भरता रहता है और भरते-भरते जहाज के डूब जाने की सम्भावना रहती है और छिद्र बन्द कर देने से पानी का आगमन रुक जाता है । फिर जहाज को कोई खतरा नहीं रहता । इसी प्रकार योगादि आस्रव द्वारों को सभी प्रकार से बन्द कर दिया जाय, तो संवर से सुशोभित बने हुए चारित्रात्मा में कर्म-द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता ।

आस्रव के निरोध के उपाय को ही 'संवर' कहते हैं और संवर के क्षमा आदि अनेक भेद हैं । गुणस्थानों में चढ़ते-चढ़ते जिन आस्रव द्वारों का निरोध होता है, उन नामों वाले संवर की प्राप्ति होती है । अद्विगत सम्यग्दृष्टि से मिथ्यात्व का उदय रुक जाने से सम्यक्त्व संवर की प्राप्ति होती है । देशविरति आदि गुणस्थानों में अविरति का (विरति) संवर होता है । अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रमाद का संवरण होता है । उपशांत-मोह और क्षीण-मोह गुणस्थानों में कषाय का संवरण होता है और अयोगी-केवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में पूर्णरूप से योग-संवर होता है ।

जिस प्रकार जहाज का खिंचाया, छिद्र-रहित जहाज के योग से, समुद्र को पार कर जाता है, उसी प्रकार पवित्र भावना और सुबुद्धि का स्वामी, उपरोक्त क्रम से पूर्ण संवरवान् हो कर संसार-समुद्र के पार पहुँच कर परम सुखी बन जाता है ।

“सर्वेषामाश्रवाणां तु, निरोधः संवरः स्मृतः ।

स पुनर्भिद्यते द्वेधा, द्रव्य-भावविभेदतः ॥१॥

यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्य-संवरः ।
 भवहेतु क्रियात्यागः स पुनर्भाव-संवरः ॥ २ ॥
 “येन-येनह्युपायेन रुध्यते यो य आश्रवः ।
 तस्य-तस्य निरोधाय, स स योज्यो मनीषिभिः ॥ ३ ॥
 क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाप्यनीहया ।
 क्रोधं मानं तथा मायां, लोभं हंथाद्यथाक्रमम् ॥ ४ ॥
 असंयमकृतोत्सेकान्, विषयान् विषसंनिभान् ।
 निराकुर्यादखंडेन संयमेन महामतिः ॥ ५ ॥
 त्रिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमादं चाप्रमादतः ।
 सावद्ययोगहानेनाविरतिं चापि साधयेत् ॥ ६ ॥
 सदृशनेन मिथ्यात्वं, शुभस्थैर्येण चेतसः ।
 विजयेत्तार्तरौद्रे च, संवरार्थं कृतोद्यमः ॥ ७ ॥

इन सात श्लोकों में इस देसना का मार आ गया है । संवर के द्वारा सभी प्रकार के अशुभ कर्मों के, आत्मा में प्रवेश करने के द्वार बन्द किये जाते हैं । संवर उस कौलादी कवच का नाम है, जिसके द्वारा आत्मा-सम्राट की पूर्ण रूप से रक्षा होती है । संवर रूपी रक्षक के सद्भाव में विषय-कषायादि चोर, आत्मा के ज्ञानादि गुणों और सुख-शान्ति को नहीं चुरा सकते ।

संवर के व्यवहार दृष्टि से २० भेद इस प्रकार हैं—

१ मिथ्यात्व आश्रव को रोक कर ‘सम्यक्त्व’ गुण की रक्षा करना, इसी प्रकार
 २ विरति ३ अप्रमत्तता ४ कषाय त्याग ५ अशुभ योगों का त्याग ६ प्राणातिपात विरमण
 ७ भृषावाद विरमण ८ अदत्तादान विरमण ९ मैथुन त्याग १० परिग्रह त्याग ११ श्रोतेन्द्रिय
 संवर १२ चक्षुश्चन्द्रिय संवर १३ घ्राणेन्द्रिय संवर १४ रसनेन्द्रिय निरोध १५ स्पर्शनेन्द्रिय
 संवर १६ मन संवर १७ वचन संवर १८ काय संवर १९ भण्डोपकरण उठाते-रखते
 अयतना से होने वाले आश्रव का निरोध और २० सूत्रि-कुशाग्र मात्र लेने रखने में साव-
 धानी रखना ।

दूसरी अपेक्षा से संवर के ५७ भेद इस प्रकार हैं—

५ पाँच समिति ६-८ तीन गुप्ति ९-३० बाईस परीषह सहन करना ३१-४०
 क्षमादि दस प्रकार का यतिधर्म ४१-५२ अनित्यादि बारह भावना और ५३-५७ सामा-

यिकादि पाँच चारित्र ।

संवर का दूसरा नाम 'निवृत्ति' भी है । निवृत्ति के द्वारा आत्मा, अनन्त असीम पौद्गलिक रुचि को छोड़ कर—निवृत्त हो कर अपने-आप में स्थिर होता है । स्थिरता की वृद्धि के साथ गुणस्थान की वृद्धि होती है और जब पूर्ण स्थिरता हो जाती है, तब आत्मा मुक्त हो कर शाश्वत पद को प्राप्त कर लेती है । धर्म का मूल आधार ही संवर है । संवर रूपी फौलादी रक्षा-कवच को धारण करने वाला आत्म-सम्राट, पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है । उस पर मोहरूपी महाशत्रु का आक्रमण सफल नहीं हो सकता । संवरवान् आत्मा, मोह महाशत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर के धर्म-चक्रवर्तीपद प्राप्त कर ईश्वर—जिनेश्वर बन जाता है । वह शाश्वत सुखों को प्राप्त कर लेता है ।

प्रभु की प्रथम देशना में अनेक भव्यात्माओं ने सर्वविरतिरूप श्रमण-धर्म स्वीकार किया और अनेक देश-विरत श्रावक बने । प्रभु के 'आनन्द' आदि ८१ गणधर हुए । प्रभु तीन मास कम पञ्चीस हजार पूर्व तक पृथ्वीतल पर विचर कर और भव्य जीवों को प्रति-बोध दे कर मोक्षमार्ग में लगाते रहे । प्रभु के धर्मोपदेश से प्रेरित हो कर एक लाख पुरुषों ने श्रमण-धर्म स्वीकार किया । १००००६ + साध्वियाँ हुई । १४०० चौदह पूर्वधारी, ७२०० अवधिज्ञानी, ७५०० मनःपर्यवज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १२००० वैक्रिय-लब्धि वाले, ५८०० बादलब्धि वाले, २८९००० श्रावक और ४५८००० श्राविकाएँ हुई ।

मोक्ष काल निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक मास का संथारा किया । वैशाख-कृष्ण द्वितीया तिथि को पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्रभु परम सिद्धि को प्राप्त हुए । प्रभु का कुल आयुष्य एक लाख पूर्व का था ।

+ त्रि. श. पू. च. में १०६००० लिखी है ।

दसवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ शीतलनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० श्रेयांसनाथजी



पृष्करवर दीपाई के 'कच्छ' नाम के विजय में 'क्षेमा' नाम की एक नगरी थी। 'नलिनिगुलम' नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। उसके मन्त्री बड़े कुशल और योग्य थे। उसका धन-भण्डार भरपूर था। हाथी, घोड़े और सेना विशाल तथा शक्तिशाली थी। इस प्रकार धन, सम्पत्ति, बल और प्रताप में बढ़-चढ़ कर होने पर भी नरेश, धन, यौवन और लक्ष्मी को अमार मान कर अति लुब्ध नहीं हुआ था। कामभोग के प्रति उसकी उदासीनता बढ़ रही थी। अंत में उन्होंने राजपाट छोड़ कर वज्रदत्त मुनि के समीप निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और उग्र साधना तथा तप से आत्मा को पवित्र करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया। प्रशस्त ध्यान युक्त काल कर के महाशुक्र नाम के सातवें देवलोक में उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में सिंहपुर नाम का एक समृद्ध नगर था। 'विष्णुराज' नरेश वहाँ के अधिपति थे। उनकी रानी का नाम भी 'विष्णु' था। देवलोक से नलिनिगुलम मुनि का जीव अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के विष्णुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। विष्णुदेवी ने चौदह महा स्वप्न देखे। भाद्रपद-कृष्ण द्वादशी को 'श्रवण' नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। श्रेयस्कारी प्रभाव के कारण माता-पिता ने 'श्रेयांस' नाम दिया। यौवनवय में राजकुमारियों के साथ लग्न किये। २१००००० वर्ष तक कुमार-पद पर रह कर, पिता द्वारा प्रदत्त राज्य के अधिकारी हुए। ४२००००० वर्षों तक राज किया। इसके बाद विरक्त हो कर वर्षादान दिया और फाल्गुन-कृष्ण १३ के दिन श्रवण-नक्षत्र में, बेल के तप के साथ प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रभु का प्रथम पारणा सिद्धार्थ नगर के नन्द राजा के यहाँ परमान्न से हुआ। पाँच दिव्य प्रकट हुए।

भ० श्रेयांसनाथजी दीक्षा लेने के दो माह तक छत्रस्थ अवस्था में विचरे । फिर वे सहस्राम वन में पधारे । वहाँ वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए और शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण के अन्त में वर्धमान परिणाम से रहे हुए प्रभु ने मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर दिया । उसके बाद एक साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को नष्ट किया । इन चारों घाती-कर्मों को नष्ट कर के माघ कृष्ण अमावस्या के दिन, चन्द्र के श्रवण-नक्षत्र में आने पर, वेल के तप के साथ प्रभु को केवल-ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हुई । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए । इन्द्रादि देवों ने प्रभु का केवल महोत्सव किया ।

धर्मदेशना

निर्जरा भावना

भगवान् ने अपनी देशना में फरमाया कि—

“स्वयंभूरमण समुद्र” सब से बड़ा है, किन्तु संसार-समुद्र तो उससे भी अधिक बड़ा है । इसमें कर्म रूपी उर्मियों के कारण जीव कभी ऊँचा उठ जाता है, तो कभी नीचे गिर जाता है और कभी तिरछा चला जाता है । कभी देव बन जाता है, कभी नारक और कभी निगोद का क्षुद्रतम प्राणी । इस प्रकार कर्म से प्रेरित जीव, विविध अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है । जिस प्रकार वायु से स्वेद-बिन्दु तथा औषधी से रस झर जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के बल से, संसार-समुद्र में डुबने के कारणभूत आठों कर्म झर जाते हैं—आत्मा से विलग हो जाते हैं । जिनमें संसार रूपी महावृक्ष के बीज भरे हुए हैं, ऐसे कर्मों का जिस शक्ति के द्वारा पृथक्करण होता है, उसे ‘निर्जरा’ कहते हैं ।

निर्जरा के ‘सकाम’ और ‘अकाम’ ऐसे दो भेद हैं । जो यम-नियम के धारक हैं, उन्हें सकाम-निर्जरा होती है और अन्य प्राणियों को अकाम-निर्जरा होती है । फल के समान कर्मों की परिपक्वता अपने-आप भी होती है और प्रयत्न विशेष से भी होती है । जिस प्रकार दूषित स्वर्ण, अग्नि के द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से आत्मा के दोष दूर हो कर शुद्धि हो जाती है । यह तप दो प्रकार का है—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर ।

बाह्य तप—१ अनशन २ ऊनोदरी ३ वृत्ति-संक्षेप ४ रस-त्याग ५ काय-क्लेश और ६ संलीनता । बाह्य तप के ये छह प्रकार हैं ।

आभ्यन्तर तप के छह भेद इस प्रकार हैं—१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ शुभध्यान और ६ व्यत्सर्ग ।

बाह्य और आभ्यन्तर तप रूपी अग्नि को प्रज्वलित कर के व्रतधारी पुरुष, अपने दुर्जर कर्मों को भी जला कर भस्म कर देता है ।

जिस प्रकार किसी सरोवर के, पानी आने के सभी द्वार बन्द कर देने से उसमें बाहर से पानी नहीं आ सकता, उसी प्रकार संवर से युक्त आत्मा के आस्रव द्वार बन्द होने पर नये कर्म का योग नहीं हो सकता । जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड ताप से सरोवर में रहा हुआ पानी सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मा के पूर्व बँधे हुए कर्म, तपश्चर्या के ताप से तत्काल क्षय हो जाते हैं । बाह्य-तप से आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ होता है । इससे निर्जरा विशेष होती है । मुनिजन कहते हैं कि आभ्यन्तर तप में भी ध्यान का राज्य तो एक छत्र रहा हुआ है । ध्यानस्थ रहे हुए योगियों के चिरकाल से उपार्जन किये हुए प्रबल कर्म, तत्काल निर्जरीभूत हो जाते हैं । जिस प्रकार शरीर में बढ़ा हुआ दोष, लंघन करने से नष्ट होता है, उसी प्रकार तप करने में, पूर्व के संचित किये हुए कर्म क्षय हो जाते हैं ।

जिस प्रकार प्रचण्ड पवन के वेग से बादलों का समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चर्या से कर्म-समूह विनष्ट हो जाता है । जब संवर और निर्जरा, प्रतिक्षण शक्ति के साथ उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, तब वे अवश्य ही मोक्ष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं ।

बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दोनों प्रकार की तपस्या से कर्मों को जलाने वाला प्रज्ञावंत पुरुष, सभी कर्मों से मुक्त हो कर मोक्ष के परम उत्कृष्ट एवं शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ।

“संसारबीजभूतानां, कर्मणां जरणादिह ।

निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामा कामवर्जिता ॥ १ ॥

ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनां ।

कर्मणां फलवत्पाको, यदुपायात्स्वतोऽपि च ॥ २ ॥

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा ।

तपोग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥ ३ ॥

अनशनमौनोदर्यं बृतेः संक्षेपणं तथा ।

रसत्यागस्तनुक्लेशो, लीनतेति बहिस्तपः ॥ ४ ॥

प्रायश्चित्तं वैयावृत्यं, स्वाध्यायो विनयोऽपि च ।
 व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं, षोढेत्याभ्यन्तरं तपः ॥ ५ ॥
 दीप्यमाने तपोबह्वी, बाह्ये वाभ्यन्तरेपि च ।
 यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥ ६ ॥

साधारणतया जहाँ संवर है वहाँ सकाम-निजंरा होती रहती है, किंतु तप द्वारा की हुई निजंरा विगेष रूप से होती है । उससे आत्मा की शुद्धि शीघ्रतापूर्वक होती है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव चरित्र

महाविदेह क्षेत्र में 'पुंडरिकिनी' नगरी थी । सुबल नाम का राजा वहाँ राज करता था । उसने वैराग्य प्राप्त कर 'मुनिवृषभ' नाम के आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और संयम तथा तप का अप्रमत्तपने उत्कृष्ट रूप से पालन करते हुए काल कर के अनुत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए ।

भरत-क्षेत्र के राजगृह नगर में 'विश्वनंदी' नाम का राजा था । उसकी 'प्रियंगु' नाम की पत्नी से 'विशाखनन्दी' नाम का पुत्र हुआ । विश्वनन्दी राजा के 'विशाखभूति' नाम का छोटा भाई था । वह 'युवराज' पद का धारक था । वह बड़ा बुद्धिमान्, बलवान् नीतिवान् और न्यायी था, साथ ही विनीत भी । विशाखभूति की 'धारिणी' नाम की रानी की उदर से, मरीचि का जीव (जो प्रथम चक्रवर्ती महाराजा भरतेश्वर का पुत्र था और भ० आदिनाथ के पास से निकल कर पृथक् पंथ चला रहा था) पुत्रपने उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'विश्वभूति' रखा गया । वह सभी कलाओं में प्रवीण हुआ । यौवन-वय आने पर अनेक सुन्दर कुमारियों के साथ उसका लग्न किया गया । वहाँ 'पुष्प करंडक' नाम का उद्यान बड़ा सुन्दर और रमणीय था । उस नगरी में सर्वोत्तम उद्यान यही

था। राजकुमार विश्वभूति अपनी स्त्रियों के साथ उसी उद्यान में रह कर विषय-सुख में लीन रहने लगा।

एक बार महाराज विश्वनन्दी के पुत्र राजकुमार विशाखनन्दी के मन में, इस पुष्प-करंडक उद्यान में अपनी रानियों के साथ रह कर क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। किंतु उस उद्यान में तो पहले से ही विश्वभूति जमा हुआ था। इसलिए विशाखनन्दी वहाँ जा ही नहीं सकता था। वह मन मार कर रह गया। एक बार महारानी की दासियाँ उस उद्यान में फूल लेने गईं। उन्होंने विश्वभूति और उसकी रानियों को उन्मुक्त क्रीड़ा करते देखा। उनके मन में डाह उत्पन्न हुई। उन्होंने महारानी से कहा—

“महारानीजी ! इस समय वास्तविक राजकुमार तो मात्र विश्वभूति ही है। वही सर्वोत्तम ऐसे पुष्पकरंडक उद्यान का उपभोग कर रहा है और अपने राजकुमार तो उससे वंचित रह कर मामूली जगह रहते हैं। यह हमें तो बहुत बुरा लगता है। महाराजाधिराज एवं राजमाहिषी का पाटवी कुमार, साधारण ढंग से रहे और छोटा भाई का लड़का राजाधिराज के समान सुख-भोग करे, यह कितनी बुरी बात है ?”

महारानी को बात लग गई। उनके मन में भी द्वेष की चिनगारी पैठ गई और सुलगने लगी। महाराज अन्तःपुर में आये। रानी को उदास देख कर पूछा। राजा ने रानी को समझाया—“प्रिये ! यह ऐसी बात नहीं है जिससे मन मैला किया जाय। कुछ दिन विश्वभूति रह ले, फिर वह अपने आप वहाँ से हट कर भवन में आ जायगा और विशाखनन्दी वहाँ चला जायगा। छोटी-सी बात में कलह उत्पन्न करना उचित नहीं है।” किन्तु रानी की संतोष नहीं हुआ। अन्त में महाराजा ने रानी की मनोकामना पूर्ण करने का आश्वासन दिया, तब संतोष हुआ।

राजा ने एक चाल चली। उसने युद्ध की तय्यारियाँ प्रारम्भ की। सर्वत्र हलचल मच गई। यह समाचार विश्वभूति तक पहुँचा, तो वह तुरन्त महाराज के पास आया और महाराज से युद्ध की तय्यारियों का कारण पूछा। महाराजा ने कहा,—

“वत्स ! अपना सामन्त पुरुषसिंह विद्रोही बन गया है। वह उपद्रव मचा कर राज्य को छिन्न-भिन्न करना चाहता है। उसे अनुशासन में रखने के लिए युद्ध आवश्यक हो गया है।”

“पूज्यवर ! इसके लिये स्वयं आपका पधारना आवश्यक नहीं है। मैं स्वयं जा कर उसके विद्रोह को दबा दूँगा और उसकी उद्दंडता का दण्ड दे कर सीधा कर दूँगा। आप

मुझे आज्ञा दीजिए ।”

राजा यही चाहता था । विश्वभूति सेना ले कर चल दिया । उसकी पत्नियाँ उद्यान में से राज भवन में आ गई । विश्वभूति की सेना उस सामंत की सीमा में पहुँचा, तो वह स्वयं स्वागत के लिए आया और उसने कुमार का खूब आदर-सत्कार किया । कुमार ने देखा कि यहाँ तो उपद्रव का चिन्ह भी नहीं है । सामन्त, पूर्ण रूप से आज्ञाकारी है । उसके विरुद्ध युद्ध करने का कोई कारण नहीं है । कदाचित् किसी ने असत्य समाचार दिये होंगे । वह सेना ले कर लौट आया और उसी पुष्पकरंडक उद्यान में गया । उद्यान में प्रवेश करते उसे पहरेदार ने रोका और कहा—“यहाँ राजकुमार विशाखनन्दी अपनी रानियों के साथ रहते हैं । अतएव आपका उद्यान में पधरना उचित नहीं होगा ।”

अब विश्वभूति समझा । उसने सोचा कि ‘मुझे उद्यान में से हटाने के लिए ही युद्ध की चाल चली गई ।’ उसे क्रोध आया । अपने उग्र क्रोध के बश हो कर निरुद्ध ही रहे हुए एक फलों से लदे हुए सुदृढ़ वृक्ष पर मुक्का मारा । मुठि-प्रहार से उसके फल टूट कर गिर पड़े और पृथ्वी पर ढेर लग गया । फलों के उस ढेर की ओर संकेत करते हुए विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा;—

“यदि पूज्यवर्ग की आज्ञातना का विचार मेरे मन में नहीं होता, तो मैं अभी तुम सब के मस्तक इन फलों के समान क्षण-मात्र में नीचे गिरा देता ।”

“धिक्कार है इस भोग-लालसा को । इसी के कारण-कूड़-कपट और ठगाने होती है । इसी के कारण पिता-पुत्र, भाई-भाई और अपने आत्मीय से छल-प्रपञ्च किये जाते हैं । मुझे पापों की खान ऐसे कामभोग को ही शत मार कर निकल जाना चाहिए ।”—इस प्रकार निश्चय कर के विश्वभूति वहाँ से चला गया और संभूति नाम के मुनि के पास पहुँच कर साधु बन गया । जब ये समाचार महाराज विश्वनाथ ने सुने, तो वे अपने समस्त परिवार और अन्तःपुर के साथ विश्वभूति के पास आये और कत्ने लगे;—

“वत्स ! तेने यह क्या कर लिया ? अरे, तू सदैव हमारी आज्ञा में चलने वाला रहा, फिर बिना हमको पूछे यह दुःसाहस क्यों किया ?”

महाराज ने आगे कहा—“पुत्र ! मुझे तुझ पर पूरा विश्वास था । मैं तुझे अपना कुलदीपक और भविष्य में राज्य की धुरा को धारण करने वाला पराक्रमी पुरुष के रूप में देख रहा था । किंतु तूने यह साहस कर के हमारी आज्ञा को नष्ट कर दिया । अब भी समझ और साधुता को छोड़ कर हमारे साथ चल । हम सब तेरी इच्छा का आदर करेंगे ।

पुष्पकरण्डक उद्यान सदा तेरे लिए ही रहेगा । छोड़ दे इस हठ को और शीघ्र ही हमारे साथ हो जा ।”

राजा, अपने माता-पिता, पत्नियाँ और समस्त परिवार के आग्रह और स्नेह तथा करुणापूर्ण अनुरोध की उपेक्षा करते हुए मुनि विश्वभूतिजी ने कहा ;—

“अब मैं संसार के बन्धनों को तोड़ चुका हूँ । काम-भोग की ओर मेरी बिल्कुल रुचि नहीं रही । जिस काम-भोग को मैं सुख का सागर मानता था और संसार के प्राणी भी यही मान रहे हैं, वास्तव में वे दुःख की खान रूप है । स्नेही-सम्बन्धी अपने मोह-पाश में बाँध कर संसार रूपी कारागृह का बन्दी बनाये रखते हैं और मोही जीव अपनी मोहजाल का विस्तार करता हुआ उसी में उलझ जाता है । मैं अनायास ही इस मोह-जाल को नष्ट कर के स्वतन्त्र हो चुका हूँ । यह मेरे लिए आनन्द का मार्ग है । अब आप लोग मुझे संसार में नहीं ले जा सकते । मैं तो अब विशुद्ध संयम और उत्कृष्ट तप की आराधना करूँगा । यही मेरे लिए परम श्रेयकारी है ।”

मुनिराज श्री विश्वभूतिजी का ऐसा दृढ़ निश्चय जान कर परिवार के लोग हताश हो गए और लौट कर चले गये । मुनिराज अपने तप-संयम में मग्न हो कर अन्यत्र विचरने लगे ।

मुनिराज ने ज्ञानाभ्यास के साथ बेला-तेला आदि तपस्या करते हुए बहुत वर्ष व्यतीत किये । इसके बाद गुरु की आज्ञा ले कर उन्होंने ‘एकल-विहार प्रतिमा’ धारण की और विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करते हुए वे मथुरा नगरी के निकट आये । उस समय मथुरा नगरी के राजा की पुत्री के लग्न हो रहे थे । विशाखनन्दी बरात ले कर आया था और नगर के बाहर विशाल छावनी में बरात ठहरी थी । मुनिराजश्री विश्वभूतिजी, मासखमण के पारण के लिए नगर की ओर चले । वे बरात की छावनी के निकट हो कर जा रहे थे कि बरात के लोगों ने मुनिश्री को पहिचान लिया और एक दूसरे से कहने लगे—
“ये विश्वभूति कुमार हैं ।” यह सुन कर विशाखनन्दी भी उनके पास आया । उसके मन में पूर्व का द्वेष शेष था । उसी समय मुनिश्री के पास हो कर एक गाय निकली । उसके धक्के से मुनिराज गिर पड़े । उनके गिरने पर विशाखनन्दी हँसा और व्यंगपूर्वक बोला—

“वृक्ष पर मुक्का मार कर फल गिराने और उसी प्रकार क्षणभर में योद्धाओं के मस्तक गिरा कर ढेर करने की अभिमानपूर्ण बातें करने वाले महाबली ! कहाँ गया तेरा वह बल, जो गाय की मामूली-सी टक्कर भी सहन नहीं कर सका और पृथ्वी पर गिर कर

धूल चाटने लगा ? बाहू रे महाबली !”

तपस्वी मुनिजी, उसके मर्मन्तिक व्यंग को सहन नहीं कर सके। उनकी आत्मा में सुप्तरूप से रहा हुआ क्रोध भड़क उठा। उन्होंने उसी समय उस गाय के दोनों सींग पकड़ कर उसे उठा ली और घास के पुले के समान चारों ओर घुमा कर रख दी। इसके बाद वे मन में विचार करने लगे कि “यह विशाखनन्दी कितना दुष्ट है। मैं मुनि हो गया। अब इसके स्वार्थ में मेरी ओर से कोई बाधा नहीं रही, फिर भी यह मेरे प्रति द्वेष रखता है और शत्रु के समान व्यवहार करता है।” इस प्रकार कषाय भाव में रमते हुए उन्होंने निदान किया कि—

“मेरे तप के प्रभाव से आगामी भव में मैं महान् पराक्रमी बनूँ।”

इस प्रकार निदान कर के और उसकी शुद्धि किये बिना ही काल कर के वे महा-शुक्र नाम के सातवें स्वर्ग में महान् प्रभावशाली एवं उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने।

दक्षिण-भरत में पोटनपुर नाम का एक नगर था। ‘रिपुप्रतिशत्रु’ नामक नरेश वहाँ के शासक थे। वे न्याय, नीति, बल, पराक्रम, रूप और ऐश्वर्य से सम्पन्न और शोभायमान थे। उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था। वह पतिभक्ता, शीलवती और सद्गुणों की पात्र थी। वह सुखमय शय्या में सो रही थी। उस समय ‘सुबल’ मुनि का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी की कुक्षि में आया। महारानी ने हस्ति, वृषभ, चन्द्र और पूर्ण सरोवर ऐसे चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। जन्मोत्सवपूर्वक पुत्र का नाम ‘अचल’ रखा। कुछ काल के बाद भद्रा महारानी ने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। वह कन्या मृग के बच्चे के समान आँखों वाली थी, इसलिए उसका ‘मृगावती’ नाम रखा गया। वह चन्द्रमुखी, यौवनावस्था में आई, तब सर्वांग सुन्दरी दिखाई देने लगी। उसका एक-एक अंग सुगठित और आकर्षक था। यह देख कर उसकी माता महारानी भद्रावती को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। उसने सोचा— “महाराज का ध्यान अभी पुत्री के लिए वर खोजने की ओर नहीं गया है। राजकुमारी यदि पिताश्री के सामने चली जाय, तो उन्हें भी वर के लिए चिन्ता होगी।” इस प्रकार सोच कर उसने राजकुमारी को महाराज के पास भेजी। दूर से एक अपूर्व सुन्दरी को आते देख कर राजा मोहाभिभूत हो गया। उसने सोचा—“यह तो कोई स्वर्ग लोक की अप्सरा है। कामदेव के अमोघ शस्त्र रूप में यह अवतरी है। पृथ्वी और स्वर्ग का राज्य मिलना सुलभ है, किन्तु इन्द्रानी को भी पराजित करने वाली ऐसी अपूर्व सुन्दरी प्राप्त होना दुर्लभ है। मैं महान् भाग्यशाली हूँ जो मुझे ऐसा अलौकिक स्त्री-रत्न प्राप्त हुआ है।”

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि राजकुमारी ने पिता को प्रणाम किया। राजा ने उसे अपने निकट बिठाई और उसका आलिंगन और चुम्बन कर के साथ में रहे हुए वृद्ध कंचुकी के साथ पुनः अन्नपुर में भेज दी। राजा उस पर मोहित हो चुका था। वह यह तो समझता ही था कि पुत्री पर पिता की कुबुद्धि होना महान् दुष्कृत्य है। यदि मैं अपनी दुर्वासना को पूरी करूँगा, तो संसार में मेरी महान् निन्दा होगी। वह न तो अपनी वासना के वैग को दवा सकता था और न लोकापवाद की ही उपेक्षा कर सकता था। उसने बहुत सोच-विचार कर एक मार्ग निकाला।

राजा ने एक दिन राजसभा बुलाई। मंत्री-मण्डल के अतिरिक्त प्रजा के प्रमुख व्यक्तियों को भी बुलाया। सभी के सामने उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया;—

“मेरे इस राज में, नगर में, गाँव में, घर में या किसी भी स्थान पर कोई रत्न उत्पन्न हो, तो उस पर किसका अधिकार होना चाहिए?”

—“महाराज! आपके राज में जो रत्न उत्पन्न हो, उसके स्वामी तो आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं”—मण्डल और उपस्थित सभी सभाजनों ने एक मत से उत्तर दिया।

“आप पूरी तरह सोच लें और फिर अपना मत बतलावें यदि किसी का भिन्न मत हो, तो वह भी स्पष्ट बता सकता है”—स्पष्टता करते हुए राजा ने फिर पूछा। सभाजनों ने पुनः अपना मत दुहराया। राजा ने फिर तीसरी बार पूछा;—

—“तो आप सभी का एक ही मत है कि—“मेरे राज, नगर, गाँव या घर में उत्पन्न किसी भी रत्न का एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ। दूसरा कोई भी उसका अधिकारी नहीं हो सकता।”

—“हां महाराज! हम सभी एक मत हैं। इस निश्चय में किसी का भी मतभेद नहीं है”—सभा का अन्तिम उत्तर था।

इस प्रकार सभा का मत प्राप्त कर राजा ने सभा के समक्ष कहा;—

“राजकुमारी मृगावती इस संसार में एक अद्वितीय ‘स्त्री-रत्न’ है। उसके समान सुन्दरी इस विश्व में दूसरी कोई भी नहीं है। आप सभी ने इस रत्न पर मेरा अधिकार माना है। इस सभा के निर्णय के अनुसार मृगावती के साथ मैं लग्न करूँगा।”

राजा के ऐसे उद्गार सुन कर सभाजन अवाक् रह गए। उन्हें लज्जा का अनुभव हुआ। वे सभी अपने अपने घर चले गए। राजा ने मायाचारिणा से अपनी इच्छा के

अनुसार निर्णय करवा कर अपनी ही पुत्री मृगावती के साथ गन्धर्व-विवाह कर लिया। राजा के इस प्रकार के अकृत्य से लोगों ने उसका दूसरा नाम 'प्रजापति' रख दिया। राजा के इस दुष्कृत्य से महारानी भद्रा बहुत ही दुःखी हुई। वह अपने पुत्र 'अचल' को ले कर दक्षिण देश में चली गई। अचलकुमार ने दक्षिण में अपनी माता के लिए 'माहेश्वरी' नामकी नगरी बसाई। उस नगरी को धन-धान्यादि से परिपूर्ण और योग्य अधिकारियों के संरक्षण में छोड़ कर राजकुमार अचल, पोटनपुर नगर में अपने पिता की सेवा में आ गया।

राजा ने अपनी पुत्री मृगावती के साथ लग्न कर के उसे पटरानी के पद पर प्रतिष्ठित कर दी और उसके साथ भोग भोगने लगा। कालान्तर में विश्वभूति मुनि का जीव, महाशुक देवलोक से च्यव कर मृगावती की कुक्षि में आया। पिछली रात को मृगावती देवी ने सात महास्वप्न देखे। यथा--१ केसरीसिंह २ लक्ष्मीदेवी ३ सूर्य ४ कुंभ ५ समुद्र ६ रत्नों का ढेर और ७ निर्धूम अग्नि। इन सातों स्वप्नों के फल का निर्णय करते हुए स्वप्न पाठकों ने कहा—'देवी के गर्भ में एक ऐसा जीव आया है, जो भविष्य में 'वासुदेव' पद को धारण कर के तीन खण्ड का स्वामी--अर्द्ध चक्री होगा *।' यथा समय पुत्र का जन्म हुआ। बालक की पीठ पर तीन बाँस का चिन्ह देख कर 'त्रिपृष्ठ' नाम दिया। बालक दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। बड़े भाई 'अचल' के ऊपर उसका स्नेह अधिक था। वह विशेषकर अचल के साथ ही रहता और खेलता। योग्य वय पा कर कला कौशल में शीघ्र ही निपुण हो गया। युवावस्था में पहुँच कर तो वह अचल के समान--मित्र के समान दिखाई देने लगा। दोनों भाई महान् योद्धा, प्रचण्ड पराक्रमी, निर्भीक और वीर शिरोमणि थे। वे दुष्ट एवं शत्रु को दमन करने तथा शरणागत का रक्षण करने में तत्पर रहते थे। दोनों बन्धुओं में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था। इस प्रकार दोनों का सुखमय काल व्यतीत हो रहा था।

रत्नपुर नगर में मयुरग्रीव नाम का राजा था। नीलांगना उसकी रानी थी। 'अश्वग्रीव' नाम का उसके पुत्र था। वह भी महान् योद्धा और वीर था। उसकी शक्ति भी त्रिपृष्ठ कुमार के लगभग मानी जाती थी। उसके पास 'चक्र' जैसा अमोघ एवं सर्वोत्तम शस्त्र था। वह युद्धप्रिय और महान् साहसी था। उसने पराक्रम से भरत-क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर ली और उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। सोलह हजार

* वासुदेव जैसे श्लाघनीय पुरुष की उत्पत्ति, पिता-पुत्री के एकांत निन्दनीय संयोग से हो, यह अत्यन्त ही अशोभनीय है और मानने में हिचक होती है। किन्तु कर्म की गति भी विचित्र है।

बड़े-बड़े राजा, अश्वघ्रीव महाराज की आज्ञा में रहने लगे । वह वासुदेव के समान (प्रति-वासुदेव) था । वह एक छत्र साम्राज्य का अधिपति हो गया था ।

अश्वघ्रीव का होने वाला शत्रु

एक बार अश्वघ्रीव के मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि “ मैं दक्षिण भरत-क्षेत्र का स्वामी हूँ । अब तक मेरी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई दिखाई नहीं दिया, किंतु भविष्य में मेरे साम्राज्य के लिए भय उत्पन्न करने वाला भी कोई वीर उत्पन्न हो सकता है क्या ? ” इस विचार के उत्पन्न होते ही उसने अश्वविन्दु नाम के निष्णात भविष्यवेत्ता को बुलाया और अपना भविष्य बताने के लिए कहा । भविष्यवेत्ता ने विचार कर के कहा—“ राजन्द्र ! जो व्यक्ति आपके चण्डवेग नाम के दूत का पराभव करेगा और पश्चिमी सीमान्त के वन में रहने वाले सिंह को मार डालेगा, वही आपके लिए धातक बनेगा । ” भविष्यवेत्ता का कथन सुन कर राजा के मन को आघात लगा । किन्तु अपना क्षोभ दबाते हुए पंडित को पुरस्कार दे कर बिदा किया । उसी समय वनपालक की ओर से एक दूत आया और निवेदन करने लगा ;—

“ महाराजाधिराज की जय हो । मैं पश्चिम के सीमान्त से आया हूँ । यों तो आपके प्रताप से वहाँ सुख-शांति व्याप रही है, किन्तु वन में एक प्रचण्ड केसरीसिंह ने उत्पात मचा रखा है । उस ओर के दूर-दूर तक के क्षेत्र में उनका आतंक छाया हुआ है । पशुओं को ही नहीं, वह तो मनुष्यों को भी अपने जबड़े में दबा कर ले जाता है । अब तक उसने कई मनुष्यों को मार डाला । लोग भयभीत हैं । बड़े-बड़े साहसी शिकारी भी उससे डरते हैं । उसकी गर्जना से स्त्रियों के ही नहीं, पशुओं के भी गर्भ गिर जाते हैं । लोग घर-बार छोड़ कर नगर की ओर भाग रहे हैं । इस दुर्दान्त वनराज का अन्त करने के लिए शीघ्र ही कुछ व्यवस्था होनी चाहिए । मैं यही प्रार्थना करने के लिए सेवा में उपस्थित हुआ हूँ । ”

राजा ने दूत को आश्वासन दे कर बिदा किया और स्वयं उपाय सोचने लगा । उसने विचार किया कि भविष्यवेत्ता के अनुसार, शत्रु को पहिचानने का यह प्रथम निमित्त उपस्थित हुआ है । उसने उस प्रदेश की सिंह से रक्षा करने के लिए अपने सामन्त राजाओं को आज्ञा दी । वे क्रमानुसार आज्ञा का पालन करने के लिए जाने लगे ।

राजा के मन में खटका तो था ही । उसने एक दिन अपनी सभा से यह प्रश्न किया ;—

“साम्राज्य के सामन्त, राजा, सेनापतियों और वीरों में कोई असाधारण शक्ति-शाली, परम पराक्रमी, महाबाहु युवक कुमार आपके देखने में आया है ?”

राजा के प्रश्न के उत्तर में मन्त्रियों, सामन्तों और अन्य अधिकारियों ने कहा—

“नरेन्द्र ! आपकी तुलना में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है । आज तक ऐसा कोई देखने में नहीं आया और अब होने की सम्भावना भी नहीं है ।”

राजा ने कहा ;—

“आपका कथन मिष्टभाषीपन का है, वास्तविक नहीं । संसार में एक से बढ़ कर दूसरा बलवान् होता ही है । यह बहुरत्ना वसुन्धरा है । कोई न कोई महाबाहु होगा ही ।”

राजा की बात सुन कर एक मन्त्री गम्भीरतापूर्वक बोला ;—

“राजेन्द्र ! पोतनपुर के नरेश ‘रिपुप्रतिशत्रु’ अपर नाम ‘प्रजापति’ के देवकुमार के समान दो पुत्र हैं । वे अपने सामने अन्य सभी मनुष्यों को घास के तिनके के समान गिनते हैं ।”

मन्त्री की बात सुन कर राजा ने सभा विसर्जित की और अपने चण्डवेग नाम के दूत को योग्य सूचना कर के, प्रजापति राजा के पास पोतनपुर भेजा । दूत अपने साथ बहुत से घुड़सवार योद्धा और साज-सामग्री ले कर आडम्बरपूर्वक पोतनपुर पहुँचा । वहाँ प्रजापति की सभा जमी हुई थी । वह अपने सामंत राजाओं, मन्त्रियों, अचल और त्रिपृष्ठ-कुमार, राजपुरोहित एवं अन्य सभासदों के साथ बैठा था । संगीत नृत्य और वादिन्त्र से वातावरण मनोरञ्जक बना हुआ था । उसी समय बिना किसी सूचना के, द्वारपाल की अवगणना करता हुआ, चण्डवेग सभा में पहुँच गया । राजदूत को इस प्रकार अचानक आया हुआ देख कर राजा और सभाजन स्तंभित रह गए । राजदूत का सम्मान करने के लिए राजा स्वयं सिंहासन से उठा और सभाजन भी उठे । राजदूत को आदरपूर्वक आसन पर बिठाया गया और वहाँ के हालचाल पूछे । राजदूत के असमय में अचानक आने से वातावरण एकदम शांत, उदासीन और गम्भीर बन गया । वादिन्त्र और नाच-गान बन्द हो गए । वादक गायिकाएँ और नृत्यांगनाएँ चली गई । यह स्थिति राजकुमार त्रिपृष्ठ को अखरी । उसने अपने पास बैठे हुए पुरुष से पूछा ;—

“कौन है यह असभ्य, मनुष्य के रूप में पशु, जो समय-असमय का विचार किये बिना ही और अपने आगमन की सूचना दिये बिना ही अचानक सभा में आ घुसा ? और इसका स्वागत करने के लिए पिताजी भी खड़े हो गए ? इसे द्वारपाल ने क्यों नहीं रोका ?”

—“यह महाराजाधिराज अश्वघ्रीव का दूत है । दक्षिण भरत के जितने भी राजा

हैं, वे सब अश्वग्रीव के आधीन हैं। वह सब का अधिनायक है। इसीलिए महाराज ने उसे आदर दिया और द्वारपाल ने भी नहीं रोका। स्वामी के कुत्ते को भी दुत्कारा नहीं जाता। उसका भी आदर होता है, तो यह तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव का प्रिय राजदूत है। इसको प्रसन्न रखने से महाराजाधिराज भी प्रसन्न रहते हैं। यदि राजदूत को अप्रसन्न कर दिया जाय, तो राज एवं राजा पर भयंकर संकट आ सकता है।”

राजकुमार त्रिपृष्ठ को यह बात नहीं रुचि। उसने कहा:—

“संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिससे अमुक व्यक्ति स्वामी ही रहे और अमुक सेवक ही। यह सब अपनी-अपनी शक्ति के आधीन है। मैं अभी कुछ नहीं कहता, किंतु समय आने पर उस अश्वग्रीव को छिन्नग्रीव (गर्दन छेद) कर भूमि पर सुला दूंगा।” इसके बाद कुमार ने अपने सेवक से कहा:—

“जब यह राजदूत यहाँ से जाने लगे, तब मुझे कहना। मैं इससे बात कहूँगा।”

राजदूत चंडवेग ने प्रजापति को राज सम्बन्धी कुछ आज्ञाएँ इस प्रकार दीं, जिस प्रकार एक सेवक को दी जाती है। प्रजापति ने उसकी सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य की और योग्य भेंट दे कर सम्मानपूर्वक बिदा किया। राजदूत भी संतुष्ट हो कर अपने साथियों के साथ पीतनपुर से रवाना हो गया। जब राजकुमार त्रिपृष्ठ को राजदूत के जाने का समाचार मिला, तो वे अपने बड़े भाई के साथ तत्काल चल दिये और रास्ते में ही उसे रोक कर कहने लगे:—

“अरे, ओ धीठ पशु! तू स्वयं दूत होते हुए भी महाराजाधिराज के समान घमण्ड करता है। तुझमें इतनी भी सभ्यता नहीं कि सूचना करवाने के बाद सभा में प्रवेश करे। एक राजा भी अपनी प्रजा में किसी गृहस्थ के यहाँ जाता है, तो पहले सूचना करवाता है और उसके बाद वहाँ जाता है। यह एक नीति है। किन्तु तू न जाने किस घमंड में चूर हो रहा है कि बिना सूचना किये ही उन्मत्त की भाँति सभा में आ गया। मेरे पिताश्री ने तेरी इस तुच्छता को सहन करके तेरा सत्कार किया, यह उनकी सरलता है। किंतु मैं तेरी दुष्टता सहन नहीं कर सकता। बता तू किस शक्ति के घमण्ड पर ऐसा उद्वत बना है? बोल! नहीं, तो मैं अभी तुझे तेरी दुष्टता का फल चखाता हूँ।” रोषपूर्वक इतना कह कर राजकुमार ने मुक्का ताना, किंतु पास ही खड़े हुए बड़े भाई राजकुमार अचल ने रोकते हुए कहा:—

“बस करो बन्धु! इस नर-कीट पर प्रहार मत करो। यह तो त्रिवारा दूत है। दूत अवध्य होता है। इसकी दुष्टता को सहन कर के इसे जाने दो। यह तुम्हारा आघात

सहन नहीं कर सकेगा ।”

त्रिपृष्ठ ने अपना हाथ रोक लिया । किन्तु अपने साथ आये हुए सुभटों को आज्ञा दी कि--

“मैं इस दुष्ट को जीवन-दान देता हूँ । किन्तु इसके पास की सभी वस्तुएँ छीन लो ।”

राजकुमार की आज्ञा पाते ही सुभट उस पर टूट पड़े । उसके शस्त्र, आभूषण और प्राप्त भेंट आदि वस्तुएँ छीन ली और मार-पीट कर चल दिये ।

जब यह समाचार नरेश के कानों तक पहुँचे, तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने सोचा--‘राजदूत के पराभव का परिणाम भयंकर होगा । अब अश्वग्रीव की कोपाग्नि भड़केगी और उसमें मैं, मेरा वंश और यह राज भस्म हो जायगा । इसलिये जब तक चण्डवेग मार्ग में है और अश्वग्रीव के पास नहीं पहुँचा, तब तक उसको मना कर प्रसन्न कर लेना उचित है । इससे यह अग्नि जहाँ उत्पन्न हुई, वहीं बुझ जाएगी और सारा भय दूर हो जायगा । यह सोच कर प्रजापति ने अपने मन्त्रियों को भेज कर चण्डवेग का बड़ा अनुनय-विनय कराया और उसे पुनः राज-प्रासाद में बुलाया । उसके हाथ जोड़ कर बड़े ही विनय के साथ पहले से चार गुना अधिक द्रव्य भेंट में दिया और नम्रतापूर्वक कहा;--

“आप जानते ही हैं कि युवावस्था दुःसाहसपूर्ण होती है । एक गरीब मनुष्य का युवक पुत्र भी युवावस्था में उन्मत्त हो जाता है, तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव की कृपा से, वृद्धि पाई सम्पत्ति में पले मेरे ये कुमार, वृषभ के समान उच्छृंखल हो जाय, तो आश्चर्य की बात नहीं है । इसलिए हे कृपालु मित्र ! इन कुमारों के अपराध को स्वप्न के समान भूल ही जावें । आप तो मेरे सगे भाई के समान हैं । अपना प्रेम सम्बन्ध अक्षुण्ण रखिएगा और महाराज अश्वग्रीव के सामने इस विषय में एक शब्द भी नहीं कहें ।”

चण्डवेग का क्रोध, राजा के मीठे व्यवहार से शांत हो गया । वह बोला;--

“राजन् ! आपके साथ मेरा चिरकाल का स्नेह सम्बन्ध है । मैं इन छोकरीयों की मूर्खता की उपेक्षा करता हूँ और इन कुमारों को मैं अपना ही मानता हूँ । आपका हमारा सम्बन्ध वैसा ही अटूट रहेगा । आप विश्वास रखें । लड़कों के अपराध का उपालंभ उनके पालक को ही दिया जाता है और यही दण्ड है । इसके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र पुकार नहीं की जाती । अतएव आप विश्वास रखें । मैं महाराज से नहीं कहूँगा । जिस प्रकार हाथी के मुँह में दिया हुआ घास, पुनः निकाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार महाराज के

सामने कह कर उन्हें भड़काया तो जा सकता है, किन्तु फिर पुनः प्रसन्न कर पाना असंभव होता है। मैं इस स्थिति को जानता हूँ मैं तो आपका मित्र हूँ, इसलिए मेरी ओर से आप ऐसी शंका नहीं लावें।”

इस प्रकार आश्वासन दे कर चण्डवेग चला गया। वह कई दिनों के बाद राजधानी में पहुँचा। उसके पहुँचने के पूर्व ही उसके पराभव की कहानी महाराजा अश्वग्रीव तक पहुँच चुकी थी। त्रिपृष्ठ कुमार के प्रताप से भयभीत हो कर भागे हुए चण्डवेग के कुछ सेवकों ने इस घटना का विवरण सुना दिया था। चण्डवेग ने आ कर राजा को प्रणाम कर के प्रजापति से प्राप्त भेंट उपस्थित की। राजा के चेहरे का भाव देख कर वह समझ गया कि राजा को सब कुछ मालूम हो गया है। उसने निवेदन किया;—

महाराजाधिराज की जय हो। प्रजापति ने भेंट समर्पित की है। वह पूर्णरूपेण आज्ञाकारी है। श्रीमंत के प्रति उसके मन में पूर्ण भक्ति है। उसके पुत्र कुछ उद्विग्न और उच्छृंखल हैं, किन्तु वह तो शासन के प्रति भक्ति रखता है। अपने पुत्र की अभद्रता से उसको बड़ा खेद हुआ। वह दुःखपूर्वक क्षमा याचना करता है।”

अश्वग्रीव दूसरे ही विचारों में लीन था। वह सोच रहा था—‘भविष्यवेत्ता की एक बात तो सत्य निकली। यदि सिंह-वध की बात भी सत्य सिद्ध हो जाय, तो अवश्य ही वह भय का स्थान है—यह मानना ही होगा। उसने एक दूसरा दूत प्रजापति के पास भेज कर कहलाया कि—“तुम सिंह के उपद्रव से उस प्रदेश को निर्भय करो।” दूत के आते ही प्रजापति ने कुमारों को बुला कर कहा;—

“यह तुम्हारी उद्विग्नता का फल है। यदि इस आज्ञा का पालन नहीं हुआ, तो अश्वग्रीव, यमराज बन कर नष्ट कर देगा, और आज्ञा का पालन करने गये, तो वह सिंह स्वयं यमराज बन सकता है। इस प्रकार दोनों प्रकार से हम संकट ग्रस्त हो गए हैं। अभी तो मैं सिंह के सम्मुख जाता हूँ। आगे जैसा होना होगा, वैसा होगा।”

कुमारों ने कहा;—“पिताश्री आप निश्चित रहें। अश्वग्रीव का बल भी हमारे ध्यान में है और सिंह तो बिचारा पशु है। उसका तो भय ही क्या है? अतएव आप किसी प्रकार की चिंता नहीं करें और हमें आज्ञा दें, तो हम उस सिंह के उपद्रव को शांत कर के शीघ्र लौट आवें।”

—“पुत्रों! तुम अभी बच्चे हो। तुम्हें कार्याकार्य और फलाफल का ज्ञान नहीं है। तुमने बिना विचारे जो अकार्य कर डाला, उसी से यह विपत्ति आई। अब आगे तुम

क्या कर बैठो और उसका क्या परिणाम निकले ? अतएव तुम यहीं रहो और शांति से रहो । मैं स्वयं सिंह से भिड़ने जाता हूँ ।”

“पिताजी ! अश्वग्रीव मूर्ख है । वह बच्चों को भूत से डराने के समान हमें सिंह से डराता है । आप प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दीजिए । हम शीघ्र ही सिंह को मार कर आपके चरणों में उपस्थित होंगे ।”

बड़ी कठिनाई से पिता की आज्ञा प्राप्त कर के अचल और त्रिपृष्ठ कुमार थोड़े से सेवकों के साथ उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्र में आये । उन्हें वहाँ सैनिकों की अस्थियों के ढेर के ढेर देख कर आश्चर्य हुआ । ये सब बिचारे सिंह की विकरालता की भेंट चढ़ चुके थे ।

सिंह-घात

कुमारों ने इधर-उधर देखा, तो उन्हें कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं दिया । जब उन्होंने वृक्षों पर देखा, तो उन्हें कहीं-कहीं कोई मनुष्य दिखाई दिया । उन्होंने उन्हें निकट बुला कर पूछा—

—“यहाँ रक्षा करने के लिए आये हुए राजा लोग, किस प्रकार सिंह से इस क्षेत्र की रक्षा करते हैं ?”

—“वे अपने हाथी, घोड़े, रथ और सुभटों का व्यूह बनाते हैं और अपने को व्यूह में सुरक्षित कर लेते हैं । जब विकराल सिंह आता है, तो वह व्यूह के सैनिक आदि को मार कर फाड़ डालता है और खा कर लौट जाता है । इस प्रकार उस विकराल सिंह से राजाओं की और हमारी रक्षा तो हो जाती है, किन्तु सैनिक और घोड़े आदि मारे जाते हैं । हम कृषक हैं । वृक्षों पर चढ़ कर यह सब देखते रहते हैं’ —उनमें से एक बोला ।

दोनों कुमार यह सुन कर प्रसन्न हुए । उन्होंने अपनी सेना को तो वहीं रहने दिया और दोनों भाई रथ पर सवार हो कर सिंह की गुफा की ओर चले । रथ के चलने से उत्पन्न ध्वनि से बन गुंज उठा । यह अश्रुतपूर्व ध्वनि सुन कर सिंह चौंका । वह अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा । उसकी गर्दन तन गई और केशावलि के बाल चँवर के समान इधर-उधर हो गए । उसने उबासी लेने के लिए मुँह खोला । वह मुँह मृत्यु के मुँह के समान भयंकर था । उसने इधर-उधर देखा और रथ की उपेक्षा करता हुआ पुनः लेट गया । सिंह की उपेक्षा देख कर अचलकुमार ने कहा;—

“रक्षा के लिए आये हुए राजाओं ने अपने हाथी घोड़े और सैनिकों का भोग दे कर इस सिंह को घमण्डी बना दिया ।”

त्रिपृष्ठकुमार ने सिंह के निकट जा कर ललकारा । सिंह ने भी समझा कि यह कोई वीर है, निर्भीक है और साहस के साथ लड़ने आया है । वह उठा और रौद्र रूप धारण कर भयंकर गर्जना करने लगा फिर सावधान हो कर सामने आया । उसके दोनों कान खड़े हो गए । उसकी आँखें दो दीपक के समान थीं । दाढ़ें और दाँत सुदृढ़ और तीक्ष्ण थे तथा यमराज के शस्त्रागार के समान लगते थे । उसकी जिब्हा तक्षक नाग के समान बाहर निकली हुई थी । प्राणियों के प्राणों को खिंचने वाले चिपिये के समान उसके नख थे और क्षुधातुर सर्पवत् उसकी पूँछ हिल रही थी । उसने आगे आ कर क्रोध से पृथ्वी पर पूँछ पछाड़ी, जिसे सुनते ही आस-पास रहे हुए प्राणी भयभीत हो कर भाग गए और पक्षी चिचियाटी करते हुए उड़ गये । वनराज को आक्रमण करने के लिए तत्पर देख कर अचलकुमार रथ से उतरने लगे, तब त्रिपृष्ठकुमार ने उन्हें रोकते हुए कहा—“हे आर्य ! यह अवसर मुझे लेने दीजिए । आप यही ठहरें और देखें । फिर वे रथ से नीचे उतरे । उन्होंने सोचा ‘सिंह के पास तो कोई शस्त्र नहीं है, इव निःशस्त्र के साथ, शस्त्र से युद्ध करना उचित नहीं ।’ यह सोच कर उन्होंने भी अपने शस्त्र रख दिए और सिंह को ललकारते हुए बोले—“हे वनराज ! यहाँ आ । मैं तेरी युद्ध की प्यास बुझाता हूँ ।” इस गम्भीर घोष को सुनते ही सिंह ने भी उत्तर में गर्जना की और रोषपूर्वक उछला । वह पहले तो आकाश में ऊँचा गया और फिर राजकुमार पर मुँह फाड़ कर उतरा । त्रिपृष्ठकुमार सावधान ही थे । वे उसका उछलना और अपने पर उतरना देख रहे थे । अपने पर आते देख कर उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये और ऊपर आते हुए सिंह के ऊपर-नीचे के दोनों ओष्ठ दृढ़तापूर्वक पकड़ लिये और एक झटके में ही कपड़े की तरह चीर कर दो टुकड़े कर के फेंक दिया । सिंह का मरना जान कर लोगों ने हर्षनाद और कुमार का जयजयकार किया । विद्याधरों और व्यन्तर देवों ने पुष्प-वृष्टि की । उधर सिंह के दोनों टुकड़े तड़प रहे थे, अभी प्राण निकले नहीं थे । वह शोकपूर्वक सोच रहा था कि—

“शस्त्र एवं कवचधारी और सैकड़ों सुभटों से घिरे हुए अनेक राजा भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके । वे मुझसे भयभीत रहते थे और इस छोकरे ने मुझे चीर डाला, यही मेरे लिए महान् खेद की बात है ।” इस मानसिक दुःख से वह तड़प रहा था । उसका यह खेद समझ कर रथ के सारथी ने कहा;—

“वनराज ! तू चिंता मत कर । तू किसी कायर की तरह नहीं मरा । तुझे मारने

वाला कोई सामान्य पुरुष नहीं है, किंतु इस अवसर्पिणी काल के होने वाले प्रथम वामुदेव हैं ।'

सारथी के वचन सुन कर निश्चित होकर मरा और नरक में गया । मृत सिंह का चर्म उतरवा कर त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव के पास भेजते हुए दूत से कहा—“ इस पशु से डरे हुए अश्वग्रीव को, उसके वध का सूचक यह सिंह-चर्म देना और कहना कि—

“आपकी स्वादिष्ट भोजन की इच्छा को तृप्त करने के लिए, शालि के खेत सुरक्षित हैं । आप खूब जी भर कर भोजन करें ।”

इस प्रकार सिंह उपद्रव को मिटा कर दोनों राजकुमार अपने नगर में लौट आए । दोनों ने पिता को प्रणाम किया । प्रजापति दोनों पुत्रों को पा कर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और बोला—“मैं तो यह मानता हूँ कि इन दोनों का यह पुनर्जन्म हुआ है ।”

अश्वग्रीव ने जब सिंह की खाल और राजकुमार त्रिपृष्ठ का सन्देश सुना, तो उसे वज्रपात जैसा लगा ।

त्रिपृष्ठकुमार के लग्न

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम की अनुपम नगरी थी । विद्याधरराज 'ज्वलनजटी' वहाँ का प्रबल पराक्रमी नरेश था । उसकी अग्रमहिषी का नाम 'वायुवेगा' था । इसकी कुक्षि से सूर्य के स्वप्न से पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'अर्ककीर्ति' था । कालान्तर में, अपनी प्रभा से सभी दिशाओं को उज्ज्वल करने वाली चन्द्रलेखा को स्वप्न में देखने के बाद पुत्री का जन्म हुआ । उसका नाम 'स्वयंप्रभा' दिया गया । अर्ककीर्ति, युवावस्था में बड़ा वीर योद्धा बन गया । राजा ने उसे युवराज पद पर स्थापित किया । स्वयंप्रभा भी युवावस्था पा कर अनुपम सुन्दरी हो गई । उसका प्रत्येक अंग सुगठित, आकर्षक एवं मनोहर था । वह अपने समय की अनुपम सुन्दरी थी । उसके समान दूसरी सुन्दरी युवती कहीं भी दिखाई नहीं देती थी । लोग कहते थे कि 'इतनी सुन्दर स्त्री तो देवांगना भी नहीं है ।'

एक बार 'अभिनन्दन' और 'गजनन्द' नाम के दो 'चारणमुनि' उस नगर के बाहर उतरे । स्वयंप्रभा उन्हें वन्दन करने आई और उपदेशामृत का पान किया । धर्मोपदेश सुन कर स्वयंप्रभा बड़ी प्रभावित हुई । उसे दृढ़ सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और धर्म के रंग में

* आकाश में विचरने वाले ।

रंग गई। एक बार वह राजा को प्रणाम करने गई। पुत्री के विकसित अंगों को देख कर राजा को चिंता हुई। उसने अपने मन्त्रियों को पुत्री के योग्य वर के विषय में पूछा।

मुश्रुत नामक मन्त्री ने कहा—“महाराज ! इस समय तो महाराजाधिराज अश्व-ग्रीव ही सर्वोपरि हैं। वे अनुपम सुन्दर, अनुपम वीर और विद्याधरों के इन्द्र समान हैं। उनसे बढ़ कर कोई योग्य वर नहीं हो सकता।”

“नहीं महाराज ! अश्वग्रीव तो अब गत-यौवन हो गया है। ऐसा प्रौढ़ व्यक्ति राजकुमारी के योग्य नहीं हो सकता। उत्तर श्रेणि के विद्याधरों में ऐसे अनेक युवक नरेश या राजकुमार मिल सकते हैं, जो भुजबल, पराक्रम एवं सभी प्रकार की योग्यता से परिपूर्ण हैं। उन्हीं में से किसी को चुनना ठीक होगा”—बहुश्रुत मन्त्री ने कहा।

“महाराज ! इन महानुभावों का कहना भी ठीक है, किन्तु मेरा तो निवेदन है कि उत्तर श्रेणि की प्रभंकरा नगरी के पराक्रमी महाराजा भेषवाहन के सुपुत्र ‘विद्युत्प्रभ’ सभी दृष्टियों से योग्य एवं समर्थ है। उसकी बहिन ‘ज्योतिर्माला’ भी देवकन्या के समान सुन्दर है। मेरी दृष्टि में विद्युत्प्रभ और राजकुमारी स्वयंप्रभा, तथा युवराज अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला की जोड़ी अच्छी रहेगी। आप इस पर विचार करें”—सुमति नामक मन्त्री ने कहा।

“स्वामिन् ! बहुत सोच समझ कर काम करना है”—मन्त्री श्रुतसागर कहने लगा—“लक्ष्मी के समान परमोत्तम स्त्री-रत्न की इच्छा कौन नहीं करता ? यदि राजकुमारी किसी एक को दी गई, तो दूसरे क्रुद्ध हो कर कहीं उपद्रव खड़ा नहीं कर दें। इसलिए स्वयंवर करना सब से ठीक होगा। इसमें राजकुमारी की इच्छा पर ही वर चुनने की बात रहेगी और आप पर कोई क्रुद्ध नहीं हो सकेगा।”

इस प्रकार राजाने मन्त्रियों का मत जान कर सभा विसर्जित की और संभ्रान्त नाम के भविष्यवेत्ता को बुला कर पूछा। भविष्यवेत्ता ने सोच-विचार कर कहा;—

“महाराज ! तीर्थंकर भगवन्तों के वचनानुसार यह समय प्रथम वासुदेव के अस्तित्व को बता रहा है। मेरे विचार से अश्वग्रीव की चढ़ती के दिन बीत चुके हैं। उसके जीवन को समाप्त कर, वासुदेव पद पाने वाले परम वीर पुरुष उत्पन्न हो चुके हैं। मैं समझता हूँ कि प्रजापति के कनिष्ठपुत्र त्रिपृष्ठ कुमार जिन्होंने महान् क्रुद्ध एवं बलिष्ठ केशरीसिंह को कपड़े के समान चीर कर फाड़ दिया, वही राजकुमारी के लिए सर्वथा योग्य हैं। उनके समान और कोई नहीं है।”

राजा ने भविष्यवेत्ता का कथन सहर्ष स्वीकार किया और एक विश्वस्त दूत को

प्रजापति के पास सन्देश ले कर भेजा । राजदूत ने प्रजापति से सम्बन्ध की बात कहीं और भविष्यवेत्ता द्वारा त्रिपृष्ठकुमार के वासुदेव होने की बात भी कही । राजा भी पत्नी को गर्भकाल में आये सात स्वप्नों के फल की स्मृति रखता था । उसने ज्वलनजटी विद्याधर का आग्रह स्वीकार कर लिया । जब दूत ने रथनूपुर पहुँच कर स्वीकृति का सन्देश सुनाया, तो ज्वलनजटी बहुत प्रसन्न हुआ । किन्तु वह प्रसन्नता थोड़ी देर ही रही । उसने सोचा कि—‘इस सम्बन्ध की बात अश्वघ्रीव जानेगा, तो उपद्रव खड़ा होगा ।’ अन्त में उसने यही निश्चित किया कि पुत्री को ले कर पोतनपुर जावे और वहीं लग्न कर दे । वह अपने चुने हुए सामन्तों, सरदारों और सैनिकों के साथ कन्या को ले कर चल दिया और पोतनपुर नगर के बाहर पड़ाव लगा कर ठहर गया । प्रजापति उसका आदर करने के लिए सामने गया और सम्मानपूर्वक नगर में लाया । राजा ने उनके निवास के लिए एक उत्तम स्थान दिया, जिसे विद्याधरों ने एक रमणीय एवं सुन्दर नगर बना दिया । इसके बाद विवाहोत्सव प्रारंभ हुआ और बड़े आडम्बर के साथ लग्नविधि पूर्ण हुई ।

पत्नी की माँग

त्रिखण्ड की अनुपम सुन्दरी विद्याधरपुत्री स्वयंप्रभा को सामने ले जा कर त्रिपृष्ठ कुमार से ब्याहने का समाचार सुन कर, अश्वघ्रीव आगबबूला हो गया । भविष्यवेत्ता के कथन और सिंह-वध की घटना के निमित्त से उसके हृदय में द्वेष का प्रादुर्भाव तो हो ही गया था । उसने इस सम्बन्ध को अपना अपमान माना और सोचा—“मैं सार्वभौम सत्ता-धीश हूँ । ज्वलनजटी मेरे अधीन आज्ञापालक है । मेरी उपेक्षा कर के अपनी पुत्री त्रिपृष्ठ को कैसे ब्याह दी ?” उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और समझा-बुझा कर ज्वलनजटी के पास पोतनपुर ही भेजा । भवितव्यता उसे विनाश की ओर धकेल रही थी और परिणति, पर-स्त्री की माँग करवा रही थी । विनाशकाल इसी प्रकार निकट आ रहा था । दूत पोतनपुर पहुँचा और ज्वलनजटी के समक्ष आ कर अश्वघ्रीव का सन्देश सुनाया और कहा, —

“राजन् ! आपने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ा मारा है । आपको यह तो सोचना था कि रत्न तो रत्नाकर में ही सुशोभित होता है, डाबरे-—खड्गे में उसके लिए स्थान नहीं हो सकता । महाराजाधिराज अश्वघ्रीव जैसे महापराक्रमी स्वामी की उपेक्षा एवं अवज्ञा कर के आपने अपने विनाश को उपस्थित कर लिया है । अब भी यदि आप अपना हित

चाहते हैं, तो स्वयंप्रभा को शीघ्र ही महाराजाधिराज के चरणों में उपस्थित कीजिये । दक्षिण लोकाद्वे के इन्द्र के समान, सम्राट अश्वघ्रीव की आज्ञा से मैं आपको सूचना करता हूँ कि इसी समय अपनी पुत्री को ले कर चले ।”

दूत के कर्ण-कटु वचन सुन कर भी ज्वलनजटी ने शान्ति के साथ कहा;—

“कोई भी वस्तु किसी को दे-देने के बाद, देने वाले का अधिकार उस वस्तु पर नहीं रहता । फिर कन्या तो एक ही दी जाती है । मैंने अपनी पुत्री, त्रिपृष्ठकुमार को दे दी है । अब उसकी माँग करना, किसी प्रकार उचित एवं शोभास्पद हो नहीं सकता । मैं ऐसी माँग को स्वीकार भी कैसे कर सकता हूँ ? यह अनहोनी बात है ।”

ज्वलनजटी का उत्तर सुन कर, दूत वहाँ से चला गया । वह त्रिपृष्ठकुमार के पास आया और कहने लगा;—

“विश्वविजेता पृथ्वी पर साक्षात् इन्द्र के समान महाराजाधिराज अश्वघ्रीव ने आदेश दिया है कि “तुमने अनधिकारी होते हुए, चुपके से स्वयंप्रभा नामक अनुपम स्त्री-रत्न को ग्रहण कर लिया । यह तुम्हारी धृष्टता है । मैं तुम्हारा, तुम्हारे पिता का और तुम्हारे बन्धु-बान्धवादि का नियन्ता एवं स्वामी हूँ । मैंने तुम्हारा बहुत दिनों रक्षण किया है । इसलिए इस सुन्दरी को तुम मेरे सम्मुख उपस्थित करो,।” आपको इस आज्ञा का पालन करना चाहिए ।”

दूत के ऐसे अप्रत्याशित एवं क्रोध को भड़काने वाले वचन सुन कर, त्रिपृष्ठकुमार की भृकुटी चढ़ गई । आँखें लाल हो गई । वे व्यंगपूर्वक कहने लगे;—

“दूत ! तेरा स्वामी ऐसा नीतिमान् है ? वह इस प्रकार का न्याय करता है ? लोकनायक कहलाने वाले की कुलीनता इस माँग में स्पष्ट हो रही है । इस पर से लगता है कि तेरे स्वामी ने अनेक स्त्रियों का शील लूट कर भ्रष्ट किया होगा । कुलहीन, न्याय-नीति से दूर, लम्पट मनुष्य तो उस बिल्ले के समान है जिसके सामने दूध के कुँडे भरे हुए हैं । उनकी रक्षा की आशा कोई भी समझदार नहीं कर सकता । उसका स्वामित्व हम पर तो क्या, परन्तु ऐसी दुष्ट नीति से अन्यत्र भी रहना कठिन है । कदाचित् वह अब इस जीवन से भी तृप्त हो गया हो । यदि उसके विनाश का समय आ गया हो, तो वह स्वयं, स्वयंप्रभा को लेने के लिए यहाँ आवे । बस, अब तू शीघ्र ही यहाँ से चला जा । अब तेरा यहाँ ठहरना मैं सहन नहीं कर सकता ।”

प्रथम पराजय

दूत सरोष वहाँ से लौटा । वह शीघ्रता से अश्वग्रीव के पास आया और सारा वृत्तांत कह सुनाया । अश्वग्रीव के हृदय में ज्वाला के समान क्रोध भभक उठा । उसने विद्याधरों के अधिनायक से कहा; —

“देखा ! ज्वलनजटी को कैसी दुर्मति उत्पन्न हुई । वह एक कीड़े के समान होते हुए भी सूर्य से टक्कर लेने को तय्यार हुआ है । वह मूर्ख शिरोमणि है । उसने न तो अपना हित देखा, न अपनी पुत्री का । उसके विनाश का समय आ गया है और प्रजापति भी मूर्ख है । कुलीनता की बड़ी-बड़ी बातें करने वाला त्रिपृष्ठ नहीं जानता कि वह बाप-बेटी के भ्रष्टाचार से उत्पन्न हुआ है । यह त्रिपृष्ठ, अचल का भाई है, या भानजा (बहिन का पुत्र) ? और अचल, प्रजापति का पुत्र है, या साला ? ये कितने निर्लज्ज हैं ? इन्हें बढ़-चढ़ कर बातें करते लज्जा नहीं आती । कदाचित् इनके विनाश के दिन ही आ गये हों ? अतएव तुम सेना ले कर जाओ और उन्हें पद-दलित कर दो ।”

विद्याधर लोग भी ज्वलनजटी पर क्रुद्ध थे वे स्वयं भी उससे युद्ध करना चाहते थे । इस उपयुक्त अवसर को पा कर वे प्रसन्न हुए और शस्त्र-सज्ज हो कर प्रस्थान कर दिया । ज्वलनजटी ने शत्रु-सेना को निकट आया जान कर स्वयं रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ । उसने प्रजापति, राजकुमार अवल और त्रिपृष्ठ को रोक दिया था । घमासान युद्ध हुआ और अंत में विद्याधरों की सेना हार कर पीछे हट गई और ज्वलनजटी की विजय हुई ।

मंत्री का सत्पराजय

अश्वग्रीव इस पराजय को सहन नहीं कर सका । वह विकराल बन गया । उसने अपने सेनापति और सामन्तों को शीघ्र ही युद्ध का डंका बजाने की आज्ञा दी । तय्यारियाँ होने लगी । एकदम युद्ध की घोषणा सुन कर महामात्य ने अश्वग्रीव से निवेदन किया; —

“स्वामिन् ! आप तो सर्व-विजेता सिद्ध हो ही चुके हैं । तीन खंड के सभी राजाओं को जीत कर आपने अपने आधीन बना लिया है । इस प्रकार आपके प्रबल प्रभाव से सभी प्रभावित हैं । अब आप स्वयं एक छोटे-से राजा पर चढ़ाई कर के विशेष वया प्राप्त कर लेंगे ? आपके प्रताप में विशेषता कीन-सी आ जायगी ? यदि उस छोटे राजा का भाग्य जोर दे गया, तो आपका प्रभाव तो समूल नष्ट हो जायगा और तीन खंड के राज्य पर आपका स्वामित्व नहीं रह सकेगा । रण-क्षेत्र की गति विचित्र होती है । इसके अतिरिक्त भविष्यवेत्ता

के कथन और सिंह के वध से मन में सन्देह भी उत्पन्न हो रहा है। इसलिए प्रभु ! इस समय सहनशील बनना ही उत्तम है। बिना विचारे अन्धाधुन्द दौड़ने से महाबली गजराज भी दलदल में गढ़ जाता है और चतुराई से खरगोश भी सफल हो जाता है। अतएव मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप इस बार संतोष धारण कर लें। यदि आप सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकें, तो सेना भेज दें, परन्तु आप स्वयं नहीं पधारे।

अपशकुन

महामात्य की बात अश्वग्रीव ने नहीं मानी। इतना ही नहीं, उसने वृद्ध मन्त्री का अपमान कर दिया वह आवेश में पूर्णरूप से भरा हुआ था। उसने प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अचानक ही उसके छत्र का दण्ड टूट गया और छत्र नीचे गिर गया। छत्र गिरने के साथ ही उसके सवारी के प्रधान गजराज का मद सूख गया। वह पेशाब करने लगा और विरस एवं रुक्षतापूर्वक चिंघाड़ता हुआ नतमस्तक हो गया। चारों ओर रजोवृष्टि होने लगी। दिन में ही नक्षत्र दिखाई देने लगे। उत्कापात होने लगा और कई प्रकार के उत्पात होने लगे। कुत्ते ऊँचा मुँह कर के रोने लगे। खरगोश प्रकट होने लगे, आकाश में चिल्ले चक्कर काटने लगी। काकारव होने लगा, सिर पर ही गिद्ध एकत्रित हो कर मँडराने लगे और कपोत आ कर ध्वज पर बैठ गया। इस प्रकार अश्वग्रीव को अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। किंतु उसने इन अनिष्टसूचक प्राकृतिक संकेतों की चाह कर उपेक्षा की और बढ़ता ही गया। कुशकुनों को देख कर उसके साथ आये हुए विद्याधरों, राजाओं और योद्धाओं के मन में भी सन्देह बैठ गया। वे भी उत्साह-रहित हो उदास मन से साथ चलने लगे और रथावर्त पर्वत के निकट पड़ाव कर दिया।

पोतनपुर में भी हलचल मच गई। युद्ध की तय्यारियाँ होने लगी। विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने अचलकुमार और त्रिपृष्ठकुमार से कहा;—

“आप दोनों महावीर हैं। आप से युद्ध कर के अश्वग्रीव अवश्य ही पराजित होगा। वह बल में आप में से किसी एक को भी पराजित नहीं कर सकता। किन्तु उसके पास विद्या है। वह विद्या के बल से कई प्रकार के संकट उपस्थित कर सकता है। इसलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप भी विद्या सिद्ध कर लें। इससे अश्वग्रीव की सभी चालें व्यर्थ की जा सकेंगी।”

ज्वलनजटी की बात दोनों वीरों ने स्वीकार की और दोनों भाई विद्या सिद्ध करने के लिए तत्पर हो गए। ज्वलनजटी स्वयं विद्या सिखाने लगा। सात रात्रि तक मन्त्र साधना चलती रही। परिणामस्वरूप ये विद्याएँ सिद्ध हो गई—

गारुड़ी, रोहिणी, भुवनक्षोभिनी, कृपाणस्तंभिनी, स्थामशुंभनी, व्योमचारिणी, तमिस्र-कारिणी, सिंह त्रासिनी, वेगाभिगामिनी, वेंरीमोहिनी, दिव्यकामिनी, रंघ्रवासिनी, कृशानु-वसिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रवारिणी, बन्धनमोचनी, विमुक्तकुंतला, नानारूपिणी, लोहशृंखला, कालराक्षसी, छत्रदशदिका, क्षणशूलिनी, चन्द्रमौली, रुक्षमालिनी, सिद्धताड़निका, पिंगनेत्रा, वनपेशला, ध्वनिता, अहिफणा, घोषिणी और भीरु-भीषणा। इन नामों वाली सभी विद्याएँ सिद्ध हो गई। इन सब ने उपस्थित हो कर कहा—‘हम आपके वश में हैं।’

विद्या सिद्ध होने पर दोनों भाई ध्यान-मुक्त हुए। इसके बाद सेना ले कर दोनों भाई प्रजापति और ज्वलनजटी के साथ शुभ मुहूर्त में प्रयाण किया और चलते-चलते अपने सीमान्त पर रहे हुए रथावर्त पर्वत के निकट आ कर पड़ाव डाला। युद्ध के शौर्यपूर्ण बाजे बजने लगे। भाट-चारणादि सुभटों का उत्साह बढ़ाने लगे। दोनों ओर की सेना आमने-सामने डट गई। युद्ध आरम्भ हो गया। बाण वर्षा इतनी अधिक और तीव्र होने लगी कि जिससे आकाश ही ढँक गया, जैसे पक्षियों का समूह भारे आकाश-मंडल पर छा गया हो। शस्त्रों की परस्पर की टक्कर से आग की चिनगारियाँ उड़ने लगी। सुभटों के शरीर कट-कट कर पृथ्वी पर गिरने लगे। थोड़े ही काल के युद्ध में महाबाहु त्रिपृष्ठकुमार की सेना ने अश्वग्रीव की सेना के छक्के छुड़ा दिये। उसका अग्रभाग छिन्न-भिन्न हो गया। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव के पक्ष के विद्याधर कुपित हुए। उन्होंने प्रचण्ड रूप धारण किये। कई विकराल राक्षस जैसे दिखाई देने लगे, तो कई केसरी-सिंह जैसे, कई मदमस्त गजराज, कई पशुराज अष्टापद, बहुत-से चिते, सिंह, वृषभ आदि रूप में त्रिपृष्ठ की सेना पर भयंकर आक्रमण करने लगे। इस अचिन्त्य एवं आकस्मिक पाशविक आक्रमण को देख कर त्रिपृष्ठ की सेना स्तंभित रह गई। सैनिक सोचने लगे कि—‘यह क्या है? हमारे सामने राक्षसों और विकराल सिंहों की सेना कहाँ से आ गई? ये तो मनुष्य को फाड़ ही डालेंगे। पर्वत के समान हाथी, अपनी सूँडों में पकड़-पकड़ कर मनुष्यों को चीर डालेंगे। उनके पैरों के नीचे सैकड़ों-हजारों मनुष्यों का कच्चा घाण निकल जायगा, अहा! एक स्त्री के लिए इतना नरसंहार!’

सेना के मनोभाव जान कर ज्वलनजटी आगे आया और उसने त्रिपृष्ठकुमार से

कहा--“यह सब विद्याधरों का माया-जाल है। इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जब इनकी सेना हारने लगी, और हमारी सेना पर इनका जोर नहीं चला, तो ये विद्या के बल से भयभीत करने को तत्पर हुए हैं। यह इनकी कमजोरी है ये वच्चों को डराने जैसी कायरता पूर्ण चाल चल रहे हैं। इससे भयभीत होने की जरूरत नहीं है। अतएव हे महावीर ! उठो और रथारूढ़ हो कर आगे आओ, तथा अपने शत्रुओं को मानरूपी हाथी पर से उतार कर नीचे पटको।”

ज्वलनजटी के वचन सुन कर त्रिपृष्ठकुमार उठे और अपने रथ पर आरूढ़ हुए। उन्हें सन्नद्ध देख कर सेना भी उत्साहित हुई। सेना में उत्साह भरते हुए वे आगे आये। अचल बलदेव भी शस्त्रसज्ज रथारूढ़ हो कर युद्ध-क्षेत्र में आ गये। इधर ज्वलनजटी आदि विद्याधर भी अपने-अपने वाहन पर चढ़ कर मैदान में आ गए। उस समय वासुदेव के पुण्य से आकर्षित हो कर देवगण वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को वासुदेव के योग्य ‘शांग’ नामक दिव्य धनुष, ‘कौमुदी’ नाम की गदा, ‘पांचजन्य’ नामक शंख, ‘कौस्तुभ’ नामक मणि, ‘नन्द’ नामक खड्ग और ‘वनमाला’ नाम की एक जयमाला अर्पण की। इसी प्रकार अचलकुमार को बलदेव के योग्य--‘संवर्तक’ नामक हल, ‘सौनन्द’ नामक मुसल और ‘चन्द्रिका’ नाम की गदा भेंट की। वासुदेव और बलदेव को दिव्य अस्त्र प्राप्त होते देख कर सैनिकों के उत्साह में भरपूर वृद्धि हुई। वे बड़-चढ़ कर युद्ध करने लगे। उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव ने पांचजन्य शंख का नाद कर के दिशाओं को गुंजायमान कर दिया। प्रलयकारी मेघ-गर्जना के समान शंखनाद सुन कर अश्वग्रीव की सेना क्षुब्ध हो गई। कितने ही सुभटों के हाथों में से शस्त्र छूट कर गिर गए। कितने ही स्वयं पृथ्वी पर गिर गए। कई भाग गए। कई आँखें बन्द किए संकुचित हो कर बैठ गए, कई गुफाओं और कई थरथर धूजने लगे।

अश्वग्रीव का भयंकर युद्ध और मृत्यु

अपनी सेना को हताश एवं छिन्न-भिन्न हुई देख कर अश्वग्रीव ने सैनिकों से कहा--

“ओ, विद्याधरो ! वीर सैनिको ! एक शंख-ध्वनि सुन कर ही तुम इतने भयभीत हो गए ? कहाँ गई तुम्हारी वह अजेयता ? कहाँ गई प्रतिष्ठा ? तुम अपनी आज तक प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा का विचार कर के, शीघ्र ही निर्भय बन कर मैदान में आओ। आकाशचारी

विद्याधरगण । तुम भी भूचर मनुष्यों से भयभीत हो गए ? यदि युद्ध करने का साहस नहीं हो, तो युद्ध-मण्डल के सदस्य के समान तो डटे रहो । मैं स्वयं युद्ध करता हूँ । मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है ।”

अश्वग्रीव के उपालम्भ पूर्ण शब्दों ने विद्याधरों के हृदय में पुनः साहस का संचार किया । वे पुनः युद्ध-क्षेत्र में आ गये । अश्वग्रीव स्वयं रथ में बैठ कर, क्रूर ग्रह के समान शत्रुओं का ग्रास करने के लिए आकाश-मार्ग में चला और बाणों से, शस्त्रों से और अस्त्रों से त्रिपृष्ठ की सेना पर मेघ के समान वर्षा करने लगा । इस प्रकार अस्त्र-वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना घबड़ाने लगी । यदि भूमि-स्थित मनुष्य धीर, साहसी एवं निडर हो, तो भी आकाश से होते हुए प्रहार के आगे वह क्या कर सकता है ?

सेना पर अश्वग्रीव के होते हुए प्रहार को देख कर अचल, त्रिपृष्ठ और ज्वलनजटी, रथारूढ़ हो कर अपने-अपने विद्याधरों के साथ आकाश में उड़े । अब दोनों ओर के विद्याधर आकाश में ही विद्याशक्ति युक्त युद्ध करने लगे । इधर पृथ्वी पर भी दोनों ओर के सैनिक युद्ध करने लगे । थोड़ी ही देर में आकाश में लड़ते हुए विद्याधरों के रक्त से उत्पात-कारी अपूर्व रक्त-वर्षा होने लगी । वीरों की हुँकार, शस्त्रों की झंकार और घायलों की चित्कार से आकाश-मंडल भयंकर हो गया । युद्ध-स्थल में रक्त का प्रवाह बहने लगा । रक्त और मांस, मिट्टी में मिल कर कीचड़ हो गया । घायल सैनिकों के तड़पते हुए शरीरों और गतप्राण हुए शरीरों को रौंदते हुए सैनिकगण युद्ध करने लगे ।

इस प्रकार कल्पांत काल के समान चलते हुए युद्ध में त्रिपृष्ठकुमार ने अपना रथ अश्वग्रीव की ओर बढ़ाया । उन्हें अश्वग्रीव की ओर जाते देख कर अचलकुमार ने भी अपना रथ उधर ही बढ़ाया । आने सामने दोनों शत्रुओं को देख कर अश्वग्रीव अत्यंत क्रोधित हो कर बोला;—

“तुम दोनों में से वह कौन है जिसने मेरे ‘चण्डसिंह’ दूत पर हमला किया था ? पश्चिम दिशा के वन में रहे हुए केसरीसिंह को मारने वाला वह घमंडी कौन है ? किसने ज्वलनजटी की कन्या स्वयंप्रभा को पत्नी बना कर अपने लिये विषकन्या के समान अपनाई ? वह कौन मूर्ख है जो मुझे स्वामी नहीं मानता और मेरे योग्य कन्या-रत्न को दबाये बैठा है ? किस साहस एवं शक्ति के बल पर तुम मेरे सामने आये हो ? मैं उसे देखना चाहता हूँ । फिर तुम चाहो, तो किसी एक के साथ अथवा दोनों के साथ युद्ध करूँगा । बोलो, मेरी बात का उत्तर दो ।”

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले;—

“रे दुष्ट ! तेरे दूत को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाला, सिंह का मारक, स्वयंप्रभा का पति और तुझे स्वामी नहीं मानने वाला तथा अब तक तेरी उपेक्षा करने वाला मैं ही हूँ। और अपने बल से विशाल सेना को नष्ट करने वाले ये हैं--मेरे ज्येष्ठ बन्धु अचलदेव। इनके सामने ठहर सके, ऐसा मनुष्य संसार भर में नहीं है। फिर तू है ही किस गिनती में ? हे महाबाहु ! यदि तेरी इच्छा हो, तो सेना का विनाश रोक कर अपन दोनों ही युद्ध कर लें। तू इस युद्ध-क्षेत्र में मेरा अतिथि है। अपन दोनों का द्वंद युद्ध हो और दोनों ओर की सेना मात्र दर्शक के रूप में देखा करे।”

त्रिपृष्ठकुमार का प्रस्ताव अश्वग्रीव ने स्वीकार कर लिया और दोनों ओर की सेनाओं में सन्देश प्रसारित कर के सैनिकों का युद्ध रोक दिया गया। अब दोनों महावीरों का परस्पर युद्ध होने लगा। अश्वग्रीव ने धनुष पर बाण चढ़ाया और उसे झंकृत किया। त्रिपृष्ठकुमार ने भी अपना शार्ंग धनुष उठाया और उसकी गणच बजा कर वज्र के समान लगने वाला और शत्रुपक्ष के हृदय को दहलाने वाला गम्भीर घोष किया। बाण-वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव ने बाण-वर्षा करते हुए एक तीव्र प्रभाव वाला बाण त्रिपृष्ठ पर छोड़ा। त्रिपृष्ठ सावधान ही थे। उन्होंने तत्काल ही बाणछेदक अस्त्र छोड़ कर उसके बाण को बीच में ही काट दिया और तत्काल चतुराई से ऐसा बाण मारा कि जिससे अश्वग्रीव का धनुष ही टूट गया। इसके बाद अश्वग्रीव ने नया धनुष ग्रहण किया। त्रिपृष्ठ ने उसे भी काट दिया। एक बाण के प्रहार से अश्वग्रीव के रथ की ध्वजा गिरा दी और उसके बाद उसका रथ नष्ट कर दिया।

जब अश्वग्रीव का रथ टूट गया, तो वह दूसरे रथ में बैठा और मेघ-वृष्टि के समान बाण-वर्षा करता हुआ आगे बढ़ा। उसने इतने जोर से बाण-वर्षा की कि जिससे त्रिपृष्ठ और उनका रथ, सभी ढक गये। कुछ भी दिखाई नहीं देता था। किंतु जिस प्रकार सूर्य बादलों का भेदन कर के आगे आ जाता है, उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने अपनी बाण-वर्षा से समस्त आवरण हटा कर छिन्न-भिन्न कर दिये। अपनी प्रबल बाण-वर्षा की व्यर्थ जाती देख कर अश्वग्रीव के क्रोध में भयंकर वृद्धि हुई। उसने मृत्यु की जननी के समान एक प्रचण्ड शक्ति ग्रहण की और मस्तक पर घुमाते हुए अपना सम्पूर्ण बल लगा कर त्रिपृष्ठ पर फेंकी। शक्ति को अपनी ओर आती हुई देख कर त्रिपृष्ठ ने रथ से यमराज के दण्ड समान कौमुदी गदा उठाई निकट आई हुई शक्ति पर इतने जोर से प्रहार किया कि जिससे अग्नि की चिनगारियों के सैकड़ों उल्कापात छोड़ती हुई चूर-चूर हो कर दूर जा गिरी। शक्ति

की विफलता देख कर अश्वघ्रीव ने बड़ा परिघ (भाला) ग्रहण किया और त्रिपृष्ठ पर फेंका, किंतु उसकी भी शक्ति जैसी ही दशा हुई और वह भी कौमुदी गदा के प्रहार से टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गया। इसके बाद अश्वघ्रीव ने घुमा कर एक गदा फेंकी, किंतु त्रिपृष्ठ ने आकाश में ही गदा प्रहार से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

इस प्रकार अश्वघ्रीव के सभी अस्त्र निष्फल हो कर चूर-चूर हो गए, तो वह हताश एवं निराश हो गया। 'अब वह क्या करे,' यह चिंता करने लगा। उसका 'नागास्त्र' की ओर ध्यान गया। उसने उसका स्मरण किया। स्मरण करते ही नागास्त्र उपस्थित हुआ। अश्वघ्रीव ने उस अस्त्र को धनुष के साथ जोड़ा। तत्काल सर्प प्रकट होने लगे। जिस प्रकार बाँबी में से सर्प निकलते हैं, उसी प्रकार नागास्त्र से सर्प निकल कर पृथ्वी पर दौड़ने लगे। ऊँचे फण किये हुए और फुंकार करते हुए लम्बे और काले वे सर्प, बड़े भयानक लग रहे थे। पृथ्वी पर और आकाश में जहाँ देखो, वहाँ भयंकर साँप ही साँप दिखाई दे रहे थे। त्रिपृष्ठ की सेना, सर्पों के भयंकर आक्रमण को देख कर विचलित हो गई। इतने में त्रिपृष्ठ ने गरुड़ास्त्र उठा कर छोड़ा, तो उसमें से बहुत-से गरुड़ प्रकट हुए। गरुड़ों को देखते ही सर्प-सेना भाग खड़ी हुई।

नागास्त्र की दुर्दशा देख कर अश्वघ्रीव ने अम्यस्त्र का स्मरण किया और प्राप्त कर छोड़ा, तो उससे चारों ओर उल्कापात होने लगा और त्रिपृष्ठ की सेना चारों ओर से दावानल में धिरी हो—ऐसा दिखाई देने लगा सेना अपने को पूर्ण रूप से अग्नि से व्याप्त मान कर घबड़ा गई। सैनिक इधर-उधर दुबकने लगे। यह देख कर अश्वघ्रीव की सेना के सैनिक उत्साहित हो कर हँसने लगे, उछलने और खिल्ली उड़ाने लगे तथा तालियाँ पीट-पीट कर जिव्हा से व्यंग बाण छोड़ने लगे। यह देख कर त्रिपृष्ठ ने रुष्ट हो कर वरुणास्त्र उठा कर छोड़ा। तत्काल आकाश मेघ से आच्छादित हो गया और वर्षा होने लगी। अश्वघ्रीव की फैलाई हुई अग्नि शांत हो गई। जब अश्वघ्रीव के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये, तब उसने अपने अंतिम अस्त्र, अमोघ चक्र का स्मरण किया। सैकड़ों आरों से निकलती हुई सैकड़ों ज्वालाओं से प्रकाशित, सूर्य-मण्डल के समान दिखाई देने वाला वह चक्र, स्मरण करते ही अश्वघ्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ। चक्र को ग्रहण कर के अश्वघ्रीव ने त्रिपृष्ठ से कहा;—

“अरे, ओ त्रिपृष्ठ ! तू अभी बालक है। तेरा वध करने से मुझे बाल-हत्या का पाप लगेगा इसलिए मैं कहता हूँ कि तू अब भी मेरे सामने से हट जा और युद्ध-क्षेत्र से बाहर चला जा। मेरे हृदय में रही हुई दया, तेरा वध करना नहीं चाहती। देख, मेरा

यह चक्र, इन्द्र के वज्र के समान अमोघ है। यह न तो पीछे हटता है और न व्यर्थ ही जाता है। मेरे हाथ से यह चक्र छूटा कि तेरे शरीर से प्राण छुटे। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिए क्षत्रियत्व एवं वीरत्व के अभिमान को छोड़ कर, मेरे अनुशासन को स्वीकार कर ले। मैं तेरे पिछले सभी अपराध क्षमा कर दूँगा। मेरे मन में अनुकम्पा उत्पन्न हुई है। यह तेरे सद्भाग्य का सूचक है। इसलिए दुराग्रह छोड़ कर सीधे मार्ग पर आजा।”

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठ हँसते हुए बोले;—

“अश्वग्रीव ! वास्तव में तू वृद्ध एवं शिथिल हो गया है। इसीसे उन्मत्त के समान दुर्वचन बोल रहा है। तुझे विचार करना चाहिए कि बाल केसरीसिंह, बड़े गजराज को देख कर डरता नहीं, गरुड़ का छोटा बच्चा भी बड़े भुजंग को देख कर विचलित नहीं होता और बाल सूर्य भी संध्याकाल रूप राक्षस से भयभीत नहीं होता। मैं बालक हूँ, फिर भी तेरे सामने युद्ध करने आया हूँ। मैंने तेरे अब तक के सारे अस्त्र व्यर्थ कर दिये, अब फिर एक अस्त्र और छोड़ कर, उसका भी उपयोग कर ले। पहले से इतना घमण्ड क्यों करता है?”

त्रिपृष्ठ के वचन से अश्वग्रीव भड़का। उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला सुलग उठी। उसने चक्र को ऊँचा उठा कर अपने सिर पर सूब घुमाया और सम्पूर्ण बल से उसे त्रिपृष्ठ पर फेंका। चक्र ने त्रिपृष्ठ के वज्रमय एवं शिला के समान वक्षस्थल पर आघात किया और टकरा कर वापिस लौटा। चक्र के अग्रभाग के दृढ़तम आघात से त्रिपृष्ठ मूर्च्छित हो कर नीचे गिर गये और चक्र भी स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ की यह दशा देख कर उसकी सेना में हाहाकार मच गया। अपने लघुबन्धु को मूर्च्छित देख कर अचलकुमार को मानसिक आघात लगा और वे भी मूर्च्छित हो गए। दोनों को मूर्च्छित देख कर अश्वग्रीव ने सिंहनाद किया और उसके सैनिक जयजयकार करते हुए हर्षोन्मत्त हो कर किलकारी करने लगे।

कुछ समय बीतने पर अचलकुमार की मूर्च्छा दूर हुई। वे सावधान हुए। जब उनका ध्यान हर्षनाद की ओर गया, तो उन्होंने इसका कारण पूछा। सेनाधिकारियों ने कहा—“त्रिपृष्ठकुमार के मूर्च्छित हो जाने पर शत्रु-सेना प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठी है। यह उसी की ध्वनि है।” अचलकुमार को यह सुन कर क्रोध चढ़ा। उन्होंने गर्जना करते हुए अश्वग्रीव से कहा—

“रे दुष्ट ! ठहर, मैं तेरे हर्षोन्माद की दवा करता हूँ।” उन्होंने गदा उठाई और अश्वग्रीव पर झपटने ही वाले थे कि त्रिपृष्ठ सावधान हो गए उन्होंने ज्येष्ठ बन्धु को

रोकते हुए कहा; --

“आर्य ! ठहरिये, ठहरिये, मुझे ही अश्वग्रीव की करणी का फल चखाने दीजिए । वह मुख्यतः मेरा अपराधी है । आप उसके घमण्ड का अंतिम परिणाम देखिये ।

राजकुमार अचल, छोटे बन्धु को सावधान देख कर प्रसन्न हुए और उसको अपनी भुजाओं में बाँध कर आलिंगन करने लगे । सेना में भी विषाद के स्थान पर प्रसन्नता व्याप गई । हर्षनाद होने लगा । त्रिपृष्ठ ने देखा कि अश्वग्रीव का फेंका हुआ चक्र पास ही निस्तब्ध पड़ा है । उन्होंने चक्र को उठाया और गर्जनापूर्वक अश्वग्रीव से कहने लगे; --

“ऐ अभिमानी वृद्ध ! अपने परम अस्त्र का परिणाम देख लिया ? यदि जीवन प्रिय है, तो हट जा यहाँ से । मैं भी एक वृद्ध की हत्या करना नहीं चाहता । यदि अब भी तू नहीं मानेगा और अभिमान से अड़ा ही रहेगा, तो तू समझले कि तेरा जीवन अब कुछ क्षणों का ही है ।”

अश्वग्रीव इन वचनों को सहन नहीं कर सका । वह भ्रुकुटी चढ़ा कर बोला--

“छोकरे ! वाचालता क्यों करता है । जीवन प्यारा हो, तो चला जा यहाँ से । नहीं, तो अब तू नहीं बच सकेगा । तेरा कोई भी अस्त्र और यह चक्र मेरे सामने कुछ भी नहीं है । मेरे पास आते ही मैं इसे चूर-चूर कर दूँगा ।”

अश्वग्रीव की बात सुनते ही त्रिपृष्ठ ने क्रोधपूर्वक उसी चक्र को ग्रहण किया और बलपूर्वक घुमा कर अश्वग्रीव पर फेंका । चक्र सीधा अश्वग्रीव की गर्दन काटता हुआ आगे निकल गया । त्रिपृष्ठ की जीत हो गई, खेचरों ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की जयकार से आकाश गुंजा दिया और पुष्प-वर्षा की । अश्वग्रीव की सेना में रुदन मच गया । अश्वग्रीव के संबंधी और पुत्र एकत्रित हुए और अश्रुपात करने लगे । अश्वग्रीव के शरीर का वहीं अग्नि-संस्कार किया । वह मृत्यु पा कर सातवीं नरक में, ३३ सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ ।

उस समय देवों ने आकाश में रह कर उच्च स्वर से उद्घोषणा करते हुए कहा; --
“राजाओं ! अब तुम मान छोड़ कर भक्तिपूर्वक त्रिपृष्ठ वासुदेव की शरण में आओ । इस भरत-क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम वासुदेव हैं । ये महाभुज त्रिखंड भरत-क्षेत्र की पृथ्वी के स्वामी होंगे ।”

यह देववाणी सुन कर अश्वग्रीव के पक्ष के सभी राजाओं ने श्री त्रिपृष्ठ वासुदेव के समीप आ कर प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर विनति करते हुए इस प्रकार बोले; --

“हे नाथ ! हमने अज्ञानवश एवं परतन्त्रता से अब तक आपका जो अपराध किया, उसे क्षमा करें। अब आज से हम आपके अनुचर के समान रहेंगे और आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करेंगे।”

वासुदेव ने कहा—“नहीं, नहीं, तुम्हारा कोई अपराध नहीं। स्वामी की आज्ञा से युद्ध करना, यह क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। तुम भय छोड़ कर मेरी आज्ञा से अपने-अपने राज्य में निर्भय हो कर राज करते रहो।”

इस प्रकार सभी राजाओं को आश्चस्त कर के त्रिपृष्ठ वासुदेव, इन्द्र के समान अपने अधिकारियों और सेना के साथ पोतनपुर आये। उसके बाद वासुदेव, अपने ज्येष्ठ-बन्धु अचल बलदेव के साथ सातों रत्नों + को ले कर दिग्विजय करने चल निकले।

उन्होंने पूर्व में मगधपति, दक्षिण में वरदाम देव और पश्चिम में प्रभास देव को आज्ञा-धीन कर के वैताढ्य पर्वत पर की विद्याधरों की दोनों श्रेणियों को विजय किया और दोनों श्रेणियों का राज, ज्वलनजटी की दे दिया। इस प्रकार दक्षिण भरताड़ को साध कर वासुदेव, अपने नगर की ओर चलने लगे। चलते-चलते वे मगधदेश में आये। वहाँ उन्होंने एक महाशिला, जो कोटि पुरुषों से उठ सकती थी और जिसे ‘कोटिशिला’ कहते थे, देखी। उन्होंने उस कोटिशिला को बायें हाथ से उठा कर मस्तक से भी ऊपर छत्रवत् रखी। उनके ऐसे महान् बल को देख कर साथ के राजाओं और अन्य लोगों ने उनकी प्रशंसा की। कोटिशिला को योग्य स्थान पर रख कर आगे बढ़े और चलते-चलते पोतनपुर के निकट आये। उनका नगर-प्रवेश बड़ी धूमधाम से हुआ। शुभ मुहूर्त में प्रजापति, ज्वलनजटी, अचल-बलदेव आदि ने त्रिपृष्ठ का ‘वासुदेव’ पद का अभिषेक किया। बड़े भारी महोत्सव से यह अभिषेक सम्पन्न हुआ।

भगवान् श्रेयांसनाथजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए पोतनपुर नगर के उद्यान में पधारे। समवसरण की रचना हुई। वनपाल ने वासुदेव को प्रभु के पधारने की बधाई दी। वासुदेव, सिंहासन त्याग कर उस दिशा में कुछ चरण गये और जा कर प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया। फिर सिंहासन पर बैठ कर बधाई देने वाले को साढ़े बारह कोटि स्वर्ण-मुद्रा का पारितोषिक दिया। इसके बाद वे आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दने के लिए निकले। विधिपूर्वक भगवान् की वन्दना की और भगवान् की धर्मदेशना सुनने में तन्मय

+ १ चक्र २ धनुष ३ गदा ४ शंख ५ कौस्तुभमणि ६ खड्ग और ७ वनमाला। ये वासुदेव के सात रत्न हैं।

हो गए । देशना सुन कर कितने ही लोगों ने सर्वविरति प्रव्रज्या स्वीकार की, कितनों ही ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-बलदेव आदि बहुत-से लोगों ने सम्यग्दर्शन रूपी महारत्न ग्रहण किया ।

भगवान् केवलज्ञान होने के दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक इस अवनीनल पर विचरते रहे । आपके गोशुभ आदि ७६ गणधर, ८४००० साधु, १०३००० साध्विये, १३०० चौदह पूर्वधर, ६००० अवधिज्ञानी, ६००० मनःपर्यवज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० वैक्रिय लब्धि वाले, ५००० वाद-लब्धि वाले, २७९००० श्रावक और ४४८००० श्राविकाएँ हुई । मोक्ष समय निकट जान कर भगवान् सम्मेदशिखर पर्वत पर चढ़े और एक हजार मुनियों के साथ अनशन किया । एक मास के अनशन से श्रावण-कृष्ण तृतीया के दिन घनिष्ठा नक्षत्र में चन्द्रमा के आने पर प्रभु का निर्वाण कल्याणक हुआ । प्रभु, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्दमय स्वरूप वाले परमपद को प्राप्त हुए ।

भगवान् कुमार अवस्था में २१००००० वर्ष, राज्याधिपति रूप में ४२००००० वर्ष और संयम-पर्याय में २१००००० वर्ष, यों कुल ८४००००० वर्ष की कुल आयु भोग कर मोक्ष पधारे । इन्द्रों ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया ।

त्रिपृष्ठ की क्रूरता और मृत्यु

त्रिपृष्ठ वासुदेव ३२००० रानियों के साथ भोग भोगते हुए काल व्यतीत करने लगे । महारानी स्वयंप्रभा से 'श्रीविजय और विजय' नाम के दो पुत्र हुए । एक बार रति सागर में लीन वासुदेव के पास कुछ गायक आये, वे संगीत में निपुण थे । विविध प्रकार के श्रुति-मधुर संगीत से उन्होंने वासुदेव को मुग्ध कर लिया । वासुदेव ने उन्हें अपनी संगीत मण्डली में रख लिया । एक बार वासुदेव उन कलाकारों के सुरीले संगीत में गूढ़ हो कर शय्या में सो रहे थे । वे उनके संगीत पर अत्यंत मुग्ध थे । उन्होंने शय्यापालक को आज्ञा दी कि "मुझे नींद आते ही संगीत बन्द करवा देना ।" नरेन्द्र को नींद आ गई, किन्तु शय्यापालक ने संगीत बन्द नहीं करवाया । वह स्वयं राग में अत्यंत गूढ़ हो गया था । रातभर संगीत होता रहा । पिछली रात को जब वासुदेव की आँख खुली, तो उन्होंने शय्यापालक से पूछा; --

“मुझे नींद आने के बाद संगीत-मण्डली को बिदा क्यों नहीं किया ?”

—“महाराजा ! मैं स्वयं इनके रसीले राग और सुरीली तान में मुग्ध हो गया था—इतना कि रात बीत जाने का भी भान नहीं रहा”—शय्यापालक ने निवेदन किया।

यह सुनते ही वासुदेव के हृदय में क्रोध उत्पन्न हो गया। उस समय तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, किंतु दूसरे ही दिन सभा में शय्यापालक को बुलवाया और अनुचरों को आज्ञा दी कि “इस संगीत-प्रिय शय्यापालक के कानों में उबलता हुआ रांगा भर दो। यह कर्तव्य भ्रष्ट है। इसने राग-लुब्ध हो कर राजाज्ञा का उल्लंघन किया और संगीतज्ञों को रातभर नहीं छोड़ा।”

नरेश की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। विचारे शय्यापालक को एकान्त में ले जा कर, उबलता हुआ रांगा कानों में भर दिया। वह उसी समय तीव्रतम वेदना भोगता हुआ मर गया। इस निमित्त से वासुदेव ने भी क्रूर परिणामों के चलते अशुभतम कर्मों का बन्ध कर लिया।

नित्य विषयासक्त, राज्यमूर्च्छा में लीनतम, बाहुबल के गर्व से जगत् को तृणवत् तुच्छ गिनने वाले, हिंसा में निःशंक, महान् आरम्भ और महापरिग्रह तथा क्रूर अध्यवसाय से सम्यक्त्व रूप रत्न का नाश करने वाले वासुदेव, नारकी का आयु बांध कर और ८४००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के सातवीं नरक में गया। वहाँ वे तेतीस सागरोपम काल तक महान् दुःखों को भोगते रहेंगे। प्रथम वासुदेव ने कुमारवय में २५००० वर्ष मांडलिक राजा के रूप में २५००० वर्ष, दिग्विजय में एक हजार वर्ष और वासुदेव (सार्वभौम नरेन्द्र) के रूप में ८३४९००० वर्ष, इस प्रकार कुल आयु चौरासी लाख वर्ष का भोगा।

अपने छोटे भाई की मृत्यु होने से अचल बलदेव को भारी शोक हुआ। वे विक्षिप्त के समान हो गए। उच्च स्वर से रोते हुए वे अपने भाई को—नींद से जगाते हो, उस प्रकार झेंझोड़ कर सावधान करने का व्यर्थ प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार करते-करते वे मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा हटने पर वृद्धों के उपदेश से उनका मोह कम हुआ। वासुदेव की मृत-देह का अग्नि-संस्कार किया गया। किन्तु बलदेव को भाई के बिना नहीं सुहाता। वे घर-बाहर इधर-उधर भटकने लगे। अंत में धर्मघोष आचार्य के उपदेश से विरक्त हो कर दीक्षित हुए और विशुद्ध रीति से संयम का पालन करते हुए, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और आयु पूर्ण होने पर मोक्ष प्राप्त कर लिया। उनकी कुल आयु ८५००००० वर्ष की थी।

॥ भगवान् श्रेयांसनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० वासुपूज्यजी



पुष्करवर द्वीपाद के पूर्व विदेह क्षेत्र में, 'मंगलावती' नाम के विजय में 'रत्नसंचया' नाम की एक विशाल एवं समृद्ध नगरी थी। 'पद्मोत्तर' नरेश वहाँ का शासन करते थे। वे जिनेश्वर भगवान् की उपासना करने वाले थे। उनका राज्य, समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था।

एक बार अनित्य भावना में लीन बने हुए महाराजा पद्मोत्तर के हृदय में वैराग्य बस गया। उन्होंने वज्रनाभ मुनिवर के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। साधना में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए आपने तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध कर लिया और बहुत वर्षों तक संयम का पालन करते हुए, आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवें देवलोक में महर्द्धिक देव हुए।

जंबूद्वीप के दक्षिण भरताद्व में 'चंपा' नाम की एक नगरी थी। उस विशाल मनोहर एवं समृद्ध नगरी के स्वामी महाराजा 'वासुपूज्य' थे। वे दानेश्वरियों में अग्रगण्य थे। उनका शासन न्याय-नीति एवं सदाचारपूर्वक चल रहा था। नरेश जिनेश्वर भगवान् के सेवक थे। उनकी पटरानी का नाम 'जयादेवी' था। वह सुलक्षणी, सद्गुणों की पात्र और लक्ष्मी के समान सौभाग्यशालिनी थी। पद्मोत्तर राजा का जीव, देवलोक का सुखमय जीवन व्यतीत कर के, आयुष्य पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-शुक्ला नौमी के दिन शतभिषा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, जयादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। जयादेवी ने तीर्थंकर के योग्य चौदह महास्वप्न देखे। फाल्गुन मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियों और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। पिता के नाम पर ही पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम दिया। कुमार कमशः वृद्धि पाने लगे।

विवाह नहीं करूँगा

यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक देव के राजाओं ने राजकुमार वासुपूज्य के साथ अपनी राजकुमारियों का वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने के सन्देश भेजे । माता-पिता ने युवराज वासुपूज्य को विवाह करने और राज्य का भार वहन करने की प्रेरणा की । किन्तु संसार से विरक्त प्रभु ने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए कहा; --

“पिताश्री ! आपका पुत्र स्नेह में जानता हूँ । किन्तु मैं चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हुए ऐसे सम्बन्ध अनन्त बार कर चुका हूँ । संसार-सागर में भटकते हुए मैंने जन्म-मरणादि के अनन्त दुःख भोगे । अब मैं संसार से उद्विग्न हो गया हूँ । इसलिए अब मेरी इच्छा एकमात्र मोक्ष साधने की है । आप लग्न की बात छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दीजिए ।”

पुत्र की बात सुन कर पिता ने गदगद स्वर से कहा; --

“पुत्र ! मैं जानता हूँ कि तुम भोगार्थी नहीं हो । तुम्हारे मोक्षार्थी एवं जगदुद्धारक होने की बात मैं तभी जान गया था, जब तुम गर्भ में आये थे । देवों ने तुम्हारा जन्मोत्सव किया था । किन्तु विवाह करने से और राज्य का संचालन करने से तुम्हारी मुक्ति नहीं रहेगी । कुछ काल तक अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करने के बाद धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ में प्रवृत्ति हो सकेगी । तुम्हारे पूर्व हुए आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेवजी और अन्य तीर्थंकरों ने भी विवाह किया था और राज्य-भार भी उठाया था । उसके बाद वे मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हुए थे । इसी प्रकार तुम भी विवाह करो और राज्य का भार सम्हाल कर हमें मोक्ष-साधना में लगने दो ।”

--“पिताश्री ! आपने कहा वह ठीक है । मैं गत महापुरुषों के चरित्र जानता हूँ । सभी मनुष्यों और महापुरुषों का जीवन, समग्र दृष्टि से सन्तान नहीं होता । जिनके भोग-फल-दायक कर्मों का उदय हो, उन्हें विवाह भी करना पड़ता है और राज्य संचालन भी करना पड़ता है । जिनके ऐसे कर्मों का उदय नहीं होता, वे अविवाहित एवं कुमार अवस्था में ही त्याग-मार्ग पर चल देते हैं । भावी तीर्थंकर श्री मल्लिनाथजी और श्री अरिष्टनेमिजी भी अविवाहित रह कर ही प्रव्रजित हो जावेंगे । चरम तीर्थंकर भ० महावीर के भोग-कर्म स्वल्प होने से विवाह तो करेंगे, किन्तु थोड़े काल के बाद, कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हो जावेंगे । वे राज्य का संचालन नहीं करेंगे । विवाह करने और भोग-भोगने तथा राज्याधिपति बनने में वैसे भोग योग्य कर्मों का उदय कारणभूत होता है । जिनके वैसे कर्म उदय में आते हैं, वे वंसी प्रवृत्ति करते हैं । मेरी इनमें रुचि नहीं है । आप अपने मोह को त्याग कर मुझे निर्ग्रथ दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान करें ।”

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर, जन्म से अठारह लाख वर्ष व्यतीत हुए बाद श्री वासुज्य कुमार दीक्षा लेने की भावना करने लगे । उस समय लोकान्तिक देव का आसन कम्पायमान होने से, स्वर्ग से चल कर प्रभु के समीप आये और तीर्थ-प्रवर्तन करने की विनती की । भगवान् ने तीर्थकरों के कल्प के अनुसार वर्षादान दिया और फाल्गुन की अमावस्या को उपवास के तप से छह सौ राजाओं के साथ प्रभु ने प्रव्रज्या ग्रहण की । तत्काल प्रभु को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया ।

द्विपृष्ठ वासुदेव चरित्र

पृथ्वीपुर नगर में 'पवनवेग' नाम का राजा राज करता था । बहुत वर्षों तक राज करने के बाद उन्होंने यथावसर श्रवणसिंह मुनि के समीप प्रव्रजित हो कर संयम और तप की विशुद्ध आराधना की और अप्रमत्त अवस्था में काल कर के अनन्तर विमान में देवता हुए ।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में 'विध्यपुर' नाम का प्रसिद्ध एवं प्रमुख नगर था । वह धन-धान्य एवं ऋद्धि से परिपूर्ण था । महान् पराक्रमी और सिंह के समान शक्तिशाली 'विध्यशक्ति' नाम का प्रतापी नरेश वहाँ का शासक था । उसके प्रभाव से अन्य राजागण दबे हुए थे । वे महाराजा विध्यशक्ति की कृपा एवं रक्षण के लिए प्रयत्नशील रहते थे । एक बार वह अपनी राज-सभा में बैठा हुआ था कि एक चर पुरुष आया और कहने लगा; —

“महाराज ! साकेतपुर के अधिपति 'पर्वत' नरेश के पास 'गुणमंजरी' नामकी एक अनुपम सुन्दरी वेश्या है । उसका अंग-प्रत्यंग सुन्दरता से परिपूर्ण है । उसकी समानता करने वाला दूसरा कोई स्त्री-रत्न इस पृथ्वी पर नहीं है । वह मात्र रूप-सुन्दरी ही नहीं है, उसका नृत्य, संगीत और वादन, सभी उत्तमोत्तम है । वह आपके योग्य है । उसके बिना आपका राज्य फीका है ।”

चर पुरुष की बात सुन कर राजा ने गुणमंजरी वेश्या की याचना करने के लिए दूत भेजा । पर्वत राजा ने इस याचना को अपमानपूर्वक ठुकरा दिया । विध्यशक्ति ने विशाल सेना ले कर साकेतपुर पर चढ़ाई कर दी । दोनों में भीषण युद्ध हुआ । अंत में पर्वत हार कर भाग गया और विध्यशक्ति नरेश ने नगर में प्रवेश कर के गुणमंजरी वेश्या

और अन्य सभी सार पदार्थ ले कर अपने स्थान पर चला गया। पराजित पर्वत नरेश ने श्री संभवाचार्य के समीप श्रमण दीक्षा स्वीकार की और कठोर साधना तथा उग्र तप करते हुए निदान किया कि—“आगामी भव में मैं विन्ध्यशक्ति का काल बनूँ।” अंत में अनशन कर के मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक में देव हुआ। राजा विन्ध्यशक्ति भी भव भ्रमण करता हुआ एक भव में मुनिव्रत लिया और मृत्यु पा कर देव हुआ। वहाँ से च्यव कर विन्ध्यशक्ति का जीव, विजयपुर में श्रीधर राजा की श्रीमती रानी की उदर से ‘तारक’ नाम का पुत्र हुआ। वह शूर-वीर एवं पराक्रमी था। उसने अर्धभरत क्षेत्र को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया।

सौराष्ट्र देश की प्रसिद्ध ‘द्वारिका’ नगरी में ‘ब्रह्म’ राज्याधिपति था। उसके ‘सुभद्रा’ और ‘उमा’ ये दो पटरानियाँ थीं। ‘पवनवेग’ का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी सुभद्रादेवी की कुक्षि में आया। महारानी ने चार महास्वप्न देखे। पुत्र का नाम ‘विजय’ रखा। वह गौरवर्ण वाला अनेक प्रकार के सुलक्षणों से युक्त था। राजकुमार का लालन-पालन उत्तमोत्तम रीति से होने लगा। योग्य वय में सभी कलाओं में पारंगत हो कर वह महान् वीर हो गया। कालान्तर से महारानी उमादेवी की कुक्षि में, पर्वत का जीव, प्राणत देवलोक से च्यव कर आया। महारानी ने सात स्वप्न देखे। पुत्र का नाम ‘द्विपृष्ठ’ रखा। द्विपृष्ठ, श्याम वर्ण वाला, सुन्दर और अनेक शुभलक्षणों से युक्त बालक था। वह क्रमशः बढ़ने लगा। राजकुमार विजय की, अपने छोटे भाई पर अत्यधिक प्रीति थी। वह द्विपृष्ठ के प्यार में, उसे खेलाने, खिलाने और प्रसन्न रखने में ही अपना विशेष समय लगा देता था। वय प्राप्त होने पर द्विपृष्ठ भी सभी कलाओं में पारंगत हो कर वीर-शिरोमणि एवं अनुपम योद्धा हो गया। दोनों राजकुमार महाबली थे।

द्वारिकाधिपति ब्रह्म नरेश, अर्धभरत क्षेत्र के स्वामी तारक के आधीन थे। वे उसकी आज्ञा में रह कर राज करते थे। किंतु उनके पुत्र विजय और द्विपृष्ठ कुमार को तारक का शासन असह्य हो रहा था। वे तारक की आज्ञा में रहना नहीं चाहते थे। वे वचन से और कार्य में तारक नरेश का विरोध तथा अवज्ञा करते रहते थे। गुप्तचरों ने तारक नरेश के सामने कुमारों की प्रतिकूलता का वर्णन करते हुए कहा;—

“स्वामी ! द्वारिका के राजा ब्रह्म के दोनों पुत्र बड़े ही धृष्ट एवं दुर्मंद हो गए हैं। वे आपका अनुशासन नहीं मानते और निधङ्ग निन्दा करते हैं। वे योद्धा हैं और सभी शास्त्रों के ज्ञाता हैं। उनकी बड़ी हुई शक्ति आपके लिए हितकारी नहीं होगी। आपको

इस पर योग्य विचार करना चाहिए ।”

तारक को गुप्तचरों की बात लग गई । वह उत्तेजित हो गया । उसने अपने सेनापति को बुला कर आज्ञा दी; —

“सेनापति ! तुम अपने सामंत राजाओं के साथ, सेना ले कर द्वारिका जाओ और ब्रह्म राजा को उसके पुत्रों सहित मार डालो । उनको उठते ही कुचल देना ठीक होगा । उपेक्षा करने से व्याधि के समान शत्रु भी असाध्य हो जाता है ।

राजा को आज्ञा सुन कर वृद्ध मन्त्री ने निवेदन किया—

“महाराज ! जरा शांति से विचार करो । ब्रह्म राजा के विषय में यह पहली ही शिकायत है । वह आज तक आपका आज्ञाकारी सामन्त रहा है । किसी खास कारण के बिना चढ़ाई कर देना अन्याय होगा । इससे दूसरे सामन्तों के मन में सन्देह उत्पन्न होगा और सन्देह होने पर वे भी विश्वास के योग्य नहीं रह सकेंगे । जिनमें विश्वास नहीं होगा, वे आज्ञा का पालन कैसे कर सकेंगे और आज्ञा का पालन नहीं हुआ, तो स्वामित्व कैसे रहेगा ? इसलिए पहले उस पर किसी अपराध का आरोप लगा कर, उसके पास अपना दूत भेजना चाहिए और दण्ड स्वरूप श्रेष्ठ हाथी, घोड़े और रत्नों की मांग करनी चाहिए । यदि वह मांग अस्वीकार कर दे, तो फिर उसी अपराध में उन्हें मार देना ठीक होगा । नियमपूर्वक काम करने में अनीति का आरोप नहीं लगता और दूसरों के मन में सन्देह उत्पन्न नहीं होता ।”

तारक नरेश ने मन्त्री की सलाह मानी और अपना विश्वस्त दूत द्वारिका, ब्रह्म राजा के पास भेजा । राजा ने दूत को संमानपूर्वक अपने पास बिठाया और प्रेमालाप करने के बाद आने का कारण पूछा । दूत ने कहा; —

“हे द्वारकेश ! स्वामी की आज्ञा है कि आपके पास जो भी सर्वश्रेष्ठ हाथी, घोड़ा और रत्न, दि उत्तम सामग्री हो, वह हमारी सेवा में प्रस्तुत करो । इस अर्ध भरत-क्षेत्र में जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु हो, उसका भोग भरताधिपति ही कर सकते हैं । मैं यही सन्देश ले कर आया हूँ ।”

राजकुमार भी यह बात सुन रहे थे । राजा के बोलने के पूर्व ही द्विपृष्ठ कुमार क्रुद्ध हो कर गर्जना करते हुए बोले; —

“तुम्हारा स्वामी तारक राजा, न तो हमारे वंश का ज्येष्ठ पुरुष है और न हमारा स्वामी ही है । यह राज, तारक ने हमें या हमारे वंश को दान में नहीं दिया और न वह

इस राज्य का रक्षक ही है। फिर वह हमारा स्वामी कैसे बन गया ? जिस प्रकार वह अपने भुज-बल से, हम से हाथी-घोड़े और रत्न माँगता है, उसी प्रकार हम भी अपने भुज-बल से, तुम्हारे राजा से ये ही वस्तुएँ माँगते हैं। इसलिए हे दूत ! तुम यहाँ से चले जाओ। हम स्वयं तुम्हारे राजा से, उसके मस्तक के साथ ये वस्तुएँ हस्तगत करने के लिए वहाँ आवेंगे।”

दूत ने जा कर सारी बात तारक नरेश से कही। तारक की क्रोधाग्नि भड़की। उसने उसी समय युद्ध की घोषणा कर दी। अधिनस्थ राजागण, सामन्तगण, सेनापति और विशाल सेना सज्ज हो कर युद्ध के लिए तत्पर हो गई। प्रयाण के प्रारम्भ में ही भूकम्प, विद्युत्पात, कौओं की कराँहट आदि अशुभ परिणाम सूचक लक्षण प्रकट हुए। किन्तु तारक नरेश ने क्रोधावेश में इन सभी अशुभ सूचक प्राकृतिक लक्षणों की उपेक्षा कर के प्रयाण कर ही दिया और शीघ्रता से आगे बढ़ने लगे।

इधर ब्रह्म राजा और दोनों कुमार भी अपनी सेना ले कर आ गये। महान् संहारक युद्ध होने लगा। लाखों मनुष्य मारे गये। चारों ओर रक्त का समुद्र जैसा बन गया। उसमें कटे हुए हाथ, पाँव, मस्तक आदि तैरने लगे। मनुष्यों, घोड़ों और हाथियों के शव के ढेर हो गये। द्विपृष्ठ कुमार ने विजय-रथ पर आरूढ़ हो कर पाँचजन्य शंख का नाद किया। इस शंखनाद से तारक की सेना वस्तु ही उठी। अपनी सेना को भयभीत देख कर तारक भी रथारूढ़ हो कर द्विपृष्ठ कुमार के सामने आया। तारक की ओर से भयंकर शस्त्र प्रहार होने लगे। द्विपृष्ठ ने तारक के सभी अस्त्रों को अपने पास आते ही नष्ट कर दिये। अन्त में तारक ने चक्र उठाया और अपने सम्पूर्ण बल के साथ द्विपृष्ठ कुमार पर फेंका। चक्र के आघात से द्विपृष्ठ कुमार मूर्च्छित हो गये। किन्तु थोड़ी ही देर में सावधान हो कर उसी चक्र को ग्रहण किया और तारक को अंतिम चेतावनी देते हुए कहा;—

“ऐ मृत्यु के ग्रास वृद्ध तारक ! जीवन प्रिय हो, तो अब भी हट जा मेरे सामने से। अन्यथा यह तेरा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र ही तुझे चिर निद्रा में सुला देगा।”

तारक की मृत्यु आ गई थी। वह नहीं माना और द्विपृष्ठ द्वारा फेंके हुए चक्र से ही वह मृत्यु पा कर नरक में गया। तारक-पक्ष के सभी राजा और सामंत, द्विपृष्ठ के आधीन हो गए। द्विपृष्ठ ने उसी स्थान से दिग्विजय प्रारम्भ कर दिया और दक्षिण भरत-क्षेत्र को जीत कर उसका अधिपति हो गया। द्विपृष्ठ का अर्द्धचक्री—वासुदेवपन का अभि-

षेक भी बड़े आडम्बर के साथ हो गया ।

×

×

×

×

एक मास पर्यंत छद्मस्थ अवस्था में विचरने के बाद महाश्रमण श्री वामुपुज्य स्वामी, विहारगृह नामक उद्यान में (जहाँ दीक्षित हुए थे) पधारे और माघ मास की शुक्ल द्वितीया के दिन, शतभिषा नक्षत्र में, उपवास के तप से, पाटल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए प्रभु ने शुक्लध्यान के दूसरे चरण में प्रवेश कर के चातुर्कर्मों का क्षय कर दिया और केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । देवों ने समवसरण की रचना की । प्रभु ने धर्मोपदेश दिया ।

धर्मदेशना

धर्म-दुर्लभ भावना

इस अपार संसार रूपी समुद्र में मनुष्य-भव की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है । जिस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र के एक किनारे पर, पानी में डाला हुआ जूआ और दूसरे किनारे पर डाली हुई शमिला का संयोग मिलना बहुत ही कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य-भव व्यर्थ अथवा पाप सञ्चय में नहीं गँवाना चाहिए । किन्तु धर्म की आराधना कर के सार्थक करना चाहिए ।

यों तो संसार में अनेक धर्म हैं, किन्तु जिनेश्वर भगवंत का बताया हुआ धर्म ही सर्व-श्रेष्ठ है । इस धर्म का अवलम्बन करने वाला, कभी संसार-सागर में नहीं डूबता, नरक निगोद में जा कर दुखी नहीं होता । यह धर्म, संयम (सभी प्रकार की अहिंसा) सत्य-वचन शौच (अचौर्य रूपी पवित्रता) ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, तप और क्षमा, मृदुता, सरलता निर्लोभता आदि दस प्रकार का कहलाता है ।

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्षादि ऐसी वस्तुएँ प्राप्त होती है, कि जो अधर्मियों की दृष्टि में भी नहीं आती । यह धर्म, सदैव साथ रहने वाला और अत्यन्त वात्सल्यता को धारण करने वाला है । दुःख-सागर में डूबते हुए प्राणी को धर्म ही बचाता है ।

धर्म के प्रभाव से समुद्र, पृथ्वी में प्रलय नहीं मचाता और वर्षा, पृथ्वी के प्राणियों के हृदय में आश्वासन एवं शान्ति उत्पन्न करती है । धर्म की शक्ति से अग्नि की लपटें

तिरछी नहीं जाती और वायु की गति ऊर्ध्व नहीं होती । यदि धर्म सहायक नहीं होता और अग्नि की लपटें तिरछी जाती, तो पृथ्वी पर के सभी प्राणी जल कर भस्म हो जाते । वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो पृथ्वी पर के जीव और अन्य वस्तुएँ उड़ कर आकाश में चली जाती । बिना किसी आधार और अवलम्बन के यह पृथ्वी ठहरी हुई है और अनन्त जीव-अजीव को धारण कर रही है । यह भी धर्म के ही प्रभाव से है । धर्म के शासन से ही विश्व के उपकार के लिए सूर्य और चन्द्रमा का उदय होता है ।

जिसके कोई बन्धु नहीं है, उसका यह विश्व-वत्सल धर्म ही बन्धु है । जिसके कोई मित्र नहीं, उसका मित्र धर्म है । यह अनाथों का नाथ और रक्षक-विहीन जीवों का रक्षक है । यह नरक में पड़ते हुए प्राणियों की रक्षा करने वाला है । इसकी कृपा से जीव, उन्नत होना हुआ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होता है और परम सुख को प्राप्त कर लेता है ।

मिथ्यादृष्टि लोगों ने दस प्रकार के धर्म को तात्त्विक दृष्टि से कभी नहीं देखा, नहीं जाना । यदि किसी ने कहीं इनका उल्लेख किया हो, तो वह केवल वाणी का नृत्य ही है । वाणी में तो तत्त्व, प्रायः सभी के रह सकता है और किसी-किसी के मन में भी तत्त्वार्थ रह सकता है, (अविरत सम्यग्दृष्टियों के ?) किन्तु जिन-धर्म को स्पर्श करने वाले पुरुषों के तो वाणी, मन और क्रिया में--सभी में तत्त्वार्थ होता है । जिनकी बुद्धि कुशास्त्रों के आधीन हो गई है, वे धर्म-रत्न को बिल्कुल नहीं जानते । गोमेष, नरमेष और अश्वमेधादि करने वाले प्राणी-घातक जीवों को धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? असत्य, परस्पर विरोधी, अस्तित्व-हीन और जिनमें मुक्त पुरुषों को श्रद्धा नहीं हो सके, ऐसी कल्पित बातों को बताने वाले शास्त्र-रचयिताओं में धर्म मिले ही कैसे ? धर्म को नहीं जानने वाले पुरुषों से अधार्मिक व्यवस्था होती है । जैसे--परद्रव्य को हरण करने के नियम और मिट्टी तथा पानी से आत्मा की शुद्धि होने का विधान ।

“स्त्री सेवन नहीं कर के ऋतुकाल का उल्लंघन करने वाले को गर्भहत्या का पाप लगे”--इस प्रकार कह कर, ब्रह्मचर्य का नाश करने वालों में धर्म की सम्भावना भी कैसे हो सकती है ? यजमान का सर्वस्व लेने की इच्छा करने वाले और द्रव्य के लिए प्राण त्याग करने वालों में ‘निष्परिग्रहता’ नहीं हो सकती । स्वल्प अपराध होने पर क्षणमात्र में शाप देने वाले लौकिक ऋषियों में क्षमा का लेश भी दिखाई नहीं देता । जाति आदि के मद से और दुराचरण से जिनके हृदय सराबोर रहते हैं, ऐसे चतुर्थ आश्रम वाले सन्यासियों में कोमलता-सरलता नहीं हो सकती । हृदय में दंभ रखने वाले और ऊपर से गुगला-भक्त बनने

वाले ऐसे पाखंड व्रत वालों में सरलता नहीं होती । गृह और पुत्रादि के परिग्रह वाले और लोभ के कुलग्रह रूप जीवों में निर्लोभता नहीं हो सकती । इस प्रकार के अनेक दोषों से पुण्य लोगों का बताया हुआ मार्ग, कदापि धर्म नहीं हो सकता । वास्तविक और सर्वथा निर्दोष धर्म तो राग-द्वेष और मोह से रहित तथा केवलज्ञान से सुशोभित ऐसे अरिहंत भगवंतों का ही है । इस प्रकार के विशुद्ध धर्म से जिनेश्वर भगवंतों की महानता और निर्दोषता सिद्ध होती है ।

मनुष्य राग-द्वेष के कारण असत्यवादी बनता है, किन्तु जिनेश्वर भगवंत में राग-द्वेष का लेश भी नहीं है, फिर उनमें असत्यवादिता कैसे आ सकती है ? जिनके चित्त रागादि दोषों से कलुषित होते हैं, उनके मुँह से सत्य वाणी नहीं निकलती । जो यज्ञ-हवन आदि कर्म करते हैं, वापी, कूप, तालाब, नदी आदि में स्नान करने से पुण्य होना मानते हैं, पशु का घात कर के स्वर्ग सुख की आशा करते हैं, ब्राह्मण-भोजन से पितरों को तृप्त होना मानते हैं, 'धृतयोनि' + आदि कर के प्रायश्चित्त करते हैं । पाँच प्रकार की आपत्तियाँ आने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह करवाते हैं । यदि स्त्री में पुत्र को जन्म देने की शक्ति हो, तो उसमें 'क्षेत्रज पुत्र' * की उत्पत्ति करवाने का निरूपण करते हैं । दूषित स्त्रियाँ रजस्नाव से शुद्ध होती है—ऐसा मानते हैं । कल्याण की बुद्धि से यज्ञ में बकरों की मार कर उनके लिंग से आजीविका करते हैं, सौत्रामणि और सप्ततंतु यज्ञ में मदिरा का पान करते हैं । बिष्टा खाने वाली गायों का स्पर्श कर के पवित्र होना मानते हैं । जल आदि के स्नान मात्र से पापों की शुद्धि होना कहते हैं । बड़, पीपल, आँवली आदि वृक्षों की पूजन करते हैं । अग्नि में किये हुए हव्य से देवों की तृप्ति होना मानते हैं । पृथ्वी पर गाय दूहने से अरिष्ट (दुःख) की शान्ति होना कहते हैं । ऐसे व्रत और धर्म का उपदेश करते हैं कि जिससे स्त्रियों को मात्र विडम्बना ही होती है । लम्बी जटा, भस्म, अगराग और कोपित धारण करते हैं । आक, धतूरे और मालूर के फूलों से देव की पूजा करते हैं । गीत नृत्य करते हुए बार-बार अप-शब्द बोलते हैं । मुख बिगाड़ कर गीत नाद करते हैं । असभ्य भाषा पूर्वक देव, मुनि और लोगों को सम्बोधन करते हैं । व्रत का भंग कर के दासी-दासपना करना चाहते हैं । कन्दादि अनन्तकाय और फल-मूल तथा पत्र का भक्षण करते हैं । स्त्री

+ यदि कोई पुरुष पर-स्त्री संग करे, तो धृत की योनि बना कर दान देने से प्रायश्चित्त हो कर शुद्धि होना माना जाता है ।

* पति के अभाव में अन्य पुरुष के संग से जो स्त्री, पुत्र उत्पन्न करती है, वह पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है ।

और पुत्र के साथ वन में जा कर वसते हैं। भ्राताभ्रातृ, पेयापेय और गम्यागम्य का विवेक छोड़ कर समान रूप से आचरण करते हैं, तथा 'योगी' के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। कई कौलाचार्य के शिष्य होते हैं। इनके तथा अन्य कई मतावलम्बियों के मन में जैन धर्म का स्पर्श भी नहीं हुआ है। उन्हें यह मालूम नहीं है कि धर्म क्या है ? धर्म का फल क्या है ? और उनके धर्म में प्रामाणिकता कितनी है ?

श्री जिनेश्वर भगवंत के बताये हुए धर्म की आराधना से इस लोक तथा तथा परलोक में जो सुखदायक फल होता है, वह तो आनुसांगिक (गौण रूप) है। मुख्य फल तो मोक्ष ही है। जिस प्रकार खेती करने का मुख्य फल धान्य की प्राप्ति है। इसके साथ जो पलाल—भूसा आदि की प्राप्ति होती है, वह गौण रूप है। उसी प्रकार धर्म-करण की मुख्य फल मोक्ष ही है। सांसारिक सुख होता है, वह गौण रूप है।

जैन-धर्म अलौकिक धर्म है। इसका उद्देश्य आत्मा की दबी हुई अनन्त शक्तियों का विकास कर के परमात्म-पद प्राप्त कराना है। इस धर्म की आराधना से आत्मा, अपने भीतर रहे हुए अनन्त सहज सुखों को प्रकट कर के आत्मानन्द में लीन रहती है।

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगद्भिज्जिनोत्तमः ।

यं समालम्बमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥१॥

संयमः सुनृतं शौचं, ब्रह्माकिचनता तपः ।

शंतिमार्दवमृजुता, मुक्तिश्च दशधा स तु ॥२॥

केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक जिनेश्वर भगवंत ने, आत्म-कल्याणकारी धर्म का स्वरूप बहुत ही स्पष्टता से बतलाया है। जो भव्यात्माएँ इस शक्तिशाली धर्म का अवलम्बन करती हैं, वे संसार भ्रमण रूपी भव-सागर में नहीं डूबती, किन्तु शाश्वत सुखों की भोक्ता बन जाती हैं। जिनेश्वरोपदेशित धर्म, संयम (अहिंसा) सत्य, शौच (अदत्त त्याग) ब्रह्मचर्य, अकिचनता, तप, क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता रूप दस प्रकार का है।

आगे धर्म का महात्म्य बतलाते हुए कहा है कि—

धर्म-प्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतिप्सितम् ।

गोचरेपि न ते यत्स्युर धर्माधिष्ठितात्मनाम् ॥३॥

अपारे व्यसनांभोधौ पततं पाति देहिनम् ।

सदा सविधवत्येको बंधुर्धर्मोऽतिवत्सलः ॥४॥

अप्लावयति नांभोधिराश्वासयति चांबुदः ।
 यन्महीं स प्रभावोयं ध्रुवं धर्मस्य केवलः ॥ ५ ॥
 न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः ।
 अचित्य महिमा तत्र, धर्म एव निबन्धनम् ॥ ६ ॥
 निरालंबा निराधारा, विश्वाधारा वसुधरा ।
 यच्चवावतिष्ठते तत्र, धर्मादन्यत्र कारणम् ॥ ७ ॥
 सूर्याचन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृतिहेतवे ।
 उदयेते जगद्यस्मिन्, नूनं धर्मस्य शासनात् ॥ ८ ॥

—कल्पवृक्ष जो इच्छित फल देता है, कामधेनु जो मनोकामना पूर्ण करती है और चिन्तामणि रत्न जो सभी प्रकार की चिन्ताओं को दूर कर के वैभवशाली बनाता है, वह धर्म के फल स्वरूप ही मिलता है । अधर्मी—पापी मनुष्यों को तो इन उत्तम वस्तुओं का दर्शन भी नहीं होता ।

कल्पवृक्ष का योग उन भाग्यशाली मनुष्यों को मिलता है, जिनके शुभ-कर्मों का उदय हो, जिनकी मनोवृत्ति प्रशस्त हो, जिनमें बुरी भावनाएँ नहीं उमड़ती हो, ऐसे युगलिक जीवों को कल्पवृक्ष का योग मिलता है । इन वृक्षों से उनकी सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है ।

कामधेनु गाय जो देवाधिष्ठित कही जाती है और चिन्तामणि रत्न भी उन्हीं भाग्यशाली को मिलता है जो धर्मसाधना कर के शुभ-कर्मों का संग्रह करते हैं ।

महान् दुःखों से भरपूर ऐसे अपार संसार रूपी सागर में पड़ते हुए जीवों का, परम वत्सल एवं बान्धव के समान रक्षा करने वाला एकमात्र धर्म ही है ।

जिसमें सारा संसार डूब कर नष्ट हो सकता है, ऐसा महासागर भी पृथ्वी को नहीं डुबाता और जो मेघ, सूर्य के प्रखर ताप से तप्त बनी हुई पृथ्वी को जल-सिंचन से शीतल करके फलद्रुप बनाता है, यह भी धर्म का ही प्रभाव है ।

अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, यह भी धर्म का प्रताप मानना चाहिए, अन्यथा वह तिरछी चाल चलने लगे, तो सभी को जला कर भस्म कर दे । जिनके पाप-कर्मों का उदय होता है, वहाँ जलती हुई आग, हवा के जोर से तिरछी गति कर के गाँव के गाँव भस्म कर देती है ।

वायु की गति ऊर्ध्व नहीं हो कर तिरछी गति है, यह भी धर्म के ही प्रताप से है। यदि वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो सभी वस्तुएँ उड़ कर आकाश में चली जाती और हम पृथ्वी पर सुखपूर्वक नहीं रह सकते। वायु-प्रकोप से कभी मकान आदि उड़ जाते हैं, यह स्थिति पापोदय वालों के लिए कारणभूत होती है। यदि वायु का स्वभाव ही उस प्रकार वेगपूर्वक ऊर्ध्व गमन का होता, तो जीवों की क्या दशा होती? वास्तव में यह धर्म का ही प्रभाव है कि जिससे महावायु और प्रतिकूल वायु पर अंकुश रहता है।

विश्वभर के लिए आधारभूत यह पृथ्वी, किसके आधार पर है? यह घनोदधि आदि तथा आकाश पर आधारित पृथ्वी, नीचे चली जा कर सभी को नष्ट क्यों नहीं कर देती? क्या इसे कोई ईश्वर जैसी महाशक्ति उठाये हुए है? नहीं, यह स्वभाव से है और धर्म के प्रताप से इसमें विभाव पैदा नहीं होता। जहाँ पापोदय विशेष हो, वहाँ भूकम्प आदि विभाव उत्पन्न हो कर विनाश होता है। अतएव पृथ्वी की स्वाभाविक स्थिति भी धर्म के प्रभाव से प्रभावित है।

जीवों को सूर्य का प्रकाश और चन्द्र की ज्योति मिलती है और उससे विश्व का उष्णता होता है, वह भी धर्माज्ञा से प्रभावित है। जहाँ व जव सूर्य का प्रकाश न्यूनाधिक होता है, तब लोगों के कष्ट बढ़ते हैं।

अबन्धूनामसौ बन्धु—रसखीनामसौ सखा।

अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥९॥

रक्षोयक्षोरगव्याघ्र—व्यालानलगरादयः।

नापकर्तुमलं तेषां, यैर्धर्मः शरणं श्रितः ॥१०॥

धर्मो नरक पाताल—पातादवति देहिनः।

धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञवैभवम् ॥११॥

जिसके कोई भाई नहीं, उसका सच्चे अर्थ में धर्म ही भाई है। धर्म अमित्र का मित्र और अनाथ का नाथ है। यह सभी का हित करने वाला है। जिसने धर्म का शरण लिया है, उसे यक्ष-राक्षस आदि नहीं सता सकते, साँप नहीं काटता, सिंह वार नहीं करता, और अग्नि तथा विष आदि कष्ट उत्पन्न नहीं कर सकते। धर्म प्राणी को नरक एवं अधोलोक में नहीं गिरने देता। यह धर्म की ही महिमा है कि जिससे जीव, सर्वज्ञता रूपी अनुपम आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त कर परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा बन जाता है।

जिन्हें सद्भाग्य से ऐसे विश्वोत्तम धर्म की प्राप्ति हुई है, उन्हें इससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर जीवन सकल बनाना चाहिए ।”

भगवान् ने तीर्थ स्थापना की । ‘सूक्ष्म’ आदि ६६ गणधर हुए । ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु, द्वारिका नगरी के उद्यान में पधारे । द्विपृष्ठ वासुदेव, भगवान् को वंदना करने आये । भगवान् की अमोघ देशना सुन कर कई भव्यात्माओं ने संसार का त्याग कर, निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार की । कई ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-वलदेव आदि बहुतजनों ने सम्यक्त्व स्वीकार कर मिथ्यात्व का त्याग किया ।

भगवान् वासुपूज्य स्वामी के ७२००० साधु, एक लाख साध्विये, १२०० चौदह पूर्वधर, ५४०० अवधिज्ञानी, ६१०० मनःपर्यवज्ञानी, ६००० केवलज्ञानी, १०००० वैक्रेय-लब्धिधारी, ४७०० वादी, २१५००० श्रावक और ४३६००० श्राविकाएँ हुई । भगवान् एक मास कम ५४००००० वर्ष तक केवल-पर्याय युक्त तीर्थकर रहे । आयुष्य समाप्ति का समय निकट आने पर भगवान् चम्पा नगरी पधारे । ६०० मुनियों के साथ अनशन स्वीकार किया और एक मास के बाद मोक्ष प्राप्त किया ।

प्रभु १८००००० वर्ष कुमार अवस्था में और ५४००००० वर्ष भ्रमण-पर्याय में, यों कुल ७२००००० वर्ष का आयु भोगा । देवों ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया ।

दूसरे वासुदेव, महा आरम्भ और महा परिग्रह युक्त और देव जैसे भोग भोग कर, आयु पूर्ण होने पर, छठी नरकभूमि में उत्पन्न हुए । कुमारपन में ७५००० वर्ष, ७५००० मंडलिक राजापने, १०० वर्ष दिग्विजय में और ७२४६६०० वर्ष वासुदेवपने रहे । कुल आयु ७४००००० वर्ष का भोगा । वासुदेव की मृत्यु के बाद, संसार से विरक्त हो कर विजय बलदेव, श्री विजयसिंह आचार्य के समीप दीक्षित हुए और कर्म क्षय कर के मोक्ष प्राप्त किया ।

बारहवें तीर्थकर

भगवान्

॥ वासुपूज्यजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० विमलनाथजी



धातकी-खंड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र की भरत नामक विजय में महापुरी नाम की नगरी थी। पद्मसेन महाराज उस नगरी के शासक थे। वे गुणों के भंडार और बलवानों में सर्वोपरि थे। जैनधर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वे राज्य का संचालन अनासक्ति पूर्वक कर रहे थे। उनके हृदय में वैराग्य बसा हुआ था। श्री सर्वगुप्त आचार्य का योग पा कर वे दीक्षित हो गए और चारित्र तथा तप की उत्कट आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। बहुत वर्षों तक विशुद्ध चारित्र पालते एवं उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के वे सहस्रार देवलोक में महान् ऋद्धिशाली देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'कम्पिलपुर' नामक नगर था। वह नगर धन, जन, वैभव और सुख-समृद्धि से भरपूर था। 'कृतवर्मा' नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे। वे धीर, वीर, नीतिवान् और सद्गुणी थे। महारानी श्यामादेवी उनकी अग्रमहिषी थी। महारानी भी कुल, शील, लक्षण एवं वर्णादि में सुशोभित तथा श्री-सम्पन्न थी।

पद्मसेन मुनिराज का जीव, वैशाख-शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी श्यामादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ-शुक्ला तृतीया की मध्यरात्रि को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में महारानी ने एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान पर थे। जन्म होते ही छप्पन कुमारिका देवियों, सूतिका कर्म करने

के लिए आ गई और अन्य देव तथा इन्द्र भी जन्मोत्सव करने आये। मेरु-पर्वत पर देवों ने जन्मोत्सव किया। प्रातःकाल होने पर महाराज कृतवर्मा नरेश ने भी जन्मोत्सव प्रारंभ किया। गर्भकाल में माता, विशेष विमल (निर्मल) हो गई थी, इसलिए पुत्र का नाम 'विमलकुमार' रखा गया। यौवन-वय प्राप्त होने पर राजकुमारियों के साथ विमलकुमार का विवाह हुआ। पन्द्रह लाख वर्ष पर्यन्त कुमार अवस्था में रहने के बाद पिता ने कुमार का राज्याभिषेक कर दिया। तीस लाख वर्ष तक आप राज्य का संचालन करते रहे। इसके बाद आपने वर्षादान दे कर संसार का त्याग कर दिया और माघ-शुक्ला चतुर्थी के दिन जन्म-तक्षत्र में ही, बेल के तप से, एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। फिर आप ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

स्वयंभू वासुदेव चरित्र

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की आनन्दकरी नगरी में 'नन्दीसुमित्र' नाम का राजा राज करता था। वह महाबलवान् और विवेकवान् था। संसार की असारता पर उसके मन में उद्वेग था। राज का संचालन करते हुए भी वह अलिप्त रहता था और सर्वत्यागी बनने का मनोरथ कर रहा था। श्री सुव्रताचार्य मुनिराज का योग मिलते ही वह प्रव्रजित हो गया और संयम तथा विविध अभिग्रह युक्त तप करता हुआ आयु पूर्ण कर के अनुत्तर विमान में देव हुआ।

भरत-क्षेत्र की श्रावस्ति नगरी में धनमित्र नाम का राजा राज करता था। धन-मित्र की मित्रता के वश हो कर 'बलि' नाम का एक दूसरा राजा भी श्रावस्ति में ही आ कर धनमित्र के साथ रहने लगा। वे दोनों झुतकीड़ा में आसक्त हो कर पासा फेंक कर खेलने लगे। वे दोनों इस खेल में इतने लुब्ध रहते कि हिताहित का भी विचार नहीं करते। वे युद्ध के समान एक दूसरे को हरा कर विजय प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति को दौंव पर लगाने लगे। होते-होते धनमित्र ने अपना सारा राज्य दौंव पर लगा दिया और हार गया। वह कंगाल के समान राज्य छोड़ कर चला गया और विक्षिप्त के समान भटकने लगा। भटकते हुए उसे निर्यथ अनगार श्री सुदर्शन मुनि के दर्शन हुए। धर्मदेशना सुन कर वह दीक्षित हो गया और संयम तथा तप की आराधना करता हुआ विचरने लगा। वह चारित्र्य की आराधना तो करता था, किन्तु 'बलि' राजा के द्वारा हुए अपने अपमान को

अपने हृदय से निकाल नहीं सका। उमे रह-रह कर मित्र द्वारा हुआ विश्वासघात और अपमान खटकने लगा। अंत में उसने निदान (दृढ़ संकल्प) कर ही लिया कि—‘यदि मेरे तप का फल हो, तो मैं भवान्तर में उस मित्र-द्रोही ‘बलिराजा’ का वध कर के उसके पाप का बदला लूँ,’ इस प्रकार तप से प्राप्त आत्मबल को दायं पर लगा दिया और अनशन कर के मृत्यु पा कर वह बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

बलि राजा भी कालान्तर में राज का त्याग कर के साधु हो गया और संयम पाल कर देवलोक में गया। वहाँ से आयु पूर्ण कर के भरत-क्षेत्र के नन्दनपुर नगर के ‘समर-केसरी’ राजा की सुन्दरी रानी की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। वह बड़ा प्रतापी, योद्धा और महत्वाकांक्षी हुआ। उसने वैताद्व्य पर्वत तक के आधे भरत-क्षेत्र को जीत लिया और अर्ध चक्रवर्ती ‘मेरक’ नामक ‘प्रतिवासुदेव’ हुआ। उसकी समानता करने वाला उस समय दूसरा कोई भी राजा नहीं था। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति किसी में नहीं थी।

द्वारिका नगरी में रुद्र नाम का राजा था। उसके ‘सुप्रभा’ और ‘पृथिवी’ नाम की दो रानियाँ थीं। ‘नन्दीमुमित्र’ का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर सुप्रभादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने बलदेवपद को सूचित करने वाले चार महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का नाम ‘भद्र’ रखा गया। वह अनुक्रम से बढ़ता हुआ एक महा बलवान् योद्धा हुआ।

धनमित्र का जीव, अच्युत स्वर्ग से च्यव कर पृथिवीदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और सात महास्वप्न से, वासुदेव पद के धारक विशिष्ट शक्तिशाली महापुरुष के आगमन का सन्देश मिला। जन्म होने पर पुत्र का ‘स्वयंभू’ नाम दिया गया। कुमार दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा। बड़े भाई भद्र का स्वयंभू पर अत्यंत स्नेह था। स्वयंभू भी अद्वितीय बलवान् और सभी कलाओं में प्रवीण हो गया।

एक बार दोनों राजकुमार, मन्त्री-पुत्र और अन्य साथियों के साथ नगर के समीप के उपवन में क्रीड़ा करने गये। उन्होंने देखा कि बहुत-से हाथी-घोड़े और धन से भरपूर तथा बहुत-से सैनिकों से युक्त एक पड़ाव जमा हुआ है। उन्होंने मन्त्री से पूछा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि—

‘शशिसौम्य राजा पर, महाराजाधिराज ‘मेरक’ क्रुद्ध हो गया और दण्ड-स्वरूप उसकी सम्पत्ति की माँग की। शशिसौम्य, अपने जीवन की रक्षा के लिए यह सब सम्पत्ति

दण्ड-स्वरूप भेज रहा है ।’

यह बात सुनते ही स्वयंभू कुमार का कोप जाग्रत हुआ । उसने गर्वपूर्वक कहा—

“तो यह रत्न-भण्डार और हाथी-घोड़े, शशिसौम्य से दण्ड में लिये जा रहे हैं ? अब इनका स्वामी शशिसौम्य नहीं रहा ? हम चाहते हैं कि यह सम्पत्ति मेरक की भी नहीं बने । यह सब हमारा है । हमारे सामने से—हमारे देखते, यह मेरक के पास नहीं जा सकती । यदि बलवान् ही सब सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम भी इसे प्राप्त कर सकते हैं ।”

उन्होंने अपने सैनिकों को आज्ञा दी ;—“तुम जाओ और उपवन के समीप लगे हुए पड़ाव में से सभी हाथी-घोड़े, रत्न-भण्डार और शस्त्रादि लूट लाओ ।”

सैनिक गये और धावा कर दिया । रक्षक-दल स्तब्ध रह गया । वह इस अचानक आक्रमण के लिए तय्यार नहीं था । सभी भाग गये और सारी सम्पत्ति सरलता से प्राप्त हो गई । उन भागे हुए सैनिकों ने नन्दनपुर जा कर मेरक नरेश के सामने अपनी दुर्दशा और लूट का वर्णन किया । मेरक नरेश का कोप भड़का । उन्होंने चढ़ाई करने की आज्ञा दी, किन्तु मंत्री ने रोकते हुए कहा ;—

“महाराज ! यह दुर्घटना बालकों की उद्वेगता से हुई है । इसका दण्ड रुद्र को नहीं मिलना चाहिए । रुद्र राजा आपका आज्ञाकारी रहा है । वह सारी सम्पत्ति लौटा देगा और विशेष में कुछ भेंट भेज कर क्षमा याचना करेगा । हमें उसके पास दूत भेज कर उपालंभ देना चाहिए । इस प्रकार शांति से काम हो जाय, तो अच्छा है । अन्यथा बाद में भी आप शक्ति का प्रयोग कर के उसे दण्ड दे सकेंगे ।”

मन्त्री का परामर्श मान्य हुआ और उसी को दूत बना कर द्वारिका भेजा गया । मन्त्री ने रुद्र राजा को समझाया ;—

“नरेश ! तुम्हारे पुत्रों ने यह अनर्थ क्यों कर डाला ? आप तो इसके परिणाम को जानते ही हैं । स्वामी का मान रखने के लिए उसके कुत्ते का भी अनादर नहीं होता, तब इन कुमारों ने कैसा भयंकर दुःसाहस कर डाला । अब सारी सामग्री और अपनी ओर से विशेष भेंट भेज कर इस कलुष को धो डालिये । इससे शांति हो जायगी और कुमारों के अविनय को अज्ञानता का आवरण ढँक देगा ।”

मन्त्री की बात सुन कर राजा विचार में पड़ गया । इतने में राजकुमार स्वयंभू कहने लगे ;—

—“आपकी स्वामी-भक्ति और पिताश्री के प्रति पूज्य-भाव से आपने जो परामर्श

दिया, वह सत्य एवं उचित है। किन्तु आप भी सोचिये कि हमने जो सम्पत्ति प्राप्त की, वह मेरक की तो नहीं थी? यदि आपका स्वामी, अपने बल के अधिकार से दूसरों की सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम क्यों नहीं हो सकते? हम भी अपने भुज-बल से उसका सारा राज्य छीन सकते हैं। 'वीर-भोग्या वसुधरा'—जब पृथ्वी का राज्य, वीर पुरुष ही कर सकते हैं, तो अकेला मेरक ही वीर नहीं है। मेरे ज्येष्ठ-बन्धु महाबाहु भद्रजी और मैं अपनी शक्ति से यह समस्त भूमि, आपके राजा से छीन लेंगे और दक्षिण-भरत में निष्कण्टक राज्य करेंगे। मेरक ने भी दूसरे राजाओं को जीत कर राज्य प्राप्त किया है, तो हम उस अकेल को जीत कर पूरा राज्य अपने अधिकार में कर लेंगे।”

स्वयंभू कुमार की बातें सुन कर मन्त्री को आश्चर्य हुआ और उनकी सामर्थ्य का अनुमान कर के भय भी लगा। वे वहाँ से लौट गये और मेरक नरेश से सभी बातें स्पष्ट रूप से कह दी। मेरक की कषायाग्नि प्रज्वलित हो गई। वह विशाल सेना ले कर द्वारिका की ओर चल दिया। इधर राजकुमार स्वयंभू भी अपने पिता, ज्येष्ठ-भ्राता और सेना ले कर राज्य की सीमा की ओर चल दिए। दोनों सेनाओं का सामना होते ही युद्ध प्रारम्भ हो गया। भयंकर नरसंहार मच गया। फिर दोनों ओर से विविध प्रकार के भयंकर अस्त्रों का प्रहार होने लगा। अंत में मेरक द्वारा छोड़े हुए चक्र के आघात से स्वयंभू कुमार मूर्च्छित हो कर रथ में गिर गए। थोड़ी देर में सावधान हो कर उसी चक्र के प्रकार से राजकुमार स्वयंभू ने मेरक का वध कर के युद्ध का अंत कर दिया। मेरक के अंत के साथ ही स्वयंभू, मेरक के राज्य के स्वामी बन गये। वे दक्षिण-भरत को पूर्ण रूप से विजय कर के तीसरे वामुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुए। बड़े आडम्बर पूर्ण उत्सव के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ।

×

×

×

×

दो वर्ष पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था में रह कर भ० श्री विमलनाथ स्वामी को पौष-शुक्ला छठ के दिन बेल के तप से उत्तराभाद्रपद नक्षत्र केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। देवों और इन्द्रों ने केवल-महोत्सव किया। भगवान् ने प्रथम धर्मदेशना देते हुए फरमाया;—

धर्मदेशना

बोधि-दुर्लभ भावना

अकाम-निर्जरा रूपी पुण्य से बढ़ते-बढ़ते जीव, स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय में

आता है। फिर वेइन्द्रिय से तेइन्द्रिय, यों बढ़ते-बढ़ते पंचेन्द्रिय अवस्था, बड़ी कठिनाई से और बहुत लम्बे काल के बाद मिलती है। पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करने के बाद भी जब कर्म बहुत हल्के हो जाते हैं, तभी मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आर्यदेश, उत्तमकुल, सभी इन्द्रियों की पटुता और दीर्घ आयु की कथंचित् प्राप्ति होती है। इससे भी अधिक पुण्य का उदय होता है, तभी सद्धर्मकथक सद्गुरु का सुयोग मिलता है और शास्त्र-श्रवण करने की अनुकूलता प्राप्त होती है। पुण्य का अत्यधिक उदय होता है, तब धर्म में श्रद्धा होती है। इस प्रकार सभी प्रकार की अनुकूलता हो, तो भी तत्त्वनिर्णय रूप 'बोधि-रत्न' की प्राप्ति होना तो महान् दुर्लभ है। श्रद्धा के बाद प्रतीति और उसके बाद रुचि हो जाना महान्तम पुण्य उदय एवं कर्म-निर्जरा हो तभी होता है।

बोधि-रत्न की प्राप्ति जितनी दुर्लभ है, उतनी राज-सत्ता और चक्रवर्तीपन की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। सभी जीवों ने, ऐसे सभी भाव, पहले अनन्तवार प्राप्त किये होंगे, किन्तु जब इस संसार में जीवों का परिभ्रमण देखने में आवे, तो विचार होता है कि जीवों ने बोधि-रत्न की प्राप्ति पहले कभी नहीं की। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियों को पुद्गल-परावर्तन अनन्त हो गए। जब अन्त का अर्धपुद्गल परावर्तन शेष रहता है, तब सभी कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटी सागरोपम से कम होती है और तभी 'यथाप्रवृत्तिकरण' से आगे बढ़ कर कोई प्राणी ग्रंथी-भेद कर के उत्तम 'बोधि-रत्न' को प्राप्त करता है।

कुछ जीव ऐसे भी होते हैं कि यथाप्रवृत्तिकरण कर के ग्रंथी-भेद की सीमा तक तो आते हैं, किन्तु यहाँ आ कर रुक जाते हैं और आगे नहीं बढ़ कर उलटे पीछे लौट आते हैं और फिर संसार में भटकते रहते हैं।

सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त होने में अनेक प्रकार की बाधाएँ रही हुई हैं। उत्थान के इस मार्ग में कुशास्त्रों का श्रवण, मिथ्यादृष्टि का समागम, बुरी वासनाएँ और प्रमाद ऐसे शत्रु हैं, जो आगे नहीं बढ़ने दे कर पीछे धकेलते हैं। यद्यपि चारित्र-रत्न की प्राप्ति भी दुर्लभ है, किन्तु बोधि-रत्न की प्राप्ति के बाद चारित्र-रत्न की प्राप्ति की दुर्लभता बहुत कम हो जाती है, और चारित्र की सफलता भी बोधि के अस्तित्व में ही होती है। अन्यथा प्राप्त चारित्र भी निष्फल हो जाता है। अमव्य प्राणी भी चारित्र ग्रहण कर के नौवें प्रवेयक तक उत्पन्न हो सकता है, किन्तु बोधि-रत्न के अभाव में वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

चक्रवर्ती महाराजाधिराज के पास अपार सम्पत्ति होती है, किन्तु बोधि-रत्न नहीं हो, तो वे एक प्रकार से रंक (दरिद्र) हैं और बोधि-रत्न को जिसने प्राप्त कर लिया—

ऐसा रंग भी उस जकवर्ती सम्राट से अधिक सम्पत्तिशाली है ।

जिसे बोधि-रत्न प्राप्त हो गया, वह इस संसार के प्रति कभी राग नहीं करता और ममत्व रहित हो कर मुक्ति-मार्ग की आराधना करता है ।

अकामनिर्जरारूपात्पुण्याज्जंतोः प्रजायते ।

स्थावरत्वात्त्रसत्त्वं वा तिर्यक्त्वं वा कथंचन ॥ १ ॥

मनुष्यमायंदेशश्च, जातिः सर्वाक्षपाटवम् ।

आयुश्च प्राप्यते तत्र, कथंचित् कर्मलाघवात् ॥ २ ॥

प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा, कथक श्रवणेष्वपि ।

तत्त्वनिश्चयरूपं तद् बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ॥ ३ ॥

वास्तव में बोधि-रत्न=तत्त्व की विशुद्ध समझ, उस पर श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना महान् दुर्लभ है—“सद्धा परमदुल्लहा” इस आगम-वाणी को ध्यान में रख कर मिथ्यात्व रूपी आकर्षक डाकू से इस महारत्न की रक्षा करनी चाहिये ।

भगवान् का उपदेश सुन कर अनेक भव्यात्माएँ, मोक्षमार्ग की पथिक बनी । ‘मंदर’ आदि ५६ गणधर हुए* । ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् द्वारिका पधारे । समवसरण की रचना हुई । वासुदेव और बलदेव, भगवान् को वन्दना करने आये । भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर स्वयंभू वासुदेव ने सम्यक्त्व लाभ किया और भद्र बलदेव ने श्रावकपन स्वीकार किया ।

भगवान् विमलनाथ प्रभु के ६८००० साधु, १००८०० साध्विये, ११०० चौदह पूर्वधर, ४८०० अवधिजानी, ५५०० मनःपर्यवजानी, ५५०० केवलजानी, ९००० वैक्रिय-लब्धिधारी, २०८००० श्रावक और ४२४००० श्राविकाएँ हुई ।

केवलज्ञान होने के बाद दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक भगवान् पृथ्वी पर विहार करते हुए विचरते रहे । फिर निर्वाण-काल निकट आने पर सम्मेदशिखर पर पधारे और छहजार साधुओं के साथ अनशन किया । एक मास का अनशन पूर्ण कर आषाढ़-कृष्णा सप्तमी को पुण्य-नक्षत्र में मोक्ष पधारे ।

भगवान् पन्द्रह लाख वर्ष कुमार अवस्था में, तीस लाख वर्ष तक राज्याधिपति और पन्द्रह लाख वर्ष का त्यागी जीवन व्यतीत कर, कुल साठ लाख वर्ष का पूर्ण आयु भोग

* ग्रंथकार ५७ गणधर बतलाते हैं ।

कर सिद्ध पद को प्राप्त हुए ।

स्वयंभू वासुदेव महा आरम्भ, महा परिग्रह तथा भोग में लुब्ध हो कर और क्रूर कर्म करते हुए अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के छठी नरक में गये । इनकी मृत्यु के बाद भद्र बलदेव विरक्त हो कर मुनिचन्द्र अनगार के पास प्रव्रजित हो गए । संयम और तप का उत्कृष्ट रूप में पालन कर के और अपनी पैंसठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के मोक्ष पधारे ।

तेरहवें तीर्थकर

भगवान्

// विमलनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण //



भ० अनंतनाथजी



धातकीखंड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र के ऐरावत विजय में अरिष्ठा नामकी एक महानगरी थी पद्मरथ नाम के महाराजा वहाँ के अधिपति थे । उन्होंने अपने सभी शत्रुओं को जीत कर विजय तथा राज्य-लक्ष्मी प्राप्त कर ली थी और अब मोक्ष-लक्ष्मी साधने में उत्सुक हो गये थे । अब वे राज्य-लक्ष्मी को तृणवत् तुच्छ मानने लगे थे । उनके भवनों, उपवनों और नगर में अनेक प्रकार के उत्सव, नाटक, नृत्य और खेल-तमाशे हो कर मनोरंजन हो रहा था, किंतु पद्मरथ महाराज की उनमें रुचि नहीं रही । वे निर्लिप्त रह कर लोक-रीति का निर्वाह करते थे । कुछ समय के बाद वे 'चित्तरक्ष' नाम के मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गए और रत्नत्रय का विशुद्ध रीति से पालन करते हुए, तीर्थकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया तथा मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण-भरत में अयोध्या नाम की नगरी थी । सिंहसेन नरेश अयोध्या के स्वामी थे । वे बलवान्, प्रतापी एवं सद्गुणी थे । राज्य की सीमा के समीप रहे हुए बहुत-से राज्यों के राजा उनकी प्रसन्नता एवं कृपा पाने के लिए उत्तम वस्तुओं की भेंट करते रहते थे । महाराजा सिंहसेन के 'सुयशादेवी' नाम की महारानी थी । वह रूप, लावण्य, कला, कुल और शील से सम्पन्न थी । उसमें उत्तम गुणों का निवास था ।

प्राणत देवलोक में रहे हुए पद्मरथ देव ने अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के श्रावण-कृष्णा सप्तमी को रेवती-नक्षत्र में ज्येष्ठ कर सुयशा महारानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ ।

महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । वंशाख-कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में पुष्प-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । नियमानुसार देव-देवियों और इन्द्रों ने तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया । जब पुत्र गर्भ में थे, तब महाराजा सिंहसेन ने शत्रुओं के अनन्त बलयुक्त मानी जाने वाली सेना को भी जीत लिया था । इसे गर्भ का प्रताप मान कर पुत्र का नाम 'अनन्तजित' दिया । यौवनवय में विवाह हुआ और साढ़े सात लाख वर्ष बीतने पर पिता ने राज्य का भार दे दिया । पन्द्रह लाख वर्ष तक राज्य का संचालन किया । इसके बाद आपके मन में संसार का त्याग कर मोक्ष के महामार्ग पर चलने की इच्छा हुई । लोकान्तिक देवों ने आ कर, संसार का त्याग कर धर्म-तीर्थ प्रवर्तन करने की प्रार्थना की । वर्षादान दिया । वंशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र में बेले के तप से एक हजार राजाओं के साथ, महाराजा अनन्तनाथ ने सामायिक चारित्र ग्रहण किया ।

वासुदेव चरित्र

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में नन्दपुरी नाम की एक नगरी थी । 'महाबल' नाम का महाबली राजा था । कालान्तर में वह संसार के प्रपंच से विरक्त हो गया और 'ऋषभ' नाम के मुनिवर के चरणों में दीक्षित हो गया । शुद्धता एवं भावपूर्वक संयम की आराधना करते हुए महाबल मुनि, आयु पूर्ण कर 'सहस्रार' देवलोक में देव हुए ।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'कौसम्बी' नाम की नगरी थी । 'समुद्रदत्त' वहाँ का प्रतापशाली नरेश था । 'नन्दा' नाम की अनुपम रूप सुन्दरी उसकी रानी थी । एक समय समुद्रदत्त का मित्र, मलयभूमि का राजा चण्डशासन वहाँ आया । समुद्रदत्त ने उसका सगे भाई के समान बड़े हर्ष और उत्साहपूर्वक स्वागत किया । वहाँ रूपसुन्दरी नन्दा रानी, चण्डशासन की दृष्टि में आ गई । वह उसे देखते ही चकित रह गया । उसके मन में विकार जाग्रत हो गया—इतना अधिक कि उसकी दशा ही बदल गई । वह चिंतित, स्तब्ध एवं विक्षुब्ध हो गया । उसके शरीर में पसीना आ गया और घबड़ाहट उत्पन्न हो गई । वह नन्दा रानी को अंशायिनी बनाने के लिए व्यग्र हो गया । वह रात को सोया, परन्तु उसे नींद नहीं आई । वह तड़पता ही रहा । अब वह वहीं रह कर नन्दारानी को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा । वह मित्र के रूप में शत्रु बन कर समुद्रदत्त के विरुद्ध योजना बनाने लगा और एक दिन समुद्रदत्त की अनुपस्थिति में छल कर के वह दुष्ट, नन्दा का हरण कर के

ले गया। समुद्रदत्त को इस मित्र-घातक कृत्य से बड़ा दुःख हुआ। उसने नन्दा की बहुत खोज कराई, किन्तु पता नहीं लगा। वह संसार में विरक्त हो कर श्री श्रेयांस मुनिराज के समीप दीक्षित हो गया और चारित्र्य तथा तप की उग्र आराधना करने लगा। संयमी साधु बन जाने पर भी उसके मन में से मित्र द्वारा हुए विश्वासघात और अपमान का शूल नहीं निकल सका। उसने भविष्य में चण्डशासन का वध करने का निदान कर लिया। इस प्रकार अपरिमित फलदायक तप का दुरुपयोग कर, परिमित कुफल वाला बना दिया और मृत्यु पा कर सहस्रार देवलोक में देव हुआ।

चण्डशासन भी मृत्यु पा कर भव-भ्रमण करता हुआ और भीषण दुःख भोगता हुआ मनुष्य-भव पाया और भरत-क्षेत्र में पृथ्वीपुर नगर के विलास राजा की गुणवती रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'मधु' रहा। वह उस समय का अद्वितीय महाबली योद्धा हुआ। उसने अपने बाहुबल से दक्षिण भरत के सभी राज्यों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। वह चौथा प्रतिवासुदेव हुआ। उसके 'कैटभ' नाम का भाई भी था। वह भी योद्धा और प्रचण्ड शक्तिशाली था।

द्वारिका नगरी में 'सोम' नाम का गुणवान् राजा था। उसके 'सुदर्शना' और 'सीता' नाम की दो रानियाँ थीं। महाबल मुनिराज का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर सुदर्शना रानी की कुक्षि में आया। रानी ने चार महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का 'सुप्रभ' नाम दिया। कालान्तर में समुद्रदत्त मुनि का जीव भी सहस्रार देव का आयु पूर्ण कर सीतादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। रानी ने वासुदेव के आगमन को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे। जन्म होने के बाद विधिपूर्वक पुत्र का 'पुरुषोत्तम' नाम दिया। दोनों भाइयों में अपार स्नेह था। वे समवयस्क मित्र के समान साथ ही खेलते और साथ ही रहते। उन्होंने सभी प्रकार की कला सीख ली। दोनों भाई युद्ध-कला में प्रवीण हो गए और महान् बलशाली हुए। देवों ने बड़े भाई सुप्रभ को हल और पुरुषोत्तम को सारंग धनुष आदि प्रभावशाली आयुध भेंट किये।

कलह एवं कौतुक करने में कुशल ऐसे नारदजी, इन युगल-बन्धुओं का बल और पराक्रम देख कर चकित हुए। वे भ्रमण करते हुए प्रति वासुदेव मधु के पास आये। महा-राजा मधु ने नारदजी का आदर सहित स्वागत किया और कहने लगा;—

“मैं इस दक्षिण भरत-क्षेत्र का एकमात्र स्वामी हूँ। मैंने यहाँ के सभी राजाओं को जीत कर अपने आधीन कर लिया। मागध, वरदाम और प्रभास, ये तीर्थ भी मेरे शासन

में है। मैं देवोपम उत्कृष्ट सुखों को भोग रहा हूँ। आपको जिस दुर्लभ वस्तु की आवश्यकता हो, वह निःसंकोच मुझ से लीजिए। मैं आपको वह वस्तु दूंगा।”

नारदजी बोले—“राजन् ! मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, न मैं कुछ लेने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं तो वैसे ही क्रीड़ा करता हुआ यहाँ चला आया। किंतु तुम्हें अपने प्रभुत्व का अभिमान नहीं करना चाहिए। कुछ चाटुकारों की प्रशंसा सुन कर और निर्बल राजाओं को वश में कर लेने मात्र से तुम सर्वजीत नहीं हो जाते। इस पृथ्वी पर एक से एक बढ़ कर रत्न होते हैं।”

—“नारदजी ! तुम क्या कहते हो” — जरा उत्तेजित हो कर मधु नरेश बोला—
“इस दक्षिण-भरत में क्या, गंगा से बढ़ कर भी कोई नदी है और वैताद्य से बढ़ कर भी कोई पर्वत है ? आप बताइए कि मुझ से बढ़ कर कौन योद्धा आपके देखने में आया ?”

—“द्वारिका नगरी के सोम राजा के सुप्रभ और पुरुषोत्तम नाम के दो पुत्र ऐसे युद्धवीर, पराक्रमी और रिपुदमी हैं कि जिनके सामने दूसरा कोई योद्धा टिक नहीं सकता। वे युगल भ्राता ऐसे लगते हैं कि जैसे स्वर्ग से शक्र और ईशान इन्द्र उतर आये हों। वे अपने भुजबल से सागर सहित पृथ्वी पर अधिकार करने योग्य हैं। जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक तुम्हारा यह दावा निरर्थक है कि—“मैं दक्षिण-भरत का अधिपति हूँ”—
नारद ने कहा।

—“यदि आपका कहना सही है, तो मैं आज ही सोम, सुप्रभ और पुरुषोत्तम को युद्ध के लिए आमन्त्रण देता हूँ और इनसे द्वारिका का राज्य अपने अधिकार में कर लेता हूँ। आप यहीं रह कर तटस्थतापूर्वक अवलोकन करें।”

इस प्रकार कह कर मधु नरेश ने अपने एक विश्वस्त दूत को समझा कर सोम राजा के पास द्वारिका भेजा। दूत ने राज-सभा में पहुँच कर और चेहरे पर विशेष रूप से दर्प धारण कर गर्वोक्तिपूर्वक बोला;—

—“राजन् ! अहंकारियों के गर्व को गलाने वाले, विनीत पर वात्सल्य भाव रखने वाले और प्रचण्ड भुजबल से सभी पर विजय प्राप्त करने वाले, त्रिखण्डाधिपति महाराजा-धिराज मधुकरजी का आदेश है कि पहले तो तुम भक्तिपूर्वक हमारी आज्ञा में रहते थे, किन्तु सुना है कि तुम्हारे दोनों पुत्र बड़े दुर्धर्ष हो गए और तुम भी पुत्र के पराक्रम से प्रभावित हो कर बदल गए हो। इसलिए यदि तुम्हारी भक्ति पूर्ववत् हो, तो तुम्हारे पास जो कुछ सार एवं मूल्यवान् वस्तु हो, वह दण्ड स्वरूप अर्पण करो। ऐमा करने पर तुम्हें

पारितोषिक रूप में उससे भी अधिक प्राप्त होगा । यदि तुमने ऐसा नहीं किया, तो सर्वस्व हरण कर लिया जायगा ।”

राजदूत के ऐसे असह्य वचन सुन कर राजकुमार पुरुषोत्तम ने तत्काल कहा—

“दूत ! तुम तो सन्देश-वाहक हो, इसलिए तुम्हें मुक्त ही रखा जाता है, किन्तु इस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक कटुतम शब्द कहलाने वाला तेरा स्वामी उन्मत्त तो नहीं हो गया है ? उसे कोई भूत-प्रेत तो नहीं लग गया है ? कौन मानता है उस घमण्डी दुर्मंद को अपना स्वामी ? हमने कभी उसे अपना अधिकारी नहीं माना, न अब मानते हैं । इसलिए हे दूत ! तू चला जा यहाँ से, और अपने स्वामी को भेज । हम उसके घमण्ड का उपाय करेंगे । कदाचित् उसके जीवन के दिन पूरे होने आये हों ? उसकी राज्य-लक्ष्मी उससे रूठने ही वाली है और वह हमारी होगी । हम मधु का विनाश कर के उसके समस्त ऐश्वर्य के स्वामी बनेंगे ।”

दोनों के बीच युद्ध हुआ । मधु प्रतिवासुदेव मारा गया और पुरुषोत्तम वासुदेव विजयी हुए । उनका सार्वभौम अर्ध भरताधिपति के रूप में राज्याभिषेक हुआ ।

×

×

×

×

तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद भगवान् श्री अनंतनाथ स्वामी को सहस्राम्रवन उद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे बेले के तप से रहे हुए, वैशाख-कृष्ण चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ । भगवान् का समवसरण हुआ । भगवान् ने धर्मदेशना दी । यथा—

धर्मदेशना

तत्त्व निरूपण

भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में फरमाया कि—

“हे भव्य जीवो ! तत्त्व को नहीं समझने वाले जीव, द्रव्य से सूझते हुए भी भाव से अन्धे हैं । जिस प्रकार मार्ग के नहीं जानने वाले, अटवी में भटकते रहते हैं, उसी प्रकार तात्त्विक ज्ञान के अभाव में जीव, संसार रूपी महा भयंकर अटवी में भटकते रहते हैं ।

जिनेश्वरों ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ऐसे नौ तत्त्व कहे हैं ।

सब से प्रथम तत्त्व जीव है । इसके सिद्ध और संसारी ऐसे दो भेद हैं । ये सभी अनादिनिधन और ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले हैं । इनमें जो मुक्त जीव हैं, वे सभी एक ही स्वभाव वाले, जन्म-मरणादि क्लेशों से रहित और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्म-शक्ति और अनन्त आनन्द से व्याप्त हैं । संसारी जीव, स्थावर और त्रस ऐसे दो भेदों से युक्त हैं । ये दोनों पर्याप्ति और अपर्याप्ति हैं । पर्याप्ति दशा की कारणभूत छह पर्याप्तियों है । यथा—

१ आहार पर्याप्ति २ शरीर पर्याप्ति ३ इन्द्रिय पर्याप्ति ४ स्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ५ भाषा पर्याप्ति और ६ मनः पर्याप्ति ।

इन छह में से एकेन्द्रियों को चार पर्याप्ति, विकलेन्द्रिय जीवों (असंज्ञी पंचेन्द्रिय सहित) को पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रिय को छः पर्याप्ति अनुक्रम से होती है ।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये एकेन्द्रिय जीव, स्थावर होते हैं । इनमें से पृथ्वीकाय से लगा कर वायुकाय तक के चार, सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद वाले हैं और वनस्पतिकाय, प्रत्येक और साधारण ऐसे दो भेद वाली है । इसमें प्रत्येक तो बादर ही है और जो साधारण है, वह सूक्ष्म भी है और बादर भी ।

त्रस जीव चार प्रकार के हैं—१ बेइन्द्रिय २ तेइन्द्रिय ३ चौरीन्द्रिय और ४ पंचेन्द्रिय । इनमें से बेइन्द्रिय से चौरीन्द्रिय तक के जीव तो असंज्ञी हैं और पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी भी हैं और संज्ञी भी हैं । संज्ञी वही है—जो शिक्षा, उपदेश और आलाप को जानता है और मानसिक प्रवृत्ति से युक्त है । इसके विपरीत बिना मन के जीव असंज्ञी हैं ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—१ स्पर्श २ रसना ३ नासिका ४ नेत्र और ५ श्रवण । इनके विषय अनुक्रम से १ स्पर्श २ रस ३ गंध ४ रूप और ५ शब्द हैं ।

बेइन्द्रिय जीव—कृमि, शंख, गंडीपद, जोंक और शीप आदि ।

तेइन्द्रिय जीव—युका, खटमल, मकोड़े और लीख आदि ।

चौरीन्द्रिय—पतंग, मक्षिका, भ्रमर और डाँस आदि ।

पंचेन्द्रिय—जल, स्थल और आकाशचारी, ये तीन प्रकार के तिर्यञ्च जीव है और नारकी, मनुष्य और देवता भी पञ्चेन्द्रिय हैं ।

प्राण—१-५ श्रोतेन्द्रियादि पाँच इन्द्रिय ६ स्वासोच्छ्वास ७ आयुष्य ८ मनोबल ९ वचनबल और १० कायबल । ये दस प्राण हैं । १ कायबल २ आयुष्य ३ उच्छ्वास और

४ स्पर्शनेन्द्रिय, ये चार प्राण तो सभी संगारी जीवों के होते हैं। (एकेन्द्रिय जीवों में ये चार प्राण ही हैं) बेइन्द्रिय में १ रसेन्द्रिय और २ वचन मिल कर ६ प्राण होते हैं। तेइन्द्रिय में घ्राण विशेष होने से ७, चौरीन्द्रिय में रसनाइन्द्रिय सहित ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में श्रोतेन्द्रिय सहित ९ प्राण होते हैं। ये सभी असंज्ञी जीव हैं। संज्ञी जीवों के विशेष में 'मन' भी होता है। इस प्रकार उनके पूर्ण रूप से १० प्राण होते हैं।

नारकों का कुंभी से और देवों का शय्या में से उपपात के रूप में उत्पत्ति होती है। मनुष्यों की उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है। तिर्यञ्च, जरायु और अंडे से उत्पन्न होते हैं और शेष असंज्ञी पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव, समूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होते हैं। सभी समूर्च्छिम जीव और नारक जीव, नपुंसक ही होते हैं। देव, पुरुष तथा स्त्री-वेदी होते हैं और मनुष्य तथा तिर्यञ्च, पुरुष स्त्री और नपुंसकवेदी होते हैं।

सभी जीव व्यवहारी और अव्यवहारी—ऐसे दो प्रकार के हैं। अनादि सूक्ष्म-निगोद के जीव अव्यवहारी (अव्यवहार राशि वाले, जो अनादि काल से उसी रूप में जन्म-मरण करते रहते हैं। वे उस दशा को छोड़ कर किसी दूसरे स्थान गये ही नहीं) हैं। शेष सभी व्यवहारी (व्यवहार राशि वाले—विभिन्न गतियों में जाने वाले) हैं।

जीवों की उत्पत्ति नौ प्रकार की योनियों से होती है। १ सचित्त (जीव वाली) २ अचित्त ३ मिश्र ४ संवृत्त (ढँकी हुई) ५ असंवृत्त ६ संवृत्तासंवृत्त ७ शीत ८ उष्ण और ९ शीतोष्ण।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चार स्थावर में प्रत्येक की सात लाख योनि हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख और अनन्तकाय की चौदह लाख हैं। विकलेन्द्रिय की छह लाख (प्रत्येक की दो-दो लाख) मनुष्य की चौदह लाख तथा नारक, देव और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय की चार-चार लाख योनि हैं। इस प्रकार सभी जीवों को मिल कर कुल चौरासी लाख योनियाँ हैं। इन्हें केवलज्ञानियों ने ज्ञान में देखा है।

जीवों के भेद—१ एकेन्द्रिय सूक्ष्म और २ बादर ३ बेइन्द्रिय ४ तेइन्द्रिय ५ चौरीन्द्रिय ६ पंचेन्द्रिय असंज्ञी और ७ संज्ञी। इन सात के प्रर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे मूल चौदह भेद हैं। इनकी मार्गणा भी चौदह हैं। जैसे—१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ ज्ञान ७ कषाय ८ संयम ९ आहार १० दृष्टि ११ लेख्या १२ भव्य १३ सम्यक्त्व और १४ संज्ञी। इसी प्रकार सभी जीवों के गुणस्थान भी चौदह ही हैं। यथा—

१ मिथ्यात्व गुणस्थान २ सास्वादन गुणस्थान ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देश-

विरत ६ प्रमत्त-संयत ७ अप्रमत्त-संयत ८ निवृत्ति-बादर ९ अनिवृत्ति-बादर १० सूक्ष्म-संपराय ११ उपशांतमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगी केवली और १४ अयोगी केवली गुण-स्थान । ये गुणस्थानों के नाम हैं । अब इनका संक्षेप में स्वरूप बताया जाता है ।

गुणस्थान स्वरूप

(१) मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है । मिथ्यात्व कोई गुण नहीं, किन्तु मिथ्यात्व होते हुए भी भद्रिकपन आदि (संतोष, सरलता और यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथीभेद तक पहुँचना और इससे आगे बढ़ कर अपूर्वकरण अवस्था को प्राप्त करने रूप) गुणों की अपेक्षा से गुणस्थान कहा जाता है । तात्पर्य यह कि इस स्थान को मिथ्यात्व के कारण गुणस्थान नहीं कहा, किन्तु इस स्थान में रहे हुए अन्य गुणों के कारण गुणस्थान कहा है ।

(२) अनन्तानुबन्धी कषाय—चौक का उदय होते हुए भी मिथ्यात्व का उदय नहीं होने के कारण दूसरे गुणस्थान को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहते हैं । इसकी स्थिति अधिक से अधिक छह आवलिका की है । इस स्थिति में नष्ट होते हुए सम्यक्त्व का तनिक आस्वाद रहता है । इसी के कारण यह गुणस्थान है ।

(३) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण से यह मिश्र गुणस्थान कहलाता है । इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र की है ।

(४) अनन्तानुबन्धी कषाय-चौक और मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय के क्षयोपशमादि से आत्मा यथार्थदृष्टि प्राप्त करती है । इस गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चौक का उदय रहता है, जिसके कारण त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होते । अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से यह 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान होता है ।

(५) अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशमादि से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत (देश-विरत) गुणस्थान होता है । (इस गुणस्थान का स्वामी सद्-गृहस्थ, संसार में रहते हुए और उदयानुसार सांसारिक कृत्य तथा भोगादि का आस्वाद करते हुए भी संसार-भीरु होता है और निवृत्ति = सर्वविरति को ही उपादेय मानता है ।)

(६) इस गुणस्थान का स्वामी सर्वविरत संयत होते हुए भी प्रमाद से सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकता । पूर्व के गुणस्थानों जितना तो नहीं, किन्तु कुछ प्रमाद का असर अवश्य रहता है इस गुणस्थान का ऐसा ही स्वभाव है ।

(७) प्रमाद का सर्वथा त्याग करने वाले सर्वविरत संयत महापुरुष, सातवें गुण-

स्थान के स्वामी होते हैं। इस स्थान पर सूक्ष्मतम प्रमाद भी नहीं होता।

छठे और सातवें गुणस्थान की परस्पर परावृत्ति अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है *।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली ऊर्ध्वमुखी आत्मा के कर्मों का स्थितिघात आदि अपूर्व होता है। इस प्रकार की अवस्था आत्मा ने पहले कभी प्राप्त नहीं की। इस स्थिति को प्राप्त होने वाली आत्मा, अपने कर्म-शत्रुओं का संहार करती हुई आगे बढ़ने की तय्यारी करती है ×।

इस गुणस्थान में आत्मा, श्रेणी का आरोहण करने की तय्यारी करती है। कोई 'उपशम श्रेणी' के लिए तत्पर होती है, तो कोई 'क्षपक श्रेणी' के लिए +। इस स्थिति पर पहुँचने वालों की बादर-कषाय निवृत्त हो जाती है। इसलिए इस गुणस्थान का नाम "निवृत्ति-वादर" भी है।

(९) जिस परिणाम पर एक साथ पहुँचे हुए मुनिवरों के बादर-कषाय के निवृत्त परिणाम में अन्तर या परिवर्तन नहीं होता, सभी के परिणाम समान ही होते हैं, उसे "निवृत्ति-वादर" गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा या तो उपशमक होते हैं या क्षपक। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की एक संज्वलन के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी प्रकृति उदय में नहीं रहती।

* यों तो छठे गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि तक की है, किन्तु अप्रमत्त महर्षि सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति ही इतनी है। इसके बाद वे प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं, किन्तु भावों की उच्चता के कारण छठे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर पुनः सातवें में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार चढ़ाव-उतार की दृष्टि से दोनों गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के बताये गये हैं।

× अपूर्वकरण, प्रथम गुणस्थान में भी होता है, किन्तु उससे दर्शन-मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय चोक का ही सम्बन्ध है। इसके बाद भी मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। आठवें गुणस्थान में मोहनीय का समूल नाश करने की तत्परता होती है। आयुष्य का बन्ध हो जाने के बाद भी प्रथम गुणस्थान वाले जीव को व आठवें के उपशमक को अपूर्वकरण हो सकता है, किन्तु जो जीव क्षपक-श्रेणी का आरम्भ करता है, वह तो अबद्धायु ही होता है। वह समस्त कर्मों से मुक्त हो कर सिद्ध ही होता है।

+ क्षपक-श्रेणी प्राप्त आत्मा, कर्मों को क्षय करती जाती है और उपशम-श्रेणी वाली आत्मा मोह कर्म को दबाती जाती है। क्षपक-श्रेणी तो एक ही बार होती है, किन्तु उपशम-श्रेणी किसी आत्मा को पूरे भवचक्र में पाँच बार तक हो जाती है। क्षपक-श्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' कहना ठीक ही है, किन्तु उपशम-श्रेणी की अपेक्षा 'अपूर्वकरण' कहने में मतभेद है।

(१०) नौवें गुणस्थान में जो लोभ की सूक्ष्म प्रकृति शेष रह गई थी, उसका वेदन इस गुणस्थान में होता है। इसके अंत में लोभ को या तो सर्वथा उपशान्त कर दिया जाता है या क्षय होता है।

(११) उपशान्त-मोह वीतराग गुणस्थान। इस परिणति वाली आत्मा का मोह-कर्म पूर्ण रूप से दब जाता है।

(१२) जिसने दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में लोभ (मोह) का सर्वथा क्षय कर दिया, वह दसवें से सीधा इस गुणस्थान में पहुँच कर 'क्षीण-मोह वीतराग' हो जाता है।

(१३) क्षीण-मोह गुणस्थान के अंतिम समय में शेष तीन घाती-कर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर आत्मा सयोगी-केवली अवस्था प्राप्त कर लेती है। इस उत्तम स्थिति में आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हो जाती है।

(१४) अयोगी-केवली गुणस्थान—सयोगी केवली भगवान् मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर के नष्ट करने के बाद अयोगी केवली हो जाते हैं और शंश्लेशीकरण कर के सिद्ध भगवान् बन जाते हैं।

इस प्रकार निम्नतम दशा से उत्थान हो कर गुणस्थान बढ़ते-बढ़ते आत्मा, परमात्म-दशा को प्राप्त कर लेती है।

अजीव तत्त्व—द्रव्य छह हैं। इनमें से जीव-द्रव्य का निरूपण हो चुका। शेष पाँच द्रव्य 'अजीव'—जड़ हैं। यथा—१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय और ५ काल। इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य तो प्रदेशों (सूक्ष्म-विभागों) के समूह रूप हैं और काल प्रदेश-रहित है। इनमें से केवल जीव ही चैतन्य (उपयोग) युक्त और कर्त्ता है, शेष पाँच द्रव्य अचेतन तथा अकर्त्ता हैं। काल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय (प्रदेशों के समूह रूप) हैं। इनमें से एक पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं। ये छहों द्रव्य उत्पाद (नवीन अवस्था की उत्पत्ति) व्यय (भूत पर्याय का नाश) और ध्रौव्य (द्रव्य रूप से सदाकाल विद्यमान) रूप है।

सभी प्रकार के पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त हैं। इनके परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद हैं। जो परमाणु रूप हैं, वे तो अबद्ध हैं और जो स्कन्ध रूप हैं, वे बद्ध (परस्पर बँधे हुए) हैं।

पुद्गल के जो बँधे हुए स्कन्ध हैं, वे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सूक्ष्म, स्थूल,

संस्थान, अन्धकार, आतम, उद्योत, प्रभा और छाया के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म, औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर, मन, भाषा गमनादि चेष्टा और इवासोच्छ्वास रूप बनते हैं। ये सुख, दुःख जीवित और मृत्यु का उपग्रह करने वाला है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं। ये सदा सर्वदा अमूर्त, निष्क्रिय और स्थिर हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश एक जीव के आत्म-प्रदेश जितने असंख्यात हैं और समस्त लोक में व्याप्त हैं।

धर्मास्तिकाय में गमन सहायक गुण है। जो जीव या अजीव, अपने आप गमन करते हैं, उन्हें धर्मास्तिकाय सहायक बनती है। जिस प्रकार मत्स्य आदि जीवों की गमन करने में पानी सहायक बनता है। वे पानी के आधार से चलते हैं, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गति करने में सहायक बनती है।

अधर्मास्तिकाय स्थिर होने में सहायक बनती है। जिस प्रकार थका हुआ पथिक, वृक्ष की शीतल छाया में ठहर कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार स्थिर होने की इच्छा वाले जीवों और गमन क्रिया से रहित अजीवों को ठहरने में सहायक होना, अधर्मास्तिकाय नामक अरूपी द्रव्य का गुण है।

आकाशास्तिकाय तो पूर्वोक्त दोनों द्रव्यों से अत्यन्त विशाल है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तो लोक में ही व्याप्त है, किन्तु आकाशास्तिकाय तो लोक से भी अनन्तगुण अधिक ऐसे अलोक में भी सर्व-व्यापक हैं। इसके अनन्त प्रदेश हैं। यह आकाशास्तिकाय सभी द्रव्यों के लिए आधार रूप है और अपने निज स्वरूप में रहा हुआ है।

लोकाकाश के प्रदेशों में अभिन्न रूप से रहे हुए जो काल के अणु (समय रूपी सूक्ष्म भेद) हैं, वे भावों का परिवर्तन करते हैं। इसलिए मुख्य रूप से काल तो यही है, क्योंकि पर्याय-परिवर्तन (भविष्य का वर्तमान होना और वर्तमान का भूत बन जाना) ही काल है और ज्योतिष-शास्त्र में समय आदि से जो मान (क्षण, पल, घड़ी, मुहूर्त आदि) बताया जाता है, वह व्यवहार काल है। संसार में सभी पदार्थ नवीन और जीर्ण अवस्था को प्राप्त करते हैं। यह काल का ही प्रभाव है। काल-क्रीड़ा की विडम्बना से ही सभी पदार्थ वर्तमान अवस्था से गिर कर भूत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, और भविष्य से खिच कर वर्तमान में आ जाते हैं।

आस्रव — जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ही आस्रव है। क्योंकि इसीसे

आत्मा में कर्म का आगमन होता है। शुभ प्रवृत्ति 'पुण्य-बन्ध' का कारण होती है और अशुभ प्रवृत्ति 'पाप बन्ध' का हेतु बनती है।

संवर—सभी प्रकार के आस्रवों की रोक करना ही 'संवर' कहलाता है, जो विरति एवं त्याग रूप है।

निर्जरा—संसार के हेतुभूत कर्म का जिस साधना से जरना (विनाश) होता है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं।

बन्ध—कषाय के सद्भाव से जीव, कर्म-योग्य पुद्गलों को आस्रव के द्वारा ग्रहण कर के अपने साथ बाँध लेता है, उसे 'बन्ध' तत्त्व कहते हैं। यह बन्ध तत्त्व ही जीव की परतन्त्रता का कारण बनता है। इसके चार भेद हैं;—१ प्रकृति २ स्थिति ३ अनुभाग और ४ प्रदेश।

प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' है। इसके ज्ञानावरणीयादि भेद से आठ प्रकार हैं। जैसे—१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय। ये आठ मूल प्रकृतियाँ (इतकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं)।

स्थिति—बन्धे हुए कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ लगे रहने के काल को 'स्थिति' कहते हैं। जो जघन्य (कम से कम) भी होती है और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) भी।

अनुभाव—कर्म का विपाक (परिणाम) 'अनुभाव' कहलाता है।

प्रदेश—कर्म के दलिक (अंश) को 'प्रदेश' कहते हैं।

कर्म बन्ध के पाँच हेतु हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

मोक्ष—बन्ध के मिथ्यात्वादि पाँच हेतुओं का अभाव हो जाने पर, घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय हो जाता है इससे जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके बाद शेष रहे हुए चार अघाती-कर्मों का क्षय होने से जीव मुक्त हो कर परम सुखी हो जाता है।

सभी राजाओं, नरेन्द्रों, देवों और इन्द्रों को तीन भुवन में जो सुख प्राप्त हैं, वे मोक्ष-सुख के अनन्तवें भाग में भी नहीं हैं।

इस प्रकार तत्त्वों को यथार्थ रूप में जानने वाला मनुष्य, कभी संसार-सागर में नहीं डूबता और सम्यग् आचरणा से कर्म-बन्धनों से मुक्त हो कर परम सुखी बन जाता है।

तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के उस पर श्रद्धा करनी चाहिए और हेय को त्याग कर उपादेय का आचरण करना चाहिए। इससे आत्मा मोक्ष-गति पा कर परमात्मा बन जाती है।

भगवान् के 'यश' आदि पचास गणधर हुए । भगवान् विहार करते हुए द्वारिका पधारे । पुरुषोत्तम वासुदेव आदि भगवान् को वन्दन करने आये । देशना सुनी । वासुदेव सम्यक्त्वी हुए, बलदेव व्रतधारी श्रावक हुए । कई भव्यात्माएँ दीक्षित हुई । बहुतों ने श्रावक व्रत लिया तथा बहुत-से सम्यक्त्वी बने ।

भगवान् अनंतनाथ स्वामी के ६६००० साधु, ६२००० साध्वियाँ, ९०० चौदह पूर्व-धर, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० मनःपर्यवज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० वैक्रिय लब्धिधारी, ३२०० वादलब्धि वाले, २०६००० श्रावक और ४१४००० श्राविकाएँ हुई । भगवान् तीन वर्ष कम साढ़े सात लाख वर्ष तक सयोगी केवलज्ञानी के रूप में विचरते रहे और मोक्ष-काल निकट जान कर समेदशिखर पर्वत पर सात हजार मुनियों के साथ पधार कर अनशन किया । एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला पंचमी को पुण्य-नक्षत्र में प्रभु मोक्ष पधारे ।

प्रभु कुमार अवस्था में साढ़े सात लाख वर्ष, राज्याधिपति रूप में पन्द्रह लाख वर्ष और संयम-पर्याय में साढ़े सात लाख वर्ष रहे । कुल आयु तीस लाख वर्ष का था ।

पुरुषोत्तम वासुदेव अपने तीस लाख वर्ष की आयु में उग्र पापकर्म कर के छठी नरक में गये । सुप्रभ बलदेव अपने भाई वासुदेव की मृत्यु के बाद विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र्य का पालन कर के कुल आयु ५५००००० वर्ष का पूर्ण कर के मोक्ष पधारे ।

चौदहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ अनंतनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० धर्मनाथजी



धातकीखंड द्वीप के पूर्व महाविदेह में भरत नाम के विजय में भट्टिल नाम का एक नगर था। दृढ़रथ नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। वह अन्य सभी राजाओं में प्रभावशाली था और सभी पर अपना अधिपत्य रखता था। इस प्रकार विशाल अधिपत्य एवं विशिष्ट सम्पदा युक्त होते हुए भी वह लुब्ध नहीं था। वह सम्पत्ति और अधिकार के गर्व से रहित था। उच्चकोटि की भोग-सामग्री प्राप्त होते हुए भी वह विरक्त-सा हो गया था। उसकी विरक्ति बढ़ रही थी। संयोग पा कर उसने विमलवाहन मुनिराज के समीप, मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। चारित्र और तप की उत्तम आचरणा से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया और धर्म आराधना करता हुआ अनशनपूर्वक आयु पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में रत्नपुर नाम का एक नगर था। वह अत्यंत ऋद्धि सम्पन्न और भव्यता युक्त था। 'भानु' नाम के महाराजा का उस पर शासन था। महाराजा भानु नरेश सदाचारी थे। वे अनेक उत्तम गुणों के पात्र थे। दूर-दूर तक के अनेक राजागण उनकी आज्ञा में थे। उनका शासन सभी के लिए हितकारी, सुखकारी और संतोषप्रद था। महारानी सुव्रतादेवी उनकी अर्द्धांगिनी थी। वह भी नारी के समस्त उत्तम गुणों से युक्त थी।

दृढ़रथ मुनिराज का जीव, वैजयंत विमान से वैशाख-शुक्ला सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र में च्यव कर महारानी सुव्रता देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और माघ-शुक्ला तृतीया को

पुण्य-नक्षत्र के योग में पुत्र का जन्म हुआ। देवी-देवता और इन्द्रों ने द्रव्य तीर्थकर भगवान् का जन्मोत्सव किया। यौवन-वय प्राप्त होने पर माता-पिता ने आपका विवाह किया। जन्म से ढाई लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता के आग्रह से आपका राज्याभिषेक हुआ। पाँच लाख वर्ष तक राज्य का संचालन किया और उसके बाद आपने संसार त्याग कर मोक्ष साधना का विचार किया। अपने कल्प के अनुसार लोकान्तिक देवों ने प्रभु के समीप आकर धर्म-प्रवर्तन का निवेदन किया। वार्षिक दान दे कर प्रभु ने माघ-शुक्ला त्रयोदशी के दिन चौथे प्रहर में पुण्य-नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होते, बेल के तप से प्रव्रज्या स्वीकार की।

वासुदेव चरित्र

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में अशोका नाम की नदी थी। पुष्पवृषभ नाम का राजा वहाँ राज करता था। उसने संसार से विरक्त हो कर प्रजापालक नाम के मुनिराज के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और चारित्र के साथ उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के सहस्रार देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुआ। उसकी आयु अठारह सागरोपम प्रमाण थी। जब उस देव ने अपनी आयु के सोलह सागरोपम पूर्ण कर लिये और दो सागरोपम आयु शेष रही, तब पोतनपुर नगर में विकट नाम का राजा राज करता था। उसे राजसिंह नाम के दूसरे राजा ने युद्ध में हरा दिया। अपनी हार से लज्जित हुए विकट राजा ने अपने पुत्र को राज्याधिकार दे कर अतिभूति नाम के मुनि के पास चारित्र ग्रहण कर लिया और तप-संयम की कठोर साधना करने लगा। वह संयम और तप की उत्कट आराधना तो करता था, किन्तु अपनी पराजय का शूल उसकी आत्मा में चुभ रहा था। उस शूल से प्रेरित हो कर उसने निदान कर लिया कि “मेरे उग्रतप के प्रभाव से मैं अगले भव में उस दुष्ट राजसिंह का घातक बनूँ।” इस प्रकार अपने उत्तम तप के उच्च फल को, वैर लेने के पापपूर्ण दाँव पर लगा दिया और उसी शल्य को लिये हुए मृत्यु पा कर दूसरे देवलोक में दो सागर की स्थिति वाला देव हुआ। उधर राजसिंह भी चिरकाल तक संसार-परिभ्रमण करता हुआ और पाप का फल भोगता हुआ भरत-क्षेत्र के हरीपुर नगर में जन्म ले कर ‘निशुंभ’ नाम का राजा हुआ। वह अपने क्रूरतापूर्ण उग्र पराक्रम से दूसरे राजाओं का राज्य जीतता हुआ दक्षिण भरत का स्वामी बन गया।

भरतखंड के अश्वपुर नाम के नगर में ‘शिव’ नाम के राजा राज करते थे। उनके

‘विजया’ और ‘अम्बिका’ नाम की दो रानियाँ थीं। वे दोनों रूप, उत्तम लक्षण और सद्गुणों से युक्त थीं। विजया रानी की कुक्षि में पुरुषवृषभ मृनि का जीव, सहस्रार देवलोक से आ कर पुत्रपने उत्पन्न हुआ। रानी ने चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर उत्तम लक्षण वाले पुत्र का जन्म हुआ। उसका ‘सुदर्शन’ नाम रखा। कालान्तर में ‘विकट’ का जीव दूसरे स्वर्ग की अपनी स्थिति पूर्ण कर के अम्बिका रानी के गर्भ में आया। रानी ने वामुदेव के फल को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे। जन्म होने पर अतिशय पराक्रम दर्शक लक्षणों को देख कर ‘पुरुषसिंह’ नाम दिया गया। दोनों भ्राता राजकुमारों में अत्यंत स्नेह था। वे सर्वा कलाओं में पारंगत हुए और महाबली के रूप में विख्यात हुए।

शिव नरेश का पड़ोस के एक राजा से वैमनस्य हो गया। दोनों में शत्रुता चरम सीमा पर पहुँच गई। शिव नरेश ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदर्शनकुमार को सेना ले कर युद्ध करने भेजा। राजकुमार पुरुषसिंह भी साथ ही युद्ध में जाना चाहते थे, किंतु उन्होंने रोक दिया जब ज्येष्ठ बन्धु प्रयाण कर गए, तो पीछे से पुरुषसिंह भी चल दिये और मार्ग में सेना के साथ हो लिए। जब ज्येष्ठ बन्धु को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने उन्हें मार्ग में ही रुक जाने की आज्ञा दी। वे वहीं रुक गये और सेना आगे बढ़ गई। थोड़ी देर बाद राजधानी से शीघ्रतापूर्वक दूत ने आ कर राजकुमार पुरुषसिंह को एक पत्र दिया। पत्र में पिता की ओर से राजकुमार को शीघ्र ही वापिस आने का उल्लेख था। कारण पूछने पर दूत ने कहा—“स्वामी को दाह-ज्वर रोग के कारण अत्यंत पीड़ा हो रही है।” पिता की पीड़ा के समाचार जान कर राजकुमार चिंतित हुए और उसी समय लौट गए और शीघ्रतापूर्वक बिना कहीं रुके, दो दिन में ही पिता की सेवा में उपस्थित हो गए जब उन्होंने पिता को भयानक रोग से अत्यंत पीड़ित देखा, तो उसका धैर्य जाता रहा। खाना-पीना भी भूल गए। राजा ने उन्हें आदेश दे कर बड़ी कठिनाई से भोजन करने भेजा। जैसे-तैसे थोड़ा खा-पी कर पिता की सेवा में आ ही रहे थे कि दासियाँ दौड़ती हुई आई और कहने लगी;—

“कुमार साहब ! आप पहले अन्तःपुर में पधारे। महारानी अनर्थ करने जा रही हैं चलिए, जल्दी चलिए।” राजकुमार, माता के पास गये, तो क्या देखते हैं कि माता वस्त्राभूषण से सज्जित हैं और हीरे-मोती, रत्न, आभूषणादि दान कर रही है। उन्होंने माता से पूछा—

“मातेश्वरी ! आप क्या कर रही हैं ? इधर पिताश्री रोगग्रस्त हैं और आपको यह क्या सूझा ? क्या आप भी मुझे त्याग कर जाना चाहती हैं ?”

—“मैं वही कर रही हूँ जो मुझे करना चाहिए। मैं ‘विधवा’ बनना नहीं चाहती। तुम्हारे पिताश्री अब बचने वाले नहीं हैं। उनका रोग उन्हें उठाने ही आया है। मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि मैं एक क्षण के लिए भी उनका विधोग सहन कर सकूँ। यदि उनके स्वर्ग सिधार जाने के बाद, एक पलभर भी मैं जीवित रही, तो विधवा ही हो जाऊँगी। इसलिए मैं अग्नि प्रवेश कर के स्वामी की उपस्थिति में ही प्रस्थान करना चाहती हूँ। तुम सयाने हो, समझदार हो, तुम पर ज्येष्ठ बन्धु की कृपा है। हमारे दिन तो अब बीत ही चुके हैं। आखिर हमें जाना तो है ही। मृत्यु मुझे पकड़ कर ले जावे, इसके पूर्व ही मैं मौत का पल्ला पकड़ लूँ, तो यह अच्छा ही होगा। अब तुम जाओ। एक शब्द भी मत बोलो। तुम्हारे पिताश्री की भी तय्यारी हो रही है।”

इस प्रकार कहते ही वह झपाटे से निकल गई और पहले से तय्यार कराई हुई जाज्वल्यमान चिता में कूद कर प्राणान्त कर गई।

राजकुमार, माता को जाते देखते ही रहे, न तो उनके मुँह से एक शब्द ही निकला और न वे वहाँ से हिल ही सके। सेवक ने उन्हें चलने का कहा, तब वे आगे बढ़े और एक अशक्त के समान कठिनाई से पिता के पास आ कर भूमि पर गिर पड़े। रोगग्रस्त राजा ने कुमार से कहा—

“वत्स ! ऐसी कायरता मत लाओ। तुम वीर हो। तुम्हारा इस प्रकार भूमि पर ढल जाना शोभा नहीं देता। तुम तो इस भूमि के एक-छत्र स्वामी होने योग्य हो। कायरता लाने से तुम्हारा पुरुषसिंह नाम कलंकित होगा। उठो ! संसार में मरना-जीना तो लगा ही रहता है।” इस प्रकार आश्वासन देते हुए शुभ भाव वाले शिव नरेश ने देह त्याग दिया। राजकुमार मूर्च्छित हो गए। कुछ समय बीतने पर उनकी मूर्च्छा दूर हुई। पिता की अग्नि-संस्कारादि उत्तर-क्रिया की गई। बड़े भाई सुदर्शनजी को पिता की मृत्यु का समाचार दिया गया। वे भी सुन कर दुःखी हुए और शीघ्रतापूर्वक शत्रु को जीत कर लौट आये। सुदर्शनजी को देखते ही पुरुषसिंह उठ कर उनके गले लग गये और दोनों भाई खूब रोये। धीरे-धीरे शोक का प्रभाव हटने लगा।

एक दिन महाराजाधिराज निशुंभ का दूत आया और दोनों राजकुमारों से कहने लगा; --

“आपके पिताजी के देहावसान के समाचार सुन कर सम्राट निशुंभदेव को बहुत शोक हुआ। आपके पिताजी की स्वामी-भक्ति का स्मरण कर के आपके हित के लिए

उन्होंने कहलाया कि—‘अभी तुम दोनों बालक हो । कोई शत्रु तुम्हें सतावे और पराभव कर दे, तो यह भी दुःखद होगा । मैंने तुम्हारे पिता को उच्च पद दिया है । तुम्हें उसका निर्वाह करने के योग्य बनाना है । इसलिए तुम दोनों यहाँ मेरे पास आ कर रहो । वहाँ के प्रबन्ध की उचित व्यवस्था हो जायगी ।’

दूत की बात सुन कर क्रोधाभिभूत हो, राजकुमार पुरुषसिंह ने कहा—

“इक्ष्वाकु वंश में चन्द्र समान एवं सर्वोपकारी ऐसे हमारे पिताश्री के स्वर्गवास से अनेक मित्र राजाओं को दुःख हुआ है । निशुंभ को भी दुःख हुआ—तुम कहते हो, किंतु हम भी सिंह के बच्चे हैं । सिंह किसी का दिया हुआ दान नहीं लेता । यह राज हमारा है । हम इसको सम्भाल लेंगे । यदि किसी की इस पर कुदृष्टि होगी, तो हम इसकी रक्षा का उपाय कर लेंगे । इसकी चिंता आपके राजा को नहीं करनी चाहिए ।”

दूत ने कहा—“तुम बच्चे हो । तुम्हें अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए । इसी में तुम्हारा हित है । यदि तुम उनकी इच्छा का आदर नहीं करोगे, तो परिणाम बहुत बुरा होगा ।”

—“दूत ! विशेष बात करना उचित नहीं है । तुम अपने स्वामी से कह दो कि हम उनकी इच्छा के आधीन नहीं हैं । हमें अपनी शक्ति का भरोसा है । इसी के बल पर हम स्थिर रह कर आगे बढ़ते जावेंगे ।”

दूत की बात सुन कर निशुंभ क्रोधाग्रस्त हुआ और सेना ले कर अश्वपुर पर चढ़ाई कर दी । इधर दोनों बन्धु भी अपनी सेना ले कर अपने राज्य की सीमा पर आ पहुँचे । भयानक युद्ध हुआ । अंत में निशुंभ के छोड़े हुए अंतिम अस्त्र (चक्र) के प्रहार से ही पुरुषसिंह द्वारा निशुंभ मारा गया । वह पाँचवाँ प्रतिवासुदेव कहलाया और पुरुषसिंह ने उसके समस्त राज को अपने आधीन कर लिया । उनका पाँचवें वासुदेव पद का अभिषेक हुआ । सुदर्शनजी बलदेव पद पाये ।

×

×

×

×

दो वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय में रहने के बाद भगवान् श्री धर्मनाथ स्वामी को पीष-शुक्ला पूर्णिमा को पुण्य-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । देवों ने समवसरण रचा । तीर्थ स्थापना हुई । ‘अरिष्ट’ आदि ४३ गणधर हुए । भगवान् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अश्वपुर पधारे । वासुदेव और बलदेव भी भगवान् को वन्दन करने आये । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया;—

धर्मदेशना

क्रोध कषाय को नष्ट करने की प्रेरणा

संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्ग में मोक्ष वर्ग का स्थान सर्वोपरि है। इस मोक्ष-वर्ग की प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूपी तीन रत्नों से होती है। वही ज्ञान मोक्षवर्ग को साधने में समर्थ है जो तत्त्वानुसारी मति — बुद्धि से युक्त है। उस तत्त्वानुसारी मति में श्रद्धा रूपी शक्ति का नाम 'दर्शन-रत्न' है और ज्ञान तथा दर्शन युक्त हेय का त्याग कर उपादेय का सेवन करना अर्थात् सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना चारित्र्य है। आत्मा स्वयं ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप है अथवा इसी रूप में शरीर में रहता है। मोह के त्याग से अपनी आत्मा के द्वारा ही जो अपने-आप को (आत्मा को) जानता है, वही उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य है। आत्मा ने अज्ञान के द्वारा जिन दुःखों को उत्पन्न किया, उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है। जो आत्मज्ञान से रहित है, वह तप करते हुए भी अज्ञान-जनित दुःख का छेदन नहीं कर सकता।

आत्मा, चैतन्य (ज्ञान) रूप है, किन्तु कर्म के योग से शरीरधारी होता है और जब ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी कचरा जल कर नष्ट हो जाता है, तब आत्मा निरंजन—दोष रहित, परम विशुद्ध—सिद्ध हो जाती है।

यह संसार, कषाय और इन्द्रियों से हारे हुए आत्मा के लिए ही है। जिस आत्मा ने कषाय और इन्द्रियों को जीत लिया, वही मुक्त है।

आत्मा को संसार में भटका कर दुःखी करने वाली कषायें चार हैं—१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ। इन चारों के चार-चार भेद हैं। यथा—१ संज्वलन २ प्रत्याख्यानी ३ अप्रत्याख्यानी और ४ अनन्तानुबन्धी। इनमें से संज्वलन एक पक्ष तक रहती है, प्रत्याख्यानी चार माह तक, अप्रत्याख्यानी वर्ष पर्यन्त और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यन्त रहती है +।

संज्वलन कषाय, बीतरागता में बाधक होती है। प्रत्याख्यानी कषाय, साधुता को रोकती है, अप्रत्याख्यानी कषाय, श्रावकपन में रुकावट डालती है और अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दृष्टि का घात करती है। इनमें से संज्वलन कषाय देवत्व, प्रत्याख्यानी तिर्यञ्चपन

+ यह कथन व्यवहार दृष्टि से है। अन्यथा प्रज्ञापना पद १८ में चारों कषाय के उदय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है। संज्वलन की स्थिति देशोनक्रोड़ पूर्व भी होती है—जितनी छठे गुणस्थान की स्थिति है।

और अनन्तानुबन्धी कषाय नरक भव प्रदान करती है * ।

क्रोध कषाय, आत्मा को तप्त कर देती है। वैर एवं शत्रुता इसी कषाय से होती है। यह दुर्गति में धकेलने वाली है और समता रूपी सुख रोकने वाली है। क्रोध कषाय उत्पन्न होते ही आग की तरह सब से पहले अपने आश्रय-स्थल को जलाती हैं। इसके बाद दूसरों को जलाती हैं। कभी वह दूसरों को नहीं भी जलाती, किन्तु अपने आश्रय-स्थल को तो जलाती ही रहती है।

यह क्रोध रूपी आग, आठ वर्ष कम क्रोड़पूर्व तक पाले हुए संयम और आचरे हुए तप रूपी धन को क्षण भर में जला कर भस्म कर देती है। पूर्व के पुण्य-भण्डार में संचित किया हुआ समता रूपी यश, इस क्रोध रूपी विषय के सम्पर्क से तत्काल अछूत—असेव्य हो जाता है। विचित्र गुणों की धारक ऐसी चारित्र्य रूपी चित्रशाला क्रोध रूपी धुम्र, अत्यन्त मलिन कर देता है। वैराग्य रूपी शमीपत्र के दोने (पात्र) में जो समता रूपी रस भरा है, वह क्रोध के द्वारा बने हुए छिद्र में से निकल जाता है।

वृद्धि पाया हुआ क्रोध, इतना विकराल हो जाता है कि वह बड़े भारी अनर्थ कर डालता है। भविष्य काल में द्वैपायन की क्रोध रूपी आग में, अमरापुरी के समान भव्य ऐसी द्वारिका नगरी, ईधन के समान जल कर नष्ट हो जायगी।

क्रोधी को अपने क्रोध के निमित्त से जो कार्य-सिद्धि होती दिखाई देती है वह फल-सिद्धि, क्रोध से सम्बन्धित नहीं है, किन्तु पूर्व-जन्म में प्राप्त की हुई पुण्य रूपी लता के फल है।

जो प्राणी, इस लोक और परलोक तथा स्वार्थ और परार्थ का नाश करने वाले क्रोध को अपने शरीर में स्थान देते हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है।

क्रोधान्ध पुरुष, माता, पिता, गुरु, सुहृद मित्र, सहोदर और स्त्री की तथा अपनी खुद की आत्मा की भी निर्दयतापूर्वक घात कर देता है। उत्तम पुरुष को ऐसी क्रोध रूपी आग को बुझाने के लिए, संयम रूपी बगीचे में क्षमा रूपी जलधारा का सिंचन करना चाहिए। अपकार करने वाले पुरुष पर उत्पन्न हुए क्रोध को रोकने की दूसरी कोई विधि नहीं है। वह तो सत्त्व के माहात्म्य (आत्म-शक्ति) से ही रोकी जा सकती है। अथवा तथा प्रकार की भावना के सहारे से क्रोध के मार्ग को अवरुद्ध किया जा सकता है।

* यह कथन भी अपेक्षापूर्वक है। अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषाय वाले देव भी होते हैं। अभव्य के अनन्तानुबन्धी होती है, परन्तु वह चारों गति में जाता है। उसके परिवर्तित रूप में अन्य चौक भी होते हैं।

“जो व्यक्ति स्वयं पाप स्वीकार कर के मेरे लिए बाधक बनना चाहता है, वह तो अपने दुष्कृत्य से अशुभ कर्म कर के खुद अपनी ही आत्मा की हिंसा कर रहा है। ऐसे व्यक्ति पर मैं क्यों क्रोध करूँ ? वह तो स्वयं दया का पात्र है।”

“हे आत्मन् ! यदि तू चाहती है कि मेरा बुरा चाहने वाले—मुझे दुःख देने वाले पर मैं क्रोध करूँ, तो तेरे वास्तविक शत्रु तो खुद के किये हुए कर्म ही हैं। इन्हीं के कारण तुझे दुःख होता है। यदि तुझे क्रोध करना ही है, तो अपने कर्म-बन्धन पर ही कर। तू कुत्ते जैसा स्वभाव छोड़ कर सिंह के समान मूल को ही पकड़। कुत्ता, पत्थर मारने वाले को नहीं पकड़ता, किन्तु पत्थर को काटता है, और सिंह बाण को नहीं पकड़ कर बाण मारने वाले की ही खबर लेना चाहता है। तुझे जो कष्ट या बाधा उत्पन्न करते हैं, वे गुप्त-शत्रु तेरे कर्म ही हैं। दूसरे तो कर्म-प्रेरित बाण के समान हैं। इसलिए तुझे कर्म की ही ओर ध्यान दे कर, इस अन्तर्शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।”

भविष्य काल में होने वाले अंतिम शासनपति भगवान् महावीर, अपने को उपसर्ग करने वाले पापियों को क्षमा प्रदान करेंगे। जो उत्तम पुरुष होते हैं, वे तो ऐसे अवसर के लिए तत्पर रहते हैं। बिना प्रयास के ही स्वयमेव प्राप्त हुई क्षमा को सफल करने के लिए तत्पर रहते हैं।

महाप्रलय के भयंकर उपसर्ग से तीन लोक की रक्षा करने में समर्थ—ऐसे महापुरुष भी जब क्षमा को धारण करते हैं, तो तू कदलि के पेड़ के समान अल्प सत्व वाला हो कर भी क्षमा नहीं करता, यह तेरी कैसी बुद्धि है ? यदि तुने पूर्व-जन्म में दुष्कृत्य नहीं किये होते, और शुभ कृत्यों के द्वारा पुण्य का संचय किया होता, तो तुझे आज दुःखी होने का अवसर ही नहीं आता—कोई भी तुझे दुःखी नहीं करता। इसलिए हे प्राणी ! तू अपने प्रमाद की आलोचना कर के क्षमा करने के लिए तत्पर हो जा। तू समझ ले कि क्रोध में अन्ध बने हुए मुनि और प्रचण्ड चाण्डाल में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए क्रोध का त्याग कर के शुभ एवं उज्ज्वल बुद्धि को ग्रहण कर। एक महर्षि क्रोधी थे, किंतु कुरगडु क्रोधी नहीं था, तो देवता ने ऋषि को नमस्कार नहीं किया, किंतु कुरगडु को नमस्कार किया और स्तुति की।

यदि कोई मर्म पीड़क वचन कहे, तो विचार करना चाहिए कि—यदि इसके वचन असत्य हैं, तो क्रोध करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसकी बात ही झूठी एवं पागल-प्रताप है। यदि उसकी बात सही है, तो उन दुर्गुणों को निकाल देना चाहिए। यदि कोई क्रोधित हो कर मारने के लिए आवे, तो हँसना चाहिए और मन में सोचना चाहिए कि—‘मेरा मरना तो मेरे कर्मों के आधीन है। यह मूर्ख व्यर्थ ही कारण बन रहा है।’ यदि कोई

प्राण रहित करने के लिए ही उद्यत हो जाय, तो सोचना चाहिए कि—‘मेरा आयुष्य ही पूरा होने आया होगा, इसलिए यह दुष्ट निर्भय हो कर पाप-कर्म बांध रहा है और मरे हुए को ही मार * रहा है ।

समस्त पुरुषार्थ का अपहरण करने वाले क्रोध रूपी चोर पर ही तुझे क्रोध नहीं आता, तो अल्प अपराध करने वाले ऐसे दूसरे निमित्त पर क्रोध कर के तू खुद धिक्कार का पात्र बन रहा है ।

जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे समस्त इन्द्रियों को क्षीण करने वाले और चारों ओर फैले हुए क्रोध रूपी विषधर को, क्षमा रूपी गारुडी मन्त्र के द्वारा जीत लेते हैं ।

मान-कषाय का स्वरूप

मान कषाय, विनय, श्रुत, शील तथा धर्म-अर्थ एवं मोक्ष रूप त्रिवर्ग का घात करने वाला है और प्राणियों के विवेक रूपी नेत्रों को बन्द कर देता है । जहाँ मान की प्रबलता होती है, वहाँ विवेक दृष्टि बन्द हो कर अन्धता आ जाती है । जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य, बल, रूपा, तप और श्रुत का भद करने वाला मानव, अभिमान के चलते ऐसे कर्मों का संचय कर लेता है कि जिससे उसे उसी प्रकार की हीनता प्राप्त होती है, जिसके कारण अभिमान किया ।

प्रत्यक्ष में जाति के ऊँच, नीच और मध्यम ऐसे अनेक भेद देख कर कौन बुद्धिमान जाति-भद को अपना कर अपने लिए भविष्य में नीच जाति प्राप्त करने वाले कर्मों का संचय करेगा ? जाति की हीनता अथवा उत्तमता कर्मों के फलस्वरूप मिलती है और जीव की जाति सदा एक नहीं रहती, किन्तु कर्मानुसार बदलती रहती है, फिर थोड़े दिनों के लिए ऊँच जाति पा कर कौन समझदार ऐसा होगा जो अशाश्वत और नाशवान् जाति का अहं-कार करेगा ?

लाभ जो होता है, वह अन्तराय कर्म के क्षय से होता है । बिना अन्तराय कर्म क्षय हुए लाभ नहीं हो सकता । जो पुरुष इस वस्तुतत्त्व को जान लेता है, वह तो लाभ का भद कभी नहीं करता । राज्याधिपति या सत्ताधारियों की प्रसन्नता और किसी प्रकार की

* क्योंकि उसका आयु-कर्म तो पूर्ण होने वाला है, प्रसलिए वह तो मरा हुआ है और मारने वाला उसे मार कर व्यर्थ ही पाप-भार से अपनी आत्मा को भारी बना रहा है ।

शक्ति आदि का विशेष लाभ पा कर भी महात्मा पुरुष मद नहीं करते ।

कई मनुष्य नीच कुल के हो कर भी बुद्धि, लक्ष्मी और शील से सुशोभित हैं । उन्हें देख कर उत्तम कुल वालों को कुल का मद नहीं करना चाहिए । (नीच कुल का अर्थ है—हीनाचार प्रधान वर्ग । जिसे लोग नीच कुल का कहते हैं, उनमें से भी कई उत्तम आचार का पालन करते हैं, तब उत्तम कुल के लिए मद करने का अवकाश ही कहाँ रहा ?) और जिस मनुष्य ने उत्तम कुल में जन्म ले लिया, परन्तु उत्तम आचार का पालन नहीं कर के दुराचार का सेवन करता है, तो उसके लिए उत्तम कुल में जन्म होने मात्र से क्या लाभ हुआ ? (वह खुद तो दुराचार के कारण नीच बन चुका, उसके लिए कुल का मद, लज्जा की बात है) और जो स्वयं ही सुशील एवं सदाचारी है, उसे कुल की अपेक्षा ही क्या ? वह तो अपने सदाचार के कारण आप ही उच्च है । इस प्रकार प्रशस्त विचार से कुल-मद का निवारण करना चाहिए ।

अपने सामान्य धन के कारण मद करने वाला मनुष्य यह नहीं सोचता कि मेरे पास कितना धन है ? स्वर्ग के अधिपति वज्रधारी इन्द्र के यहाँ रहे हुए त्रिभुवन के ऐश्वर्य के आगे मनुष्य का धन किस गिनती में है ? किसी नगर, ग्राम और धन आदि का मद करना क्षुद्रता ही तो है ? सम्पत्ति कुलटा स्त्री के समान है । वह कभी उत्तम गुणवान् पुरुष के पस से निकल कर दुर्गुणी—दुराचारी के पास भी चली जाती है और वहाँ रह जाती है । इसलिए जो विवेकशील हैं, उन्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति से मद कभी नहीं होता ।

बलवान् योद्धा को भी जब रोग लग जाता है, तो वह निर्बल हो जाता है । इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि बलवान् व्यक्ति भी रोग, जरा, मृत्यु और कर्म-फल के सामने निर्बल ही है । बल अतित्य एवं अस्थायी है । ऐसे नाशवान् शारीरिक बल का मद करना भी अविवेकी और अनसमझ का काम है ।

सात घृणित धातुओं से बने हुए शरीर में हानि और वृद्धि होती रहती है । पुद्गल मय शरीर हानि-वृद्धि धर्म से युक्त है । जरा और रोग से शरीर का पराभव होना भी प्रत्यक्ष है । जो आज सुन्दर दिखाई देता है, वह रोग-जरा आदि से असुन्दर—कुरूप भी हो जाता है । इस प्रकार विद्रूप बनने वाले रूप का मद कौन बुद्धिमान करेगा ? भविष्य में सन कुमार नाम के एक चक्रवर्ती होंगे । वे मनुष्यों में बड़े सुन्दर रूप वाले माने जावेंगे । किन्तु उनके उस रूप का क्षण मात्र में परिवर्तन हो जायगा । इस प्रकार सुन्दर रूप की विडम्बना सुन कर, रूप का मद नहीं करना चाहिए ।

भूतकाल में प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेवजी ने घोर तप किया था और भविष्य में चरम तीर्थाधिपति श्री वीरप्रभु घोर तप करेंगे। उनके तप की उग्रता को जानने वाले को अपने मामूली तप का मद नहीं करना चाहिये। मद-रहित विशुद्ध भाव से तप करने से कर्म टूटते हैं। किंतु तप का मद करने से तो उल्टा कर्म का विशेष संचय और वृद्धि ही होती है।

पूर्व के महापुरुषों ने अपने बुद्धि-बल से जिन शास्त्रों की रचना की, उन्हें पढ़ कर जो "मैं सर्वज्ञ हूँ"—इस प्रकार मद करता है, वह तो अपने अंग को ही खाता है*। श्री गणधरों की शास्त्र निर्माण और धारण करने की शक्ति को सुन कर ऐसा कौन श्रवण (कान) और हृदय वाला मनुष्य है, जो अपने किंचित् शास्त्र का मद करे ?

दोष रूपी शाखाओं का विस्तार करने वाले और गुणरूपी मूल को नीचे दवाने वाले—ऐसे मान रूपी वृक्ष को मृदुता रूपी नदी की वेगदार बाढ़ से उखेड़ कर फेंक देना चाहिए। उद्धतता (अवखड़पन) का निषेध, मृदुता अथवा मार्दवता का स्वरूप है और उद्धतता, मान का स्पष्ट स्वरूप है।

जिस समय जाति आदि का उद्धतपन मन में आने लगे, उस समय उसे हटाने के लिए मृदुता का अवलम्बन लेना चाहिए और मृदुता को सर्वत्र बनाए रखना चाहिए, उसमें भी जो पूज्य वर्ग है, उनके प्रति विशेष रूप से मृदुता रहनी चाहिए, क्योंकि पूज्य की पूजा से पाप से मुक्ति होती है। मान के कारण ही बाहुबलिजी, पाप रूपी लता से बन्ध गये थे। वे मृदुता का अवलम्बन करके पाप से मुक्त भी हो गये और केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। चक्रवर्ती महाराजाधिराज भी चारित्र्य ले कर और निःसंग हो कर, शत्रुओं के घर भिक्षा मांगने जाते हैं। मान को मूल से उखाड़ फेंकने की उनकी कैंसी कठोर मृदुता है ? चक्रवर्ती सम्राट जैसे भी मान का त्याग कर तत्काल के दीक्षित एक रंक साधु को नमन करते हैं और चिरकाल तक उसकी सेवा करते हैं। इस प्रकार मान और उसे दूर करने के विषय को समझ कर, मान को हृदय से निकालने के लिए सदैव मृदुता को धारण करना चाहिए। इसी में बुद्धिमानी है।

माया-कषाय का स्वरूप

माया, असत्य की माता है। शील (सदाचार) रूपी कल्पवृक्ष को काटने वाली कुल्हाड़ी है और अविद्या की आधार-भूमि है। यह दुर्गति में ले जाने वाली है। कुटिलता

* गणधर महाराज, मात्र त्रिपदी सुन कर ही समस्त श्रुत-सागर के पारगामी हो जाते हैं।

में चतुर और कापट्ययुक्त बकवृत्ति वाले पापी मनुष्य, जगत् को ठगने के लिये माया का सेवन करते हैं। किन्तु वे स्वयं अपनी आत्मा को ही ठगते हैं।

राज्यकर्त्ता, अर्थ-लोभ के लिए खोटे षड्गुण+ के योग से, छल-प्रपञ्च और विश्वासघात कर के संसार को ठगते हैं। ब्राह्मण वर्ग, अन्तर से सद्गुण शून्य किन्तु ऊपर से गुणवान् होने का ढोंग कर के और तिलक-मूद्रा, मन्त्र और दीनता बता कर ठगाई करता है। वंश्य वर्ग तो माया का भाजन बन गया है। वह खोटे तोल-नाप से और राज्य-कर की चोरी आदि से लोगों को ठगता है। पाखण्डी और नास्तिक लोक जटा, मौंजी, शिखा, भस्म, वल्कल और अग्नि (धुनी) आदि धारण कर के श्रद्धालु मुग्धजनों को ठगते हैं×। गणिकाएँ, बिना स्नेह के ही हाव-भाव दिखा कर, लीला, गति और कटाक्ष के द्वारा कामी-जनों को मुग्ध कर के ठगती है। धूर्त लोग और जिनकी आजीविका सुखपूर्वक नहीं चलती ऐसे लोग, झूठी शपथ खा कर और खोटे तथा जाली सिक्के से धनवानों को ठगते हैं। स्त्रीपुरुष, पिता-पुत्र, भाई-भाई, मित्र, स्वामी, सेवक और अन्य सभी लोग, एक दूसरे को माया के द्वारा ठगते रहते हैं।

चोर लोग, धन के लिए दिन-रात चौकन्ने रह कर, असावधान लोगों को निर्दयता पूर्वक लूटते हैं। शिल्पी और किसी भी प्रकार की कला के सहारे से आजीविका करने वाले, सीधे और सरल जीवों को भी ठगते रहते हैं।

व्यन्तर जैसी हलकी योनि के क्रूर देव, अनेक प्रकार के छल कर के प्रायः प्रमादी पुरुषों तथा पशुओं को दुःखी करते हैं। मत्स्यादि जलचर जीव भी छल से अपने बच्चों का ही भक्षण कर लेते हैं। घीवर लोग, उन्हें छलपूर्वक अपनी जाल में फँसा लेते हैं और उनका प्राण हरण कर लेते हैं। शिकारी लोग, अनेक प्रकार के छल से थलचर पशुओं को मार डालते हैं। मांस-लोलुप जीव, लावक आदि कितने ही प्रकार के पक्षियों को पकड़ कर मार डालते हैं और खा जाते हैं।

इस प्रकार मायाचारी जीव, मायाचार से अपनी आत्मा को ही ठग कर स्वधर्म और सद्गति का नाश करते हैं। यह माया, त्रियञ्च जाति में उत्पन्न होने का बीज, मोक्षपुरी

+ १ संधि २ विग्रह ३ यान ४ आसन ५ द्विधाभाव और ६ समाश्रय—ये राज्यनीति के षड्गुण हैं।

● मुंज की रस्सी का कंदोरा।

× इसी प्रकार ढोंगी साधु भी सुसाधु का स्वांग धर कर ठगते हैं। जो जिस रूप में अपने को प्रसिद्ध करता है, वह उसके विपरीत आचरण करे, तो ठग ही है।

के द्वार को दृढ़ता से बन्द करने वाली अर्गला और विश्वास रूपी वृक्ष के लिए दावानल के समान है। विद्वानों के लिए यह त्याग करने योग्य है।

भविष्य में होने वाले मल्लिनाथ तीर्थङ्कर, पूर्व-भव की सूक्ष्म माया के शल्य के कारण स्त्री-भाव को प्राप्त होंगे। इसलिए जगत् का द्रोह करने वाली माया रूपी नागिन को सरलता रूपी औषधी से जीत लेना चाहिए। इससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

सरलता, मुक्तिपुरी का सरल एवं सीधा मार्ग है। इसके अतिरिक्त तप, दान आदि लक्षण वाला जो मार्ग है, वह तो अवशेष मार्ग है—सरलता रूपी घड़ी-मार्ग के साथ रहने वाले हैं। जो सरलता का सेवन करते हैं, वे लोक में भी प्रीति-पात्र बनते हैं और जो मायाचारी कुटिल पुरुष हैं, उनसे तो सभी लोग डरते हैं। जिनकी मनोवृत्ति सरल है, उन महात्माओं को भव-वास में रहते हुए भी स्वतः के अनुभव में आवे—ऐसा अकृत्रिम मुक्ति-सुख मिलता है ?

जिनके मन में कुटिलता रूपी काँटा (खीला) खटक कर क्लेश किया करता है और जो दूसरों को हानि पहुँचाने में ही तत्पर रहते हैं, उन वञ्चक पुरुषों को सुख-शान्ति कहाँ से मिलेगी ?

सभी विद्याएँ प्राप्त करने पर और सभी कलाओं की उपलब्धि होने पर भी, बालक जैसी सरलता तो किसी विरले भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होती है। अज्ञ होते हुए भी बालकों की सरलता सभी के मन में प्रीति उत्पन्न करती है, तो जिस भव्यात्मा का चित्त सभी शास्त्रों के अर्थ में आसक्त है, उनकी सरलता जन-मन में प्रीति उत्पन्न करे, उसमें तो आश्चर्य ही क्या है ?

सरलता स्वाभाविक होती है और कुटिलता में कृत्रिमता होती है। इसलिए स्वभावधर्म को छोड़ कर कृत्रिम (बनावटी) धर्म को कौन ग्रहण करेगा ?

संसार में प्रायः सभी जन छल, पिशुनता, वक्रोक्ति और पर-वञ्चन में तत्पर रहते हैं। ऐसे लोक-समूह में रहते हुए भी शुद्ध स्वर्ण के समान निर्मल एवं निर्विकार करने वाला तो कोई धन्य पुरुष ही होगा।

जितने भी गणधर होते हैं, वे सभी श्रुत-समुद्र के पारगामी होते हैं, तथापि वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् की वाणी को सरलतापूर्वक सुनते हैं।

जो सरलतापूर्वक अपने दोषों की आलोचना करते हैं, वे सभी प्रकार के दुष्कर्मों का क्षय कर देते हैं और जो कुटिलतापूर्वक आलोचना करते हैं, वे अपने छोटे दुष्कर्म को

भी मायाचार के कारण बढ़ा कर बढ़ा कर देते । जो मन से भी कुटिल हैं और वचन तथा काया से भी कुटिल हैं, उस जीव की मुक्ति नहीं हो सकती । मुक्त वे ही होते हैं, जो मन, वचन और काया से सरल हो ।

इस प्रकार मायाचारी कुटिल मनुष्यों को प्राप्त होने वाली उग्र कर्मों की कुटिलता का विचार कर के जो बुद्धिमान् हैं, वे तो मुक्ति प्राप्त करने के लिए सरलता का ही आश्रय लेते हैं ।

लोभ-कषाय का स्वरूप

लोभ, समस्त दोषों की खान है, गुणों को भक्षण करने वाला राक्षस है । यह व्यसन रूपी लता का मूल है और सभी प्रकार के अर्थ की प्राप्ति में बाधक होने वाला है । निर्धन व्यक्ति, सौ सिक्कों का लोभी है, तो सौ वाला हजार चाहता है । हजार वाला लाख, लक्ष-पति, कोट्याधिपति होना चाहता है, तो कोट्याधिपति, राज्याधिपति होने की आकांक्षा रखता है और राज्याधिपति चक्रवर्ती सम्राट बनने का लोभ करता है । चक्रवर्ती हो जाने पर भी लोभ नहीं रुकता । फिर वह देव और देव से बढ़ कर देवेन्द्र बनने की तृष्णा रखता है । इन्द्र हो जाने पर भी इच्छा की पूर्ति नहीं होती । लोभ की संतति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है ।

जिस प्रकार समस्त पापों में हिंसा, समस्त कर्मों में मिथ्यात्व और सभी रोगों में राज्यक्षमा (क्षय) बड़े हैं, उसी प्रकार सभी कषायों में लोभ-कषाय बड़ी है । इस पृथ्वी पर लोभ का एक छत्र साम्राज्य है । यहाँ तक कि जिस वृक्ष के नीचे धन होता है, उस धन को वृक्ष की जड़ें आदि लिपट कर आच्छादित कर देती है (ढक देती है) धन के लोभ से बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोरीन्द्रिय प्राणी, अपने पूर्व-भव में जमीन में गाड़े हुए धन पर मूर्च्छित हो कर बैठते हैं । साँप और छिपकली जैसे पंचेन्द्रिय जीव भी लोभ से, अपने पूर्व-भव के अथवा दूसरे के रखे हुए धन वाली भूमि पर आ कर लीन हो जाते हैं ।

पिशाच, मुद्गल (व्यस्तर विशेष) भूत, प्रेत और यक्षादि देव भी लोभ के वश हो कर अपने या दूसरों के निधान (पृथ्वी में डटे हुए धन) पर स्थान जमा कर अधिकार करते हैं । आभूषण उद्यान और वापिकादि जलाशयों में मूर्च्छित देव भी वहाँ से व्यव कश् पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतीकाय में उत्पन्न होते हैं । जो मुनि महात्मा, क्रोधादि कषाय पर विजय पा कर “उपशान्त-मोह” नाम के ग्यारहवें गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाते

हैं, वे भी एक लोभ के अंश मात्र से पतित हो जाते हैं * । थोड़े से धन के लोभ से दो सहोदर भाई, कुत्ते के समान आपस में लड़ते हैं । ग्राम्यजन, अधिकारी वर्ग और राजा, खेत गाँव और राज्य की सीमा के लोभ से पारस्परिक सौहार्द भाव को छोड़ कर एक दूसरे से वैर रखते हैं ।

लोभी मनुष्य, नाटक करने में भी बड़े ही कुशल होते हैं । स्वामी या अधिकारी को प्रसन्न करने के लिए, मन में हर्ष, शोक, द्वेष एवं हास्य का कारण नहीं होने पर भी, उनके सामने नट के समान हर्ष-शोकादि बतलाते हैं ।

दूसरे खड्डे तो पूरने से भर जाते हैं, किन्तु लोभ का खड्डा इतना गहरा और विचित्र है कि इसे जितना भरा जाय, उतना ही अधिक गहरा होता जाता है । ऊपर से समुद्र में जल डालने से वह परिपूर्ण नहीं होता । यदि देवयोग या अन्य कारण से समुद्र भी परिपूर्ण रूप से भर जाय, किन्तु लोभ रूपी महासागर तो ऐसा है कि तीन लोक का राज्य मिल जाय, तो भी पूरा नहीं होता । क्या इस जीव ने कभी भोजन नहीं किया ? बढ़िया वस्त्र नहीं पहने ? विषयों का सेवन नहीं किया और धन-सम्पत्ति का संचय नहीं किया ? किया, अनन्त बार किया, किन्तु लोभ का अंश कम नहीं किया । वह तो बढ़ता ही रहा । यदि लोभ का त्याग कर दिया, तो फिर तप करने की आवश्यकता नहीं रहती (क्योंकि लोभ का त्याग कर देने वाला तो स्वयं पवित्र आत्मा है । उसकी मुक्ति तो होती ही है) और जिसने लोभ का त्याग नहीं किया, तो उसे भी तप करने की आवश्यकता नहीं (क्योंकि उसका तप भी तृष्णा की पूर्ति के लिए ही होता है । उस तप से निदानादि द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि जिसके कारण भविष्य में वह नरकादि दुःखों का निर्माण कर लेता है) ।

समस्त शास्त्रों का सार यही है कि—“बुद्धिमान् मनुष्य, लोभ को त्यागने का ही प्रयत्न करे ।” जिसके हृदय में सुमति का निवास होता है, वह लोभ रूपी महासागर की चारों ओर फैलती हुई प्रचण्ड तरंगों पर, संतोष का सेतु बाँध कर रोक देता है । जिस प्रकार मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त गुणों में सन्तोष महान् गुण है ।

सन्तोषी मुनि और असन्तोषी चक्रवर्ती के सुख-दुःख की तुलना की जाय, तो दोनों

* ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति पूर्ण होते ही दबे हुए मोह में से सब से पहले सूक्ष्म लोभ का उदय होता है ।

के सुख-दुःख का उत्कर्ष समान होता है, अर्थात् सन्तोषी मुनिवर जितने अंशों में सुखी है, उतने ही अंशों में असन्तोषी चक्रवर्ती दुःखी है। इसलिए चक्रवर्ती सम्राट भी अपने राज्य का त्याग कर के तृष्णा का त्याग करते हैं और निःसंगता के द्वारा सन्तोष रूपी अमृत को प्राप्त करते हैं।

जिस प्रकार कानों को बन्द किया जाता है, तो भीतर से शब्दाद्वैत अपने आप बढ़ता है, उसी प्रकार जब धन की इच्छा का त्याग किया जाता है, तब सम्पत्ति अपने आप आकर उपस्थित होती है। जिस प्रकार आँखें बन्द कर लेने से सारा विश्व ढक जाता है (दिखाई नहीं देता) उसी प्रकार एक सन्तोष को ही धारण कर लिया जाय, तो प्रत्येक वस्तु में विरक्ति आ जाती है। फिर इन्द्रिय-दमन और काय-क्लेश तप की क्या आवश्यकता रहती है? मात्र सन्तोष धारण कर लिया जाय, तो ऐसे महापुरुष की ओर मोक्ष-लक्ष्मी अपने आप आकर्षित होती है। जो भव्यात्मा सन्तोष के द्वारा तुष्ट हैं और मुक्ति जैसा सुख भोगते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मुक्त हैं।

राग-द्वेष से युक्त और विषयों से उत्पन्न हुआ सुख किस काम का? मुक्ति तो सन्तोष से उत्पन्न सुख से ही मिल सकती है। उन शास्त्रों के वे सुभाषित किस काम के जो दूसरों को तृप्त करने का विधान करते हैं। जिनकी इन्द्रियाँ मलिन हैं, जो विषयों को मन में बसाये हुए हैं, उन्हें मन को स्वच्छ कर के सन्तोष के स्वाद से उत्पन्न सुख की ही खोज करनी चाहिए।

हे प्राणी ! यदि तेरा यह विश्वास हो कि “जो कार्य होते हैं, वे कारण के अनुसार ही होते हैं,” इस प्रकार सन्तोष के आनन्द से ही मोक्ष के अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त की भी मान्यता करनी चाहिए।

जो उग्र तप, कर्म को निर्मूल करने में समर्थ है, वही तप यदि सन्तोष से रहित हो, तो निष्फल जाता है। सन्तोषी आत्मा को न तो कृषि करने की आवश्यकता रहती है, न नौकरी, पशु-पालन और व्यापार करने की ही जरूरत है। क्योंकि सन्तोषामृत का पान करने से उसकी आत्मा निवृत्ति के महान् सुख को प्राप्त कर लेती है। सन्तोषामृत का पान करने वाले मुनियों को तृण पर सोते हुए भी जो आनन्द आता है, वह रुई के बड़े-बड़े गद्दों पर सोने वाले असन्तोषी धनवान् को नहीं होता। असन्तोषी धनवान्, सन्तोषी समर्थ पुरुषों के आगे तृण के समान लगते हैं। चक्रवर्ती और इन्द्रादि की ऋद्धि तो प्रयासजन्य और नश्वर है, परन्तु सन्तोष से प्राप्त हुआ सुख, अनायास और नित्य होता है। इसलिए बुद्धि-

मान् पुरुषों का कर्त्तव्य है कि समस्त दोष के स्थान रूप लोभ को दूर करने के लिए अद्वैत सुख के धाम रूप सन्तोष का आश्रय करना चाहिए ।

इस प्रकार कषायों को जीतने वाली आत्मा, इस भव में भी मोक्ष-सुख का आनन्द लेती है और परलोक में अवश्य ही अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लेती है ।”

प्रभु की धर्मदेशना सुन कर बहुतों ने दीक्षा ली । बलदेव आदि बहुत-से व्रतधारी श्रावक हुए और वासुदेव आदि सम्प्रगृह्णित बने । केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद दो वर्ष कम ढाई लाख वर्ष तक तीर्थंकर देवाधिदेवपने विचरते रहे । उनके ६४००० साधु, ६२४०० साध्वियाँ, ९०० चौदह पूर्वधर, ३६०० अवधिज्ञानी, ४५०० मनःपर्यवज्ञानी, ४५०० केवल-ज्ञानी, ७००० वैक्रिय-लब्धि वाले, २८०० वाद-लब्धि वाले, २४०००० श्रावक और ४१३००० श्राविकाएँ हुई । मोक्ष समय निकट आने पर भगवान् सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और १०८ मुनियों के साथ अनशन किया । ज्येष्ठ-शुक्ला पंचमी को पुण्य-नक्षत्र में एक मास का अनशन पूर्ण कर उन मुनियों के साथ भगवान् मोक्ष पधारे ।

भगवान् कुमार अवस्था में ढाई लाख, राज्य संचालन में पाँच लाख और चारित्र्य अवस्था में ढाई लाख, यों कुल दस लाख वर्ष का आयु भोग कर मोक्ष प्राप्त हुए ।

पाँचवें पुरुषसिंह वासुदेव भी महान् कूर-कर्म करते हुए आयु पूर्ण कर के छठे नरक में गए । सुदर्शन, बलदेव ने भ्रातृ-वियोग से दुःखी हो कर संयम स्वीकार किया और विशुद्ध आराधना से समस्त कर्मों का क्षय कर के मोक्ष पधारे ।

पन्द्रहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ धर्मनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

चक्रवर्ती मधवा

भगवान् श्री वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में, भरत-क्षेत्र के महिमंडल नामक नगर में नरपति नामक राजा राज करता था। वह सदाचारी, न्यायी और अनाथों का नाथ था। वह किसी भी जीव का अनिष्ट नहीं करता था और सभी का उचित रीति से पालन करता था। वह महानुभाव अर्थ और काम-पुरुषार्थ में अरुचि रखता हुआ धर्म-पुरुषार्थ का सेवन करने वाला था। वह देव-गुरु और धर्म की आराधना करने में तत्पर रहता था। धर्म-भावना में विशेष वृद्धि होने पर नरेश ने संसार त्याग कर सर्व-संयम स्वीकार कर लिया और चिरकाल तक उत्तम रीति से आराधना कर के मृत्यु पा कर मध्य ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ।

इसी भरत-क्षेत्र में श्रावस्ती नाम की एक श्रेष्ठ नगरी थी। 'समुद्रविजय' नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह प्रतापी, विजयी और सदाचारी था। 'भद्रा' नाम की मुलक्षणी एवं उत्तम शील-सम्पन्न महारानी थी। नरपति मुनिराज का जीव ग्रैवेयक की अपनी आयु पूर्ण कर के महारानी भद्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महा-स्वप्न देखे। जन्म होने पर मधवा (इन्द्र) के समान पराक्रम वाले लक्षण देख कर पिता ने पुत्र का 'मधवा' नाम रखा। वय प्राप्त होने पर राजकुमार महान् योद्धा एवं पराक्रमवान् हुआ। महाराजा समुद्रविजय के बाद वह राज्य का संचालन करने लगा। कालान्तर में राज्य के शस्त्रागार में 'चक्ररत्न' प्रकट हुआ, तथा अनुक्रम से 'पुरोहित रत्न' आदि चक्रवर्ती महाराजा के योग्य सभी रत्न अपने-अपने स्थान पर उत्पन्न हुए और सभी नरेश के अनुशासन में आ गये। इसके बाद चक्ररत्न आयुधशाला में से निकल कर चलने लगा। उसके पीछे महाराजा मधवा भी चलने लगे। उन्होंने पूर्व के भरत और सगर चक्रवर्ती के समान छद्म खंड का विजय किया और राज्याभिषेक कर के 'तीसरे चक्रवर्ती महाराजाधिराज' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

चक्रवर्ती सम्राट के सामने मनुष्य सम्बन्धी सभी प्रकार की देवोपम उत्कृष्ट भोग-सामग्री विद्यमान थी, किन्तु आप भोग में अत्यंत लुब्ध नहीं हुए और धर्म-भावना वृद्धिगत करते रहे। अंत में राज्य-सम्पदा और सभी प्रकार के काम-भोगों का त्याग कर के आपने श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया और चारित्र्य का पालन करते हुए समस्त कर्मों को क्षय कर के मोक्षगामी हुए १।

१ ग्रंथकार लिखते हैं कि ये तीसरे देवलोक में गये। पू० श्री घासीलालजी म. सा. भी उत्तराध्ययन की अपनी टीका—भाग ३ पृ. १८० में ऐसा ही उल्लेख करते हैं, परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र अ०

मघवा चक्रवर्ती २५००० वर्ष कुमारवय में, २५००० मांडलिक नरेश, १०००० दिग्विजय में, ३९०००० वर्ष चक्रवर्ती पद में और ५०००० वर्ष संयम साधना में, इस प्रकार ५००००० वर्ष का कुल आयु भोग कर मुक्त हुए ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार

कांचनपुरी नाम की एक अत्यंत समृद्ध और विशाल नगरी थी । 'विक्रम यश' नाम का महाप्रतापी राजा वहाँ राज करता था । वह महाप्रतापी था । अनेक राजा उसके आधीन थे । उसके अंतःपुर में ५०० रानियाँ थी । उस नगरी में नागदत्त नाम का ऋद्धि-सम्पन्न सार्धवाह था । 'विष्णुश्री' उसकी अत्यंत सुन्दर पत्नी थी । दम्पति में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था । वे सारस पक्षी के समान निरन्तर रसिकतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे । संयोगवशात् विष्णुश्री पर राजा की दृष्टि पड़ी । उसे देखते ही राजा मोहित हो गया । उसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई । उसने विष्णुश्री का हरण कर के अपने अंतःपुर में मँगवा लिया और उसके साथ अत्यंत गृद्ध हो कर भोग भोगने लगा । पत्नी का हरण होने पर नागदत्त विक्षिप्त हो गया । वह प्रेतग्रस्त व्यक्ति के समान सुध-बुध भूल कर भटकने लगा । उधर विष्णुश्री में ही लुब्ध हो जाने के कारण राजा की अन्य रानियों में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई । उन्होंने औषध या मन्त्र-प्रयोग से विष्णुश्री को अपने मार्ग से हटाने का प्रयत्न किया । विष्णुश्री का स्वास्थ्य बिगड़ा । वह रोग-ग्रस्त हो गई और अन्त में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई । उसके मरने से राजा को भी गम्भीर आघात लगा और वह भी विक्षिप्त हो गया । उसकी दशा भी नागदत्त जैसी हो गई । राजा उसकी मृत-देह को छोड़ता ही नहीं था । मन्त्रियों ने भुलावा दे कर विष्णुश्री के शव को बन में डलवा दिया । राजा विक्षिप्त के समान इधर-उधर भटकने लगा । अन्न-पानी लिये उसे तीन दिन हो गए । मन्त्री-मण्डल चिन्तित हो उठा । राजा को विष्णुश्री का बन में पड़ा हुआ क्षत-विक्षत शव बताया गया । उस सुन्दर देह की ऐसी दुर्दशा देख कर राजा विचार-मग्न हो गया । सुन्दरता में छुपी हुई वीभत्सता उसके आगे प्रत्यक्ष हो रही थी । राजा विरक्त हो गया और राज्यादि का त्याग कर, श्री सुव्रताचार्य के समीप जा कर प्रव्रजित हो गया । वह राजर्षि चारित्र्य ग्रहण कर के

१८ का अभिप्राय मोक्ष प्राप्ति का लगता है । इस विषय का स्पष्टीकरण आगे सनत्कुमार चक्रवर्ती के प्रकरण में किया जायगा ।

अपनी देह के प्रति भी उदासीन हो गया। उसे अपने शरीर में भी वैसी ही वीभत्सता लग रही थी। वह मासक्षमणादि लम्बी तपस्या कर के शरीर और कर्मों का शोषण करने लगा। आयु पूर्ण होने पर वह सनत्कुमार देवलोक में देवता हुआ। देवायु पूर्ण होने पर रत्नपुर नगर में “जिनधर्म” नाम का श्रेष्ठि-पुत्र हुआ। वह बचपन से ही धर्मानुरागी था और वारह प्रकार के श्रावक-धर्म का पालन करने लगा था। वह सार्धमियों की सेवा भी उत्साहपूर्वक करता था।

नागदत्त सार्धवाह, पत्नी-वियोग से दुःखी हो कर और आर्तध्यानयुक्त मृत्यु पा कर तिर्यच-योनि में भ्रमण करने लगा। चिरकाल तक जन्म-मरण करते हुए सिंहपुर नगर में एक ब्राह्मण के घर जन्म लिया। उसका नाम “अग्निशर्मा” था। वह त्रिदण्डी सन्यासी बन कर अज्ञान तप करने लगा। इधर-उधर भ्रमण करता हुआ वह रत्नपुर नगर में आया। वहाँ हरिवाहन नामक अन्यधर्मी राजा था। राजा ने अग्निशर्मा त्रिदण्डी तापस को अपने यहाँ पारणा करने का निमन्त्रण दिया। अग्निशर्मा राजभवन में आया। उसने वहाँ अचानक श्रेष्ठिपुत्र जिनधर्म को देखा। देखते ही सत्ता में रहा हुआ पूर्वजन्म का वैर जाग्रत हुआ। उसने राजा से कहा—

“राजन् ! यदि आप मुझे पारणा कराना चाहते हैं, तो इस सेठ की पीठ पर गरमागरम खीर का पात्र रख कर भोजन करावें। ऐसा करने पर ही मैं भोजन करूँगा, अन्यथा बिना पारणा किये ही लौट जाऊँगा।”

राजा, अग्निशर्मा का पूरा भक्त बन गया था। उसने अग्निशर्मा की बात स्वीकार कर ली। राजाज्ञा के अनुसार जिनधर्म ने अपनी पीठ झुका दी। उसकी पीठ पर अति उष्ण ऐसा पात्र रख कर, तापस भोजन करने लगा। जिनधर्म को इससे वेदना हुई, किन्तु वह शांत-भाव से अपने अशुभ कर्म के विपाक का परिणाम मान कर सहन करता रहा। तापस का भोजन पूरा हुआ, तब तक वह खीर-पात्र जिनधर्म सेठ के रक्त और मांस से लिप्त हो गया था। जिनधर्म ने घर आ कर अपने सभी सम्बन्धियों को खमाया और गृह त्याग कर मुनि के पास संयम स्वीकार किया। उसने एक पर्वत के शिखर पर जा कर पूर्व-दिशा की ओर अपनी पीठ को खुली रख कर कायोत्सर्ग किया। पीठ पर खुले हुए मांस को देख कर गिद्धादि पक्षी आकर्षित हुए और अपनी चोंच से मांस नोच-नोच कर खाने लगे। इस असह्य वेदना को शांतिपूर्वक सहन करते हुए और धर्म-ध्यान में लीन रहते हुए आयु पूर्ण कर के जिनधर्म मुनिजी, सौधर्मकल्प में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। वह अग्निशर्मा अज्ञान तप

करता हुआ, आयु पूर्ण कर, उसी देवलोक में आभियोगिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ और हाथी के रूप में उस इन्द्र की सवारी के काम में आने लगा। वहाँ का आयु पूर्ण कर अग्नि-शर्मा का जीव, जन्म-मरण करता हुआ असित नामक यक्ष हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहाँ अश्व की विशाल सेना से पृथ्वी को प्रभावित करने वाला व शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला 'अश्वसेन' नाम का राजा था। वह सदाचारी, सद्गुणी और ऋद्धि-सम्पन्न था। याचकों के मनोरथ पूर्ण करने में वह तत्पर रहता था। उसके सहदेवी नाम की महारानी थी। रूप एवं लावण्य में वह स्वर्ग की देवी के समान थी। जिनधर्म का जीव, प्रथम स्वर्ग की इन्द्र सम्बन्धी ऋद्धि भोग कर, आयु पूर्ण होने पर महारानी सहदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक स्वर्ण-सी कांति वाला एवं अनुपम रूप-सम्पन्न पुत्र का जन्म हुआ। उस बालक का 'सनत्कुमार' नाम दिया गया। वह बिना विशेष प्रयत्न के ही समस्त विद्याओं और कलाओं में पारंगत हो गया। अनुक्रम से वह यौवन वय को प्राप्त हुआ।

सनत्कुमार के महेन्द्रसिंह नाम का एक मित्र था। वह योद्धा, बलवान् और अपने विशिष्ट पराक्रम से विख्यात था। सनत्कुमार अपने मित्र महेन्द्रसिंह और अन्य कुमारों के साथ मकरन्द नामक उद्यान में क्रीड़ा करने गया। वहाँ उसे कुछ घोड़े दिखाई दिये। किसी राजा ने ये उत्तम घोड़े महाराज अश्वसेन को भेंट के रूप में भेजे थे। वे घोड़े पंचधारा में चतुर और उत्तम लक्षण वाले थे। सनत्कुमार ने उन घोड़ों का अवलोकन किया। उनमें से 'जलधिकल्लोल' नाम का एक घोड़ा, जल-तरंग के समान चपल और सभी अश्वों में उत्तम था। सनत्कुमार को उस अश्व ने आकर्षित कर लिया। वह उसी समय उसकी लगाम पकड़ कर, उस पर सवार हो गया। उसके सवार होते ही घोड़ा एकदम भागा और आकाश में उड़ रहा हो—इस प्रकार शीघ्र-गति से दौड़ा। राजकुमार लगाम खिच कर अश्व को रोकने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु ज्यों-ज्यों लगाम खिचता, त्यों-त्यों अश्व की गति विशेष तीव्र बनती। सनत्कुमार के साथ महेन्द्रसिंह और अन्य राजकुमार भी घोड़ों पर सवार हो कर चले थे। किन्तु सभी साथी पीछे रह गए और सनत्कुमार उन सभी की आँखों से ओझल हो गया। सनत्कुमार का एकाकी अदृश्य होना सुन कर महाराज अश्वसेन चिन्तित हुए और स्वयं सेनाले कर खोज करने निकल गए। वे घोड़े के चरण-चिन्ह और मुँह में से झरते हुए फेन (झाग) का अनुसरण करते हुए खोज करने लगे। अचानक आँधी

चली और धूल उड़ी। खोज करने वालों का आगे बढ़ना रुक गया। उनकी आँखें धूल उड़ कर गिरने के कारण बन्द हो गई थी। जब आँधी थमी और धूल उड़नी बन्द हुई, तो उन्होंने देखा कि घोड़े के पाँवों के चिन्ह मिट चुके थे। उड़ी हुई धूल ने सभी चिन्ह मिटा दिये। अब उनकी खोज का मार्ग विशेष कठिन हो गया। सभी इधर-उधर बिखर कर खोज करने लगे। महेन्द्रसिंह ने महाराजा अश्वसेन को समझा कर लौटा दिया और स्वयं खोज करने के लिए आगे बढ़ा। उसमें मित्र की खोजने की एक-मात्र धुन थी। अन्य खोज करने वाले तो इधर-उधर भटक कर लौट गए, किन्तु महेन्द्रसिंह आगे बढ़ता ही गया। भूख लगती, तो वृक्षों के फल खा लेता, पानी पी लेता, कहीं कुछ विश्राम करता और आगे बढ़ता। वह आस-पास की झाड़ी, गुफाएँ, टेकरे, वनवासियों के झोंपड़े आदि में खोज करता और विशाल वृक्षों पर चढ़ कर इधर-उधर देखता हुआ आगे बढ़ने लगा। सघन अटवी में भयानक हिंस्र-पशुओं से बचना और आक्रमणकारी पशुओं को खदेड़ता हुआ, वह आगे बढ़ता ही रहा। उसे न गर्मी का भय रोक सका, न सर्दी का। वह सभी प्रकार के कष्टों को सहता हुआ मित्र की खोज निकालने की ही धुन लिए भटकने लगा। उसकी दशा बिगड़ गई। काँटों और कंकरो ने पाँवों में छेद कर दिये, चलना दुभर हो गया, कपड़े फट गये, बाल बढ़ गए, फिर भी वह चलता ही रहा। इस प्रकार भटकते हुए उसे एक वर्ष बीत गया।

एक बार वह एक वन में भटक रहा था कि उसे हंस, सारस आदि पक्षियों का स्वर सुनाई दिया, कमल के पुष्पों की गंध आने लगी और उसके मन में भी प्रसन्नता उत्पन्न होने लगी और साथ ही मित्र के शीघ्र मिलने की आशा जोर पकड़ने लगी। वह उसी दिशा में आगे बढ़ा। थोड़ी दूर चलने पर उसे गान्धार राग में गाया जाता हुआ मधुर गीत और वीणा का स्वर सुनाई दिया। उसके हृदय की आशा-लता हरी हो गई। वह शीघ्रता से आगे बढ़ा। दूर से उसने देखा कि विचित्र वेश धारण करने वाली कुछ रमणियों के बीच एक पुरुष बैठा है। उसका हर्ष उमड़ने लगा। निकट आने पर उसने अपने प्रिय मित्र को पहिचान लिया। उसका मनोरथ पूर्णरूप से सफल हो गया। वह दौड़ता हुआ सनत्कुमार के पास पहुँचा और तत्काल उनके चरणों में गिर गया। अचानक महेन्द्रसिंह को आया जान कर सनत्कुमार भी प्रसन्न हुआ और मित्र को छाती से लगा लिया। दोनों के हर्षाश्रु बहने लगे।

जब दोनों मित्रों का हर्षविगम कम हुआ, आनन्दाश्रु थमे, तब सनत्कुमार ने महेन्द्रसिंह

से यहाँ तक पहुँचने में उत्पन्न कठिनाइयों का हाल पूछा, तो महेन्द्रसिंह ने विस्तारपूर्वक अपनी कष्ट-कहानी सुनाई। मित्र के भीषण कष्टों और आपदाओं को सुन कर बहुत खेद हुआ। विद्याधरी ललनाओं ने महेन्द्र को स्नानादि करा कर भोजन कराया। इसके बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार का हाल पूछा। सनत्कुमार ने सोचा—‘मेरी इस अवस्था की बात में स्वयं कहूँ—यह शोभनीय नहीं होगी।’ उसने अपनी बायीं ओर बैठी हुई विद्याधर सुन्दरी बकुलमति से सारा वृत्तान्त सुनाने का कह कर शयन करने के बहाने वहाँ से हट गया। उसके जाने के बाद बकुलमति ने सनत्कुमार का वृत्तान्त बताते हुए कहा;—

“महानुभाव ! तुम सभी के देखते ही देखते अश्व द्वारा तुम्हारे मित्र का हरण होने के बाद, अश्व ने एक भयानक अटवी में प्रवेश किया। वह दौड़ता ही रहा। दूसरे दिन मध्याह्न काल में वह क्षुधा-पिपासा और गंभीर थाक से अकड़ कर खड़ा रह गया। उसके खड़े रहते ही कुमार घोड़े पर से नीचे उतरे और साथ ही घोड़ा भीत के समान नीचे गिर कर प्राण-रहित हो गया।

आपके मित्र भी प्यास से व्याकुल हो रहे थे। वे पानी की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें पानी मिलना कठिन हो गया। वे व्याकुल हो गए और एक सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे जा कर उसकी शीतल छाया में लेट गए। वे पुण्यवान् एवं भाग्यशाली हैं। सद्भागी पर आपत्ति के बादल अधिक समय तक नहीं ठहर सकते। उनके लिए जंगल में भी मंगल का वातावरण बन सकता है। पुण्ययोग से उस वन के अधिष्ठायायक यक्ष को कुमार की विपत्ति का भान हुआ। तत्काल यक्ष ने शीतल जल से आर्य-पुत्र के शरीर का सिंचन किया। शरीर में शीतलता पहुँचते ही वे सचेत हो गए और यक्ष द्वारा दिया हुआ पानी पी कर तृप्त हुए। उन्होंने यक्ष से पूछा—“तुम कौन हो और यह स्वादिष्ट एवं सुगन्धित जल कहाँ से लाये?” यक्ष ने कहा—

“मैं इस वन में रहने वाला यक्ष हूँ। यह उत्तम जल तुम्हारे लिए मानसरोवर से लाया हूँ।”

—“यदि आप मुझे मानसरोवर ले चलें और मैं उसमें स्नान कर लूँ, तो मेरा शरीर स्वस्थ और स्फूर्तिदायक हो सकता है। मेरी सभी पीड़ाएँ दूर हो सकती हैं”— कुमार ने यक्ष से अनुरोध किया।

यक्ष ने आर्य-पुत्र का अनुरोध स्वीकार किया और उन्हें उठा कर बात-की-बात में मानसरोवर ले गया। आर्य-पुत्र ने वहाँ जी-भर कर जलक्रीड़ा की।

वे जलक्रीड़ा कर ही रहे थे कि उनका पूर्वभव का शत्रु "असिताक्ष" नामक यक्ष वहाँ आ पहुँचा। आर्यपुत्र को देखते ही उसका वैर जाग्रत हुआ। उसने उन पर आक्रमण कर दिया, किंतु आर्यपुत्र ने साहस के साथ उसका सामना किया और उसे परास्त कर के भगा दिया। उसकी सभी चालें व्यर्थ हुईं। उनके युद्ध-कोशल को देखने के लिए मान-सरोवर में क्रीड़ा करने को आई हुई देवियाँ और विद्याधरियाँ एकत्रित हो गई थीं। आर्यपुत्र की विजय पर वे प्रसन्न हुईं और उन्होंने आर्यपुत्र पर पुष्प-वर्षा की। इसके बाद आर्यपुत्र वहाँ से चले। उधर से ये विद्याधर-कन्याएँ नन्दन वन में से मानसरोवर की ओर आ रही थीं। ये सुन्दरियाँ आर्यपुत्र को देख कर मोहित हो गईं और कामदेव के अवतार समान आर्यपुत्र को एकटक निरखने लगीं। आर्यपुत्र ने इनके निकट आ कर परिचय पूछा। उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा—

“विद्याधरों के राजा भानुवेग की हम आठों पुत्रियाँ हैं। हम सब वन-विहार एवं जलक्रीड़ा करने आई हैं। हमारी नगरी निकट ही है। हम पर अनुग्रह कर के आप वहाँ पधारने का कष्ट करें।”

उनके साथ आर्यपुत्र नगरी में आये। विद्याधराधिपति महाराज भानुवेग, अपनी इन पुत्रियों के लिए वर प्राप्त करने की चिन्ता में ही थे। राजकुमार को देख कर वे अत्यंत प्रसन्न हुए। उनका मत्कार किया। राजा ने समझ लिया कि यह पुरुष महान् भाग्यशाली, पराक्रमी और वीर है। ऐसा उत्तम वर दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। राजा ने अपनी आठों पुत्रियों का विवाह उसके साथ कर दिया। वे वहीं रह कर अपनी पत्नियों के साथ सुख भोग में समय बिताने लगे।

वह मार खाया हुआ असिताक्ष यक्ष, वैर का डंक लिए हुए अवसर की ताक में लगा हुआ था। जब उसने देखा कि उस पर विजय पाने वाला सुख की नींद सोया हुआ है, तो उसने निद्रित अवस्था में ही आर्यपुत्र का हरण किया और अटवी में जा कर फँक दिया। जब वे जागे, तो अपने को वन में एकाकी देख कर विस्मित हुए। उन्हें विचार हुआ कि यह परिवर्तन कैसे हुआ? वे अटवी में इधर-उधर भटकने लगे। थोड़ी देर के बाद अन्हें एक सतखण्डा भव्य भवन दिखाई दिया। उन्होंने सोचा—“क्या यह भी किसी मायावी का कौतुक है?” वे साहस कर के उस भवन के निकट पहुँचे। उनके कानों में किसी स्त्री के रुदन का कर्ण स्वर सुनाई दिया। आर्यपुत्र के मन में दया का संचार हुआ। वे उस भवन में चले गये। जब वे ऊपरी मंजिल पर पहुँचे, तो उन्हें देखते ही एक स्त्री बोल उठी;—

“हे कुरुवंश के तिलक सनत्कुमार ! आप ही मेरे पति होंगे,” इस प्रकार कहती हुई वह अश्रुपात करती थी । उनका अनुपम रूप और लावण्य देख कर आर्यपुत्र चकित हुए । उन्हें विचार हुआ कि ‘यह सुन्दरी मुझे कब से व कैसे पहिचानती है !’ वे उसके निकट गए और पूछा—

“भद्रे ! तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आई ? तुम्हें किस बात का दुःख है और वह सनत्कुमार कौन है, जिसे तुम याद कर रही हो ?”

“महानुभाव ! मैं साकेतपुर के अधिपति महाराज सुराष्ट्र की पुत्री हूँ । मेरा नाम ‘सुनन्दा’ है । कुरुवंश रूपी आकाश में सूर्य के समान और कामदेव से भी अत्यन्त रूप-सम्पन्न महाभुज सनत्कुमार, महाराजा अश्वसेन के पुत्र हैं । मैंने उन्हें मन से ही अपना पति बनाया है और मेरे माता-पिता ने भी मेरा संकल्प स्वीकार किया है । एक विद्याधर मुझे देख कर मोहित हो गया और उसने मेशा हरण कर लिया । उसने इस भवन की विकुर्वणा की जौर मुझे इसमें बिठा कर चला गया है । आगे क्या होगा, यह मैं नहीं जानती ।”

—“सुन्दरी ! तू जिसका स्मरण कर रही है, वह सनत्कुमार मैं ही हूँ । तू अब प्रसन्न हो कर स्वस्थ हो जा । अब तुझे किसी का भय नहीं रखना चाहिए ।”

रमणी प्रसन्न हो गई । इतने में वज्रवेग नाम का विद्याधर वहाँ आया और आर्य-पुत्र को देख कर क्रोधान्ध बन गया । उसने तत्काल उन्हें पकड़ कर आकाश में उछाल दिया । यह देख कर वह महिला भयभीत हुई और मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर गई । उधर आर्यपुत्र ने नीचे उतर कर बज्रावेग पर ऐसा मुष्टि प्रहार किया कि वह प्राण रहित हो गया । विघ्न टल जाने के बाद उस रमणी को सावधान कर के आर्यपुत्र ने वहीं उसका पाणिग्रहण कर लिया । यही सुनन्दा सनत्कुमार चक्रवर्ती का ‘स्त्री-रत्न’ बनी ।

वज्रवेग की मृत्यु का हाल जान कर उसकी वध्यावली बहिन, क्रोध एवं शोक से संतप्त हो कर वहाँ आई । किंतु वह जानियों के इस कथन का स्मरण कर के शांत हो गई कि—“तेरे भाई का बध करने वाला ही तेरा पति होगा ।” वह आर्यपुत्र को देखते ही मोहित हो गई । सुनन्दा के अनुरोध पर सनत्कुमार ने उसका भी पाणिग्रहण कर लिया ।

आर्यपुत्र अपनी दोनों पत्नियों के साथ वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतने में दो विद्याधरों ने वहाँ आ कर, आर्यपुत्र को कवचयुक्त महारथ दे कर कहा—

“आपने बज्रावेग को मार डाला, इसका बदला लेने के लिए उसके पिता अशनिवेग अपनी सेना ले कर आ रहा है । वह स्वयं भी महान् योद्धा और विद्याधरों का राजा है ।

हमें ये शस्त्र और रथ ले कर आपकी देने के लिए, हमारे पिता श्री चन्द्रवेग और भानुवेग ने भेजा है। हम आपके स्वसुरपक्ष के हैं। हमारे पिता भी सेना सज्ज कर के आपकी सहायता के लिए आ रहे हैं।” आर्यपुत्र शस्त्र-सज्ज होने लगे। इतने में ही शत्रु-सेना आ गई। दूसरी ओर चन्द्रवेग और भानुवेग भी सेना ले कर आ गये। आर्यपुत्र को रानी बन्ध्यावली ने ‘प्रज्ञप्ति’ नाम की विद्या दी। यद्यपि आर्यपुत्र उसके भाई को मारने वाले थे और उसके पिता तथा समस्त पितृकुल के विरुद्ध युद्ध करने जा रहे थे, तथापि ‘स्त्रियाँ स्वभाव से ही पति के वश में होती हैं, उनका सर्वस्व पति ही होता है।’ तदनुसार बन्ध्यावली ने भी आर्यपुत्र की सहायता में प्रज्ञप्ति विद्या दी। प्रियतम शस्त्र-सज्ज हो कर शत्रु-सैन्य की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में सहायक-सेना आ पहुँची और शत्रु सेना भी आ गई। युद्ध छिड़ गया। दोनों पक्ष जम कर लड़ने लगे। जब दोनों ओर की सेना क्षत-विक्षत हो गई, तब अशनिवेग और सनत्कुमार स्वयं भिड़ गये। विविध प्रकार शस्त्रों से दोनों का युद्ध होने लगा। अन्त में आर्यपुत्र के शस्त्र-प्रहार से अशनिवेग मारा गया और उसका राज्य आर्यपुत्र के अधिकार में आ गया। ये विद्याधरों के अधिपति बने। इसके बाद विद्याधरों के शिरोमणि ऐसे मेरे पिता चन्द्रवेग ने आर्यपुत्र से कहा—“मुझे ज्ञानी मुनिराज ने कहा था कि तुम्हारी पुत्रियों का पति सनत्कुमार होगा।” यह भविष्यवाणी सफल करें और मेरी बकुलमति आदि सौ पुत्रियों को स्वीकार करें। उसी समय मेरा और मेरी बहिनों का विवाह आपके मित्र के साथ हुआ। हम सभी आर्यपुत्र के साथ विविध प्रकार के भोग भोगती रहीं। आज हम सभी यहाँ क्रीड़ा करने आये थे। सद्भाग्य से आपका यहाँ शुभागमन हो गया।”

बकुलमति से मित्र के पराक्रम और सद्भाग्य की कथा सुन कर महेन्द्रसिंह प्रसन्न हुआ। इतने में सनत्कुमार भी रतिगृह से निकल कर मित्र के समीप आये। कुछ काल व्यतीत होने के बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार से निवेदन किया कि ‘अब अपने नगर को चल कर माता-पिता के वियोग-दुःख को मिटाना चाहिए।’ राजकुमार ने मित्र की सलाह मान कर तत्काल प्रस्थान की तयारी कर दी। रानियों, अनेक विद्याधराधिपतियों, अनुचरों और साज-सामान के साथ, विमान द्वारा चल कर वे हस्तिनापुर आये। माता-पिता के हर्ष का पार नहीं रहा। नगर भर में उत्सव मनाया गया। महाराज अश्वसेन ने पुत्र के प्रबल पराक्रम को देख कर, अपने राज्य का भार कुमार सनत्कुमार को दिया और महेन्द्रसिंह को उनका सेनापति बनाया। इसके बाद वे स्थविर मुनिराज के पास दीक्षित हो गए।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का अलौकिक रूप

नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करते हुए महाराज सनत्कुमार को चक्र आदि चौदह महारत्न प्राप्त हुए । उन्होंने षट्खण्ड पर विजय प्राप्त की । जब उन्होंने विजयी बन कर गजारूढ़ हो, अपनी राजधानी हस्तिनापुर में प्रवेश किया, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने श्रीसनत्कुमार के चक्रवर्तीपन का राज्याभिषेक किया । राज्याभिषेक के उपलक्ष में चक्रवर्ती सम्राट ने बारह वर्ष तक प्रजा को सभी प्रकार के कर से मुक्त कर दिया और प्रजा का पुत्रवत् पालन किया ।

महाराजाधिराज सनत्कुमार अप्रतिम रूप सम्पन्न थे । उनका रूप देवोपम था । उनके समान दूसरा कोई रूप-सम्पन्न नहीं था । एक बार सौधर्म स्वर्ग में शक्रेन्द्र की सभा भरी हुई थी । दिव्य नाटक चल रहा था । उस समय ईशान देवलोक का संगम नामक देव, कार्यवश सौधर्म सभा में आया । उसका रूप इतना उत्कृष्ट था कि शक्रेन्द्र की सभा के सभी देव चकित रह गये । उसके रूप के आगे सभी देवों का रूप फीका और निस्तेज हो गया । सभी देव, उस संगम के रूप पर विस्मित हो गए । उसके जाने के बाद देवों ने इन्द्र से पूछा कि—“इस देव को ऐसा अलौकिक रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ ।”

सौधर्मेन्द्र ने कहा—“उसने पूर्वभव में आयम्बिल-वद्धमान तप किया था । इससे उसे ऐसा रूप और तेज प्राप्त हुआ है * ।”

देवों ने फिर पूछा—“क्या इस देव जैसा उत्कृष्ट रूप जगत् में और भी किसी का है ?”

—“इससे भी अधिक रूप तो भरत-क्षेत्र के चक्रवर्ती सम्राट सनत्कुमार का है । उनके जैसा उत्तम रूप अन्यत्र किसी मनुष्य या देव का भी नहीं है”—शक्रेन्द्र ने कहा ।

* तप से आत्मा पर लगे हुए कर्मों की निर्जरा होती है । बाह्याभ्यंतर तप से आत्मा तो प्रभावित होती ही है, किंतु शरीर पर भी उसका प्रभाव पड़ता है । यद्यपि तप से देह निर्बल, अशक्त एवं जर्जरित हो जाती है, फिर भी तपस्वी के श्रीमुख पर एक तेज, एक दीप्ति प्रकट होती है । आगमों में कई स्थानों पर ऐसा उल्लेख आया है;—

“तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे च्छिद्दह ।” (भगवती २-१)

उपरोक्त आगमिक शब्द तपस्वी के चेहरे पर प्रकट होने वाली तप के तेज की शोभा और उससे उसकी अत्याकर्षकता प्रकट करते हैं । यह दीप्ति उसे भावी जन्म में भी प्राप्त होती है । निर्जरा के साथ शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, उसके उदय का यह उत्तम फल है ।

इन्द्र की यह बात विजय और वैजयंत नाम के दो देवों को नहीं रुची। उन्होंने सोचा—‘इन्द्र अतिशयोक्ति कर रहे हैं। कहीं औदारिक-शरीरधारी मनुष्य का भी इतना उत्तम रूप हो सकता है?’ वे दोनों देव सनत्कुमार का रूप देखने के लिए पृथ्वी पर आये और ब्राह्मण के वेश में द्वारपाल के पास आ कर राजा के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। उस समय महाराजाधिराज शरीर पर से वस्त्र उतार कर, मर्दन एवं स्नान करने की तय्यारी कर रहे थे। जब सम्राट को ब्राह्मणों के आगमन की सूचना मिली, तो उन्होंने उन्हें शीघ्र उपस्थित करने की आज्ञा दी। दोनों ब्राह्मणों ने जब महाराजा सनत्कुमार का रूप देखा, तो चकित रह गए। उनके मन में विचार हुआ कि—“अहो ! कितना सुन्दर रूप है। इनका सुन्दर ललाट, अष्टमी के चन्द्रमा का तिरस्कार करता है। इनके नेत्र कान तक खिंचे हुए नील-कमल की कान्ति को भी जीत लेते हैं। ओष्ठ लाल रंग के पक्व बिबफल की कान्ति का पराभव करते हैं, कान शीप की शोभा को लज्जित करते हैं। गर्दन पांचजन्य शंख को जीत लेती है, भुजाएँ गजराज की सूँड से भी अधिक सुशोभित हैं। वक्षस्थल स्वर्णमय शिला से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार उनके शरीर के प्रत्येक अंग और उपांग अनुपम, आकर्षक एवं सुन्दरतम है। इस अपूर्व स्वरूप का वर्णन करने में वाणी भी असमर्थ है। वास्तव में सम्राट सनत्कुमार का रूप उत्कृष्ट एवं अलौकिक है। देवेन्द्र ने जो प्रशंसा की, वह यथार्थ ही थी।”

ब्राह्मणों को विचारमग्न देख कर सम्राट ने पूछा—

“हे द्विजोत्तम ! तुम्हारे आगमन का क्या प्रयोजन है ?”

—“नरेन्द्र ! हम बहुत दूर देश से आये हैं। जनता में आपके रूप की अत्यधिक प्रशंसा सुन कर, हम मात्र दर्शन के लिए ही यहाँ आये हैं और हम कृतार्थ हुए हैं—आपके दर्शन पा कर। हमने जो कुछ सुना था, उससे भी अत्यधिक एवं अलौकिक रूप आपका हमारे देखने में आया”—विप्रों ने कहा।

“अरे विप्रों ! तुमने क्या रूप देखा है मेरा ? अभी तो मेरा शरीर उबटन से व्याप्त है। स्नान भी अब तक नहीं किया और वस्त्राभूषण भी नहीं पहने। तुम थोड़ी देर ठहरो। जब मैं सुसज्जित हो कर राज-सभा में आऊँ, तब तुम मेरे उत्कृष्ट रूप को देखना।”

इस प्रकार कह कर नरेश स्नानादि से निवृत्त हुए और सुसज्जित हो कर राज-सभा में आये। तत्काल दोनों ब्राह्मणों को बुलाया गया। ब्राह्मण, राजा का विकृत रूप देख कर खेद करने लगे—“अहो ! यह क्या हो गया ? जो रूप हमने थोड़ी देर पहले देखा था,

वह कहाँ चला गया? वास्तव में औदारिक-शरीरी मानव का मुख, सुन्दरता और आरोग्यता क्षणिक होती है। इस प्रकार वे मन ही मन खेदित हो रहे थे। उन्हें विचार-मग्न एवं खिन्न मुख देख कर नरेश ने पूछा—

—“पहले तुम मुझे देख कर प्रसन्न हुए थे। किन्तु अभी तुम्हारे चेहरे पर विषाद झलकता है। क्या कारण है इसका?”

—“नरेन्द्र ! सत्य यह है कि हम सौधर्म कल्पवासी देव हैं। सौधर्मेन्द्र से आपके रूप की प्रशंसा सुन कर यहाँ आये हैं। उस समय आपका रूप देख कर हम प्रसन्न हुए थे। वास्तव में आपका रूप वैसा ही था। किन्तु अभी इस रूप में अनिष्ट परिवर्तन हो गया है। इस समय आपके रूप के चोर ऐसे कई रोगों ने इस अनुपम रूप को घेर लिया है। इससे आपका वह अलौकिक रूप नहीं रहा और विद्रूप हो गया है।” इतना कह कर देव अन्तर्धान हो गए।

देवों की बात सुनते ही नरेन्द्र ने अपने शरीर को ध्यानपूर्वक देखा। उन खुद को अपना शरीर तेजहीन, फीका एवं म्लान दिखाई दिया। उन्होंने विचार किया;—

“रोग के घर इस शरीर को धिक्कार है। ऐसे सरलता से बिगड़ने वाले शरीर पर मूर्ख लोग ही गर्व करते हैं। जिस प्रकार दीमक, काष्ठ को भीतर ही भीतर खा कर खोखल बना देता है, उसी प्रकार शरीर में से उत्पन्न रोग, सुन्दर शरीर को भी विद्रूप बना देते हैं। जिस प्रकार वट-वृक्ष के फल बाहर से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु भीतर तो वह कुरूप और कीड़ों का निवास बना होता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कभी ऊपर से सुरूप दिखाई दे, तो भी उसके भीतर तो कुरूपता ही भरी हुई है। उसमें कीड़े कुलबुला रहे हैं। रोग एवं वृद्धावस्था से शरीर शिथिल हो जाता है, फिर भी आशा और तृष्णा ढीली नहीं होती। रूप चला जाता है, परन्तु पाप-बुद्धि नहीं जानी। इस संसार में रूप-लावण्य, कांति, शरीर और द्रव्य, ये सभी कुशाग्र पर रही हुई जल-बिन्दु के समान अस्थिर है। इसलिए इस नाशवान् शरीर से सकाम-निर्जरा वाला तप करना ही उत्तम है।” इस प्रकार चिन्तन करते हुए महाराजा सनत्कुमार विरक्त हो गए और अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर श्री विनयधर आचार्य के समीप प्रव्रजित हुए। श्री सनत्कुमार के दीक्षित हो कर जाते ही उनके पीछे उनका परिवार भी चल निकला। लगभग छह महीने तक पीछे-पीछे फिरने के बाद परिवार के लोग हताश हो कर लौट आये। उन सर्व-विरत, ममत्व-त्यागी, विरक्त महात्मा ने उनकी ओर स्नेहयुक्त दृष्टि से देखा ही नहीं। दीक्षित होते ही महात्मा सनत्-

कुमार बेले-बेले पारणा करने लगे। अरस, विरस एवं तुच्छ आहार के कारण शरीर में विविध प्रकार की व्याधि उत्पन्न हो गई। व्याधियों के प्रकोप से भी वे उत्तममुनि विचलित नहीं हुए और बिना औषधोपचार के ही समभावपूर्वक रोगातंक को सहन करने लगे। इस प्रकार रोग-परीषह को सहन करते हुए सात सौ वर्ष व्यतीत हो गए। तप के प्रभाव से उन महर्षि को अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हो गई।

तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के विशुद्ध तप के प्रति शक्रेन्द्र के हृदय में भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी देव-सभा में महर्षि की प्रशंसा करते हुए कहा कि—

“अहो, श्री सनत्कुमार कितने उत्तम-कोटि के त्यागी हैं। चक्रवर्ती की राज्य-लक्ष्मी को धूल के समान त्याग कर वे साधु बने। उग्र तप करते हुए शरीर में बड़े-बड़े असह्य रोग उत्पन्न हो गए, किंतु वे उनका प्रतिकार नहीं करते। उनके खुद के पास ऐसी अनेक लब्धियाँ हैं कि जिनके प्रयोग से, क्षणभर में सभी रोग नष्ट हो कर शरीर निरोग बन जाय, फिर भी वे रोग का परीषह बड़ी धीरता के साथ सहन कर रहे हैं।

शक्रेन्द्र स्वयं धर्मात्मा है। उन्होंने खुद ने पूर्वभव में धर्म की उत्तम आराधना की थी। उनमें धर्मात्माओं के प्रति अनुराग है। जब उनके अवधि-पथ में किसी विशिष्ट गुण-सम्पन्न आत्मा के उत्तम गुण आ जाते हैं, तो वे उनका अनुमोदन करते हैं। आज भी उन्होंने गुणानुराग से प्रेरित हो कर महामुनि सनत्कुमारजी के गुणगान किये थे। किन्तु उन्हीं विजय और वैजयंत देव को यह बात नहीं रुची। उन्होंने सोचा—“महारोगों से पीड़ित व्यक्ति के सामने यदि कोई अमोघ औषधी ले कर उपस्थित हो, तो भी वे उपेक्षा कर दे, यह बात जँचती नहीं।” वे दोनों वैद्य का रूप बना कर तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के सामने आये और औषधी लेने का आग्रह करने लगे। तपस्वीराज ने उनसे कहा;—

“वैद्यों ! मुझे द्रव्य-रोग की चिन्ता नहीं है। यदि तुम भाव-रोग की चिकित्सा कर सकते हो, तो करो। ये भाव-रोग जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ते हैं। द्रव्य-रोग की दवा तो मेरे पास भी है। लो देखो”—यों कह कर महर्षि ने अपनी अंगुली अपने कफ से लिप्त की। वह तत्काल निरोग एवं स्वर्ण के समान कान्ति वाली बन गई। यह देख कर दोनों देव, महर्षि के चरणों में झुके। वन्दन करने के बाद बोले;—

“ऋषीश्वर ! हम वे ही देव हैं, जो इन्द्र की प्रशंसा से अविश्वासी बन कर आपका रूप देखने आये थे। आज भी इन्द्र द्वारा आपकी उत्तम साधना की प्रशंसा सुन कर हम आये हैं और आपकी परीक्षा कर के पूर्ण संतुष्ट हो कर जा रहे हैं।” बंदना कर के देव चले गए।

सनत्कुमार ५०००० वर्ष कुमारपने, ५०००० वर्ष मांडलिक राजापने, १०००० वर्ष दिग्विजय में, ९०००० वर्ष चक्रवर्ती-सम्राटपने और १००००० वर्ष संयम-पर्याय में, इस प्रकार कुल ३००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के मुक्ति को प्राप्त हुए ।

† त्रि. श. पु. और 'चउत्पन्न महापुरिस चरित्रं' आदि में सनत्कुमार चक्रवर्ती के लिए भी सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में जाने का उल्लेख है। पूज्यश्री घासीलालजी म. सा. ने भी उत्तराध्ययन सूत्र अ. १८ भा. ३ की टीका पृ. १८० में चक्रवर्ती मधवा की और पृ. २११ में सनत्कुमार की गति तीसरे देवलोक की ही बताई है। पूज्य आचार्य श्री हस्तीमल्लजी म. सा. ने भी अपने 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' प्रथम भाग पृ. ११० और ११२ में इसी मान्यता का अनुसरण किया है। किन्तु दूसरी धारणा के अनुसार ये दोनों चक्रवर्ती भी उसी भव में मोक्षगामी हुए हैं। उत्तराध्ययन अ. १८ में जिन राजर्षियों का उल्लेख हुआ, वे सभी तद्भव मोक्षगामी माने जाते हैं। स्थानांगसूत्र ४-१ में अंतक्रिया के निरूपण में, तीसरी अंतक्रिया के उदाहरण में श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उपस्थित किया है। मूलपाठ में उनके लिये स्पष्टाक्षरों में लिखा है कि—**“दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ”**—दीर्घ-पर्याय (लम्बेकाल तक) संयम का पालन कर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए और समस्त दुःखों का अंत किया।

यह मूलपाठ श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उसी भव में मुक्त होने वाले बतलाता है और 'अंतक्रिया' शब्द भी अपना अर्थ “भवान्त, कर्मों का अन्त एवं संसार का अंत करने वाली क्रिया” होता है। यों तो विरति मात्र भव का अन्त करने वाली है, भले ही अनेक भव के बाद अन्त हो। किन्तु स्थानांग का पाठ उसी भव में अन्त करने वाली क्रिया से सम्बन्धित लगता है। अन्य तीन क्रियाओं के उदाहरण भी उसी भव में मुक्ति पाने वाली भव्यात्माओं के हैं। इस सूत्र के टीकाकार ने जो—**“दीर्घपर्यायेण च सिद्धस्यद्भवे सिद्धयभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति”** लिखा है। यह उनकी धारणा होगी, सूत्र का अर्थ नहीं। बाद के कुछ विद्वानों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया लगता है।

पू. श्री जयमलजी म. सा. ने अपनी 'अनंत चौवीसी' में—**“वली दसे चक्रवर्ती, राज-रमणी ऋद्धि छोड़। दसे मुक्ति पहुँचा, कुल ने शोभा चहोड़।”** लिखा है।

'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' भाग १ पृ. २३९ में भी तीसरी अंतक्रिया करने के उदाहरण में श्री सनत् कुमार चक्रवर्ती को 'मोक्षगामी' लिखा है।

उत्तराध्ययन सूत्र का तात्पर्य एवं स्थानांग सूत्र की अंतक्रिया देखते हुए हमें तो श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती का उसी भव में मुक्ति पाना संगत लगता है।



भ० शांतिनाथजी



भरत-क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में रत्नपुर नाम का भव्य नगर था। श्रीसेन नाम का प्रतापी राजा राज करता था। वह स्वयं धर्मप्रिय, दानेश्वर एवं प्रजापालक था। दुष्टों और दुराचारियों को दण्ड देते हुए भी वह दयालु था। उस आदर्श नरेश के 'अभिनन्दिता' नाम की सुन्दर एवं शीलवती रानी थी। वह अपने उत्तम गुणों से मातृकुल, पितृकुल और श्वशुरकुल को सुशोभित एवं प्रशंसित करती थी। महाराज श्रीसेन के एक दूसरी रानी भी थी, जिसका नाम 'जिखिनन्दिता' था।

कालान्तर में राजमहिषी अभिनन्दिता गर्भवती हुई। उसे स्वप्न में अपनी गोद में चन्द्र और सूर्य खेलते दिखाई दिये। गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर दो सुन्दर पुत्रों का जन्म हुआ। उनका नाम 'इन्दुसेन' और 'विन्दुसेन' रखा। योग्य वय होने पर विद्याध्ययन कराया। वे सभी कलाओं में पारंगत हुए। उनकी इन्द्रियाँ सबल हुई और वे यौवन-वय को प्राप्त हुए।

दासी-पुत्र कपिल

मगध देश के अवलग्राम में 'धरणीजट' नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह सांगो-पांग चार वेद और अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था और अपनी जाति में सर्वमान्य था। 'यशो-भद्रा' नाम की सर्वांग सुन्दरी उसकी पत्नी थी। वह उत्तम गुणों से युक्त गृहलक्ष्मी थी।

उससे उसके 'नन्दीभूति' और 'शिवभूति' नाम के दो पुत्र हुए। नन्दीभूति ज्येष्ठ पुत्र था। उनके यहाँ 'कपिला' नामकी एक दासी थी। धरणीजट का उस दासी के साथ अनैतिक सम्बन्ध था। उस दासी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'कपिल' रखा था। यशोधरा से उत्पन्न दोनों पुत्रों को तो धरणीजट, वेदाध्ययन कराने लगा, परन्तु कपिल को वह नहीं पढ़ाता था, क्योंकि वह दासी-पुत्र था। किंतु कपिल तीव्र बुद्धि वाला था। जब धरणीजट अपने दोनों पुत्रों को पढ़ाता, तब वह पास बैठ कर देखता व सुनता रहता और मन-ही-मन उस पाठ को याद करता रहता। इस प्रकार मौनपूर्वक अध्ययन से वह भी वेदों का सांगोपांग ज्ञाता एवं पारंगत हो गया। अपने को योग्य एवं समर्थ जान कर, कपिल घर छोड़ कर विदेश चला गया और अपने गले में दो यज्ञोपवित धारण कर के अपने-आपको उत्तम ब्राह्मण बतलाने लगा। वह घूमता हुआ रत्नपुर नगर में आया और अपनी विद्वत्ता तथा जातीय-उच्चता बताता हुआ महोपाध्याय 'सत्यकी' के महाविद्यालय में आया। महा-पंडित सत्यकी, सभी प्रकार की विद्या और कला का भंडार था। कपिल इस विद्यालय में प्रतिदिन आ कर विद्यार्थियों एवं विद्वानों की शंकाओं का समाधान करता। उसके समझाने का ढंग हृदयस्पर्शी था। उसकी विशेषता से विद्यार्थी ही नहीं, आचार्य सत्यकी भी प्रभावित हुआ। स्वयं सत्यकी ने कपिल को इनने कठिन प्रश्न पूछे कि जिनका उत्तर वह स्वयं भी सरलतापूर्वक नहीं दे पाता था। कपिल के पांडित्य पर सत्यकी मुग्ध हो गया और उसे संमानपूर्वक अपने विद्यालय में नियुक्त कर दिया। इसके बाद कपिल, आचार्य का काम करने लगा और सत्यकी निश्चित हो कर रहने लगा। कपिल की भक्ति ने सत्यकी को बहुत प्रभावित किया। अन्त में सत्यकी ने अपनी उत्तम गुणों वाली सर्वांग सुन्दरी युवा पुत्री 'सत्यभामा' के लग्न भी कपिल के साथ कर दिये। इस लग्न-सम्बन्ध से कपिल की प्रतिष्ठा में विशेष वृद्धि हुई। महोपाध्याय का जमाई होना साधारण बात नहीं थी। कपिल के दिन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगे।

कालान्तर में रात के समय कपिल नाटक देखने गया। वर्षा का समय था। लौटने समय वर्षा होने लगी। कपिल को अपने मूल्यवान् कपड़े भीगने का भय था। कुछ देर तो वह किसी घर की छाया में खड़ा रहा, किंतु वर्षा नहीं रुकी। उसका घर पहुँचना आवश्यक था। उसने सोचा—'अंधेरी रात में कौन देखता है, फिर क्यों मूल्यवान् वस्त्रों को भिगो कर खराब करूँ?' उसने वस्त्र उतार कर बगल में दबा लिये और नंगधड़ंग ही भीगता हुआ घर पहुँचा, फिर कपड़े पहिन कर किवाड़ खटखटाये। सत्यभामा उसकी राह देख रही थी। उसने किवाड़ खोल कर शीघ्र ही पति के लिये दूसरे वस्त्र लाई, किन्तु पति के

सूखे वस्त्र देख कर बह अवाक् रह गई । उसने पूछा ;—

“इस जोरदार वर्षा में भी आपके वस्त्र सूखे कैसे रह गए ?”

—“प्रिये ! मन्त्र के प्रभाव से मेरे वस्त्र भीग नहीं सके ।”

सत्यभामा ने विचार किया—“यदि मन्त्र के प्रभाव से वर्षा से इनके वस्त्र बच गए, तो शरीर क्यों नहीं बचा ? इनका शरीर तो पूरा पानी से तर हो रहा है । इसलिए लगता है कि ये वस्त्र-रहित—नग्न ही आये और कपड़ों को वर्षा से बचा लिया ।” यह विचार आते ही उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार वस्त्र बचाने के लिए नग्न हो कर आने वाला मेरा पति, किसी हीन कुल का होना चाहिए । ऐसी निर्लज्जता स्वार्थवश कुलहीन ही कर सकता है । इस विचार के साथ ही उसके मन में चिन्ता लग गई । वह अपने को हतभागिनी मान कर मन-ही-मन घुलने लगी और सत्य बात का पता लगाने की इच्छुक बनी ।

उधर कपिल का पिता धरणीजट ब्राह्मण निर्धन हो गया । उसने सुना कि कपिल, रत्नपुर के महोपाध्याय सत्यकी का जामाता है और प्राचार्य भी । उसके पास धन की कमी नहीं है । अतएव वह धन प्राप्त करने की इच्छा से कपिल के पास आया । कपिल ने पिता का सत्कार किया । कपिल ने पिता के भोजन के विषय में पत्नी को बताया कि—“मेरे शरीर में व्याघ्रि है, इसलिए मैं मांश्राशन-सा भोजन कर लूंगा, पहले तुम पिताश्री के लिए उत्तम भोजन बना कर उन्हें आदर-सहित भोजन करा दो ।”

पिता और पुत्र का पृथक् भोजन देख कर सत्यभामा की शंका दृढ़तर हो गई । उसने समझ लिया कि—मेरा स्वशुर तो उत्तम कुल का ब्राह्मण है, परन्तु पति की उत्पत्ति हीन-स्थान पर हुई है । इसीसे भोजन में भेद हो रहा है । उसने स्वशुर को आदरपूर्वक भोजन कराया । वह पिता के समान स्वशुर की शुश्रूषा करने लगी । अवसर देख कर सत्यभामा ने, ब्रह्महत्या की शपथ देते हुए स्वशुर से पूछा ;—

“पूज्य ! आपके पुत्र की उत्पत्ति उभय-पक्ष की शुद्धतापूर्वक हुई है, या किसी एक पक्ष में कोई दोष है ?”

धरणीजट विचार में पड़ गया । शपथपूर्वक पूछने के कारण उसे सत्य बात कहनी ही पड़ी । धरणीजट अपने गाँव चला आया । सत्यभामा को अपने पति की उत्पत्ति में हीनता जान कर बड़ा दुःख हुआ । वह महाराजा श्रीसेन के पास गई और निवेदन किया कि—

“महाराज ! भाग्य-योग से मेरा पति कुलहीन है । मुझ अबला को इससे मुक्त

कर दीजिए । मैं जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रह कर सुकृत करते हुए जीवन व्यतीत करूँगी ।” नरेश ने कपिल को बुला कर कहा ;—

“सत्यभामा अब धर्माचरण कर के पवित्र जीवन बिताना चाहती है । अब यह तुझसे और संसार से विरक्त हो गई है, इसलिए इसे मुक्त कर दे ।”

—“राजन् ! मैं सत्यभामा के बिना जीवित नहीं रह सकता । यह मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है । मैं इसे कैसे मुक्त कर दूँ ?”

—“यदि मुझे मुक्त नहीं किया गया, तो मैं आत्मघात कर के मर जाऊँगी, किंतु अब तुम्हारे साथ संसार में नहीं रहूँगी”—सत्यभामा ने अपना निर्णय सुनाया ।

राजा ने मार्ग निकालते हुए कहा ;—

“कपिल ! यह बाई कुछ दिन मेरे अंतःपुर में रहेगी और महारानी इसकी देख-भाल करेगी । बाद में जैसा उचित होगा, वैसा किया जायगा ।”

महाराजा का निर्णय कपिल को मान्य हुआ । वह चला गया । सत्यभामा महारानी के पास रह कर तपमय जीवन बिताने लगी ।

इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध

उस समय कौशांबी नगरी में बल राजा की पुत्री राजकुमारी श्रीकान्ता यौवन-वय को प्राप्त हो चुकी थी । उसके योग्य अच्छा वर सरलता से प्राप्त नहीं हो रहा था । इसलिए बल राजा ने अपनी पुत्री को श्रीसेन नरेश के पुत्र इन्दुसेन को स्वयंवर से वरने के लिए बहुत धन और अन्य अनेक प्रकार की ऋद्धि सहित रत्नपुर भेजी । राजकुमारी के साथ ‘अनन्त-मति’ नाम की एक वेश्या भी आई थी । वह अत्यंत सुन्दरी थी । उसका उत्कृष्ट रूप देख कर राजकुमार इन्दुसेन और बिन्दुसेन—दोनों भाइयों में विवाद खड़ा हो गया । तलवारें खिच गई । जब महाराज श्रीसेन ने यह समाचार सुना, तो तत्काल वहाँ आये और दोनों को समझाने लगे, किन्तु उनका समझाना व्यर्थ गया । महाराज निराश हो अन्तःपुर में आये । उन्हें पुत्रों की दुर्मदता, भ्रातृ-वैर और निर्लज्जता से बड़ा आघात लगा । नरेश अब जीवित रहता नहीं चाहते थे । उन्होंने तालपुट विष से व्याप्त कमल को सुँघ कर प्राण त्याग कर दिया । उनका अनुसरण दोनों रानियों ने किया । जब यह बात सत्यभामा ने

सुनी, तो उसने सोचा कि--“अब कपिल मूँछ छोड़ने वाला नहीं है।” अतएव वह भी उस विषेले कमल को मूँछ कर मृत्यु को प्राप्त हो गई। ये चारों जीव मृत्यु पा कर जम्बूद्वीप के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगल मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुए। श्रीसेन और अभिनन्दिता तथा शिखिनन्दिता और सत्यभामा, इस प्रकार दो युगल सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे।

इधर देवरमण उद्यान में इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध चल रहा था। इतने में एक विद्याधर, विमान द्वारा वहाँ आ पहुँचा। उसने दोनों भाइयों को लड़ते देखा। वह दोनों के बीच में खड़ा रह कर बोला;—

“मूर्खों ! तुम आपस में क्यों लड़ते हो ? तुम्हें मालूम नहीं कि यह सुन्दरी कौन है ? मैं जानता हूँ—यह तुम्हारी बहिन है। तुम दोनों अपनी बहिन को पत्नी के रूप में प्राप्त करने के लिए लड़ो, यह कितनी लज्जा की बात है ? इस भेद को तुम, भूष से शांतिपूर्वक सुनो।”

विद्याधर ने कहा--“इस जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में, सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का विस्तृत विजय है। उसके मध्य में विद्याधरों के आवास वाला ऊँचा वैताद्य नाम का पर्वत है। उस पर्वत की उत्तर की श्रेणी में ‘आदित्याभ’ नाम का नगर था और ‘सुकुण्डली’ नाम का राजा राज करता था। उसके अजितसेना नामकी रानी थी। मैं उसका पुत्र हूँ। मेरा नाम ‘मणिकुण्डली’ है। मैं एक बार आकाश में उड़ता हुआ, जिनेश्वर को वन्दने के लिए पुंडरिकिनी नगरी में गया। वहाँ अमितयश नाम के केवलज्ञानी भगवंत को वन्दना कर के मैंने धर्मोपदेश सुना। देशना पूर्ण होने के बाद मैंने प्रभु से पूछा—

“भगवन् ! मैं किस कर्म के उदय से विद्याधर हुआ ?”

प्रभुने फरमाया—“पुष्कर-वर द्वीप के पश्चिम द्वीपार्ध में, शीतोदा नदी के दक्षिण किनारे, सलिलावती विजय में ‘वितशोका’ नाम की नगरी थी। उसमें रत्नध्वज नाम का महाबली और रूप-सम्पन्न राजा राज करता था। उसके ‘कनकश्री’ और ‘हेममालिनी’ नाम की दो रानियाँ थीं। कनकश्री के दो पुत्रियाँ हुईं। उनका नाम ‘कनकलता’ और ‘पद्मलता’ रखा। दूसरी रानी हेममालिनी के एक कन्या हुई, जिसका नाम ‘पद्मा’ रखा गया। ये तीनों कन्याएँ अनेक प्रकार की कलाओं का अभ्यास करती हुई यौवनवय को प्राप्त हुईं। वे तीनों युवतियाँ अनुपम सुन्दर थीं। इनमें से राजकुमारी पद्मा, महासती श्री अजितसेना के पास वैराग्य प्राप्त कर प्रव्रजित हो गई। वह तप का आचरण करती हुई विचरती थी। एक दिन वह स्थंडिल भूमि जा रही थी, तब उसने देखा कि मदनमंजरी नाम की एक वेश्या पर लुब्ध हो कर दो कामान्ध राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। उन्हें

देखने पर उसके मन में विचार हुआ कि—“अहा ! यह वेश्या कितनी सौभाग्यशाली है कि इसके रूप पर मग्न हो कर ये दोनों राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। यदि मेरे तप-संयम का फल हो, तो मैं भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त करूँ।” इस प्रकार निदान कर के, उसकी शुद्धि किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प में विपुल समृद्धि वाली देवी हुई।

रानी कनकसुन्दरी का जीव, भव-भ्रमण करता हुआ, दानादि शुभ योग के फल-स्वरूप तुम मणिकुण्डली नाम के राजा हुए हो। कनकलता और पद्मलता भी भव-भ्रमण करती हुई रत्नपुर नरेश के इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम के राजकुमार हुए और निदान करने वाली साध्वी पद्मा, प्रथम स्वर्ग में च्यव कर कौशाम्बी की अनंतमतिका वेश्या हुई। उस वेश्या के लिए इस समय रत्नपुर के देवरमण उद्यान में इन्दुसेन और बिन्दुसेन आपस में युद्ध कर रहे हैं।”

इस प्रकार भगवंत के मुँह से पूर्वभव का वृत्तान्त सुन कर, पूर्व-स्नेह के कारण तुम्हें युद्ध से विमुख करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। मैं तुम्हारे पूर्वभव की माता हूँ और यह अनंतमतिका तुम्हारी पूर्वभव की बहिन है। इस संसार में मोह का ऐसा खेल है। जन्मान्तर के पर्दे में छुपे हुए प्राणी, अपने पूर्वभव के माता, पिता, भाई, भगिनी आदि को नहीं पहिचान सकता और मोह के अन्धकार में ही भटकता रहता है। अब तुम इस अन्धकार से निकलो और निर्वाण की ओर ले जाने वाली दीक्षा ग्रहण करो।”

राजकुमार उपरोक्त कथन सुन कर स्तब्ध रह गए। उनके मोह का क्षयोपशम हुआ। इधर माता-पितादि की मृत्यु के आघात ने भी संसार के प्रति धृणा जाग्रत कर दी। वे चार हजार राजाओं के साथ धर्मरुचि अनगर के पास दीक्षित हो गए। चारित्र और तप का उत्कृष्ट पालन कर के वे मोक्ष प्राप्त हुए और श्रीसेन आदि चारों युगलिक, मनुष्य भव पूर्ण कर के प्रथम स्वर्ग में देव हुए।

वैताल्य पर्वत पर ‘रथनूपुर चक्रवाल’ नाम का नगर था। ज्वलनजटी वहाँ का राजा था। ‘अर्ककीर्ति’ नाम का युवराज, वीर एवं योद्धा था। ‘स्वयंप्रभा’ उसकी छोटी बहिन थी। वह अनुपम सुन्दरी थी। उसका लग्न त्रिपृष्ठ वासुदेव के साथ हुआ था। वासुदेव ने इस उपलक्ष में ज्वलनजटी को विद्याधरों की दोनों श्रेणियों का राज्य दे कर अधिपति बना दिया था। विद्याधर नरेश मेघवन की ज्योतिर्माला नाम की पुत्री, युवराज अर्ककीर्ति को ब्याही गई थी। श्रीसेन राजा का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर ज्योतिर्माला की कुक्षि में आया और पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका अप्रतिम तेज देख कर उसका नाम ‘अमिततेज’ रखा। अर्ककीर्ति को राज्यभार दे कर महाराज ज्वलनजटी ने चारण-

मुनि के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। 'सत्यभामा' (जो कपिलशर्मा की पत्नी थी और पति की कुलहीनता के आघात से रानियों के पास रहती थी तथा उन्हीं के साथ मर कर युगलिनी हुई थी) का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर, ज्योतिर्माता की कुक्षि से पुत्रीपने उत्पन्न हुई। उसका नाम 'सुतारा' रखा। महारानी अभिनन्दिता का जीव भी सौधर्म स्वर्ग से च्यव कर त्रिपुष्ट वासुदेव की स्वयंप्रभा रानी के गर्भ से पुत्रपने जन्मा। 'श्रीविजय' उसका नाम दिया गया। इसका परिणय सुतारा के साथ हुआ। श्रीविजय के छोटे भाई का नाम 'विजयभद्र' था। शिखिनन्दिता रानी का जीव भी वासुदेव की स्वयंप्रभा महारानी की कुक्षि से 'ज्योतिप्रभा' नाम की पुत्रीपने उत्पन्न हुआ। इसका विवाह अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज से हुआ।

सत्यभामा ब्राह्मणी का जो 'कपिल' नाम का पति था, वह तिर्यचादि गति में चिरकाल परिभ्रमण करता हुआ मनुष्य-जन्म पा कर चमरचंचा नगरी का 'अशनिघोष' नाम का विद्याधरों का राजा हुआ।

एक बार रथनूपुर चक्रवाल नगर के उद्यान में श्री अभिनन्दन, जगनन्दन और ज्वलनजटी मुनिवर पधारे। महाराज अर्ककीर्ति ने अपने पिता मुनि और उनके गुरु को वन्दना की, धर्मोपदेश सुना और बेराग्य उत्पन्न होने पर अपने पुत्र अमिततेज को राज्याधिकार दे कर दीक्षित हो गया।

भविष्य वाणी

त्रिपुष्ट वासुदेव के मरने पर युवराज श्रीविजय राज्यासीन हुआ। कालान्तर में महाराजा अमिततेज, पत्नी ज्योतिप्रभा के साथ अपनी बहिन सुतारा और बहनोई श्रीविजय से मिलने के लिए पोतनपुर आये। उन्होंने देखा कि पोतनपुर नगर, भीतर और बाहर से पूर्णरूप से सजाया गया है। नरेश अपनी बहिन और बहनोई से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। श्रीविजय ने अमिततेज का बहुत सत्कार किया। दोनों सिंहासन पर बैठे। अमिततेज ने श्रीविजय से पूछा;—

“अभी कौन-सा उत्सव हो रहा है, जिसके लिए यह तय्यारी हुई है?”

—“आठ दिन पूर्व यहाँ एक भविष्यवेत्ता आया था। उसने कहा था कि—“मैं आपके हित के लिए यह सूचना देने के लिए आया हूँ कि आज के सातवें दिन राजा पर

बिजली गिरेगी ।’

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर, क्रोधायमान बने हुए मेरे मुख्यमन्त्री ने उससे कहा ; —
“महाराज पर बिजली पड़ेगी, तब तुझ पर क्या पड़ेगी ?”

—“मन्त्रीवर ! आप मुझ पर क्रोध क्यों करते हैं । मैंने तो वही कहा जो भविष्य बतलाता है । महाराज को सावधान करने और धर्माचरण कर के सुकृत करने के लिए ही मैंने कहा है । किसी प्रकार की स्वार्थ-बुद्धि से नहीं कहा । फिर भी मैं कहता हूँ कि उस समय मुझ पर वसुधारा के समान स्वर्ण, माणिक्य, आभूषण और वस्त्रों की वृष्टि होगी” — भविष्यवेत्ता ने कहा ।

मैंने मुख्यमन्त्री को समझाया कि भविष्यवेत्ता पर क्रोध नहीं करना चाहिए । ये तो यथार्थ कह कर सावधान करने वाले है । मैंने उस भविष्यवेत्ता से पूछा :—

“तुमने भवितव्यता जानने की विद्या किस के पास से पढ़ी ?”

—“महाराज ! वासुदेव के देहावसान के बाद बलदेव प्रव्रजित हुए । उनके साथ मेरे पिता भी दीक्षित हो गए थे और पितृस्नेह के कारण मैं भी उनके साथ लघुवय में ही दीक्षित हो गया था । मैंने उसी साधु अवस्था में ज्ञानी गुरुवर के पास से यह विद्या सीखी थी यद्यपि निमित्त-ज्ञान, अन्य परम्परा में भी है, तथापि पूर्णरूप से सत्य होने की विद्या तो एकमात्र जिनशासन में ही है । मैं लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण और जय-पराजय, यों आठ प्रकार का भविष्य जानता हूँ । संयम का पालन करते हुए मैं यौवनवय में आया । हम सब विहार करते हुए ‘पद्मिनी खंड’ नामक नगर में गये । वहाँ मेरी कूफी रहती थी । उसके चन्द्रयशा नाम की यौवन-प्राप्त पुत्री थी । बालवय में मेरे साथ उसका वाग्दान हो चुका था । किन्तु मेरे दीक्षा लेने के कारण विवाह नहीं हो सका । उस सुन्दरी को देखते ही मैं मोहित हो गया । मोह के जोर से संयम भावना नष्ट हो गई । अन्त में मैंने उस युवती के साथ लग्न कर लिए । संयमी अवस्था में गुरुदेव से प्राप्त भविष्य ज्ञान से मैं आपका भविष्य जान कर सावधान करने के लिए ही आया हूँ, स्वार्थ साधने के लिए नहीं ।”

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर सभी चिन्तित हो गए । एक मन्त्री ने कहा—

“समुद्र में बिजली नहीं गिरती, इसलिए महाराज सात दिन पर्यन्त जलयान में बैठ कर समुद्र में रहें ।”

दूसरे मन्त्री ने कहा—“यह उपाय निरापद नहीं, वहाँ भी बिजली गिर सकती है । मेरे विचार से वैताड्य पर्वत पर रहने से रक्षा हो सकती है । क्योंकि इस अवसर्पिणी काल

में वहाँ विद्युत्पात नहीं होता । इसलिए महाराज, उस गिरि की किसी गुफा में सात दिन रहें, तो रक्षा हो सकती है ।”

तीसरे मन्त्री को यह उपाय पसन्द नहीं आया । उसने कहा—“जो भवितव्यता—होनहार है—निश्चित है, वह तो होगा ही । वह रुक नहीं सकता, न उसमें परिवर्तन ही हो सकता है । इस बात को समझाने के लिए मैं एक कहानी सुनाता हूँ । आप ध्यानपूर्वक सुने ।”

मन्त्रीजी कथा कहने लगे—“एक नगर में एक ब्राह्मण रहता था । उसके वर्षों तक कोई संतान नहीं हुई । उसने अनेक देवी-देवता मनाए और कई यन्त्र-मन्त्र-औषधादि का प्रयोग किया । बाद में ढलती उम्र में उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ । दुर्देव के योग से एक नरभक्षी राक्षस उस नगर में उपद्रव करने लगा । वह प्रतिदिन बहुत से मनुष्यों का हरण कर जाता और उन्हें मार डालता । फिर प्रत्येक मनुष्य में से थोड़ा-थोड़ा मांस खा कर बाकी सब को फेंक देता । राक्षस की इस प्रकार की क्रूरता से सर्वत्र हाहाकार मच गया । राजा के भी सभी प्रयत्न व्यर्थ गए । अंत में राजा ने राक्षस को समझाया कि ‘तू रोज इतने मनुष्यों को क्यों मारता है, तेरे खाने के लिए तो एक मनुष्य पर्याप्त है और वह तेरे स्थान पर चला आया करेगा । तुझे यहाँ आने का कष्ट नहीं करना चाहिए ।’ राक्षस मान गया । नगर निवासियों के सब के नाम की चिट्ठियाँ बना कर एकत्रित की गई । उन सब चिट्ठियों में से जिसके नाम की चिट्ठी निकलती, उन्हें राज्य के सैनिक पकड़ कर राक्षस के स्थान पर ले जाते और राक्षस उसे मार कर खा जाता । कालान्तर में उस ब्राह्मण के पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली और सैनिक उसे लेने को आये, तो उसकी माता को बड़ा भारी आघात लगा । वह पछाड़ खा कर रोने लगी । उसके करुण क्रन्दन से आस-पास के लोग भी द्रवित हो गए । उस ब्राह्मण के घर के निकट एक भूतघर था, जिसमें बहुत से भूत रहते थे । जब भूतों ने ब्राह्मणी का रुदन सुना, तो उनके मन में भी करुणा भर आई । एक बड़े भूत ने ब्राह्मणी से कहा—

“तू रो मत और तेरे पुत्र को राक्षस के पास ले जाने दे । मैं उसके पास से छिन कर तेरे पुत्र को ला कर तुझे दे दूंगा । इससे राजाशा का उल्लंघन भी नहीं होगा और तेरा पुत्र भी बच जायगा ।”

ब्राह्मणी को संतोष हो गया । सैनिक, ब्राह्मण-पुत्र को राक्षस के पास छोड़ कर लौट आए । जब राक्षस उस लड़के को मारने आया, तो भूत ने उसका संहरण कर के

उसकी माना के पास पहुँचा दिया। ब्राह्मणी, पुत्र की रक्षा के लिए उसे ले कर एक पर्वत की गुहा में छिप गई। उस गुहा में एक अजगर रहता था। वह उस लड़के को निगल गया। वह लड़का राक्षस से वचा, तो अजगर ने खा लिया। इस प्रकार हे महाराज ! जो भवितव्यता होती है, वह तो हो कर ही रहती है। इसलिए मेरा तो यही निवेदन है कि आप तपस्या करें। तपस्या से कठिन कर्म भी क्षय हो जाते हैं।”

चौथे मन्त्री को यह उपाय भी ठीक नहीं लगा। उसने कहा—

“इस भविष्यवेत्ता ने तो यही कहा है कि—‘पोतनपुर के राजा पर बिजली गिरेगी।’ इसने यह तो नहीं कहा कि—‘महाराज श्रीविजय पर बिजली गिरेगी।’ यदि राजा पर ही बिजली गिरने वाली है, तो एक सप्ताह के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को राजा बना दिया जाय और तब तक महाराज पोषधयुक्त रह कर धर्म साधना करें। इस प्रकार महाराज पर का भय दूर हो सकता है।”

मन्त्री की उपरोक्त बात सुन कर भविष्यवेत्ता प्रसन्न हुआ। उसने मन्त्री की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की और कहा कि—“मेरे भविष्य ज्ञान से भी आपका मतिज्ञान बहुत ऊँचा है। इस दुरित के परिहार के लिए यह उपाय बहुत उत्तम है। यही होना चाहिए और शीघ्र होना चाहिए।

—“अपने जीवन के लिए किसी निरपराध मनुष्य की हत्या करवाना उचित है क्या ? मैं दूसरे का जीवन नष्ट कर के जीवित रहना नहीं चाहता।”—मैंने (राजा ने) भविष्यवेत्ता और मन्त्री से कहा।

—“महाराज ! इसका भी उपाय है। अपन किसी जीवित प्राणी को राजा नहीं बना कर ‘वैश्रमण देव की मूर्ति’ का ही राज्याभिषेक कर दें। सप्ताह पर्यन्त उसका राज्य रहे। यदि विद्युत्पात हुआ और मूर्ति भंग हो गई, तो अपन विशेष मूल्यवान् मूर्ति बनवा कर प्रतिष्ठित कर देंगे। अपना काम भी बन जायगा और किसी मनुष्य का जीवन भी नष्ट नहीं होगा।”—उसी बुद्धिमान मन्त्री ने कहा।

मन्त्री की योजना सभी ने स्वीकार कर ली। वैश्रमण देव की मूर्ति, राजसिंहासन पर स्थापित की गई। मैं धर्म-स्थान पर जा कर पोषध व्रत ले कर धर्म साधना करने लगा। जब सातवाँ दिन आया, तो मध्याह्न के समय आकाश में बादल छा गए। घनघोर वर्षा होने लगी और घोर गर्जना के साथ इतने जोर से बिजली कड़की कि जैसे आकाश को फोड़ रही हो। और एक ऐसी अग्निशिखा उत्तरी—जिसका प्रकाश, अग्नि और सूर्य के तेज से

भी सैकड़ों गुना अधिक था। वह अग्निशिखा—विद्युत्लहर सीधी राजसिंहासन पर उतरी और वैश्रमण की मूर्ति के कई टुकड़ हो गए। उपद्रव दूर हुआ जान कर मन्त्रियों, राजकुटुम्बियों और अन्तःपुर ने भविष्यवेत्ता पर स्वर्ण, रत्न आदि की वृष्टि की। मने भी उसे पद्मिनीखंड नगर प्रदान किया और वैश्रमण की रत्नमय नई प्रतिमा बना कर प्रतिष्ठित कर दी। भयंकर विघ्न टल जाने से मन्त्री, अधिकारीगण एवं प्रजाजन यह महोत्सव मना रहे हैं।”

श्रीविजय नरेश से उपरोक्त वृत्तान्त सुन कर अमिततेज हर्षित हुआ। उसने अपनी बहिन को वस्त्रालंकार का प्रीतिदान दे कर संतुष्ट किया और कुछ दिन रह कर अपनी राजधानी में लौट आया।

सुतारा का हरण

एक बार श्रीविजय नरेश, रानी सुतारा के साथ वनविहार के लिए ज्योतिर्वन में गए। वे वहाँ क्रीड़ा कर ही रहे थे कि कपिल का जीव अशनिघोष विद्याघर आकाश मार्ग में कहीं जा रहा था। उसकी दृष्टि सुतारा पर पड़ी। पूर्व का स्नेहानुबन्ध जाग्रत हुआ। यद्यपि अशनिघोष, यह नहीं जानता था कि यह सुन्दरी मेरी पूर्वभव की पत्नी है, तथापि अदृश्य मोह-प्रेरणा से वह सुतारा पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया और उसका हरण करने का निश्चय किया। विद्याएँ उसकी सहायक हो गईं। उसने एक सुन्दर मृग की विकुर्वणा की। वह मृग नाचता-कूदता और चौकड़ी भरता हुआ क्रीडारत राजा और रानी के निकट हो कर निकला। मृग को देख कर रानी मोहित हो गई और राजा से उस मृग को पकड़ लाने के लिए आग्रह किया। राजा, मृग के पीछे भागा, बहुत भागा, किन्तु वह तो छल मात्र था। वह भुलावा दे कर भागता रहा। इधर वह विद्याघर सुतारा को उठा कर ले उड़ा। उस दुरात्मा ने राजा का जीवन नष्ट करने के लिए प्रतारिणी विद्या का सहारा लिया और सुतारा का दूसरा रूप बना कर उससे जोर की चिल्लाहट करवाते हुए कह-लाया — “मुझे कुक्कुट सर्प डस गया। हाथ में मरी।” यह आवाज सुनते ही राजा घबड़ाया और शीघ्रता से दौड़ कर वहाँ आया। उन्होंने देखा उसकी प्राणप्रिय रानी छटपटा रही है। राजा ने वहाँ जितना भी हो सका उपचार किया, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ और रानी मर गई। रानी का विप्रयोग राजा सह नहीं सका और संज्ञा-शून्य हो गया। थोड़ी देर बाद

राजा उठा। उसने लकड़ियाँ एकत्रित कर के चिता रची और अपनी प्रिया का शव गोदी में ले कर चिता में बैठ गया, तथा अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न करने लगा। इतने में दो विद्याधर वहाँ आये। उनमें से एक ने अभिमन्त्रित जल चिता पर छिड़का। जल छिटकना था कि मृत सुतारा के रूप में रही हुई प्रतारिणी विद्या अट्टहास करती हुई पलायन कर गई। राजा दिग्भ्रष्ट हो गया। वह सोचने लगा—“वह प्रज्वलित अग्नि कैसे बूझ गयी? मेरी प्रिया कहाँ? अट्टहास करती हुई चली जाने वाली वह स्त्री कौन थी? क्या यह कोई इद्रजाल या देवमाया तो नहीं है?” उसने अपने सामने दो पुरुषों को देखा। राजा ने उन्हें पूछा—“तुम कौन हो? यह सारा भ्रम-जाल किसने रचा?”

आगत पुरुषों ने राजा को प्रणाम किया और कहने लगे:—“हम महाराज अमित-तेज (श्री विजय नरेश के साले) के सेवक हैं। हम पिता-पुत्र हैं। हम इधर आ रहे थे कि हमारे कानों में एक महिला की चित्कार और कण्ठ पुकार पड़ी। वह इस प्रकार चिल्ला रही थी—

“हे प्राणनाथ! हे महाराज श्री विजय! यह दुष्ट विद्याधर मुझे आप से चुराकर ले जा रहा है। मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। हे बन्धुवर अमिततेज! बहिन सुतारा को यह चोर ले जा रहा है। मुझे बचाओ, छुड़ाओ।”

इस प्रकार आक्रन्द पूर्ण पुकार सुनते ही हम दोनों उस दुष्ट पर झपटे और उससे युद्ध करने को तत्पर हुए। किंतु हमें युद्ध से रोकते हुए सुतारा ने कहा—

“भाई! अभी तुम लड़ना रहने दो और शीघ्र ही ज्योतिर्वन में जा कर मेरे प्राणेश्वर महाराज श्रीविजय को संभालो। कहीं मेरे विद्योग में वे कुछ अनर्थ नहीं कर बैठें। उनके जीवन से ही मेरा जीवन रहेगा। वे जीवित रहेंगे, तो मुझे मुक्त करा ही लेंगे।”

“देवी की बात हमारी समझ में आई और हम शीघ्र ही यहाँ आये और मन्त्रित जल छिड़का, जिससे अग्नि बुझी और सुतारा के रूप में रही हुई प्रतारिणी विद्या का प्रभाव हटा और वह अट्टहास करती हुई भाग गई। वह एक छल ही था और आपके विनाश के लिए ही उस चोर विद्याधर ने रचा था। देवी सुतारा को तो वह ले गया है। अब आप हमारे साथ वैताढ्य पर चलिए। वहाँ महाराज अमिततेज से मिल कर देवी को मुक्त कराने का प्रयत्न करेंगे।”

महाराज श्रीविजय, उन विद्याधरों के साथ वैताढ्य पर्वत पर गए। महाराज

अमिततेज, अपनी बहिन सुतारा के साहरण की बात सुन कर क्रोधित हुए। उन्होंने योद्धाओं की एक बड़ी सेना, अपने वीरपुत्रों सहित श्रीविजय को दी और श्रीविजय को शस्त्रावरणी, बन्धनी और विमोचनी विद्याएँ दीं। सेना चमरचंचा की ओर बढ़ी। अमिततेज जानता था कि अशनिघोष के पास कई प्रकार की विद्याएँ हैं। इसलिए उसकी समस्त विद्याओं पर विजय पाने के लिए 'महाज्वाला' नाम की विद्या साधना आवश्यक है। वह अपने पराक्रमी पुत्र सहस्ररश्मि के साथ हिमवत पर्वत पर गया। वहाँ महर्षि जयंत कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ थे। महर्षि को वन्दना कर के वह मास पर्यन्त चलने वाली साधना में लग गया और सहस्ररश्मि उसकी रक्षा करने लगा।

श्रीविजय, उस विशाल सेना के साथ अमिततेज की राजधानी चमरचंचा पहुँचा। उसने अपना दूत भेज कर अशनिघोष को भर्त्सनापूर्वक सुतारा को अर्पण करने की माँग की। अशनिघोष कब मानने वाला था? उसने दूत को तिरस्कार पूर्वक निकाल दिया और युद्ध के लिए सेना सहित अपने पुत्रों को भेजा। युद्ध आरंभ हो गया। घमासान युद्ध में हजारों मनुष्य मारे गये। जब अशनिघोष के पुत्र और सेना हार गई, तो स्वयं अशनिघोष रणभूमि में आया। उसने पराक्रम से अमिततेज के पुत्रों का बल क्षीण कर दिया। वे घायल और सुस्त हो गए। यह दशा देख कर श्रीविजय नरेश आगे आये और अशनिघोष से युद्ध करने लगे। दोनों वीरों का युद्ध अनेक प्रकार के घात-प्रत्याघात से चलता रहा। दोनों योद्धा अपनी-अपनी शस्त्र-शक्ति और विद्या-शक्ति का प्रयोग करने लगे। अन्त में श्रीविजय ने अशनिघोष के शरीर के दो टुकड़े कर दिये, तो विद्या-शक्ति से दोनों टुकड़ों के दो अशनिघोष बन कर लड़ने लगे। उन दो के चार टुकड़े हुए, तो चारों वैसे ही बन कर लड़ने लगे। होते-होते शत्रु की संख्या हजारों तक पहुँच गई। श्रीविजय के लिए अब युद्ध करना असंभव हो गया। इतने में अमिततेज विद्या सिद्ध कर के आ पहुँचा। उसने महाज्वाला विद्या छोड़ी। इस विद्या का तेज सहन नहीं कर सकने के कारण शत्रु-सेना शस्त्र डाल कर अमिततेज की शरण में आ गई और अशनिघोष भाग गया। अमिततेज ने महाज्वाला विद्या को अशनिघोष के पीछे, उसे पकड़ लाने के लिए लगा दिया।

आगे-आगे अशनिघोष और पीछे महाज्वाला नाम की विद्या—जो अन्य सभी विद्याओं का पराभव कर के विजयी होती है। अशनिघोष को कहीं भी शरण नहीं मिली। अन्त में वह दक्षिण-भरत में पहुँचा। सीमान्त के निकट ही एक पर्वत पर महर्षि अचल मुनि, एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा धारण कर शुक्ल-ध्यान में लीन थे। उन्होंने घातिकर्मों को

नष्ट कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । देवगण उनके केवलज्ञान की महिमा करने के लिए वहाँ आय । अभिनन्दन, जगनन्दन, ज्वलनजटी, विजटी, अर्ककीर्ति, पुष्पकेतु और विमलमति आदि चारण मुनि भी केवलज्ञानी भगवान् की वन्दना करने के लिये आये और प्रदक्षिणा एवं नमस्कार कर के बैठे । उसी समय अशनिघोष भी भयभीत दशा में भागता हुआ वहाँ आया और केवली भगवान् की शरण में बैठ गया । महाज्वाला से बचने के लिए अशनिघोष को केवली भगवान् का शरण, शीतल अमृतमय जल से भरे हुए द्रव्य के समान रक्षक हुआ । जहाँ द्रव्य और भाव सभी प्रकार की ज्वालाएँ शांत होती हैं । केवली भगवान् की सभा में इन्द्र के वज्र की भी गति नहीं हो सकती, तो मानवी विद्याएँ क्या कर सकती थी ? वह लौट गई और अमिततेज को अपनी असफलता का कारण बताया । अमिततेज और श्रीविजय यह वृत्तांत सुन कर अत्यंत प्रसन्न हुए । उन्होंने मरीचि को आज्ञा दी कि वह नगर में से सुतारा को ले आवे । दोनों नरेश शीघ्र ही विमान द्वारा केवली भगवान् की सेवामें पहुँचे और वन्दना नमस्कार कर बैठ गए ।

मरीचि अन्तःपुर में पहुँचा । उसने देखा—सुतारा अत्यंत दुःखी, मुरझाई हुई लता जैसी और तप से कृश बनी हुई है । उसने अशनिघोष की माता से अमिततेज की आज्ञा सुना कर सुतारा को ले जाने की बात कही, तो वह स्वयं सुतारा को साथ ले कर केवलज्ञानी भगवन्त के समीप आई । वहाँ उसके पति मुनिजी भी उपस्थित थे ।

अशनिघोष ने महाराजा श्रीविजय और अमिततेज से अपने अपराध की क्षमा माँगी । उन्होंने भी उसे क्षमा कर दिया । वीतरागी भगवान् की सभा में वे अपना वैर-विरोध भूल कर प्रशस्त परिणाम वाले हो गए । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया । धर्मोपदेश पूर्ण होने पर अशनिघोष ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा,—

“प्रभो ! ऐसा कौन-सा कारण था कि जिससे मैंने अज्ञानक सुतारा का हरण कर लिया ? मैं तो श्री जयन्त मुनि के दर्शनार्थ गया था और वहाँ सात उपवास कर के भ्रामरी विद्या की साधना की थी । वहाँ से लौटते समय ज्योतिर्वन में सुतारा को देखते ही मेरे मन में एकदम स्नेह उमड़ आया । मैंने स्नेहाधीन हो कर प्रतारिणी विद्या से श्रीविजय को छला और सुतारा को अपने घर ले आया । मेरे मन में कोई दुष्ट भावना नहीं थी । मैंने सुतारा को अपनी माता के पास रखा और उसे एक भी कुवचन नहीं कहा । सुतारा निष्कलंक है, किन्तु मैंने बिना दुष्ट-भावना के स्नेहवश हो कर सुतारा का हरण क्यों किया ? मेरे मन में बिना पूर्व परिचय के, देखने-मात्र से ही ऐसा प्रबल स्नेह क्यों

जाग्रत हुआ ?”

केवली भगवान् ने उसके कपिल के भव और सुतारा के, सत्यभामा के भव तथा श्रीसेन, उसकी दोनों रानियाँ—अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता के पूर्वभव की कथा सुनाई + और कहा कि “सुतारा ही सत्यभामा का जीव है और तुम कपिल के जीव हो। तुम आर्त्तध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर अनेक योनियों में परिभ्रमण करते रहे, फिर धर्मिल नाम के तापस-पुत्र हुए। बड़े होने पर अपने तापस-पिता से ही तापसी दीक्षा ले कर बाल-तप करने लगे। कई प्रकार से अज्ञान कष्ट सहन किये। कूँ, बावड़ी और सरोवर बनाए। तापसों के समिधा के लिए कुल्हाड़े से वृक्ष काटे, घास आदि काट कर स्थान साफ किये। धुनी, यज्ञ और मार्ग में दीप-दान कर के अनेक पतंगादि जीवों का संहार किया। भोजन के समय कौए आदि दुष्ट तिर्यचों को पिण्ड-दान किया। बड़-पीपल आदि वृक्षों को देव के समान पूजा, गाय की पूजा की, इत्यादि अनेक प्रकार से, धर्म-बुद्धि से बहुत काल तक कार्य करते रहे। एक बार एक विद्याधर को विमान में बैठ कर आकाश मार्ग से जाते देख कर तुमने संकल्प किया कि ‘यदि मेरी साधना का फल हो, तो मैं भी ऐसा विद्याधर बनूँ।’ तापस का भव पूर्ण कर के तुम विद्याधर हुए और सुतारा को देखते ही पूर्व-स्नेह के गाढ़-रूप से उदय होने के कारण तुमने उसका हरण कर लिया।”

केवली भगवान् की देशना से जन्म-मरण सम्बन्धी विडम्बना और मोह का महा भयानक परिणाम जान कर श्रीविजय, अमिततेज, सुतारा और अशनिघोष परम संवेग को प्राप्त हुए। अमिततेज ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा—

“जगदुद्धारक ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?” भगवान् ने कहा—

“इस भव से नौवें भव में तू पाँचवाँ षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट होगा और चक्रवर्ती की ऋद्धि का त्याग कर के ‘शांतिनाथ’ नाम का सोलहवाँ तीर्थंकर हो कर मोक्ष प्राप्त करेगा। ये श्रीविजय नरेश, तुम्हारे प्रथम पुत्र और प्रथम गणधर होंगे।”

अपना उज्ज्वल भविष्य जान कर दोनों नरेश प्रसन्न हुए और भगवान् से श्रावक के बारह व्रत धारण किये। अशनिघोष तो संसार से एकदम उद्विग्न हो गया था। उसने उसी समय सर्वस्व का त्याग कर निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार की। श्रीविजय की माता ‘स्वयं-प्रभा’ (जो त्रिपुष्ट बासुदेव की पटरानी) भी प्रव्रजित हो गई।

श्रीविजय और अमिततेज, श्रावक-व्रत की आराधना करने लगे। एक बार मास-खमण तप वाले एक तपस्वी श्रमण चमरचंचा नगरी में आये। अमिततेज नरेश ने उन्हें

+ देखो पृष्ठ ३०१।

अत्यंत भक्तिपूर्वक प्रतिश्रुति में । चित्त, वित्त और पात्र की उत्कृष्टता से वहाँ पंच-दिव्य प्रकट हुए ।

वासुदेव अनन्तवीर्यजी

दोनों नरेश, श्रावक व्रत का हजारों वर्षों तक पालन करते रहे । एक बार दोनों नरेश, अवधिज्ञानी मुनिवर की पर्युपासना कर रहे थे । धर्मोपदेश के पश्चात् अपनी शेष आयु के विषय में प्रश्न किया । मुनिवर ने छब्बीस दिन की उनकी शेष आयु बतलाई । दोनों नरेश अपनी स्वल्प आयु जान कर चौंक गए । तत्काल राजधानी में आ कर उन्होंने अपने पुत्रों को राज्याधिकार दिया और प्रव्रजित हो कर पादपोषणमन अनशन कर लिया । अनशन के चलते श्रीविजय मुनिजी के मन में अपने पिता का स्मरण हुआ । सोचते हुए उनकी विचारधारा अमर्यादित हो गई । उन्हें विचार हुआ—मेरे तो तीन खण्ड के अधिपति थे । उन्हें 'वासुदेव' पद प्राप्त था । वे तीनों खण्ड में एक-छत्र राज करते रहे । हजारों राजा उनकी आज्ञा के पालक थे । किन्तु मैं तो मनुष्य-भव पा कर वैसा कोई उत्तम पद प्राप्त नहीं कर सका और एक साधारण राजा ही रहा । अब यदि मेरी साधना का उत्तम फल हो, तो मैं भी वंसी ही उत्तम कोटि का नरेश बनूँ—इस प्रकार निदान कर लिया । मुनिवर अमिततेज ने अपनी भावना नहीं बिगड़ने दी । दोनों मुनिवर आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवें स्वर्ग के 'सुस्थितावर्त' और 'नन्दितावर्त' नाम के विमान के स्वामी 'मणिचूल' और 'दिव्यचूल' नाम के देव हुए । उनकी आयु बीस सागरोपम प्रमाण थी ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय में 'शुभा' नाम की एक नगरी थी । उसके राजा का नाम 'स्तिमितसागर' था । उसके 'वसुन्धरा' और 'अनुद्धरा' (अनंगसेना) — ये दो सुन्दर और सुशील रानियाँ थीं । अमिततेज का जीव, देवलोक से च्यव कर रानी वसुन्धरा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । रानी ने बलदेव के योग्य गर्भ होने के सूचक चार महास्वप्न देखे । पुत्र-जन्म हुआ और उसका 'अपराजित' नाम रखा गया । कालान्तर में श्रीविजय का जीव भी देवलोक से च्यव कर रानी अनुद्धरा के गर्भ में आया । उसने वासुदेव के योग्य सात महास्वप्न देखे । गर्भ-काल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'अनन्तवीर्य' रखा । योग्य वय होने पर दोनों भाई समस्त कलाओं में पारंगत हुए ।

एक बार महाराजा स्तिमितनागर अश्वाखुड हो कर वन में गए । वहाँ एक वृक्ष के नीचे विविध अतिशय सम्पन्न प्रतिमाधारी मुनिराज स्वयंप्रभ को ध्यानाखुड देखा । राजा घोड़े से नीचे उतर कर मुनिराज के निकट गया और वन्दना कर के बैठ गया । मुनिराज ने राजा को धर्मोपदेश दिया । राजा धर्मोपदेश सुन कर संसार से विरक्त हो गया । वह राजधानी में आया और अपने राज्य का भार राजकुमार अनन्तवीर्य को दे कर प्रव्रजित हो गया । उसने बहुतकाल तक संयम और तप की आराधना की, किंतु बाद में मानसिक विराधना से चलित हो कर मृत्यु पाया और भवनपति देवों में चमरेन्द्रपने उत्पन्न हुआ ।

नारद-लीला निमित्त बनी

राजा अनन्तवीर्य अपने बड़े भाई अपराजित के साथ राज्य का संचालन कर रहा था । कालान्तर में एक विद्याधर के साथ मित्रता हो गई । उस विद्याधर ने प्रसन्न हो कर महाविद्या प्रदान की । राजा के बर्बरी और किराती नाम की दो दासियाँ थीं । वे रूप में अत्यंत सुन्दर और गायन तथा नृत्य-कला में अत्यंत निपुण थीं । वे अपनी कला का प्रदर्शन कर के राजा के मन को आनन्दित करती रहती थीं । एक बार वे राज-सभा में नृत्य कर रही थी, इतने में कौतुक-प्रिय एवं भ्रमणशील नारदजी वहाँ आ पहुँचे । उस समय दोनों नृत्यांगनाओं का उत्कृष्ट नृत्य देखने में अनन्तवीर्य महाराज और उनके ज्येष्ठ-भ्राता तल्लीन हो गए थे । उन्हें नारदजी के आने का आभास भी नहीं हुआ, इसलिए वे उनका आदर नहीं कर सके । अपना सम्मान नहीं होने के कारण नारदजी क्रोधित हो गए । उन्होंने सोचा—“इन घमंडी लोगों को मेरी परवाह ही नहीं है । अपने अभिमान में वे इतने अन्धे हो गए कि इन नाचनेवाली दासियों ने भी मेरी इज्जत नहीं की । ठीक है, मैं अपने अनादर का मजा चखाता हूँ । इन्हें मालूम हो जायगा कि नारद के अनादर का क्या परिणाम होता है ।” इस प्रकार सोच कर वे वहाँ से लौट गए और बंताड्य पर्वत पर विद्याधरों के अधिपति राजा दमितारि की राज-सभा में पहुँचे । उस समय वह सैकड़ों विद्याधरों की सभा में बैठा था । नारदजी को आते देख कर वह सिंहासन से नीचे उतरा और उन्हें सत्कारपूर्वक सिंहासन पर बैठने का आग्रह किया । किंतु नारद अपना दर्भासन बिछा कर बैठ गए । उन्हें केवल योग्य सत्कार की ही चाह थी । उन्होंने राजा का कुशल-क्षेम पूछा । राजा ने योग्य शिष्टाचार के बाद पूछा ;—

ऋषिवर ! आपका भ्रमण तो सर्वत्र होता रहता है । विश्व की अनोखी वस्तुएँ

आपके देखने में आती है। यदि कोई आश्चर्यजनक वस्तु आपके देखने में आई हो, तो हमें भी सुनाइये।”

नारदजी का मनोरथ सफल होने का अवसर उपस्थित हो गया। वे मन में प्रसन्न हुए और कहने लगे;—

“राजन् ! मैं आज ही एक अद्भूत आश्चर्य देख कर आ रहा हूँ। मैं ‘शुभा’ नाम की नगरी में गया था। अनन्तवीर्य राजा की सभा में मैंने बर्बरिका और किराती नाम की दो रमणियाँ नृत्य-कला में इतनी प्रवीण देखी कि उनके जैसा नृत्य तो कदाचित् स्वर्ग में भी नहीं होगा। मैं स्वर्ग में भी गया हूँ, किन्तु मैंने ऐसा उत्कृष्ट नृत्य तो वहाँ भी नहीं देखा।”

“नराधिप ! जिस प्रकार देवों में इन्द्र सर्वोत्तम ऋद्धि का स्वामी है, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर एक आप ही ऐसे नरेन्द्र हैं कि जहाँ सर्वोत्तम वस्तु सुशोभित होती है। मेरे विचार से वे उत्कृष्ट नृत्यांगनाएँ आपके ही योग्य हैं। जब तक आप उन्हें यहाँ ला कर अपनी सभा का गौरव नहीं बढ़ाते, तब तक आपकी समृद्धि में न्यूनता ही रहेगी।”

बस, लगा दी चिनगारी—नारदजी ने। यह नहीं सोचा उन्होंने कि मेरी इस बात से कितना अनर्थ हो जायगा। अनजान में आदर नहीं होना, अपमान नहीं है। किन्तु उन्हें इस बात का विवेक नहीं था। वे विष का बीज बो कर चले गए।

नारदजी की बात सुनते ही तीन खंड के अधिपति (प्रतिवासुदेव) पुन का गर्ब दमितारि के मन में उठ खड़ा हुआ। उसने अपना राजदूत अनन्तवीर्य नरेश के पास भेजा। दूत ने बड़ी शिष्टता के साथ नृत्यांगना की माँग की। राजा ने दूत से कहा—

“तुम जाओ। हम बाद में विचार कर के दासियों को भेज देंगे।”

दूत चला गया। उसके बाद दोनों भाइयों ने परामर्श किया कि दमितारि विद्या के बल से हम पर शासन करता है। हम भी विद्याधर मित्र की दी हुई महाविद्या को सिद्ध कर लें तो फिर हम उससे टक्कर ले सकेंगे। इस प्रकार निश्चय कर के वे विद्या सिद्ध करने को तत्पर हुए। उनके निश्चय करते ही प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ स्वतः प्रकट हुईं और उनके शरीर में समा गईं। दोनों भाई बलवान् तो थे ही, इन विद्याओं की प्राप्ति से कवच-धारी सिंह की भाँति अधिक बलवान् हो गए।

जब दोनों नर्तकियाँ दमितारि के पास नहीं पहुँची, तो उसने पुनः दूत भेजा। दूत ने तिरस्कारपूर्वक कठोर शब्दों में नर्तकियों की माँग की और यहाँ तक कहा कि—“यदि

तुमने दासियों को भेजने में विलम्ब किया, तो यह मृत्यु को निमन्त्रण देने के समान होगा और तुम राज्य-भ्रष्ट किये जा कर निकाल दिये जाओगे ।”

दूत की बात सुन कर दोनों भ्राताओं को क्रोध तो आया, किंतु उन्होंने उसे प्रकट नहीं होने दिया और हँसते हुए राजदूत से कहने लगे; —

“महाराजा दमितारि की भेंट के योग्य तो मृत्यवान् रत्न, उत्तम जाति के अश्व और गजराज हो सकते हैं, दासियाँ नहीं । किंतु महाराज यही चाहते हैं, तो हम दे देंगे । तुम अभी विश्राम करो । संध्या के समय दोनों दासियाँ तुम्हारे पास आ जायगी ।”

राजदूत संतुष्ट हो कर विश्राम-स्थान पर चला गया ।

वासुदेव-बलदेव नर्त्तकियों के रूप में

दोनों बन्धु, महाराजा दमितारि और उसके वैभव को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे । उन्होंने तत्काल योजना बनाई और राज्य-भार मन्त्रियों को सौंप दिया । फिर दोनों ने विद्याबल से बर्बरी और किराती का रूप बनाया और दूत के पास आ कर कहने लगी; —

“हमें आपके साथ, महाराजा दमितारि की सेवा में पहुँचने के लिए महाराजा ने भेजा है । अतएव चलिये । हम तय्यार हैं ।”

राजदूत प्रसन्न हुआ और दासी रूपधारी दोनों महाभुज योद्धाओं को ले कर रवाना हुआ । राजधानी में पहुँचते ही महाराजा के सामने उपस्थित किये गये । दमितारि, सुन्दर-तम नृत्यांगना रूपी योद्धाओं को देख कर संतुष्ट हुआ और शीघ्र ही नाटक का आयोजन करने की आज्ञा दी ।

महाराजा की आज्ञा होते ही नाट्य-सुन्दरी बने हुए दोनों भ्राता रंगभूमि में आये और प्रत्याहारादि अंग से नाटक का पूर्वरंग जमाने लगे । रंगाचार्य ने पुष्पांजलि से रंग पूजा की । गायिकादि परिजन यथास्थान बैठे । नट ने आ कर नन्दी-पाठ किया और अभिनय का प्रारम्भ किया गया । विविध रसों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप, इस उत्तमता से उपस्थित किये कि दर्शक मंत्रमुग्ध हो गए । विदूषक के दृश्य भी अपने रूप, चेष्टा एवं वचनों से हास्य की सरिता बहाने लगे । कोई बड़े पेट वाला, बड़े दांत वाला, लंगड़ा, कूबड़ा आदि विविध रूप लिये हुए, कोई बगल बजा कर निरक्षरी ध्वनि निकालता है, तो कोई नासिका बजाता है । दूसरों की नकल कर के हँसाने वाले रूप भी दर्शक-सभा का भरपूर

मनोरंजन करने लगे । यों विविध प्रकार के उत्तमोत्तम अभिनय से दोनों छद्मवेशी नट सुन्दरियों ने महाराजाधिराज को मोह लिया । नरेश मानने लगे कि ये दोनों दासियाँ कला में पारंगत हैं और संसार में रत्न के समान हैं ।

महाराजा दमितारि के 'कनकश्री' नाम की वय-प्राप्त कन्या थी । नरेश ने सोचा कि उच्च शिक्षा देने में ये दोनों नट-सुन्दरियाँ पूर्ण समर्थ हैं । उसने दूसरे दिन से ही दोनों को पुत्री की शिक्षा के रूप में नियुक्त कर दिया । यौवनवय को प्राप्त, परम सुन्दरी कनकश्री को देख कर अनन्तवीर्य मुग्ध हो गए । वे दोनों भ्राता उसे शिक्षा देते और प्रसंगोपात महाराजा अनन्तवीर्य का यशोगान भी करते रहते थे । उनके रूप, शौर्य, औदार्य आदि गुणों का वर्णन सुन कर राजकुमारी का मन उनकी ओर फिराया । बार-बार अनन्तवीर्य की प्रशंसा सुन कर एक दिन कनकश्री ने पूछा—'जिनकी तुम बार-बार प्रशंसा करते हो, वह अनन्तवीर्य कौन है ?' नटीरूपधारी महाबाहु अपराजित बोले ; —

“शुभा नगरी के महाप्रतापी स्वर्गीय नरेश स्तिमितसागर के पुत्र और महाबाहु अपराजित के कनिष्ठ भ्राता, महाराज अनन्तवीर्य, इस सृष्टि में अद्वितीय योद्धा, मदनावतार एवं महामानव हैं । वह महाबली, शत्रुओं के गर्व को नष्ट करने वाला तथा शरणागतवत्सल है । अधिक क्या कहूँ, उसके समान इस पृथ्वी पर दूसरा कोई नहीं है । वह पुरुषोत्तम है । हम दोनों वहीं से आई हैं ।”

अनन्तवीर्य की कीर्तिकथा सुन कर कनकश्री आकर्षित हो गई । उसके मन में रहा हुआ मोह जाग्रत हो गया । वह उन्हीं के विचार करने लगी । उसे विचार-मग्न देख कर अपराजित ने कहा—

“आप चिन्ता क्यों करती है ? यदि आपकी इच्छा उन्हें देखने की होगी, तो मैं तुम्हें उनके दर्शन करा दूंगी । मेरी विद्या-शक्ति से मैं दोनों बन्धुओं को यहाँ उपस्थित कर के उनसे तुम्हें मिला दूंगी ।”

कनकश्री यही चाहती थी । उसे आशा नहीं थी कि वह कभी उस पुरुषोत्तम को देख सकेगी । उसने कहा—“यदि आप उनके दर्शन करा दें, तो बड़ा उपकार होगा । मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार आप कला में सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार अन्य विद्याओं में भी सर्वोत्तम हैं । आप मेरी मनोकामना शीघ्र पूर्ण करेंगे ।”

कनकश्री की बात सुनते ही दोनों भ्राताओं ने अपना निज-स्वरूप प्रकट किया । राजकुमारी स्तब्ध रह गई । अपराजित ने कहा—“भद्रे ! यह मेरा छोटा भाई और शुभा

नगरी का नरेश महाराज अनन्तवीर्य है ।”

राजकुमारी दिग्मूढ़ हो गई । उसके मन में विस्मय, लज्जा, प्रमोद आदि कई प्रकार के भाव आ-जा रहे थे । क्षणभर बाद ही उसके हृदय में से अन्योन्य भाव निकल कर एकमात्र मोह—आसक्ति भाव स्थायी रह गया । अनन्तवीर्य भी उस रति-रूपा राज-कुमारी को निरख कर विशेष रूप से रोमांचित हो गया । राजकुमारी स्वस्थ हो कर कहने लगी ।

“आर्य पुत्र ! यह नाटक भी अच्छा रहा । भाग्य के खेल विचित्र प्रकार के दृश्य उपस्थित कर के विचित्र परिणाम लाते हैं । किस प्रयोजन से नारदजी ने मेरे पिताजी के सामने आपकी दो चेष्टियों की प्रशंसा की और उन्हें प्राप्त करने की भावना उत्पन्न की । किस इच्छा से आप छद्म-वेश में यहाँ पधारे और अब क्या परिणाम आ रहा है । कदाचित् मेरे सद्भाग्य ने फल देने के लिए ही यह सारी परिस्थिति उत्पन्न की हो । अब आप शीघ्र ही मेरा पाणिग्रहण कर के मुझे कृतार्थ करें ।”

“शुभे ! यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो चलो । अपन अपनी राजधानी में चलें और अपने मनोरथ पूर्ण करें”—अनन्तवीर्य ने कहा ।

—“मैं तो समर्पित हो चुकी । अब आपकी जैसी आज्ञा होगी, वैसा करूँगी । मैं चलने को तय्यार हूँ । किन्तु मुझे भय है कि कहीं मेरे पिताश्री, किसी प्रकार का अनर्थ खड़ा कर के आपका अहित करें । उनके पास अनेक प्रकार की विद्याएँ हैं, जिनके बल से वे जिस पर हष्ट होते हैं, उसका अनिष्ट करते देर नहीं करते । यद्यपि आप समर्थ हैं, फिर भी एकाकी और शस्त्रास्त्र से रहित हैं । इसलिए भय लगता है”—राजकुमारी ने परिस्थिति का भान कराया ।

“भयभीत होने की बात नहीं है—प्रिये ! तुम्हारे पिता में चाहे जितनी शक्ति हो, वह हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा । यदि उन्होंने युद्ध की स्थिति उत्पन्न की, तो इसका परिणाम उन्हें ही भोगना पड़ेगा । तुम निर्भय हो कर हमारे साथ चलो ।”

युद्ध की घोषणा और विजय

राजकुमारी उनके साथ हो गई । वहाँ से प्रस्थान करते समय अनन्तवीर्य ने मेघ-गर्जना के स्वर में गम्भीर वाणी से कहा; —

“महाराजाधिराज दमितारि ! मन्त्रियों ! सेनापतियों कुमारों ! सामंतों ! सुभटों एवं पुराध्यक्षों ! आप सब स्वस्थ हो कर सुनो ।”

“मैं महावीर अपराजित के प्रताप से सुशोभित अनन्तवीर्य, राजकुमारी कनकश्री को ले कर जा रहा हूँ । यदि किसी की इच्छा मुझे रोकने की हो, या राजकुमारी को मुझ से लेने की हो, तो वह मेरे सामने आवे । मेरे जाने के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये कि—“अनन्तवीर्य, राजकुमारी को चुरा कर ले गया ।”

इस प्रकार उद्धोषणा कर के वैक्रिय-शक्ति से विमान बना कर उसमें बैठे और तीनों आकाश-मार्ग से प्रस्थान कर गए । जब दमितारि ने यह उद्धोषणा सुनी, तो सन्न रह गया । उसने तत्काल अपने योद्धाओं को उनके पीछे भेजा । सेना को अपनी ओर आते देख, दोनों भ्राता सावधान हो कर युद्ध के लिए जम गए । अचानक ही उन्हें हल, शार्ङ्ग धनुष आदि दिव्य-शस्त्र स्वतः प्राप्त हो गए । दमितारि की सेना शस्त्र-वर्षा करने लगी । किन्तु जब महाराज अनन्तवीर्य ने शस्त्र-प्रहार प्रारंभ किया, तो दमितारि की सेना भाग खड़ी हुई । सेना के भागते ही दमितारि स्वयं युद्ध करने आया । उसके आते ही सेना भी पुनः आ डटी । इधर अनन्तवीर्य भी विद्या-शक्ति से सेना तैयार कर के युद्ध-क्षेत्र में डट गया । विद्या के बल से दुर्मंद हुए दमितारि के सुभट जब पुनः युद्ध-रत हुए, तो वीरवर अनन्तवीर्य ने पंचजन्य शंख का नाद किया । इस भयंकर नाद को सुन कर सभी सुभट धसका खा कर भूमि पर गिर पड़े । यह दशा देख कर दमितारि स्वयं रथारूढ़ हो कर आगे आया और शस्त्र-प्रहार करने लगा । अन्त में अपने ही चक्ररत्न नामक महाशस्त्र से दमितारि मारा गया और उसके समस्त राज्य के स्वामी महाराजाधिराज अनन्तवीर्य हुए । वे अर्धचक्री—वासुदेव पद पाये ।

पूर्यभव वर्णन

दमितारि पर विजय प्राप्त कर के महाराजा अनन्तवीर्य, ज्येष्ठ-बन्धु और राजकुमारी कनकश्री के साथ रवाना हुए । मार्ग में प्रतिमाधारी मुनिराज श्री कीर्तिधर स्वामी के दर्शन हुए । उन्होंने उसी दिन घातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया था और देवगण केवल-महोत्सव कर रहे थे । वासुदेव को यह देख कर परम प्रसन्नता हुई । वे और बलदेव आदि केवली भगवान् की प्रदक्षिणा और नमस्कार कर के बैठ गए

भगवान् ने धर्मदेशना दी । उपदेश पूर्ण होने पर राजकुमारी कनकश्री ने पूछा—“भगवन् ! मेरे निमित्त से मेरे पिताजी का वध और बन्धु-वर्ग का वियोग क्यों हुआ ? यह दुःखदायक घटना क्यों घटी ? इसका पूर्व और अदृश्य कारण क्या है ?”

केवलज्ञानी भगवंत ने फरमाया—

“शुभे ! घातकीखंड नामक द्वीप के पूर्व-भरत में शंखपुर नाम का एक समृद्ध गाँव था । उसमें ‘श्रीदत्ता’ नाम की एक गरीब स्त्री रहती थी । वह बहुत ही दीन, दरिद्र और अभाव पीड़ित थी और दिनभर परिश्रम और कठोर काम कर के कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी । एक बार वह भटकती हुई देवगिरि पर्वत पर गई । एक वृक्ष की छाया में शिलाखंड पर बैठे हुए तपोधनी संत सत्ययश स्वामी दिखाई दिये । श्रीदत्ता ने तपस्वी संत को वंदना की और निकट बैठ कर निवेदन किया ;—

“भगवंत ! मैं बड़ी दुर्भागिनी हूँ । मैंने पूर्वभक्त में धर्म की आराधना नहीं की । इसी लिए मेरी यह दीन-हीन और अनेक प्रकार से दुःखदायक दशा हुई है । अब दया कर के मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे फिर कभी ऐसी दुर्दशा नहीं हो ।”

मुनिराज ने उसे ‘धर्मचक्र’ नाम का तप बताते हुए कहा कि—“देवगुरु की आराधना में लीन हो कर दो और तीन रात्रि के क्रम से सैंतीस उपवास करने पर तेरे वैसे पाप कर्मों का क्षय हो जायगा । जिससे तुझे भवान्तर में इस प्रकार की दुरवस्था नहीं देखनी पड़ेगी ।”

श्रीदत्ता, मुनिराज के वचनों को मान्य कर के अपने स्थान पर आई और धर्मचक्र तप करने लगी । उमे पारणे में स्वादिष्ट भोजन मिला और धनवानों के घर में सरल काम तथा अधिक पारिश्रमिक तथा पारितोषिक मिलने लगा । श्रीदत्ता थोड़े ही दिनों में कुछ द्रव्य संचय कर सकी । अब उसका मन भी प्रसन्न रहने लगा । वह कुछ दानादि भी करने लगी । एक बार बायु के प्रकोप से उसके घर की भीत का कुछ भाग गिर गया और उसमें से धन निकल आया । उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहा । अब वह विशेषरूप के दानादि सुकृत्य करने लगी । तपस्या के अंतिम दिन वह सुपात्र दान के लिए किसी उत्तम पात्र की प्रतीक्षा करने लगी । अचानक उसने सुव्रत अनंगार को देखा । वे मासखमण पारणे के लिए निकले थे । श्रीदत्ता ने भक्तिपूर्वक सुपात्रदान का लाभ लिया और धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की । मुनिराज ने कहा—“भिक्षा के लिये गए हुए मुनि, धर्मोपदेश नहीं देते । योग्य समय पर उपाश्रय में उपदेश सुन सकती हो ।” मुनिराज पधार गए और पारणा कर के स्वा-

ध्याय करने लगे । इतने में नगर के लोग और श्रीदत्ता उपाश्रय में आये । मुनिराज ने उपदेश दिया । श्रीदत्ता ने सम्यक्त्वपूर्वक व्रत धारण किया और आराधना करने लगी । उदयभाव की विचित्रता से एक बार उसके मन में धर्म के फल में सन्देह उत्पन्न हुआ । एक दिन वह मुनिराज श्रीमुयशजी को वन्दने गई । वहाँ उसने विमान से आये हुए दो विद्याधरों को देखा । वह उनके रूपा पर मोहित हो गई और बिना शुद्धि किये ही आयुष्य पूर्ण कर गई ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय में शिवमन्दिर नामका नगर था । कनकपूज्य वहाँ के राजा थे । उनकी वायुवेगा रानी से मेरा जन्म हुआ । मेरे अनिलवेगा नाम की महारानी थी । उसकी कुक्षि से दमितारि का जन्म हुआ । वह यौवनवय को प्राप्त हुआ । एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते भ० शान्तिनाथ हमारे नगर में पधारे । भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर, मैंने दमितारि को राज्य का भार दे कर निर्ग्रन्थ दीक्षा अंगीकार की और चारित्र तथा तप की आराधना करते हुए मुझे अभी केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त हुआ । दमितारि प्रतिवासुदेव हुआ । उस श्रीदत्ता का जीव दमितारि की मदिरा रानी की कुक्षि से, पुत्री के रूप में तू (कनकश्री) उत्पन्न हुई । पूर्वभव के धर्म में सन्देह तथा मोहोदय के कारण तू स्त्री के रूप में उत्पन्न हुई और बन्धु-बान्धवों का वियोग हुआ, धर्म में किञ्चित् कलंक भी महा दुःखदायक होता है ।”

कनकश्री विरक्त हो गई और उसने वासुदेव तथा बलदेव से निवेदन कर दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी । उन्होंने राजधानी में चल कर उत्सवपूर्वक दीक्षा देने का आश्वासन दिया और महर्षि को वन्दना कर के रवाना हो गए ।

शुभा नगरी के बाहर युद्ध चल रहा था । दमितारि के पहले से भेजे हुए कुछ वीर और सेना शुभानगरी में आ कर वासुदेव के पुत्र अनन्तसेन के साथ युद्ध कर रहे थे । अनन्तसेन को शत्रुओं से धिर कर युद्ध करते देखते ही बलदेव को क्रोध आ गया । वे अपना हल ले कर शत्रुसेना पर झपटे । बलदेव के प्रहार से दिग्भूढ़ बनी हुई शत्रु-सेना अन्धाधुन्ध भागी । नगर प्रवेश के बाद अन्य राजाओं ने शुभ मुहूर्त में महाराजा अनन्तवीर्य का वासुदेव पद का अभिषेक किया । कालान्तर में केवली भगवान् स्वयंभव स्वामी शुभानगरी पधारे । कनकश्री ने प्रव्रज्या स्वीकार की और आत्मोत्थान कर मोक्ष प्राप्त किया ।

बलदेव श्री अपराजितजी के ‘सुमति’ नाम की पुत्री थी । वह बालपन से ही धर्म-रसिक थी । वह जीवादि तत्त्वों की ज्ञाता और विविध प्रकार के व्रत तथा तप करती रहती

थी। एक बार वह उपवास का पारणा करने के लिए बैठी थी। उसके मन में सुपात्रदान की भावना जगी। उसने द्वार की ओर देखा। सुयोग से तपस्वी मुनिराज का द्वार में प्रवेश हुआ। चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धता से वहाँ पंच दिव्य की वृष्टि हुई। अद्भुत चमत्कार को देख कर बलदेव और वामुदेव वहाँ आये और सुपात्रदान की महिमा सुन कर विस्मित हुए। उनके मन में राजकुमारी सुमति के प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे कि—हमारी ऐसी उत्तम बालिका के योग्य पति कौन होगा? उन्होंने अपने इहानन्द मन्त्री से परामर्श कर के स्वयंवर का आयोजन किया और सभी राजाओं को सूचना भेज कर आमन्त्रित किया। निश्चित दिन स्वयंवर मंडप में सभी राजा और राजकुमार बड़े ठाठ से आ कर बैठ गए। निश्चित समय पर राजकुमारी सुमति सुसज्जित हो कर अपनी सखियों और सेविकाओं के साथ मंडप में आई। उसके हाथ में वरमाला थी। वह आगे बढ़ ही रही थी कि इतने में उस सभा के मध्य में एक देव विमान आया। उसमें से एक देवी निकली और एक सिंहासन पर बैठ गई। राजकुमारी और सारी सभा इस दृश्य को देख कर चकित रह गई। इतने में देवी ने राजकुमारी से कहा—

“मृधे ! समझ ! यह क्या कर रही है ? तू अपने पूर्व भव का स्मरण कर। पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व-भरत क्षेत्र में श्रीनन्दन नाम का नगर था। महाराज महेन्द्र उस नगर के स्वामी थे। अनन्तमति उनकी महारानी थी। उनकी कुक्षि से हम दोनों युगल-पुत्रियें उत्पन्न हुई। मेरा नाम कनकश्री और तेरा नाम धनश्री था। अपन दोनों साथ ही बड़ी, पढ़ी और यौवन-वय को प्राप्त हुई। हम दोनों ने एकबार वन में नन्दन मुनि के दर्शन किये। उनसे धर्मोपदेश सुन कर श्रावकव्रत ग्रहण किये और उनकी आराधना करने लगी। एक बार अपन अशोक वन में गई और वहाँ वनक्रीड़ा करने लगी। इतने में एक विद्याधर युवक वहाँ आया और अपना हरण कर के उसके नगर में ले गया। किन्तु उसकी सुशीला पत्नी ने हमारी रक्षा की। वहाँ से हम दोनों एक अटवी में आई और नवकारमन्त्र का स्मरण कर के अनशन व्रत लिया। वहाँ का आयु पूर्ण कर के मैं तो सौधर्म स्वर्ग के अधिपति की अग्रमहिषी हुई और तू कुबेर लोकपाल की मुख्य देवी हुई। तू वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर के यहाँ जन्मी और अब संसार के प्रपञ्च में पड़ रही है। अपन दोनों ने देवलोक में निश्चय किया था कि जो देवलोक से च्यव कर पहले मनुष्य-भव प्राप्त करे, उसे दूसरी देवी देवलोक से आ कर प्रतिबोध दे। छोड़ इस फन्दे को और दीक्षा ग्रहण कर के मानव जैसे दुर्लभ भव को सफल कर ले।”

इतना कह कर देवी चली गई। सुमति विचार-मग्न हुई। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह मूर्च्छित हो गई। सावधान होने पर उसने दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी। उसकी माँग का सारी सभा ने अनुमोदन किया। वह दीक्षा ले कर तप संयम की आराधना करती हुई कर्मों का क्षय कर के सिद्ध गति को प्राप्त हुई।

अनन्तवीर्य वासुदेव, काम-भोग में आसक्त हो, मर कर प्रथम नरक में गये। बल-देव अपराजित, बन्धु-विरह से शोकाकुल होने के बाद विरक्त हो गए और गणधर जय-स्वामी के पास, सोलह हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो कर संयम का पालन किया। वे अनशन कर के आयु पूर्ण कर अच्युतेन्द्र हुए।

वासुदेव का जीव प्रथम नरक से निकल कर भरतक्षेत्र में वैताढ्य पर्वत पर के गगनवल्लभपुर के विद्याधर राजा मेघवान की पत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'मेघनाद' दिया गया। यौवनवय प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य का भार दे कर प्रव्रज्या ले ली। मेघनाद बढ़ते-बढ़ते वैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणियों का शासक हो गया।

एक बार अच्युतेन्द्र ने अपने पूर्वभव के भाई को देखा और प्रतिबोध करने आया। मेघनाद ने अपने पुत्र को राज्य दे कर दीक्षा लेली। एक बार वे एक पर्वत पर ध्यान कर रहे थे, उस समय उनके पूर्वभव के बेरी, अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र ने—जो इस समय दैत्य था, उन्हें देखा और द्वेषाभिभूत हो कर उपसर्ग करने लगा, किन्तु वह निष्फल रहा। मुनिराज उग्र तप का आचरण करते हुए अनशन कर के अच्युत देवलोक में इन्द्र के सामानिक देवपने उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह में सीता नदी के दक्षिण किनारे, मंगलावती विजय में रत्नसंचया नाम की नगरी थी। क्षेमंकर महाराज वहाँ के अधिपति थे। उनके रत्नमाला नाम की रानी थी। अपराजित का जीव—जो अच्युतेन्द्र हुआ था, वह अच्युत देवलोक से च्यव कर महारानी रत्नमाला की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने गर्भ धारण करने के बाद चौदह महास्वप्न और १५ वाँ वज्र देखा। गर्भकाल में महारानी ने स्वप्न में वज्र भी देखा था, इसलिए पुत्र का जन्म होने पर उसका नाम 'वज्रायुध' रखा। वज्रायुध बड़ा हुआ और सभी कलाओं में पारंगत हुआ। उसका विवाह 'लक्ष्मीवती' नाम की राजकुमारी के साथ हुआ। कालान्तर में अनन्तवीर्य का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर रानी लक्ष्मीवती की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'सहस्रायुध' दिया गया। वह बड़ा हुआ। कला-कौशल में प्रवीण हुआ। उसका विवाह कनकश्री नाम की एक राजकुमारी के

साथ हुआ। कनकश्री की कुक्षि से एक महान् पराक्रमी पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'शतबल' रखा गया। वह महाबली था।

एक समय महाराजा क्षेमंकर अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, मन्त्री और सामन्तों के साथ सभा में बैठे थे। उस समय ईशानकल्प वामी चित्रचूल नाम का एक मिथ्यात्वी देव उस सभा में प्रकट हुआ। देव-सभा में वज्रायुध के सम्यक्त्व की दृढ़ता की प्रशंसा हुई थी। किन्तु चित्रचूल को यह प्रशंसा सहन नहीं हुई, न विश्वास ही हुआ। वह तत्काल महाराज क्षेमंकर की राजसभा में उपस्थित हुआ। उसने आते ही सभा को सम्बोधित करते हुए कहा;—

“राजेन्द्र और सभासदों! संसार में न पुण्य है, न पाप। स्वर्ग, नर्क, जीव, अजीव और धर्म-अधर्म कुछ भी नहीं। मनुष्य, आस्तिकता के चक्कर में पड़ कर व्यर्थ ही क्लेश एवं कष्ट भोगता है। इसलिए धर्म पुण्य और परलोक की मान्यताओं को त्याग देना चाहिए।”

देव के ऐसे नास्तिकता पूर्ण वचन सुन कर वज्रायुध बोला;—

“अरे देव! तुम ऐसी मिथ्या बातें क्यों कह रहे हो? यह तो प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है। तुम स्वयं अबधिज्ञान से अपने पूर्वभव के सुकृत के फल को देखो। तुम्हारा यह देव सम्बन्धी वैभव, तुम्हारी बात को मिथ्या सिद्ध कर रही है। तुमने पूर्व के मनुष्य-भव को छोड़ कर यह देव-भव प्राप्त किया है। यदि जीव नहीं हो, तो भव किसका? पूर्व का मनुष्य-भव और वर्तमान देवभव, परलोक होने पर ही हुआ। यदि परलोक नहीं होता, तो यह देवभव भी नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य-लोक रूपी यह भव और परलोक रूपी देव-भव प्रत्यक्ष ही सिद्ध है और यह सभी सुकृत का फल है। इसलिए ऐसा नास्तिकता पूर्ण मिथ्यात्व छोड़ देना चाहिए।”

वज्रायुध की सम्यक् वाणी सुन कर देव निरुत्तर हुआ और प्रतिबोध पाया। देव ने पूछा;—

“महानुभाव! आपने ठीक ही कहा है। बहुत ठीक कहा है। आपने मेरा मिथ्यात्व छुड़ा कर मेरा उद्धार किया। आपने मुझ पर एक पिता और तीर्थंकर के समान उपकार किया है। मैं चिरकाल से मिथ्यात्वी था। आपके दर्शन मेरे लिए अमित लाभकारी हुए। अब आप मुझे सम्यक्त्व दान कर उपकृत करें।”

वज्रायुध ने उस देव को धर्म का स्वरूप समझाया और सम्यक्त्वी बनाया। चित्र-चूल देव अत्यंत प्रसन्न हुआ और इच्छित वस्तु माँगने का निवेदन किया। वज्रायुध ने

कहा — “मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप दृढ़ एवं अविचल सम्यक्त्वी रहें।” देव ने कहा — “यह तो मेरे ही हित की बात है। आप अपने लिए कुछ लीजिये।” वज्रायुध ने कहा — “मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।” फिर भी देव ने वज्रायुध को दिव्य अलंकार दिये और चला गया। उसने ईशानेन्द्र की सभा में आ कर वज्रायुध की प्रशंसा की। ईशानेन्द्र ने कहा — “महानुभाव वज्रायुध भविष्य में तीर्थंकर होंगे।”

एक बार वसन्तऋतु में वनविहार करने के लिए वज्रायुध अपनी लक्ष्मीवती आदि ७०० रानियों के साथ सुरनिपात उद्यान में आया और एक जलाशय में क्रीड़ा करने लगा। वह जलक्रीड़ा में मग्न था और रानियों के साथ विविध प्रकार के जलाघात के खेल खेल रहा था। उधर पूर्वजन्म का शत्रु, दमितारि प्रतिवासुदेव का जीव, भवभ्रमण करता हुआ देवभव प्राप्त कर चुका था। वह विद्युदृष्ट नाम का देव वहाँ आया। वज्रायुध को देखते ही उसका दबा हुआ वैर जाग्रत हो गया। उसने परिवार सहित वज्रायुध को नष्ट करने के लिए उस जलाशय पर एक पर्वत ला कर डाल दिया और चला गया। वज्रायुध, इस आकस्मिक विपत्ति से घबड़ाया नहीं, किन्तु अपने प्रबल पराक्रम से उस पर्वत को तोड़ कर परिवार सहित बाहर निकल आया। उधर प्रथम स्वर्ग का सौधर्मन्द्र महाविदेह में जिनेश्वर की पर्युपासना कर के लौट रहा था। उसने महानुभाव वज्रायुध को देखा। उसने सोचा — “यह वज्रायुध इस भव में चक्रवर्ती सम्राट होगा और बाद के भव में तीर्थंकर होगा” — ऐसा सोच कर इन्द्र वज्रायुध से मिला। उन्हें आदर सम्मान दे कर कहा — “आप धन्य हैं। भविष्य में आप ही भरतक्षेत्र के ‘शान्तिनाथ’ नाम के सोलहवें तीर्थंकर बनेंगे।” यों कह कर इन्द्र प्रस्थान कर गया और वज्रायुध अपने अन्तःपुर के साथ नगर में आये।

महाराजा क्षेमंकर ने लोकान्तिक देवों के स्मरण कराने से वार्षिक दान दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की। वज्रायुध को राज्यभार प्राप्त हुआ। मुनिराज क्षेमंकर ने विविध प्रकार के तप से घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

एक समय अस्त्रागार के अधिपति ने महाराजा वज्रायुध को शस्त्रागार में चक्ररत्न के प्रकट होने की बधाई दी। महाराजा ने चक्ररत्न प्रकट होने का महोत्सव किया। इसके बाद अन्य तेरह रत्न भी प्रकट हुए। उन्होंने छह खण्ड की साधना की और अपने पुत्र सहस्रायुध को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया।

एक बार महाराजा राजसभा में बैठे थे। महामन्त्री, अधिनस्थ राज्यों के सम्बन्धों और समस्याओं पर निवेदन कर रहे थे कि इतने ही में एक विद्याधर युवक भयभीत दशा

में भागता हुआ आया और चक्रवर्ती सम्राट से रक्षा करने की प्रार्थना की। उसके पीछे एक सुन्दर युवती हाथ में ढाल और तलवार ले कर क्रोध में धमधमती हुई आई और सम्राट से कहने लगी—

“महाराज ! आप इस अधमाधम को यहाँ से निकालिये। मैं इस दुष्ट को इसके दुराचरण का मजा चखाने आई हूँ।” वह आगे कुछ और कह रही थी कि यमदूत के समान एक भयंकर विद्याधर हाथ से गदा घुमाता हुआ आया और उसने सम्राट से कहा;—

“महाराजाधिराज ! इस नीच की नीचता देखिये कि—मेरी यह पुत्री, मणिसागर पर्वत पर, भगवती प्रज्ञप्ति विद्या साध रही थी। इस दुष्ट ने उसकी साधना में विघ्न डाला और उसे उस स्थान से उठा लिया। मैं उस समय विद्या की पूजा के लिए सात्रगी लेने गया था। पुत्री को विद्या सिद्ध हो गई थी। इसलिए यह कुछ अनिष्ट नहीं कर सका और भयभीत हो कर उसे वहीं छोड़ कर भाग गया। इसे अपनी रक्षा का अन्य कोई स्थान नहीं मिलने से यह आपकी शरण में आया है। इस दुष्ट से बदला लेने के लिए मेरी पुत्री इसके पीछे-पीछे आई। जब मैं पूजा की सामग्री ले कर साधनास्थल पर आया, तो वहाँ पुत्री दिखाई नहीं दी। अन्त में मैंने इनके चरण-चिन्हों का अनुसरण किया और यहाँ तक आया। आप इसे निकाल दीजिये। मेरी यह गदा इसके मस्तक का चूर्ण बनाने के लिए तत्पर है। मैं शुक्ल नगर के शुक्लदत्त नरेश का ‘पवनवेग’ नाम का पुत्र हूँ। मेरा विवाह किन्नरगीत नगर के दीपचूल नरेश की पुत्री सुकान्ता से हुआ और उसकी कुक्षि से इस शांतिमति का जन्म हुआ।”

महाराज वज्रायुध ने पवनवेग का वृत्तांत सुन कर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और उसके पूर्वभव का वृत्तांत जान कर यों कहने लगे;—

“पवनवेग ! शान्त होओ और इस घटना के मूल कारण को देखो। जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में विध्यपुर नाम का नगर था। वहाँ विध्यदत्त नाम का राजा था। उसकी सुलक्षणा रानी से ‘नलिनकेतु’ नाम का पुत्र हुआ। उसी नगर में धर्ममित्र नाम का एक सार्थ-वाह था। उसके ‘दत्त’ नाम का पुत्र था। उस दत्त के ‘प्रभंकरा’ नाम की अत्यन्त रूपवाली पत्नी थी। एक बार बसंतऋतु में दत्त अपनी पत्नी के साथ उद्यान में क्रीड़ा कर रहा था। उसी उद्यान में राजकुमार नलिनकेतु भी आया और प्रभंकरा को देखते ही मुग्ध हो गया। उसने दत्त को भूलावे में डाल कर प्रभंकरा का हरण कर लिया और उसके साथ स्वच्छन्द हो कर भोग

भोगने लगा । दत्त, प्रभंकरा का वियोग सहन नहीं कर सका । वह उसी के ध्यान में भटकता रहा । कालान्तर में उसे मुनिराज श्रीसुमनजी के दर्शन हुए । उन्होंने उसी दिन घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान प्राप्त किया था । केवली भगवान् की धर्मदेशना सुन कर दत्त ने पत्नी-विरह से उत्पन्न मोह का त्याग किया और शुभ भावों से दान-धर्म करता हुआ काल कर के, जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में स्वर्णतिलक नगर के नरेश महेन्द्रविक्रम के यहाँ पुत्रपने उत्पन्न हुआ । 'अजितसेन' उसका नाम दिया गया । यौवनवय में अनेक विद्याधर कन्याओं के साथ उसका लग्न हुआ । वह काम-भोग में काल व्यतीत करने लगा ।

राजा विध्यदत्त के मरने पर राजकुमार 'नलिनकेतु' राजा हुआ । प्रभंकरा उसकी प्रिया थी ही । एक बार वे दोनों महल की छत पर चढ़ कर प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि अचानक ही आकाश में बादल घिर आये । काली घटा छा गई । गर्जना होने लगी । बिजली चमकने लगी और थोड़ी ही देर में वह सारा ही दृश्य बिखर कर आकाश साफ हो गया । नलिनकेतु को इस दृश्य ने विचार में डाल दिया । उसने सोचा—“जिस प्रकार आकाश में यह मेघ-घटा उत्पन्न भी हो गई और थोड़ी देर में नष्ट भी हो गई, उसी प्रकार संसार में सभी पदार्थ अस्थिर हैं । मनुष्य एक जन्म में ही बचपन, युवावस्था, बुढ़ापा आदि विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करता है । रोगी-निरोग, धनी-निर्धन और सुखी-दुःखी आदि विविध दशाएँ प्राप्त करता है । ऐसे क्षणस्थायी दृश्यों पर मुग्ध होना भूल है—बड़ी भारी भूल है ।” इस प्रकार विचार करता हुआ वह विरक्त हो गया और पुत्र को राज्य दे कर क्षेमंकर तीर्थंकर के पास दीक्षित हो गया तथा उग्रतप करते हुए सभी कर्मों को नष्ट करके अव्यय पद को प्राप्त हुआ ।

सरल एवं भद्र स्वभाव वाली रानी प्रभंकरा ने प्रवर्तिनी सती सुव्रता के पास चान्द्रायण तप किया । सम्यक्त्व रहित उस तप के प्रभाव से आयु पूर्ण होने पर वह तुम्हारी पुत्री के रूप में यह शांतिमति हुई । इनके पूर्वभव के पति दत्त का जीव यह अजितसेन है । पूर्वभव के स्नेह के कारण ही इसने इसे उठाई थी । वर्तमान की इस घटना के मूल में पूर्व का स्नेह रहा हुआ है । तुम्हें क्रोध त्याग कर बन्धु-भाव धारण करना चाहिए ।

उपरोक्त वृत्तांत सुन कर उनका द्वेष दूर हुआ । ज्ञानबल से चक्रवर्ती नरेश ने कहा—“तुम तीनों तीर्थंकर भगवान् क्षेमंकरजी के पास प्रव्रजित होंगे । यह शांतिमति रत्नावली तप करेगी और अनशन कर के आयुपूर्ण होने पर ईशानेन्द्र बनेगी । तुम दोनों कर्म क्षय कर के मुक्ति प्राप्त करोगे । शांतिमति, ईशानेन्द्र का भव पूर्ण कर के मनुष्य भव

प्राप्त करेगी और संयम तप को आराधना कर के मुक्त हो जायगी ।”

चक्रवर्ती की बात सुन कर तीनों प्रतिबोध पाये और संसार का त्याग कर संयम स्वीकार किया । साध्वी शांतिमति, ईशानेन्द्र और मनुष्य-भव प्राप्त कर मोक्ष गई और क्षेमकर तथा अजितसेन मुनि उसी भव में सिद्ध हो गए ।

चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र सहस्रायुध की रानी जयना ने गर्भ धारण किया । गर्भ के प्रभाव से उसने स्वप्न में प्रकाशमान स्वर्ण-शक्ति देखी । पुत्र का जन्म होने पर ‘कनकशक्ति’ नाम दिया गया । यौवनवय प्राप्त होने पर सुमन्दिरपुर की राजकुमारी कनकमाला के साथ उसका लग्न हुआ ।

श्रीसार नगर में अजितसेन राजा था । उसकी प्रियसेना रानी से वसंतसेना कुमारी का जन्म हुआ । यह कनकमाला की प्रिय सखी थी । उसका पिता उसके लिये किसी योग्य वर की खोज कर रहा था । किन्तु योग्य वर नहीं मिला । उसने पुत्री को कनकशक्ति के पास स्वयंवरा के रू में भेजी और कनकशक्ति ने उसके साथ भी विधिपूर्वक लग्न किया । इस लग्न से वसंतसेना की बूआ के पुत्र को बड़ा आघात लगा । वह क्रोध से जल उठा ।

एक बार कनकशक्ति उद्यान में घूम रहा था कि उसने देखा—एक व्यक्ति मुर्गे की तरह उछलता गिरता पड़ता भटक रहा था । उसने उसकी ऐसी दशा का कारण पूछा । उसने कहा—‘मैं विद्याधर हूँ । मैं कार्यवश अन्यत्र जा रहा था । यहाँ रमणीय उद्यान देख कर रुक गया । यहाँ कुछ समय रुक कर जाने लगा । मैंने अपनी आकाशगामिनी विद्या का स्मरण किया, किन्तु बीच का एक पद मैं भूल गया । इससे मैं पूर्व की तरह उड़ नहीं सका और उछल कर नीचे गिर रहा हूँ ।’ राजकुमार ने कहा—“यदि आप मेरे समक्ष आपकी विद्या का उच्चारण करें, तो सम्भव है विस्मृत पद जोड़ने में मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ ।” विद्याधर ने विद्या का उच्चारण किया । राजकुमार ने अपनी पदानुसारिणी बुद्धि से भूले हुए पद को पूर्ण कर दिया । विद्याधर प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमार को भी वह विद्या दी । दोनों अपने-अपने स्थान पर आये ।

वसंतसेना की बूआ का पुत्र अपने क्रोध में ही जलता रहा । वह कनकशक्ति की कुछ भी हानि नहीं कर सका और मृत्यु पा कर देवलोक में गया ।

एक बार कनकशक्ति अपनी दोनों रानियों के साथ विद्याधर से प्राप्त विद्या से गगन-विहार करता हुआ हिमवत पर्वत पर आया । वहाँ विपुलमति नाम के चारणमुनि के दर्शन हुए । उपदेश सुन कर कनकशक्ति त्यागी बन गया । दोनों रानियाँ भी विमलमती

साध्वीजी के समीप दीक्षित हो गई। कालान्तर में मुनि कनकशक्ति उसी पर्वत पर आ कर एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा का धारण कर के ध्यानस्थ रहे। मुनिवर को ध्यानस्थ देख कर पूर्वभवं का द्वेषी वह हिमचूल देव उपसर्ग करने लगा। जब विद्याधरों ने उस देव को उपसर्ग करते देखा, तो उन्होंने उसकी भर्त्सना की। कालान्तर में मुनिराज रत्नसंचया नगरी के बाहर उद्यान में आ कर ध्यानस्थ हुए। वहाँ उनके घातिकर्म नष्ट हो कर केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हुई।

कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् क्षेमंकर महाराज वहाँ पधारे। वज्रायुध अपने पुत्र सहस्रायुध को राज्य दे कर दीक्षित हो गया। उसके साथ चार हजार राजा, चार हजार रानियें और सात सौ पुत्रों ने दीक्षा ली। श्री वज्रायुध विविध प्रकार के अभिग्रह युक्त तप करते हुए सिद्धि पर्वत पर पधारे और प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। इस समय अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र मणिकुंभ और मणिकेतु भव-भ्रमण करते हुए बाल-तप के प्रभाव से अमुरकुमारदेव हुए थे। वे उस पर्वत पर आये और ऋषिस्वर को देख कर पूर्वभवं के वैर से अभिभूत हो उपद्रव करने लगे। सिंह का रूप धारण कर के अपने वज्र के समान कठोर एवं तीक्ष्ण नख गड़ा कर दोनों देव, दोनों ओर से उन्हें चीरने लगे। उसके बाद हाथी का रूप धारण कर सूंड, दाँत और पैरों के आघात से महान् वेदना उत्पन्न करने लगे। इसके बाद भयानक भुजंग के रूप में ऋषिस्वर के शरीर पर लिपट कर शरीर को बलपूर्वक कसने लगे। इसके बाद राक्षसी रूप से भयानक उपद्रव करने लगे। इस प्रकार विविध उपद्रव करने लगे। इतने में इन्द्र की रंभा-तिलोत्तमादि अप्सराएँ जिनेश्वर भगवान् को वंदन करने के लिए उधर हो कर जा रही थी। उन्होंने मुनि पर होता हुआ महान् उपसर्ग देखा। वे बोली—“अरे, ओ पापियों ! तुम ऐसे उत्तम और महान् संत के शत्रु क्यों बने हो ? ठहरो।” इतना कह कर वे उनके पास पहुँचने लगी। यह देख कर वे दोनों दुष्ट देव भाग गए। अप्सराएँ मुनिराज श्री को वंदन नमस्कार कर के चली गई।

वज्रायुध मुनि वार्षिकी प्रतिमा पूर्ण कर विशिष्ट तप करते हुए विचरने लगे। राजा सहस्रायुध राज्य चला रहे थे। एक बार यहाँ गणधर महाराज पिहिताश्रवजी पधारे। उनके उपदेश से वैराग्य पा कर सहस्रायुध अपने पुत्र शतबल को राज्य का भार सौंप कर दीक्षित हो गया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उन्हें ऋषिस्वर वज्रायुध अनगार से मिलना हो गया। अब दोनों पिता-पुत्र साथ रह कर साधना करने लगे। अन्त में अनशन कर के आयु पूर्ण कर तीसरे ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए।

मेघरथ नरेश

जम्बूद्वीप के पूर्व-महाविदेह में पुष्कलावती नाम का विजय था। सीता नदी के तीर पर पुंडरीकिनी नाम की नगरी थी। धनरथ नाम का महाबली राजा वहाँ राज करता था। प्रियमती और मनोरमा ये दो महारानियाँ थीं। वज्रायुध मुनि का जीव, ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी प्रियमती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने स्वप्नावस्था में गर्जन करता, बरसता और विद्युत् प्रकाश फैलाता हुआ एक मेघ-खण्ड अपने मुँह में प्रवेश करता हुआ देखा। स्वप्न का फल बतलाते हुए महाराज ने कहा—‘तुम्हारे गर्भ में कोई उत्तम जीव, आया है। वह मेघ के समान पृथ्वी के ताप को मिटा कर शांति करने वाला होगा।’ सहस्रायुद्ध का जीव भी ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी मनोरमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसके प्रभाव से महारानी ने स्वप्न में एक ध्वजापताका से युक्त सुसज्जित रथ, मुँह में प्रवेश करता हुआ देखा। महारानी ने अपने स्वप्न की बात महाराज को सुनाई, तो उन्होंने स्वप्न का फल बतलाते हुए कहा—‘आपका पुत्र महारथी—महान् योद्धा होगा।’ यथासमय दोनों महारानियों ने पुत्र को जन्म दिया। महाराज ने महारानी प्रियमती के पुत्र का नाम ‘मेघरथ’ और महारानी मनोरमा के पुत्र का नाम ‘दृढरथ’ रखा। दोनों भाई क्रमशः बढ़ने लगे। उनमें आपस में गहरा स्नेह था। वे यौवनवय को प्राप्त हुए। वे रूप, तेज और कला में सर्वोत्तम थे। एक बार सुमन्दिरपुर के महाराजा निहतशत्रु का मन्त्री, महाराजा धनरथ की राजसभा में आया और निवेदन किया—‘महाराजा निहतशत्रु, आपसे निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। उनके तीन पुत्रियाँ हैं। वे तीनों ही बड़ी गुणवती, विदुषी एवं देवकन्या के समान हैं। मेरे स्वामी आपसे निवेदन करते हैं कि—मेरी दो पुत्रियाँ राजकुमार मेघरथ के लिए और एक राजकुमार दृढरथ के लिए स्वीकार कीजिए।’ महाराजा धनरथ ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और शुभ मूर्त में आगत मन्त्री के साथ अंगरक्षक सेना और मन्त्री आदि सहित दोनों राजकुमारों को भेज दिया। मार्ग में सुरेन्द्रदत्त राजा के राज्य की सीमा पड़ती थी। जब सुरेन्द्रदत्त को दोनों राजकुमारों के सेना सहित राज्य की सीमा में होकर सुमन्दिरपुर जाने की बात मालूम हुई, तो उसने अपने सीमारक्षक को भेज कर उनका प्रवेश रोकना चाहा और अन्य मार्ग से हो कर जाने का निर्देश दिया। राजकुमारों ने कहा—‘हमारे लिए ही मार्ग अवरुद्ध करना न तो मैत्रीपूर्ण है, न नैतिक ही। यह सार्वजनिक मार्ग है। इनकी किसी व्यक्ति विशेष के लिए रोक नहीं की जा सकती।’ वे नहीं माने और युद्ध खड़ा हो गया। राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका युवराज बड़ी सेना ले कर आ गये। भयानक मारधाड़ प्रारम्भ हो गई। युद्ध की विकरालता बढ़ते

ही राजकुमारों के अंगरक्षकों का टिकना असंभव हो गया। वे युद्ध में ठहर नहीं सके और भाग खड़े हुए। यह देख कर दोनों राजकुमार युद्ध-रत हो गए और शत्रु-सेना का संहार करने लगे। उन दोनों बलवीरों की मार, सुरेन्द्रदत्त की सेना सहन नहीं कर सकी और युद्धस्थल से भाग गई। यह देख कर राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका राजकुमार भी मैदान में आ गया। दोनों का जम कर युद्ध हुआ, किंतु वे सफल नहीं हो सके। दोनों राजकुमारों ने उन्हें हरा कर अपना बन्दी बना लिया और उस राज्य पर अपनी आज्ञा चला कर आगे बढ़ गए। जब वे सुमन्दिरपुर के निकट पहुँचे, तो महाराजा निहत्तशत्रु, उनके स्वागत के लिए सामने आया और दोनों राजकुमारों का आलिंगन कर के मस्तक पर चुम्बन किया। शुभ मुहूर्त में राजकुमारी प्रियमित्रा और मनोरमा, इन दो बड़ी पुत्रियों का लग्न मेघरथ कुमार के साथ और छोटी पुत्री राजकुमारी सुमति का लग्न राजकुमार दृढरथ के साथ किया। दोनों राजकुमार अपनी पत्नियों और विपुल समृद्धि के साथ अपने नगर की ओर चले। मार्ग में उन्होंने पराजित राजा सुरेन्द्रदत्त और उसके पुत्र को राज्याधिकार प्रदान कर दिया और अपने नगर में आये। वे सुखोपभोग पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। कालान्तर में राजकुमार मेघरथ की रानी प्रियमित्रा ने नन्दीसेन नामक पुत्र को और रानी मनोरमा ने मेघसेन नामक पुत्र को जन्म दिया। राजकुमार दृढरथ की पत्नी सुमति ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रथसेन रखा गया।

कुर्कुट कथा

एक दिन महाराजा धनरथ अपने अन्तःपुर में रानियों, पुत्रों और पौत्रों के साथ विविध प्रकार के विनोद कर रहे थे कि सुरसेना नाम की गणिका, हाथ में एक कुर्कुट ले कर आई और निवेदन करने लगी;—

“देव मेरा यह मुर्गा अपनी जाति में सर्वोत्तम है, मुकुट के समान है। इसे दूसरा कोई भी मुर्गा जीत नहीं सकता। यदि किसी दूसरे व्यक्ति का मुर्गा, मेरे मुर्गे को जीत ले, तो मैं उसे एक लाख स्वर्ण-मुद्रा देने को तत्पर हूँ। यदि किसी के पास ऐसा मुर्गा हो, तो वह मेरे इस दाव को जीत सकता है।”

गणिका की उपरोक्त प्रतिज्ञा सुन कर युवराजी मनोरमा ने कहा;—“मेरा मुर्गा, सुरसेना के मुर्गे के साथ लड़ेगा।” महाराज ने स्वीकृति दे दी। युवराजी ने दासी को

भेज कर अपना वज्रतुंड नामक कुकुट मँगाया। दोनों कुकुट आमने-सामने खड़े किये गये। वे दोनों आपस में लड़ने लगे। बहुत देर तक लड़ते रहे, परन्तु दोनों में से न तो कोई विजयी हुआ न पराजित। तब महाराज धनरथ ने कहा--“इन दोनों में से कोई एक किसी दूसरे पर विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा।”

“क्यों नहीं जीत सकेगा? क्या कारण है--पिताश्री इसका”--युवराज मेघरथ ने पूछा।

“इसका कारण इनके पूर्व-भव से सम्बन्धित है”--महाराजा धनरथ, अपने विशिष्ट ज्ञान से उन कुकुटों के पूर्वभव का वृत्तांत सुनाने लगे;--

“इस जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का समृद्ध नगर था। वहाँ ‘धनवसु’ और ‘दत्त’ नाम के दो व्यापारी रहते थे। उनमें परस्पर गाढ़-मैत्री थी। उन दोनों में धनलोलुपता बहुत अधिक थी। वे व्यापारार्थ गाड़ियों में सामान भर कर विदेशों में भटकते ही रहते थे। वे भूखे, प्यासे, शीत, ताप आदि सहते हुए और बैलों पर अधिक भार भर कर उन्हें ताड़ना-तर्जना करते हुए, उनकी पीठ पर शूल भोंकते हुए फिरते रहते थे। वे शांति से भोजन भी नहीं कर सकते थे। चलते-चलते खाते और रुखा सूखा खा कर मात्र धन के लोभ में ही लगे रहते। खोटे तोल-नाप करते। कपट और ठगाई उनके रगरग में भरी रहती थी। वे मिथ्यात्य में रत रहते थे। धर्म की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। वे आर्त्तध्यान में ही लगे रहते थे। अपने ऐसे दुष्कर्म से वे तिर्यंच गति का आयुष्य बांध कर मरे और सुवर्णकूला नदी के किनारे दो हाथी के रूप में पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए। एक का नाम ‘ताम्रकलश’ और दूसरे का ‘कांचनकलश’ था। वे दोनों यौवनवय प्राप्त होने पर नदी किनारे के वृक्षों को तोड़ते-गिराते हुए और अपने यूथ के साथ घूमते-फिरते तथा विहार करते रहते थे। एक दिन दोनों यूथपति गजेन्द्रों का मिलना हो गया। वे दोनों एक दूसरे को देखने लगे। उनके मन में रोष की भावना प्रज्वलित हुई। दोनों आपस में लड़ने लगे और एक दूसरे को मार डालने के लिए प्रहार करने लगे। अन्त में दोनों हाथी लड़ते-लड़ते मर गये। मृत्यु पा कर वे अयोध्या नगरी के पशु-पालक नन्दीमित्र के यहाँ महिषी के गर्भ से उत्पन्न हुए। यौवनवय में वे बलवान और प्रचण्ड भंसे दिखाई देने लगे। वे विशाल डीलडौल वाले और आकर्षक थे। एक बार वहाँ के राजकुमार धनसेन और नन्दीसेन ने उन यमराज जैसे भंसे को देखा। उन्होंने दोनों महिषों को लड़ाया। वे दोनों लड़ते-लड़ते मर कर उसी नगरी में मेंढे जन्मे। वहाँ भी वे दोनों आपस में लड़ कर मरे और कुकुट योनि में जन्मे। ये दोनों वे ही मुर्गे हैं।

महाराज की बात पूर्ण होने पर युवराज मेघरथ ने कहा “ये दोनों पूर्वभव के शत्रु तो हैं ही, विशेष में विद्याधरों से अधिष्ठित भी हैं।” राजा ने युवराज को विद्याधरों से अधिष्ठित होने का वृत्तांत कहने का संकेत किया। युवराज कहने लगे;—

“वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के स्वर्णनाभ नगर में ‘गरुडवेग’ नाम का राजा था, धृतिसेना उसकी रानी थी। उनके चन्द्रतिलक और सूर्यतिलक नाम के दो पुत्र थे। यौवनवय में वे कुमार, वन-विहार करते हुए उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ मुनिराज श्रीसागरचन्द्रजी एक शिला पर ध्यानस्थ बैठे हुए थे। मुनिराज की वंदना नमस्कार कर के दोनों राजकुमार बैठ गए। मुनिराज ने ध्यान पालने के बाद दोनों राजकुमारों को धर्मोपदेश दिया। मुनिराज विशिष्ट ज्ञानी और लब्धिधारी थे। राजकुमारों के अपने पूर्वभव सम्बन्धी पृच्छा करने पर मुनिराजश्री कहने लगे;—

“धातकीखण्ड के पूर्व ऐरवत क्षेत्र में वज्रपुर नगर था। वहाँ अभयघोष नाम का दयालु राजा था। स्वर्गतिलक उसकी रानी थी। विजय और वैजयंत नाम के उसके दो कुमार थे। वे शिक्षित एवं कलाविद हो कर यौवनवय को प्राप्त हुए। उस समय उसी क्षेत्र के स्वर्णभूम नगर में शंख राजा की पृथ्वीसेना नाम की पुत्री थी। वह भी रूप गुण और अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त थी। उसका विवाह महाराज अभयघोष के साथ हुआ। एकबार राजा, रानियों के साथ वन-विहार कर रहे थे। रानी पृथ्वीसेना वन की शोभा देखती हुई कुछ आगे निकल गई। उसने वहाँ एक तपस्वी ज्ञानी मुनि को वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे देखा। वह उनके समीप गई और भक्तिपूर्वक वंदना की। मुनिराज का उपदेश सुन कर वह संसार से विरक्त हो गई और राजा की आज्ञा ले कर संयम स्वीकार कर लिया।

कालान्तर में महाराज अभयघोष के यहाँ छद्मस्थ अवस्था में विचरते हुए श्रीअनंत अरिहंत पधारे। राजा ने उत्कट भाव-भक्तिपूर्वक आहार दान दिया और अरिहंत ने वही अपनी तपस्या का पारणा किया। पंच दिव्य की वृष्टि हुई। कालान्तर में वे ही अरिहंत भगवान् केवली अवस्था में वहाँ पधारे और धर्मोपदेश दिया। महाराज विरक्त हो गए। उन्होंने राजकुमारों को राज्य का भार ग्रहण करने के लिए कहा। किन्तु वे भी प्रव्रजित होने के लिए तत्पर थे। अतएव उन्होंने राज्य भार ग्रहण नहीं किया। अंत में अन्य योग्य व्यक्ति को राज्यभार सौंप कर महाराजा और दोनों राजकुमार निर्ग्रथ हो गए। मुनिराज श्री अभयघोषजी ने दीक्षित होने के बाद उग्र तप एवं उच्च आराधना प्रारंभ कर दी। उन्होंने भावों की विशिष्टता से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयु पूर्ण कर

तीनों पिता-पुत्र अच्युतकल्प में २२ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए ।

इस जम्बूद्वीप के पूर्वमहाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुंडरीकिनी नगरी थी । हेमांगद राजा राज करता था । वज्रमालिनी नामक महारानी उनकी हृदयेश्वरी थी । मुनिराज श्रीअभयघोषजी का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर चौदह महास्वप्न पूर्वक महारानी वज्रमालिनी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । जन्म होने पर इन्द्रों ने उनका जन्मोत्सव किया । उनका नाम 'धनरथ' रखा गया । वे द्रव्य-तीर्थंकर अभी गृहवास में विद्यमान हैं । तुम विजय और वैजयंत के जीव, देवलोक से च्यव कर चन्द्रतिलक सूर्यतिलक नाम के विद्याधर हुए हो ।

“दोनों राजकुमार अपना पूर्वभव जान कर प्रसन्न हुए और मुनिवर को नमस्कार कर के अपने पूर्वजन्म के पिता (आप) को देखने के लिए भक्तिपूर्वक यहाँ आये । उन्होंने कौतुकपूर्वक इन मुर्गों में प्रवेश करके शृद्ध का आयोजन किया । यह आपके दर्शन के लिये किया है । यहाँ से मुनिश्री भोगवर्द्धनजी के पास जा कर दीक्षा लेंगे और कर्म क्षय कर मोक्ष जावेंगे ।”

उपरोक्त वृत्तांत सुन कर वे दोनों विद्याधर कुमार प्रकट हुए और अपने पूर्वभव के पिता महाराजा धनरथजी को नमस्कार कर के अपने स्थान पर चले गये ।

दोनों कुर्कुट ने भी उपरोक्त वृत्तांत सुना और विचार करने लगे । उन्हें जाति-स्मरण आन हुआ । उन्होंने अपने पूर्वभव देखे और सोचने लगे कि;—

“अहो ! यह संसार कितना भय और क्लेश से परिपूर्ण है । हमने मनुष्य-जन्म पा कर पापों के संग्रह में ही समाप्त कर दिया और पुनः मनुष्य-भव पाना भी दुर्लभ बना दिया ।” उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ । वे अपनी भाषा में धनरथ महाराज से कहने लगे;—

“हे देव ! कृपया बताइये कि हम अपनी आत्मा का उद्धार किस प्रकार करें ।”

द्रव्य तीर्थंकर महाराजा धनरथजी ने कहा—

“तुम अरिहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिन प्ररूपित दयामय धर्म का शरण ग्रहण करो । इसी से तुम्हारा कल्याण होगा ।”

महाराजा धनरथजी का वचन सुन कर वे संवेग को प्राप्त हुए । उनके मन में धर्मभाव उत्पन्न हुआ और उसी समय अनशन कर लिया । वे मृत्यु पा कर भूतरत्ना नाम की अटवी में 'ताम्रचूर' और 'स्वर्णचूल' नाम के दो महद्भिक भूतनायक देव हुए । अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव को देख कर वे अपने उपकारी महाराजा मेघरथजी के पास

आये और भक्तिपूर्वक प्रणाम कर के कहने लगे; ---

“महाराज ! आपकी कृपा से हम तीर्थंच की दुर्गति को छोड़ कर व्यंतर देव हुए हैं । यदि आपकी कृपा नहीं होती, तो हम पाप में ही पड़े रहते और प्रतिदिन हजारों कीड़ों का भक्षण कर के पाप का भार बढ़ाते ही रहते और दुर्गति की परम्परा चलती रहती । आप हमारे परम उपकारी हैं । हमारी प्रार्थना है कि आप हमें कुछ सेवा करने का अवसर प्रदान करें । आप तो ज्ञान से सब जानते हैं, किन्तु हम पर अनुग्रह कर के विमान पर बैठ कर पृथ्वी के विविध दृश्यों का अवलोकन करें ।” युवराज मेघरथ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और परिवार सहित विमान में बैठ कर रवाना हुए । वे वन, उपवन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, नगर और सभी रमणीय स्थानों को देखते हुए मानुषोत्तर पर्वत तक गये । देवों ने उन्हें प्रत्येक क्षेत्र और स्थान का वर्णन कर के परिचय कराया । वे मनुष्य-क्षेत्र को देख कर अपनी पुंडरीकिनी नगरी में लौट आए ।

कालान्तर में लोकान्तिक देवों ने आ कर महाराजा धनरथजी से निवेदन किया---
“स्वामिन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें ।” वे तो प्रथम से ही बोधित थे । योग्य अवसर भी आ गया था । अतएव महाराजा ने युवराज मेघरथ को राज्यभार सौंपा और राज-कुमार दृढरथ को युवराज पद प्रदान कर वर्षीदान दिया और संसार त्याग कर धातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया तथा तीर्थ-स्थापन कर भव्य जीवों का उद्धार करने लगे ।

मेघरथ राजा का वृत्तांत

महाराजा मेघरथ, राज्य का संचालन करने लगे । अनेक राजा उनकी आज्ञा में थे । एक बार वे क्रीड़ा करने के लिए देवरमण उद्यान में गये । वे महारानी प्रियमित्रा के साथ अशोकवृक्ष के नीचे बैठ कर मधुर संगीत सुनने लगे । उस समय उनके सामने हजारों भूत आ कर नृत्य, नाटक और संगीत करने लगे । कोई लम्बोदर बन कर अपना नगाड़े जैसा मोटा पेट हिला कर अट्टहास करने लगा, कोई दुबला-पतला कुशोदर हो कर मिमियाने लगा, कोई ताड़वृक्ष से भी अधिक लम्बतड्ग हो कर लम्बे-लम्बे डग भरने लगा, किसी की भुजा बहुत लम्बी, तो किसी का सिरमटके से भी बड़ा, कोई गले में साँपों की माला पहने हुए, जिनकी फणें इधर-उधर उठी हुई लपलपा रही है । नेवलों के भुजबन्ध, अजगर का

कन्दोरा पहन कर, व्रीहत्स रूप धारण कर के उछल-कूद करने लगे । कोई घोड़े के समान हिनहिनाने लगा, तो कोई हाथी-सा बिघाड़ने लगा, इत्यादि अनेक प्रकार से ताण्डव करने लगे । वे सभी महाराजा का मनोरंजन करने लगे । इतने ही में आकाश में एक उत्तम विमान प्रकट हुआ, जिसमें एक पुरुष और एक युवती स्त्री बैठी थी । वे दोनों कामदेव और रति के समान सुन्दर थे । उन्हें देख कर महारानी ने महाराजा से पूछा— इस विमान में यह युगल कौन है ?' महाराज कहने लगे;—

“वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी में अलका नाम की उत्तम नगरी है । वहाँ विद्या-धरपति विद्युद्रथ शासक है । मानसवेगा उसकी रानी हैं । उसके ‘सिहरथ’ नाम का पराक्रमी पुत्र हुआ । उस राजकुमार के वेगवती युवराज्ञी है । युवराज सिहरथ, प्रिया के साथ जला-शयों, उपवनों और उद्यानों में क्रीड़ा करने लगा । कालान्तर में विद्युद्रथ राजा, युवराज को राज्यभार दे कर सर्व त्यागी निर्ग्रन्थ बन गया और ज्ञान, ध्यान, तप और समाधि से समवहृत हो, कर्म काट कर मुक्ति को प्राप्त हुए । सिहरथ, समस्त विद्याधरों का अधिपति हुआ । कालान्तर में एक रात्रि में महाराजा सिहरथ की नींद खुल जाने पर विचार हुआ— ‘मैंने अपना अमूल्य मानव-भव यों ही गँवा दिया । मैंने न तो जिनेश्वर भगवंत के दर्शन किये, न उनका धर्मोपदेश सुना । अब मुझे सब से पहले यही करना चाहिए ।’ ऐसा सोच-कर प्रातःकाल होते ही तय्यारी कर दी और महारानी सहित धातकौ-खंड द्वीप के पश्चिम विदेह में सूत्र नाम के विजय में खड्गपुर नगर में गया और वहाँ रहे हुए तीर्थंकर भगवान् अमितवाहन स्वामी के दर्शन किये । धर्मदेशना सुनी और भगवान् को वन्दन नमस्कार कर वापिस लौटा । वह अपनी राजधानी में जा ही रहा था कि यहाँ आते उसके विमान की गति स्खलित हो गई । अपने विमान की गति रुकते देख कर उसने नीचे देखा । मै उसकी दृष्टि में आया । मुझे देख कर वह क्रोधित हुआ और मुझे उठा कर ले जाने की इच्छा से यहाँ मेरे पास आया । मैंने अपने बायें हाथ से उसके बायें हाथ पर प्रहार किया । इससे वह चिल्लाने लगा । अपने पति को कष्ट में देख कर उसकी पत्नी परिवार सहित मेरी शरण में आई । इसलिए मैंने उसे छोड़ दिया । छुटने के बाद वह विविध रूपों की विकुर्वणा करके यहाँ संगीत करने लगा ।”

यह सुन कर महारानी प्रियमित्रा ने पूछा—“प्रियतम ! यह पूर्वभव में कौन था ? इसने कौनसी शुभ करणी की थी कि जिससे इतनी बड़ी ऋद्धि प्राप्त हुई ?” महाराजा ने कहा—

“पुष्पकरार्द्ध द्वीप के पूर्व-भरत क्षेत्र में संधपुर नाम का एक बड़ा नगर था । वहाँ राज्यगुप्त नाम का एक गरीब कुलपुत्र रहता था । वह दूमरों की मजदूरी कर के पेट भरता था । उसके शंखिका नाम की पतिभवता पत्नी थी । वे दोनों मजदूरी कर के आजीविका चलाते थे । एक बार वे दोनों पति-पत्नी फल लेने के लिए वन में गये । वहाँ उन्हें मुनिराज सर्वगुप्तजी धर्मोपदेश देते हुए दिखाई दिये । वे भी धर्मसभा में बैठ गए और उपदेश सुनने लगे । उपदेश पूर्ण होने के बाद उन्होंने मुनिराज से निवेदन किया कि—“हम गरीब हैं । हमें ऐसी तप-विधि बताइए कि जिससे हमारे पाप-कर्मों का विच्छेद हो ।” मुनिराज ने उन्हें सम्यग् तप का उपदेश दिया । वे घर आ कर तप करने लगे । तप के पारण के दिन वे किसी उत्तम त्यागी संत की प्रतीक्षा करने लगे । इतने में मुनिश्वर धृतिधरजी भिक्षा-चारी के लिए पधारे । उन्होंने उन्हें भावपूर्वक प्रतिलाभित किये । कालान्तर में श्रीसर्वगुप्त मुनिराज वहाँ पधारे । प्रतिबोध पा कर दोनों ने श्रमणदीक्षा स्वीकार कर ली । राजगुप्त मुनि ने गुरु की आज्ञा से आयंबिल वर्द्धमान तप किया और अंत में अनशन कर के ब्रह्मादेवलोक में गए । वहाँ से च्यव कर यह सिंहरथ हुआ और शंखिका भी संयम तप की आराधना कर के ब्रह्मलोक में देव हुई । वहाँ से च्यव कर वह सिंहरथ की पत्नी हुई । अब यहाँ से अपने नगर में जावेंगे और पुत्र को राज्यभार सौंप कर मेरे पिताश्री के पास दीक्षा लेंगे । फिर चारित्र्य की विशुद्ध आराधना कर के मोक्ष प्राप्त करेंगे ।

उपरोक्त वचन सुन कर महाराजा सिंहरथजी ने महाराजा मेघरथजी को नमस्कार किया और राजधानी में आ कर पुत्र को राज्य का भार दिया । फिर भगवान् धनरथजी के पास प्रव्रजित हो कर सिद्धपद को प्राप्त हुए ।

यह सब बात देवरमण उद्यान में होती रही । इसके बाद महाराजा मेघरथजी उद्यान में से चल कर राजभवन में आये ।

कबूतर की रक्षा में शरीर-दान

एक दिन महापराक्रमी दयासिन्धु महाराजा मेघरथजी पौषधशाला में पौषध अंगी-कार कर के बैठे थे और जिनप्ररूपित धर्म का व्याख्यान कर रहे थे । उस समय एक भयभीत कबूतर आ कर उनकी गोद में बैठ गया । वह बहुत ही घबड़ाया हुआ था और काँप रहा था । उसका हृदय जोर-जोर से धड़क रहा था । वह मनुष्यों की बोली में कर्ण-

पूणं स्वर से बोला--“मुझे अभयदान दो, मुझे बचाओ,” इससे आगे वह नहीं बोल सका। यह सुन कर नरेश ने कहा--“तू निर्भय होजा। यहाँ तुझे किसी प्रकार का भय नहीं होगा।” इस शब्दों ने कबूतर के मन में शांति उत्पन्न कर दी। वह पिता के समान रक्षक नरेश की गोद में, एक बालक के समान बैठा रहा। क्षणभर बाद ही एक बाज पक्षी आया और कबूतर को राजा की गोद में बैठा देख कर मानव भाषा में बोला--

“महाराज ! इस कबूतर को छोड़ दीजिये। यह मेरा भक्ष्य है। मैं इसे ही खोजता हुआ आ रहा हूँ।”

“अरे बाज ! अब यह कबूतर तुझे नहीं मिल सकता। यह मेरी शरण में है। क्षत्रिय-पुत्र शरणागत की रक्षा एवं प्रतिपालना करते हैं। तुझे भी ऐसा निन्दनीय कृत्य नहीं करना चाहिए। किसी प्राणी का भक्षण करना कभी हितकार नहीं होता। क्षणिक सुख में लुब्ध हो कर तू मांस-भक्षण करता है, किन्तु यह क्षणिक सुख, भवान्तर में हजारों-लाखों वर्षों पल्योंपमों और सागरोपमों तक नरक के भीषण दुःख का कारण बन जाता है। क्षणिक सुख के लिए निरपराध--अशक्त प्राणियों के प्राण हरण कर के दीर्घकालीन महादुःख का महाभार बढ़ाना मूर्खता है। जेम्स तुझे दुःख अप्रिय है, वैसे ही इस कबूतर को भी दुःख अप्रिय है। यदि तेरा एक पंख उखाड़ लिया जाय, तो तुझे कितना कष्ट होगा ? तब बिचारे इस कबूतर का जीवन ही समाप्त करने पर इसे दुःख नहीं होगा क्या ? तू बुद्धिमान है। तुझे विचार करना चाहिए कि पूर्वभव में किये हुए पाप के कारण तो तू देव और मनुष्य जैसी उत्तम गति से वंचित रह कर तिर्यच की अशुभ गति पाया और अब भी पाप-कर्म करता रहेगा, तो भविष्य में तेरा क्या होगा ? सोच, समझ और दुष्कर्म का त्याग कर, अपने शेष जीवन को सुधार ले।

यदि तुझे क्षुधा मिटाना है, तो दूसरा निर्दोष भोजन तुझे मिल सकता है। पित्ताग्नि का दूध से भी शमन होता है और मिश्री आदि से भी। इसलिए तुझे निर्दयता छोड़ कर अहिंसक वृत्ति अपनानी चाहिए”--महाराजा मेघरथजी ने बाज को समझाते हुए कहा।

“महाराज ! आप विचार करें”--बाज राजा को सम्बोधन कर कहने लगा--

“जिस प्रकार यह कबूतर मृत्यु के भय से बचने के लिए आपके पास आया, उसी प्रकार मैं भी क्षुधा से पीड़ित हो कर इसे खाने के लिए आया हूँ। यदि मैं इसे नहीं खाऊँ, तो किसे खाऊँ ? अपने जीवन को कैसे बचाऊँ ? आप कबूतर की रक्षा करते हैं, तो मेरी भी रक्षा कीजिए। मुझे भूख से तड़पते हुए मरने से बचाइए। प्राणी जबतक भूखा रहता है, तबतक

वह धर्म-पुण्य का विचार नहीं कर सकता। क्षुधा शांत होने पर ही धर्मकर्म का विचार होता है। इसलिए धर्माधर्म की बातें छोड़ कर मेरा भक्ष्य—यह कबूतर मुझे दीजिये। मैं क्षुधा मिटाने के बाद आपका धर्मोपदेश अवश्य सुनूंगा। आप एक की रक्षा करते हैं और दूसरे को भूख से मरने का उपदेश करते हैं, यह कैसा न्याय है? यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। मैं ताजा मांस ही खाता हूँ। इसीसे मेरी तृप्ति होती है। दूसरी कोई वस्तु मुझे रुचि-कर नहीं होती। इसलिए निवेदन है कि यह कबूतर मुझे सौंप कर मुझ पर उपकार कीजिए।”

“क्या तू मांस ही खाता है? दूसरा कुछ भी नहीं खा सकता? यदि ऐसा ही है, तो ले, मैं तेरी इच्छा पूरी करने को तत्पर हूँ। मैं मेरे शरीर का ताजा मांस इस कबूतर के बराबर तुझे देता हूँ। तू अपनी इच्छा पूरी कर”—महाराजा मेघरथजी ने धैर्य और शांतिपूर्वक कहा।

बाज ने नरेश की बात स्वीकार कर ली। छुरी और तराजु मँगवाया। तराजु के एक पल्ले में कपोत को बिठाया और महाराज स्वयं अपने शरीर का मांस काट कर दूसरे पल्ले में रखने लगे। यह देख कर राज्य-परिवार हाहाकार कर उठा। रानियाँ, राजकुमार आदि आक्रन्द करने लगे। मन्त्रीगण, सामन्त और मित्रगण नरेश से प्रार्थना करने लगे,—

“हे, प्रभो! हे नाथ! आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं। आपका यह देवोपम शरीर, एक क्षुद्र प्राणी का ही रक्षक नहीं है, इससे तो सारी पृथ्वी का रक्षण होता है। आप इस एक के लिए अपने मूल्यवान् प्राणों को क्यों नष्ट कर रहे हैं? सोचो प्रभु! हम सब के दुःख को देखो। हम पर दया करो। हम भी आप से दया की भीख माँगते हैं। हमें आपके इस दुःसाहस से महान् दुःख हो रहा है।”

नरेश ने शांत और गंभीर वाणी से कहा—

“आत्मीयजनों! यह कबूतर मृत्युमय से भयभीत हो कर मेरी शरण में आया। मैंने इसे शरण दी। इसकी रक्षा करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है। यद्यपि मैं इस बाज की उपेक्षा कर के या बन्दी बना कर भी कबूतर को बचा सकता था, किन्तु यह भी भूखा है और अपना भोजन चाहता है। यदि यह केवल वंर या शत्रुता से ही इसे मारने के लिए आता, तो वह बात दूसरी थी। यह मांसभक्षी है। इसे मांस चाहिए। यदि मैं कबूतर की रक्षा करना चाहता हूँ, तो इसकी भूख को दूर करना भी आवश्यक है। यह मांस के बिना दूसरी कोई वस्तु नहीं खाता। अब इसे भूख से तड़पने देना भी मुझे इष्ट

नहीं है। इसके अतिरिक्त इसका पेट भरने के लिए मैं दूसरे पशु को मार कर उसका मांस खिलाना भी उचित नहीं समझता, तब हमारा मार्ग ही क्या है ?

आप सब अपने मोह एवं स्नेह से प्रेरित हैं और इसीसे आपको यह दुःख हो रहा है। मैं अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। आप धैर्यपूर्वक मुझे अपने कर्तव्य का पालन करने दें।”

मन्त्रीगण समझ गये कि महाराज अपने कर्तव्य से डिगने वाले नहीं हैं। अब क्या करें। वे यह सोच ही रहे थे कि बाज बोल उठा;—

“महाराज ! मेरे पेट में दर्द हो रहा है। शीघ्रता कीजिए। मुझे जोरदार भूख लगी है। बिलम्ब होने पर तेज हुई मेरी जठराग्नि, कहीं मेरे जीवन को समाप्त कर देगी। आह !”

मन्त्रीगण बाज को समझाने लगे— “अरे बाज ! तू तो कुछ दया कर—हम सब पर। हम तुझे मेवा-मिष्ठान्न आदि जो कुछ तू माँगे वह देने की तय्यार हैं। तू उत्तम वस्तु खा ले—उम्रभर खाता रह। परन्तु महाराज का मांस खाने की हठ छोड़ दे। हम सब पर तेरा बड़ा उपकार होगा।”

“मुझे तो ताजा मांस चाहिए, फिर चाहे वह कबूतर का हो, दूसरे किसी प्राणी का हो, या महाराज का हो। मांस के अतिरिक्त मेरे लिए कोई भी वस्तु न तो रुचिकर है, न अनुकूल ही। अब आप बातें करना बन्द कर दें। भूख की ज्वाला में मेरा रक्त जल रहा है। आह, महाराज ! बड़ा दर्द हो रहा है पेट में”—बाज भूमि पर लौटने लगा।

महाराजा मेघरथजी अपने हाथ से अपने शरीर का मांस काट कर तराजु में धरते जाते, किन्तु तराजु का पलड़ा ऊँचा ही रहने लगा। कबूतर का पलड़ा ऊपर उठा ही नहीं। वे छुरे से अपना मांस काट कर रखते जाते और जनसमूह आक्रन्द करता जाता, परन्तु कबूतर का पलड़ा भारी ही रहा। शरीर के कई भागों का मांस काट-काट कर रख दिया। इससे महाराजा को तीव्र वेदना हुई ही होगी, किन्तु वे निरुत्साह नहीं हुए। उनके भावों में विचलितता नहीं आई। एक मन्त्री बोल उठा—

“महाराज ! धोखा है। कोई मायावी शत्रु देव, षड्यन्त्र रच कर आपका जीवन समाप्त करना चाहता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो क्या इतना मांस काट कर रख देने पर भी कबूतर का पलड़ा भारी रह सकता है ?”

मन्त्री यों कह रहा था कि वहाँ एक दिव्य मुकुट-कुंडलादि आभूषणधारी देव प्रकट हुआ और महाराज का जय-जयकार करता हुआ बोला—

“जय हो, शरणागत-रक्षक महामानव नरेन्द्र मेघरथ की जय हो, विजय हो। आपकी गुणगाथा देवाधिपति ईशानेन्द्र महाराज ने दूसरे देवलोक की देव-सभा में गाई। आप देवेन्द्र द्वारा प्रशंसित हैं। मैं भी उस देव-सभा में था। मुझे आपकी प्रशंसा सुन कर, देवेन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। इसलिए परीक्षा करने के लिए यहाँ आया। मार्ग में मेने इन दोनों पक्षियों को लड़ते हुए देखा, तो मैं उनमें प्रवेश कर आपके पास आया और आपकी महान् अनुकम्पा, शरणागत प्रतिपालकता एवं दृढ़ आत्मबल की परीक्षा की। इससे आपको कष्ट हुआ। मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। आप मुझे क्षमा करें।”

इस प्रकार देव ने निवेदन किया और राजेन्द्र को स्वस्थ बना कर स्वर्ग में चला गया।

देव के चले जाने के बाद सामंतों ने महाराजा से पूछा—“स्वामिन्! यह कबूतर और बाज परस्पर वर क्यों रख रहे हैं? ये पूर्वभव में कौन थे?” महाराजा मेघरथ, अवधिज्ञान से उनका पूर्वभव जान कर कहने लगे।

“ये दोनों ऐरवत क्षेत्र के पद्मिनीखंड नगर के सेठ सागरदत्त के पुत्र थे। ये व्यापारार्थ विदेश गये। विदेश में इन्हें एक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुआ। उस रत्न को लेने के लिए वे नदी के किनारे लड़ने लगे। लड़ते-लड़ते वे दोनों नदी में गिर पड़े और मर कर पक्षी हुए। अब भी दोनों आपस में लड़ रहे हैं। अब उस देव का वृत्तांत सुनो।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में रमणीय नाम का विजय है। उसमें शुभा नाम की नगरी है। स्तिमितसागर नाम का राजा वहाँ राज करता था। मैं पूर्व के पाँचवें भव में ‘अपराजित’ नाम का उनका पुत्र था और बलदेव * पद पर अधिष्ठित था। यह दृढ़रथ उस समय मेरा छोटा भाई ‘अनन्तवीर्य’ नाम का वामुदेव था। उस समय दमितारि नाम का प्रतिवासुदेव था। उसकी कनकश्री कन्या के लिए हमने उसे युद्ध में मार डाला था। वह भव भ्रमण करता हुआ सोमप्रभ नामक तापस का पुत्र हुआ। वह बाल-तप करता रहा और मर कर सुरूप नाम का देव हुआ। ईशानेन्द्र ने मेरी प्रशंसा की। उस प्रशंसा ने सुरूप देव की आत्मा में रहा हुआ पूर्वभव का वर जाग्रत कर दिया। वह देव यहाँ आया और इन पक्षियों में अधिष्ठित हो कर मेरी परीक्षा लेने लगा।”

महाराजा मेघरथ की बात सुन कर बाज और कबूतर को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़े। राज-सेवकों ने उन पर हवा की और पानी

* यह वृत्तांत पृष्ठ ३१६ पर देखें।

के छींट दिये । वे होश में आये और अपनी भाषा में बोले ; —

“स्वामिन् ! आपने हमें अन्धकार में से निकाला और प्रकाश में ला कर रख दिया । हमारे पूर्वभव के पाप ने ही हमें इस दुर्दशा में डाला था । और यहाँ भी हम नरक में जाने की तय्यारी कर रहे थे । किन्तु आपने हमें नरक की गहरी खाड़ में पड़ने से बचा लिया । अब हमें कुमार्ग से बचा कर संमार्ग पर लगाने की कृपा करें, जिससे हमारा उत्थान हो ।”

महाराजा ने अवधिज्ञान से उनका आयुष्य और याग्यता जान कर अनशन करने की सूचना की । वे दोनों अनशन कर के मृत्यु पा कर भवनपति देव हुए ।

इन्द्रानियों ने परीक्षा ली

महाराजा मेघरथजी कालान्तर में शांत रस में लीन हो कर पोषध युक्त अष्टम तप कर रहे थे । वे धर्मध्यान में निमग्न थे । उनकी परम वैराग्यमय दशा की ओर ईशा-मेन्द्र का ध्यान गया । वे तत्काल बोल उठे—“हे भगवन् ! आपको मेरा नमस्कार हो” — यों कहते हुए नमस्कार करने लगे । यह देख कर इन्द्रानियों ने पूछा—“स्वामिन् ! आपके सम्मुख असंख्य देव नमस्कार करते हैं, फिर ऐसा कौन भाग्यशाली है कि जिन्हें आप नमस्कार कर रहे हैं ?”

—“वे महापुरुष कोई देव नहीं, किन्तु एक भाग्यशाली मनुष्य है । तिरछे लोक में पुण्डरीकिनी नगरी के नरेश मेघरथजी को मैंने नमस्कार किया है । वे अभी धर्मध्यान में लीन हैं । ये महापुरुष आगामी मानव-भव में तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे । उनका ध्यान इतना निश्चल, अडोल एवं दृढ़ है कि उन्हें चलायमान करने में कोई भी देव समर्थ नहीं है । वे महापुरुष विश्वभर के लिए वंदनीय है ।”

इंद्र की बात सुन कर अन्य देवांगनाओं के मन में भी भक्ति उत्पन्न हुई, किन्तु सुरुषा और प्रतिरुषा नाम की दो इन्द्रानियों को यह बात नहीं रुचि । वे मेघरथजी को चलायमान करने के लिये उनके पास आई । उन्होंने वैक्रिय से परम सुन्दरी एवं देवांगना जैसी कुछ युवतियाँ तय्यार की । वे हाव-भाव, तथा कामोद्दीपक विकारी-चेष्टाएँ करने लगीं । किंतु महान् आत्मा मेघरथजी अपने ध्यान में अडोल ही रहे । अन्त में दोनों इन्द्रानियाँ हारी और वन्दना-नमस्कार कर के चली गईं । कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् धनरथजी ग्रामानुग्राम विहार करते वहाँ पधारे । महाराजा मेघरथजी सपरिवार भगवान् को वन्दन

करने गए। भगवान् की धर्मदेशना सुन कर उनकी विरक्ति विशेष बलवती हुई। वे युवराज दृढ़रथ को शासन का भार सौंपने लगे, किन्तु वह भी संसार से विरक्त हो गया था। उसने भी उन के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। छोटे राजकुमार मेघसेन को शासन का भार दिया और युवराज दृढ़रथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद दिया। इसके बाद राजा मेघसेन ने, मेघरथ नरेश का निष्क्रमणोत्सव किया। श्री मेघरथजी के साथ उनके भाई दृढ़रथ, सात सौ पुत्र और चार हजार राजाओं ने भी निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या ग्रहण की। विशुद्ध मंत्रम और उग्र तप करते हुए उन्होंने एक लाख पूर्व तक चारित्र्य का पालन किया तथा विशुद्ध भावों से आराधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित किया। वे अनशन युक्त आयु पूर्ण कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान में ३३ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए। मुनिराज श्री दृढ़रथजी भी वहीं उत्पन्न हुए।

भगवान् शान्तिनाथ का जन्म

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में कुरुदेश में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वह विशाल नगर उच्च भवनों और ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित था। सुशोभित बाजारों, बाग-बगीचों, उद्यानों और स्वच्छ जलाशयों की शोभा से दर्शनीय था और धन-धान्य से परिपूर्ण था।

उस नगर पर इक्ष्वाकु वंश के महाराजा 'विश्वमेनजी' का राज्य था। वे प्रतापी, शूरवीर, न्यायप्रिय और राजाओं के अनेक गुणों से युक्त थे। उनके प्रखर तेज के आगे अन्य राजा और शक्तिमान् ईर्ष्यालु सामन्त दबे रहते और नत-मस्तक हो कर उनकी कृपा के इच्छुक रहते थे। उनके आश्रय में आये हुए लोग, निर्भय और सुखी रहते थे। महाराजा विश्वमेनजी के 'अचिरादेवी' नाम की रानी थी। वह रूप लावण्य एवं सुलक्षणों से युक्त तो थी ही, साथ ही सद्गुणों की खान भी थी। वह सती शीलवती अपने उच्च राजवंश को सुशोभित करती थी। महाराजा और महारानी में प्रगाढ़ प्रीति थी। उन दोनों का समय सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। उस समय अन्तर विमानों में मुख्य ऐसे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में मेघरथजी का जीव अपनी तेतीस सागरोपम की सुखमय आयु पूर्ण कर चुका था। वह वहाँ से भाद्रपद कृष्ण सप्तमी को भरणी नक्षत्र में व्यव कर महारानी अचिरादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। महारानी ने स्वप्नों की बात

महाराजा से कही । स्वप्न सुन कर महाराज बड़े प्रमत्त हुए । उन्होंने कहा --- 'महादेवी ! आपकी कुक्षि में कोई लोकोत्तम महापुरुष आया है । वह त्रिलोक-पूज्य और परम रक्षक होगा ।' प्रातःकाल भविष्यवेत्ता—स्वप्न-शास्त्रियों को बुलाया गया । उन्होंने स्वप्न-फल बतलाते हुए कहा—

“महाराज ! आपके इक्ष्वाकु वंश को पहले आदि जिनेश्वर और आदि चक्रवर्ती, आदि लोकोत्तम महापुरुषों ने सुशोभित किया । अब फिर कोई चक्रवर्ती सम्राट अथवा धर्म-चक्रवर्ती—तीर्थंकर पद को सुशोभित करने वाली महान् आत्मा का पदार्पण हुआ है । आप महान् भाग्यशाली हैं—स्वामी !”

स्वप्न पाठकों का सत्कार कर के और बहुत-सा धन दे कर विदा किया । उस समय पहले से ही कुरुदेश में महामारी फैल रही थी । उग्र रूप से रोगातंक फैल चुका था । उस व्यापक महामारी का शमन करने के लिए बहुत-से उपाय किये, किन्तु सभी उपाय व्यर्थ गये । महारानी अचिरादेवी की कुक्षि में आये गर्भस्थ उत्तम जीव के प्रभाव से महामारी एकदम शान्त हो गई । सर्वत्र ही शान्ति व्याप्त हो गई ।

गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर ज्येष्ठ मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी के दिन भरणी नक्षत्र में—जब सभी ग्रह उच्च स्थान पर थे, पुत्र का जन्म हुआ । उस समय तीनों लोक में उद्योत हुआ और नारकी जीवों को भी कुछ देर के लिए सुख का अनुभव हुआ । दिशा-कुमारियों आई, इन्द्र आये और मेरुगिरि पर जन्मोत्सव किया । महाराजा विश्वसेनजी ने भी जन्मोत्सव मनाया । पुत्र के गर्भ में आते ही महामारी एकदम शांत हो गई । इसलिए पुत्र का नाम 'शांतिनाथ' दिया गया । यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार शांतिनाथ का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किया । राजकुमार पच्चीस हजार वर्ष की वय में आये, तब महाराजा विश्वसेनजी ने राज्य का भार पुत्र को दे दिया और अपना आत्महित साधने लगे । श्री शांतिनाथजी यथाविधि राज्य का संचालन करने लगे और निकाचित कर्मों के उदय से रानियों के साथ भोग भोगने लगे । सभी रानियों में अग्र स्थान पर महारानी यशोमती थी । उमने एक रात्रि में स्वप्न में सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे एक चक्र को आकाश से उतर कर मुख में प्रवेश करते हुए देखा । दृढ़रथ मुनि का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर उनकी कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने स्वप्न की बात स्वामी से निवेदन की । महाराजा शांतिनाथजी अवधिज्ञान से युक्त थे । उन्होंने कहा ; —'देवी ! मेरे पूर्वभव का दृढ़रथ नाम का मेरा छोटा भाई सर्वार्थमिद्ध महाविमान से च्यव कर तुम्हारी कुक्षि में आया है ।' गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । स्वप्न में चक्र देखा था, इसलिए

पुत्र का नाम 'चक्रायुध' रखा । यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों के साथ राजकुमार का विवाह किया ।

पाँचवें चक्रवर्ती सम्राट

न्याय एवं नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करते हुए महाराजा शांतिनाथजी को पचीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर, अस्त्रशाला में चक्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ । महाराजा ने चक्ररत्न का अठाई महोत्सव किया । इसके बाद एक हजार देवों से अधिष्ठित चक्ररत्न, अस्त्रशाला से निकल कर पूर्व-दिशा की ओर चला । उसके पीछे महाराजा शांतिनाथजी सेना सहित दिग्विजय करने के लिए रवाना हुए । समुद्र के किनारे सेना का पड़ाव डाला गया । महाराजा मागध-तीर्थ की दिशा की ओर मुँह कर के सिंहासन पर बैठे । मागधदेव का आसन चलायमान हुआ । अवधिज्ञान से देव ने महाराजा को देखा और भावी चक्रवर्ती तथा धर्मचक्रवर्ती जान कर हर्षयुक्त, बहुमूल्य भेंट ले कर सेवा में उपस्थित हुआ और प्रणाम कर भेंट अर्पण करता हुआ बोला ; —“प्रभो । मैं मागधदेव हूँ । आपने मुझ पर कृपा की । मैं आपका आज्ञाकारी हूँ और पूर्व दिशा का दिग्पाल हूँ । मैं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँगा ।” महाराजा शांतिनाथजी ने देव की भेंट स्वीकार की और योग्य सत्कार कर के विदा किया । वहाँ से चक्ररत्न दक्षिण-दिशा की ओर गया । वहाँ वरदाम तीर्थ के देव ने भी उसी प्रकार आज्ञा शिरोधार्य की । उसी प्रकार पश्चिम-दिशा का प्रभास तीर्थ-पति देव भी आज्ञाधीन हुआ । इस प्रकार चक्रवर्ती परम्परानुसार दिग्विजय करते हुए और किरातों के उमद्रव का सेनापति द्वारा युद्ध से पराभव करते और आज्ञाकारी बनाते हुए सम्पूर्ण छह खंड की साधना की । दिग्विजय का कार्य आठ सौ वर्षों में पूर्ण कर के महाराजा हस्तिनापुर पधारे । आपको चौदह रत्न और नवनिधान की प्राप्ति हुई । देवों और राजाओं ने महाराजा का चक्रवर्तीपन का उत्सव किया और महाराजा शांतिनाथजी को इस अव-सर्पिणी काल के पाँचवें चक्रवर्ती घोषित किया । इसके बाद आठ सौ वर्ष कम पच्चीस हजार वर्ष तक आपने चक्रवर्ती पद का पालन किया ।

अब चक्रवर्ती सम्राट श्री शांतिनाथजी के संसार त्याग का समय निकट आ रहा था । लोकान्तिक देव आपकी सेवा में उपस्थित हो कर अपने कल्प के अनुसार निवेदन करने लगे ; —“हे भगवन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करिये,” इतना कह कर और प्रणाम

कर के वे चले गए। इसके बाद प्रभु ने वर्षादान दिया और अपने पुत्र राजकुमार चक्रायुद्ध को राज्य का भार सौंप कर प्रव्रजित होने के लिए तत्पर हो गए। इन्द्रादि देवों और महाराजा चक्रायुध आदि मनुष्यों ने दीक्षा-महोत्सव किया और ज्येष्ठ-कृष्ण चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में दिन के अंतिम प्रहर में, बेल के तप से, एक हजार राजाओं के साथ, सिद्ध को नमस्कार कर के प्रव्रज्या ग्रहण की। उसी समय भगवान् को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ।

महर्षि शांतिनाथजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक वर्ष बाद हस्तिनापुर पधारे और सहस्राश्र वन उद्यान में ठहरे। वहाँ नन्दी वृक्ष के नीचे बेल के तप से प्रभु शुक्लध्यान में लीन थे। पौष मास के शुक्ल पक्ष की नौमी का दिन था। चन्द्र भरणी नक्षत्र में आया था कि भगवान् के अनादिकाल से लगे आये वार्ता-कर्म सर्वथा नष्ट हो गए और प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। इन्द्रों ने प्रभु का केवल महोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई। भगवान् ने धर्मदेशना दी। यथा—

धर्मदेशना—इन्द्रिय-जय

जीवों के लिए अनेक प्रकार के दुखों का मूल कारण यह चतुर्गति रूप संसार है। जिस प्रकार विशाल भवन के लिए स्तंभ आधारभूत होते हैं, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय रूपी चार स्तंभ भी चतुर्गति रूप संसार के आधार के समान हैं। मूल सुख जाने पर वृक्ष अपने-आप सूख जाता है, उसी प्रकार कषायों के क्षीण होते ही संसार अपने-आप क्षीण हो जाता है। किन्तु इन्द्रियों पर अधिकार किये बिना कषायों का क्षय होना अशक्य है। जिस प्रकार सोने का शुद्धिकरण, बिना प्रज्वलित अग्नि के नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन के बिना कषायों का क्षय नहीं हो सकता।

इन्द्रिय रूपी चपल एवं दुर्दान्त अश्व, प्राणी को बलपूर्वक खींच कर नरक की ओर ले जाता है। इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ प्राणी, कषायों से भी हार जाता है। ये इन्द्रियाँ, प्राणी को वश में कर के उनका पतन, बन्धन, वध और घात करवा देती हैं। इन्द्रियों के आधीन बना हुआ ऐसा कौन पुरुष है जो दुःख-परम्परा से बच गया हो ?

बहुत से शास्त्रों और शास्त्र के अर्थों को जानने वाला भी इन्द्रियों के वश हो कर

बालक के समान चेष्टा करता है। यह कितनी लज्जा की बात है कि इन्द्रिय के वश हो कर भरत महाराज ने अपने भाई बाहुबली पर चक्र चलाया। बाहुबली की जीत और भरतजी की पराजय में भी इन्द्रियों का ही प्राबल्य था। अरे, जो चरम-भव में रहे हुए हैं, जिनका यह भव ही अन्तिम है और जो इसी भव में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्त होने वाले हैं, वे भी शस्त्रास्त्र ले कर युद्ध करें। क्या यह इन्द्रियों की दुरन्त महिमा नहीं है ?

प्रचण्ड शक्तिशाली इन्द्रियों से पशु और सामान्य मनुष्य दण्डित हो जाय, तो यह फिर भी समझ में आ सकता है, किन्तु जो महान् आत्मा, मोह को दबा कर शांत कर देते हैं (उपशांत-मोह वीतराग भी बाद में) और जो पूर्वो के श्रुत के पाठों हैं, वे भी इन्द्रियों से पराजित हो जाते हैं, तब दूसरों का तो कहना ही क्या ? यह आश्चर्यजनक बात है। इन्द्रियों के वश में पड़े हुए देव-दानव मनुष्य और तपस्वी भी निन्दित कर्म करते हैं। यह कितने खेद की वान है ?

इन्द्रियों के वश हो कर ही तो मनुष्य अन्न-पान, अपेय पान और अगम्य के साथ गमन करता है। निर्दय इन्द्रियों द्वारा घायल हुए जीव, अपने उत्तम कुल और सदाचार से भ्रष्ट हो कर वेश्याओं का दासत्व करते हैं। उनके नीच काम करते हैं। मोह में अन्धे बने हुए पुरुषों की परद्रव्य और परस्त्री में जो प्रवृत्ति होती है, वह जाग्रत इन्द्रियों का विलास है, अर्थात् इन्द्रियाँ जाग्रत हो कर तभी विलास कर सकती हैं, जब कि मनुष्य मोह में अन्धा बन जाता है। ऐसे दुराचार के कारण मनुष्य के हाथ-पाँव तथा इन्द्रियों का छेद किया जाता है और मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है।

समझदार लोग उन्हें देख कर हँसते हैं—जो दूसरों को तो विनय, सदाचार, धर्म और संयम का उपदेश करते हैं, किन्तु स्वयं इन्द्रियों से पराजित हो चुके हैं। एक वीतराग भगवंत के बिना, इन्द्र से ले कर एक कीड़े तक सभी प्राणी इन्द्रियों से हारे हुए हैं।

स्थिती के स्पर्श से उत्पन्न सुख का आस्वादन करने की इच्छा से, हाथी अपनी सूँड को फेलाता हुआ धँसता है और बन्धन में पड़ जाता है। अगाध जल में विचरण करने वाले मत्स्य, धीवर के द्वारा काँटे में लगाये हुए मांस में लुब्ध हो कर फँस जाते हैं और अपने प्राण गँवा देते हैं। मस्त गजेन्द्र के गंडस्थल पर रहे हुए मद के गन्ध पर आसक्त, भ्रमर गजेन्द्र के कर्णताल के आघात से तत्काल मृत्यु को प्राप्त करता है। स्वर्ण-शिखा जैसी दीप-ज्वाला के दर्शन से मोहित हो कर पतंगा, दीपक पर झपट कर जल भरता है। मनोहर

गायन सुनने में लुब्ध हुआ हिरन, शिकारी के बाण में घायल हो कर जीवन से हाथ धी बैठता है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय में लुब्ध बनने से मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है, तो एक साथ पाँचों इन्द्रियों के वश में हो जाने वाले का तो कहना ही क्या ? इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि मन को विषय के विष से मुक्त रख कर इन्द्रियों का दमन करना चाहिये। बिना इन्द्रिय-दमन के यम-नियम और तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ ही है। जा इन्द्रियों के समूह को नहीं जानता, उसका प्रतिबोध पाना कठिन है। इसलिए समस्त दुःखों से मुक्त होने लिए इन्द्रियों का दमन करना चाहिए।

इन्द्रिय जय करने का मतलब यह नहीं कि इन्द्रियों की सभी प्रवृत्ति को सर्वथा बन्द कर देना। ऐसा करने से इन्द्रियों का जय नहीं होता। अतएव इन्द्रिय की स्वाभाविक प्रवृत्ति में होने वाले राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिए। इसमें इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी उनके जय के लिए होती है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के पास, उनके विषय रहते हुए भी स्पर्श करना अशक्य हो जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष का त्याग कर दे।

संयमी योगियों की इन्द्रियें सदा पराजित एवं दबी हुई ही रहती है। इन्द्रियों के विषय नष्ट हो जाने से आत्मा का हित नहीं मारा जाता, बल्कि अहित मारा जाता है। इन्द्रियों को जीतने का परिणाम मोक्ष रूप होता है और इन्द्रियों के वश में होना संसार के लिए है। इन्द्रियों के विषय और इनके वश में पड़ने से होने वाले परिणाम का विचार कर के उचित एवं हितकारी मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। रुई, मक्खन आदि कोमल और पत्थर आदि कठोर स्पर्श में जो प्रीति और अप्रीति होती है, वह हेय है। ऐसा सोच कर रागद्वेष का निवारण कर के स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिए। भक्ष्य पदार्थों के स्वादिष्ट रस और कटु रस में रुचि और अरुचि का त्याग कर के रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिए। घ्राणेन्द्रिय में सुगन्ध और दुर्गन्ध प्रवेश होते, वस्तु के परिणाम का विचार कर के राग-द्वेष रहित होना। मनोहर सुन्दर रूप अथवा कुरूप का देख कर, होते हुए हर्ष और विषाद को रोक कर चक्षु इन्द्रिय को जीतना चाहिए। वीणादि के मधुर स्वर में और गधे आदि के कर्ण-कटु स्वर में, रति-अरति नहीं करने से श्रोतेन्द्रिय वश में होती है।

इन्द्रियों का ऐसा कोई अच्छा या बुरा विषय नहीं है—जिसका जीव ने अनेक बार उपभोग नहीं किया हो। जीव सभी विषयों का पहले अनेक बार भोग कर चुका और भोग कर दुःखी हुआ, तो अब इनकी अधीनता त्याग कर स्वाधीनतापूर्वक वीतराग भाव

का सेवन क्यों नहीं किया जाय ? शुभ विषय, कभी अशुभ हो जाते हैं और अशुभ विषय शुभ हो जाते हैं, फिर राग और द्वेष किस पर करना ?

भले ही कोई विषय रुचिकर लगे या अरुचिकर, किन्तु तार्त्विक दृष्टि से देखने पर पदार्थों में कभी शुभत्व अथवा अशुभत्व नहीं होता । इसलिए जो प्राणी मन को शुद्ध रख कर इन्द्रियों को जीतता है और कषायों को क्षीण करता है, वह स्वल्पकाल में ही अक्षीण सुख के स्थान ऐसे मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।”

महाराजा चक्रायुध, अपने पुत्र कुरुचन्द्र को राज्य दे कर अन्य पैंतीस राजाओं के साथ दीक्षित हुए । इस देशना के बाद भगवान् के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए और भी बहुत से नर-नारी दीक्षित हुए । बहुतों ने श्रावक व्रत ग्रहण किये और बहुत-से सम्यग्-दृष्टि हुए ।

महाराजा कुरुचन्द्र का पूर्वभव

कालान्तर में भगवान् विचरते हुए पुनः हस्तिनापुर पधारे । महाराजा कुरुचन्द्र प्रभु के दर्शनार्थ आये । धर्मदेशना सुनने के बाद महाराजा ने जिनेश्वर भगवान् से पूछा;—

“भगवान् ! मैं पूर्वभव के किस पुण्य के उदय से यहाँ राजा हुआ ? यह किस कर्म का फल है कि मुझे प्रतिदिन पाँच वस्त्र और फल आदि भेंट स्वरूप प्राप्त होते हैं और मैं इन वस्तुओं का उपभोग नहीं कर के अन्य प्रियजनों को देने के लिए रख छोड़ता हूँ, परन्तु दूसरों को दे भी नहीं सकता ? यह किस कर्म का उदय है—प्रभो !”

भगवान् ने फरमाया—“कुरुचन्द्र ! पूर्वभव में किये हुए मुनि-दान का फल यह राज्य-लक्ष्मी है । नित्य पाँच वस्तु की भेंट भी इसी का परिणाम है, किन्तु तुम इसका

* जो पदार्थ लोक दृष्टि से शुभ माने जाते हैं, वे ही परिस्थिति विशेष में अशुभ माने जाते हैं । विवाहोत्सव के समय मंगलगान, वादिन्त्र और कुंकुमादि शुभ माने जाते हैं, किन्तु मृत्यु प्रसंग पर ये ही वस्तुएँ अप्रिय एवं त्याज्य होती हैं । स्वस्थ और बलवान् मनुष्य के लिए पीष्टिक मिष्टान्न शुभ और चिरायता तथा कुनैन अशुभ होता है, किन्तु ज्वर पीडित के लिए चिरायता और कुनैन शुभ और गरिष्ठ भोजन अशुभ हो जाता है । तीर्थस्थल का जल पवित्र माना जाता है, किन्तु वही जल अप्रिय स्थल में अस्पृश्य समझा जाता है । पर्याय परिवर्तन से शुभ वस्तु स्वयं अशुभ बन जाती है और अशुभ, शुभ के रूप आ जाती है । अतएव तार्त्विक दृष्टि से शुभत्व नहीं है ।

उपभोग नहीं करते— यह साधारण पुण्य का फल है। जो वस्तु बहुतजनों के उपभोग के योग्य हो, उसका एक व्यक्ति से भोग नहीं हो सकता। इसीसे तुझे विचार होता रहता है कि 'मैं यह वस्तु दूसरों को दूंगा।' अब तुम अपना पूर्वभव सुनो।"

इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में, कोशल देश के श्रीपुर नगर में चार वणिक-पुत्र रहते थे। उनके नाम थे—सुधन, धनपति, धनद और धनेश्वर। चारों में गाढ़ मैत्री-भाव था। एकबार चारों मित्र धनोपार्जन के लिए रत्नद्वीप की ओर चले। उनके साथ 'द्रोण' नाम का एक सेवक था। वह भोजन सामग्री उठा कर चलता था। मार्ग में एक महावन पड़ता था। अटवी का बहुतसा भाग लांघ जाने पर इनके पास की भोजन-सामग्री कम हो गई। चलते-चलते वृक्ष के नीचे एक ध्यानस्थ मुनि दिखाई दिये। उनके मन में भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा— "इन महात्मा को कुछ आहार देना चाहिए"—यह सोच कर उन्होंने द्रोण से कहा— "भद्र ! इन मुनिजी को कुछ आहार दे दो।" द्रोण ने श्रद्धापूर्वक उच्च भावों से मुनि को प्रतिलाभित किये और महा भोग-फल वाला पुण्य उपार्जन किया। वहाँ से सभी लोग रत्नद्वीप गए और व्यापार से बहुतसा धन संग्रह कर के लौट कर अपने घर आ गए। वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन चारों मित्रों में धनेश्वर और धनपति मायावी थे और द्रोण की भावना उन चारों से विशेष शुद्ध थी। वह द्रोण, आयु पूर्ण कर के तू कुरुचन्द्र हुआ। सुधन मर कर कम्पिलपुर में 'वसंतदेव' नामक वणिक-पुत्र हुआ, धनद, कृतिकापुर में 'कामपाल' नाम का व्यापारी हुआ, धनपति, शंखपुर में 'मदिरा' नाम की वणिक-कन्या हुई और धनेश्वर, जयंती नगरी में 'केसरा' नाम की कन्या हुई।

सुधन का जीव वसंतदेव, यौवन वय में व्यापार के लिए जयंती नगरी में आया। एकबार चन्द्रोत्सव के समय, केसरा को देख कर वह मोहित हो गया। केसरा भी उस पर मोहित हुई। दोनों में पूर्वभव का स्नेह जाग्रत हुआ। वसंतदेव ने केसरा के भाई जयंतदेव ने मैत्री सम्बन्ध जोड़ा और दोनों का एक दूसरे के घर आना-जाना और खाना-पीना होने लगा। एकबार वसंतदेव को, कामदेव की पूजा करती हुई केसरा दिखाई दी। जयंतदेव ने स्नेह सहित वसंतदेव को पुष्पमाला अर्पण की। यह देख कर केसरा पुलकित हो गई। उसने इसे अच्छा शकुन समझा। केसरा के चेहरे पर के भाव वहाँ खड़ी हुई धायपुत्री प्रियंकरा ने देखा और केसरा से कहा—

"तेरे भाई, मित्र का सत्कार करते हैं, तो तू भी उनका सत्कार कर।" यह सुन कर केसरा हर्षित होती हुई बोली,— "तू ही सत्कार कर ले।"

प्रियंकरा ने पुष्पादि ग्रहण कर वसंतदेव को देते हुए कहा—“लीजिए, मेरी स्वामिनी की ओर से यह प्रेमपुष्प स्वीकार कीजिए।”

वसंतदेव ने सोचा—‘यह युवती भी मुझे चाहती है।’ उसने पुष्पादि भेंट स्वीकार की और अपने नाम की अंगूठी देते हुए कहा—

आपकी सखी की मेरी यह तुच्छ भेंट दे कर कही कि—“वे मृग पर अपना पूर्ण एवं अटूट स्नेह रखे और ऐसी चेष्टा करे कि जिससे दिनोदिन स्नेह बढ़ता रहे।”

केसरा यह बात सुन कर बड़ी प्रसन्न हुई। उसने बड़े आदर के साथ अंगूठी ग्रहण की। रात को वह इन्हीं विचारों को लिए सो गई। स्वप्न में उसने वसंतदेव के साथ अपनी लग्न-विधि होती हुई देखी। वह हर्षविश में रोमांचित हो गई। प्रातःकाल होने पर उसने अपने स्वप्न की बात प्रियंकरा से कही। इसी प्रकार का स्वप्न वसंतदेव ने भी देखा। प्रातःकाल होने पर प्रियंकरा ने वसंतदेव के पास जा कर केसरा के स्वप्न की बात सुनाई। वसंतदेव को निश्चय हो गया कि अब मेरे मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे। उसने प्रियंकरा का सत्कार किया। अब प्रियंकरा दोनों के सन्देश लाती ले जाती थी। इस प्रकार दोनों का काल व्यतीत होने लगा।

एक बार वसंतदेव को पंचनन्दी सेठ के यहाँ से मंगल बाजे बजने की ध्वनि सुनाई दी। वह चौंका। पता लगने पर मालूम हुआ कि पंचनन्दी सेठ की पुत्री केसरा का सम्बन्ध, कान्यकुब्ज के निवासी सुदत्त सेठ के पुत्र वरदत्त के साथ हुआ है। इसी निमित्त वादिन्त्र बज रहे हैं। यह सुनते ही वसंतदेव हताश हो गया। किन्तु उसी समय प्रियंकरा आई और कहने लगी;—

“आप घबड़ाइये नहीं। मेरी सखी ने कहलाया है कि—‘मेरे पिताजी ने मेरी इच्छा को जाने बिना ही जो यह सम्बन्ध किया है, वह व्यर्थ रहेगा। मैं आप ही की बूँगी। यदि मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ, तो मैं प्राण त्याग दूँगी, परन्तु आपके अति-रिक्त किसी दूसरे से लग्न नहीं करूँगी। आप मृग पर पूर्ण विश्वास रखें।”

प्रियंकरा की बात सुन कर वसंतदेव को संतोष हुआ। उसने भी कहा कि ‘मैं भी केसरा के लिए ही जीवित रहूँगा। यदि केसरा मेरी नहीं हो कर दूसरे की बनेगी, तो मैं भी प्राण त्याग दूँगा।’

इस प्रकार दोनों का कुछ काल व्यतीत हुआ, किंतु उनका मनोरथ सफल नहीं हो रहा था। एक दिन वसंतदेव ने देखा कि केसरा के साथ लग्न करने के लिए वरदत्त

बरात ले कर आ गया है । यह देख कर वह एकदम निराश हो गया और शीघ्रता से भाग कर नगर बाहर एक उद्यान में आया । वह एक वृक्ष पर चढ़ गया और उसकी डाल पर रस्सी बाँध कर, गले में फन्दा डालना ही चाहता था कि लतागृह में से एक मनुष्य निकला और फन्दा काटते बोला;--

“अरे ओ साहसी ! यह क्या कर रहे हो ? मरने से क्या होगा ? ऐसा दुष्कृत्य कर के मनुष्य भव को समाप्त नहीं करना चाहिए । शान्त होओ और समझबूझ से काम लो ।”

वसंतदेव चौंका । उसने कहा--“महानुभाव ! मैं हताश हो गया हूँ । मेरी प्रिया मुझे प्राप्त नहीं हो कर दूसरे को दी जा रही है । अपने मनोरथ में सर्वथा विफल रहने के बाद जीवित रहने का सार ही क्या है ? मृत्यु से तो मैं इस दुःख से मुक्त हो जाऊँगा । दुःख से मुक्त होने के लिए मैं मर रहा था । आपने इसमें विघ्न खड़ा कर दिया ।” इस प्रकार कह कर उसने अपने मरने का कारण बताया । वसंतदेव की बात सुन कर वह पुरुष बोला--

“भद्र तेरा दुःख तो गहरा है, किन्तु मरना उचित नहीं है । मर कर तू क्या प्राप्त कर लेगा ? यदि जीवित रहेगा, तो इच्छित कार्य की सिद्धि के लिए कुछ प्रयत्न कर सकेगा । यदि प्रयत्न सफल नहीं हो, तो भी मरना उचित नहीं है । इस प्रकार मरने से बुरे कर्मों का बन्ध होता है और दूसरी गति में चले जाने से प्रिय के दर्शन से भी वंचित हो जाता है । मैं स्वयं भी दुःखी हूँ । मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त होने योग्य होते हुए भी उपाय के अभाव में भटक रहा हूँ--इसी आशा पर कि जीवित रहा, तो कभी सफल हो सकूँगा । मैं अपनी बात तुझे सुनाता हूँ ।”

“मैं कृतिकापुर का रहने वाला हूँ और मेरा नाम कामपाल है । मैं देशाटन के लिए निकला था । घूमता हुआ शंखपुर आया । वहाँ यक्ष का उत्सव हो रहा था । मैं भी उत्सव देखने गया । वहाँ मुझे एक सुन्दर युवती दिखाई दी । मैं उसके सौन्दर्य को स्नेहयुक्त निरखता ही रहा । उस युवती ने भी मुझे देखा । वह भी मुझे देख कर मुग्ध हो गई । उसने मेरे लिए अपनी सखी के साथ पान भेजा । पान ले कर बदले में कुछ देने की बात मैं सोच ही रहा था कि इतने में एक उन्मत्त हाथी, स्तंभ तुड़ा कर भागता हुआ उस कन्या की ही ओर आया । भयभीत हो कर उस सुन्दरी का सारा परिवार भाग गया । वह युवती भयभ्रान्त एवं दिग्भ्रष्ट हो कर वहीं खड़ी रही । हाथी उसे सूँड से पकड़ने ही वाला था कि मैंने हाथी के मर्मस्थान पर लकड़ी से चोट की । उस चोट से वह हाथी मेरी ओर घुमा । किन्तु मैं तत्काल चतुराई से हाथी को भुलावे में डाल कर और उस

सुन्दरी उठा कर निविष्ट स्थान पर चला गया। थोड़ी देर में उसका परिवार भी वहाँ आ गया और मुझे सुन्दरी 'मदिरा' का रक्षक जान कर, सभी मेरी स्तुति करने लगे। उधर मदिरा की सखियाँ उसे पुनः आम्रकुंज में ले गई। किन्तु वहाँ भी हाथी के उपद्रव से हलचल हुई और भगदड़ मची। इससे सभी बिखर कर इधर-उधर हो गए। खोज करने पर भी मैं उस सुन्दरी को नहीं पा सका और भटकता हुआ यहाँ आया। तुम्हारा दुःख समान है। प्रयत्न करने पर सफलता मिल सकती है। मैं तुम्हें एक उपाय बतलाता हूँ। रीति के अनुसार, तुम्हारी प्रिया केसरा, लग्न के पूर्व कामदेव की पूजा करने के लिए आवेगी ही। अपन दोनों कामदेव के मन्दिर में छिप जावें। जब केसरा आवे, तो उसके वस्त्र, मैं पहन कर केसरा के रूप में चला जाऊँगा और तुम केसरा को ले कर दूर चले जाना। इस प्रकार तुम्हारा कार्य सरलता से सफल हो जायगा।”

वसंतदेव को इस बात से संतोष हुआ। उसने इस योजना को क्रियान्वित करने का निश्चय किया, किन्तु इसमें रहे हुए खतरे का विचार कर के वह चौंका। उसने पूछा—“महानुभाव ! फिर आप उस जाल से कैसे निकलेंगे ?”

“मैं अपने बचाव की युक्ति निकाल लूँगा। मुझे आशा है कि तुम्हारा काम सफल होते ही मेरा काम भी बन जायगा। फिर तुम भी तो मुझे सहायता करोगे ?”

दोनों प्रसन्न हो कर वहाँ से बाजार में आ गए और संध्या के समय कामदेव के मन्दिर में जा कर छुप गए। थोड़ी देर में केसरा भी गाजे-बाजे के साथ वहाँ आई। नियम के अनुसार उसकी सखियाँ मन्दिर के बाहर ही रुक गई और वह अकेली पूजा की थाल ले कर मन्दिर में आई। उसने द्वार बन्द कर दिए और देव को नमस्कार करती हुई बोली;—

“देव ! यह मेरे साथ कैसा अन्याय करते हो ? आप तो सभी प्रेमियों के मनोरथ पूरे करने वाले हो, फिर मैं ही निराश क्यों रहूँ ? मैंने आपका क्या अपराध किया ? यदि आप मुझ पर अप्रसन्न ही हैं, तो मैं अपनी खुद की बलि आपके चरणों में चढ़ाती हूँ। इससे प्रसन्न हो कर मुझे अगले भव में वसंतदेव की अर्धांगिनी बनाना।”

इतना कह कर वह गले में पाश डालने लगी। यह देख कर छुपे हुए वसंतदेव और कामपाल बाहर निकले। केसरा यह देख कर चौंकी और स्तब्ध रह गई। किन्तु क्षणभर के बाद ही वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो गई। अपने अपना वेश उतार कर कामपाल को दिया। कामपाल केसरा का वेश पहन कर बाहर निकला और पालकी में जा बैठा।

वसंतदेव पुरुषवेशी केसरा के साथ वहाँ से निकल कर एक ओर चल दिया ।

कामपाल मौनयुक्त आ कर लग्नमंडप में बैठ गया । प्रियंकरा ने कहा—“बहिन केसरा ! अब चिन्ता छोड़ कर भगवान् अनंगदेव का ध्यान करती रहो, जिससे सुखमय जीवन व्यतीत हो ।”

केसरा के विवाह में उसके मामा की पुत्री ‘मदिरा’ भी आई हुई थी । वह केसरा के प्रेम सम्बन्ध की बात सुन चुकी थी । उसने केसरा-वेशी कामपाल के कान में कहा;—

“बहिन ! तेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ । इसका मुझे दुःख है । मैं भी हतभागिनी हूँ । मेरा प्रिय भी मेरे मन में स्नेहामृत का सिंचन कर के ऐसा गया कि फिर देखा ही नहीं । भाग्य की बात है ।”

कामपाल ने देखा—यह तो वही मदिरा है कि जिसके वियोग में वह भटक रहा था । उसने संकेत कर के मदिरा को एकान्त में बुलाया । वे दोनों प्रच्छन्न द्वार से निकल कर चले गये और वसंतदेव और केसरा के साथ दूसरे नगर में रहने लगे ।

“राजन् ! वसंतदेव और कामपाल—ये दोनों पूर्व-भव के स्नेह से तुम्हें पाँच वस्तुएँ भेंट करते हैं । ये वस्तुएँ तुम प्रियजनों के साथ भोगने में समर्थ बनोगे । इतने दिन तुम प्रियजन को नहीं जानते थे, इसलिए उन वस्तुओं का भोग नहीं कर सके ।”

प्रभु की वाणी सुन कर राजा को और उन सम्बन्धियों को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । राजा भगवान् को वन्दना कर के पूर्वभव के उन सम्बन्धियों के साथ राजभवन में आया । भगवान् अन्यत्र विहार कर गए ।

भगवान् का निर्वाण

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान् २४९९९ वर्ष तक विचरते रहे । निर्वाण समय निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और ९०० मुनियों के साथ अनशन किया । एक मास के अन्त में ज्येष्ठ-कृष्णा १३ को, भरणी नक्षत्र में उन मुनियों के साथ भगवान् मोक्ष पधारे । भगवान् का कुल आयुष्य एक लाख वर्ष का था । इसमें से कुमार, अवस्था, मांडलिकराजा, चक्रवर्तीपन और व्रतपर्याय में पच्चीस-पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत

हुए । श्रीधर्मनाथ जिनेश्वर के बाद पौन पत्योपम कम तीन सागरोपम बीतने पर भ० शांतिनाथ जी हुए ।

भगवान् शांतिनाथजी के चक्रायुत्र आदि ९० गणधर हुए + । ६२००० साधु ६१६०० साध्वियाँ, ८०० चौदह पूर्वधर, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० मनःपर्यवज्ञानी, ४३०० केवलज्ञानी, ६००० वैक्रेय लब्धिवाले, २४०० वादी विजयी, २९०००० श्रावक और ३९३००० श्राविकाएँ थीं ।

सोलहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ शांतिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

+ ग्रंथकार ३६ गणधर होना लिखते हैं, किन्तु समवायाग सूत्र में ९० लिखे हैं ।

भ० कुंथुनाथजी



इस जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह के आवत्त विजय में खड्गी नामक नगरी में सिंहावह राजा राज करता था। वह उत्तम गुणों से सम्पन्न, धर्मधुरन्धर, धर्मियों का आधार, न्याय का रक्षक, पापमर्दक और समृद्धियों का सर्जक था। उसका प्रभाव इन्द्र के समान था। वह धर्म-भावना से युक्त हो संसार व्यवहार चलाता था। कालान्तर में श्री संवराचार्य के उपदेश से प्रभावित हो कर उसने श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली और उत्तम आराधना से तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित कर लिया। काल के अवसर उत्तम भावों में मृत्यु पा कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में अहमिन्द्र हुआ।

जम्बूद्वीप के इस भरत-क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का महानगर था। महाराजा शूरसेन वहाँ के प्रभावशाली नरेश थे। वे धर्मात्मा, उच्च मर्यादा के धारक, न्याय और नीति के पालक, पोषक और रक्षक थे। 'श्रीदेवी' उनकी महारानी थी। वह भी कुल, शील, सौन्दर्य एवं औदार्यादि उत्तम गुणों से सुशोभित थी। महाराजा और महारानी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

सभी देवलोको में उत्तमोत्तम सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान का तेतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के सिंहावह मुनिराज का जीव, श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की नौमी को, कृतिका नक्षत्र में महारानी श्रीदेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-कृष्ण चतुर्दशी को कृतिका नक्षत्र के योग

में, उच्च ग्रहों की स्थिति में पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रादि देवों ने और छप्पन कुमारिका आदि देवियों ने जन्मोत्सव किया।

गर्भ के समय माता ने कुंथु नाम का रत्न-संचय देखा, इसलिए पुत्र का नाम 'कुंथुनाथ' दिया। यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकन्याओं के साथ कुमार का विवाह किया गया। जन्म से २३७५० वर्ष तक राजकुमार रहे। इसके बाद महाराजा ने अपना राज्यभार राजकुमार कुंथुनाथ को दिया। २३७५० वर्ष तक कुंथुनाथजी मांडलिक राजा रहे। इसके बाद आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। आप भी पूर्व के चक्रवर्तियों के समान दिग्विजय कर के विधिपूर्वक चक्रवर्ती सम्राट हुए। दिग्विजय में छह सौ वर्ष का काल लगा। आपने २३७५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद का भोग किया। इसके बाद वर्षादान दे कर वैशाख-कृष्ण पंचमी को दिन के अन्तिम प्रहर में, कृतिका नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हुए। दीक्षा लेने के बाद लगभग सोलह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे। आप विहार करते हुए पुनः हस्तिनापुर के सहस्राम्र वन उद्यान में पधारे और तिलक वृक्ष के नीचे बेले के तपयुवत ध्यान करने लगे। घातीकर्म जर्जर हो चुके थे। ध्यान की धारा वेगवती हुई और धर्मध्यान से आगे बढ़ कर शुक्लध्यान में प्रवेश कर गई। जर्जर बने हुए घातीकर्मों की जड़ें, शुक्लध्यान के महाप्रवाह से हिलने लगी। मोह का महा विषवृक्ष डगमगाने लगा। महर्षि के महान् आत्मबल से शुक्ल-ध्यान की महाधारा ने बाढ़ का रूप ले लिया। अब बिचारा मोह महावृक्ष कहां तक टिक सकता था? आत्मा के अनन्त बल के आगे उस जड़ की क्या हस्ति थी? उखड़ गयी उसकी जड़ और फिक गया मुर्दे की तरह एक ओर। मोह महावृक्ष के नष्ट होते ही ज्ञानावरणादि तीन घातीकर्म भी उखड़ गए। चैत्र मास की शुक्ला तृतीया का दिन था और कृतिका नक्षत्र का योग था। प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। केवलज्ञान महोत्सव हुआ। तीर्थ की स्थापना हुई। प्रभु ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में फरमाया:—

धर्मदेशना—मनःशुद्धि

“वह संसाररूपी समुद्र, चौरासी लाख योनिरूप जलभँवरियों * से महान् भयंकर है। भवसागर को तिरने के लिए मनःशुद्धि रूपी सुदृढ़ जहाज ही समर्थ है। मनःशुद्धि मोक्ष

* पानी का चक्राकार फिरना, जिसमें पड़ कर जहाज भी डूब-टूट कर नष्ट हो जाते हैं।

मार्ग को बताने वाली ऐसी दीप-शिखा है, जो कभी नहीं बुझती। जहाँ मनःशुद्धि है, वहाँ अप्राप्त गुण भी अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त गुण स्थिर रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिये कि अपने मन को, सदैव शुद्ध रखे। जो लोग मन को शुद्ध किये बिना ही मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे सफल नहीं होते। जिस प्रकार जहाज छोड़ कर, भुजबल से ही महासमुद्र को पार करना अशक्य है, उसी प्रकार मनःशुद्धि के बिना मुक्ति पाना सर्वथा अशक्य है। जिस प्रकार अन्धे के लिए दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मन को दोष-रहित किये बिना तपस्त्रियों की तपस्या व्यर्थ हो जाती है। जोरदार बवंडर (चक्राकार वायु) राह चलते प्राणियों को उड़ा कर दूसरी ओर फेंक देती है, उसी प्रकार मोक्ष के ध्येय से किया हुआ तप भी, चपलचित्त तपस्वी को ध्येय के विपरीत ले जाता है अर्थात् सिद्धगति में नहीं ले जा कर दूसरी गति में ले जाता है।

मन रूपी निशाचर, निरंकुश एवं निःशंक हो कर तीनों लोक के प्राणियों को संसार के अत्यन्त गहरे गड्ढे में डाल देता है। मन का अवरोध किये बिना ही जो मनुष्य, योग पर श्रद्धा रखता है, तो उसकी श्रद्धा उस पंगु की तरह व्यर्थ एवं हास्यास्पद है जो जाने पाँवों से अटवी लांघ कर, नगर-प्रवेश करना चाहता है।

मन का निरोध करने से सभी कर्म का निरोध (संवर) हो जाता है और मन का निरोध नहीं करने वाले के सभी कर्म बहुत बड़ी मात्रा में आते रहते हैं। यह मन रूपी बन्दर बड़ा ही लम्पट है। यह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और विद्वधर में भटकता ही रहता है। जिन्हें मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हें चाहिए कि मन रूपी मर्कट को यत्नपूर्वक अपने अधिकार में रखे और दोषों को दूर कर मन को शुद्ध बना ले। बिना मनःशुद्धि के तप, श्रुत, यम और नियमों का आचरण कर के कायाक्लेश उठाना—काया को दण्डित करना व्यर्थ है। मन की शुद्धि के द्वारा राग-द्वेष को जीतना चाहिए, जिससे भावों की मलिनता दूर होती है और स्वरूप में स्थिरता आती है।

‘केवलज्ञान के बाद’ २३७३४ वर्ष तक प्रभु, तीर्थंकरपने विचर कर भव्य जीवों का उपकार करते रहे। निर्वाण का समय निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनिवरों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनिवरों के साथ अनशन किया। वैशाख-कृष्ण प्रतिपदा को कृतिकानक्षत्र के योग में, एक मास के अनशन से सभी मुनियों के साथ मोक्ष पधारे। भगवान् का कुल आयु ९५००० वर्ष का था। भ. श्री शांतिनाथजी के

निर्वाण के बाद अर्ध पत्योपम काल व्यतीत होने पर भ० कुन्धुनाथजी मोक्ष पधारे ।

प्रभु के स्वयंभू आदि सैंतीस * गणधर हुए । ६०००० साधु, ६०६०० साध्वियाँ, ६७० चौदह पूर्वधर, २५०० अवधिज्ञानी, ३३४० मनःपर्यवज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० वैक्रिय-लब्धवाले, २००० वाद-लब्धवाले, १७९००० श्रावक और ३८१००० श्राविकाएँ हुई ।

सत रहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ कुन्धुनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

● ग्रंथकार ३५ गणधर होना लिखते हैं, परन्तु समवायांग में ३७ लिखे हैं ।

भ० अरनाथ स्वामी

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में 'वत्स' नाम का विजय है। उसमें सुसीमा नाम की नगरी थी। 'धनपति' नरेश वहाँ के शासक थे। वे दयालु, नम्र और शांत स्वभाव वाले थे। उनके राज्य में सर्वत्र शान्ति और सुख व्याप्त थे। उन उदार हृदय नरेश के मन-मन्दिर में जिनधर्म का निवास था। नरेश ने संसार से विरक्त हो कर संवर नाम के संयती के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। साधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म को तिकाचित कर लिया और समाधिभाव में काल कर के सर्वोपरि ग्रंथेयक में अहमेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहाँ के नगर निवासी भी समृद्ध और राजसी ठाठ से युक्त थे। राजाधिराज 'सुदर्शन' उस नगर के अधिपति थे। 'महादेवी' उनकी पटरानी थी। वह महिलाओं के उत्तमोत्तम गुणों और लक्षणों से युक्त थी।

मुनिराज श्री धनपतिजी का जीव ऊपर के ग्रंथेयक का आयु पूर्ण कर के फाल्गुन शुक्ला द्वितिया को रेवती नक्षत्र में च्यव कर, राजमहिषी महादेवी की कुक्षी में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि सभी कार्य तीर्थंकर जन्म के अनुसार हुए। माता ने स्वप्न में चक्र के आरे देखे थे, इसलिए पुत्र का नाम 'अर' रखा गया। यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किया। जन्म से २१००० वर्ष व्यतीत होने पर, महाराज

सुदर्शनजी ने सारा राज्यभार कुमार अरनाथ को दे दिया । २१००० वर्ष तक आप मांडलिक राजा के पद पर रहे । उसके बाद चक्रवर्त्तन की प्राप्ति हुई और छह खंड पर विजय प्राप्त करने में ४०० वर्ष लगे । इसके बाद आप २०६०० वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट के रूपा में राज करते रहे । इसके बाद वर्षोदान दे कर और अपने पुत्र अरविंद को राज्य का भार सौंप कर मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में दिन के अन्तिम प्रहर में, एक हजार राजाओं के साथ, बंले के तप से प्रव्रजित हुए । तीन वर्ष तक आप छद्मस्थ विचरते रहे । फिर उसी नगर के सहस्राम्रवन में, आम्रवृक्ष के नीचे ध्यान धर के खड़े रहे । कार्तिक-शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र में प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । समवसरण की रचना हुई । प्रभु ने अपने प्रथम धर्मोपदेश में कहा :—

धर्मदेशना—राग-द्वेष त्याग

“संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में एक मोक्ष पुरुषार्थ ही ऐसा है कि जिसमें सुख से लबालब भरा हुआ सागर हिलोरे ले रहा है । उसमें एकान्त सुख ही सुख है, दुःख का एक सूक्ष्म अंश भी नहीं है । यह मोक्ष पुरुषार्थ, ध्यान की साधना से सिद्ध होता है, किन्तु ध्यान की साधना तभी हो सकती है, जब कि मन अनुकूल हो । मन की अनुकूलता के बिना ध्यान नहीं हो सकता । जो योगी पुरुष हैं, वे तो मन को आत्मा के अधिकार में रखते हैं, किन्तु रागादि शत्रु ऐसे हैं, जो मन को अपनी ओर खींच कर पुद्गलाधीन कर देते हैं । यदि सावधानीपूर्वक मन का निग्रह कर के शुभ परिणति में लगाया हो, तो भी किंचित् निमित्त पा कर, रागादि शत्रु पिशाच की तरह बारम्बार छल करते हुए अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं । राग-द्वेष रूपी अन्धकार से अन्धे बने हुए जीव को अज्ञान, अधोगति में ले जा कर नरक रूपी खड्गे में गिरा देता है । द्रव्यादि में प्रीति और रति (आसक्ति) राग है और अप्रीति और अरति (अरुचि—घृणा) द्वेष है । यह राग और द्वेष ही सभी प्राणियों के लिए दृढ़ बन्धन रूप है । यही सभी प्रकार के दुःखों का मूल है । संसार में यदि राग-द्वेष नहीं हो, तो सुख में कोई विस्मय नहीं होता और दुःख में कोई कृपण नहीं होता, तथा सभी जीव मुक्ति प्राप्त कर लेते । राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग रहता ही नहीं । इन दोनों में से एक का त्याग कर दिया जाय, तो दोनों का त्याग हो जाता है । कामादि दोष, राग के परिवार में हैं और

मिथ्याभिमान आदि द्वेष का परिवार है। मोह, राग और द्वेष का पिता, बीज नायक अथवा परमेश्वर है। यह मोह, रागादि से भिन्न नहीं है। इसलिए समस्त दोषों का पितामह (दादा) मोह ही है। इससे सब को सावधान ही रहना चाहिए। संसार में राग-द्वेष और मोह—ये तीनों दोष ही हैं। इनके सिवाय और कोई दोष नहीं है। ये त्रिदोष ही संसार समुद्र में परिभ्रमण करने के कारण हैं। जीव का स्वभाव तो स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ एवं उज्ज्वल है, किन्तु इन तीनों दोषों के कारण ही जीव के विविध रूप हुए हैं।

अहा ! इस विश्व के आध्यात्मिक राज्य में कैसी अराजकता फैल रही है। राग-द्वेष और मोह रूपी भयंकर डाकू, जीवों के ज्ञान रूपी सर्वस्व तथा स्वरूप-स्थिरता रूपी महान् सम्पत्ति को दिन-दहाड़े, सबके सामने लूट लेते हैं। जो जीव निगोद में हैं और जो शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं, उन सब पर मोहराज की निर्दय एवं लुटारु सेना टूट पड़ती है। क्या मोहराज को मुक्ति के साथ शत्रुता है, या मुमुक्षु के साथ वैर है, कि जिससे वह जीव का मुक्ति के साथ होते हुए सम्बन्ध में बाधक बन रहा है ?

आत्मार्थी मुनिवरों को न तो सिंह का भय है, न व्याघ्र, सर्प, चोर, अग्नि और जल का ही। वे रागादि त्रिदोष से ही भयभीत हैं, क्योंकि ये इस भव और पर भव में दुःखी करने वाले हैं। संसार से पार होने का महासंकट वाला मार्ग, महायोगियों ने ही अपनाया है। इस मार्ग के दोनों ओर राग-द्वेष रूपी व्याघ्र और सिंह खड़े हैं। आत्मार्थी मुनिवरों को चाहिए कि प्रमाद रहित और समभाव सहित हो कर मार्ग पर चले और राग-द्वेष रूपी शत्रु को जीते।”

कुंभ आदि ३३ गणधर हुए। संघ की स्थापना हुई। प्रभु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे।

वीरभद्र का वृत्तांत

म० अरनाथ स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए ‘पद्मिनीखंड’ नाम के नगर के बाहर पधारे। समवसरण में एक वामन जैसा ठिगना दिखाई देनेवाला पुरुष आया और धर्मोपदेश सुनने लगा। देशना के बाद सागरदत्त नाम के एक सेठ ने पूछा—“भगवन् ! मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मेरी पुत्री प्रियदर्शना, रूरा, यौवन, कला और चतुराई में परम कुशल है। उसके योग्य वर नहीं मिल रहा था। मैं और मेरी पत्नी बड़े चिन्तित थे। एक दिन

में बाजार जा रहा था। मुझे ताम्रलिप्ति नगरी के सेठ ऋषभदत्त मिले। साधर्मिपन के नाते वे मेरे पूर्व-परिचित एवं मित्र थे। एक दिन मैं उन्हें अपने घर लाया। वे मेरी पुत्री को धुर-धुर कर देखने लगे। उन्होंने मुझ से पूछा—‘यह किसकी पुत्री है?’ मैंने कहा—‘मेरी है।’ उन्होंने कहा—‘मेरा पुत्र वीरभद्र जवान है। रूप, कला, विद्या, नीति एवं साहस आदि गुणों में वह अजोड़ है। कामदेव के समान रूपवान् है। मैं उसके योग्य कन्या खोज रहा हूँ। किन्तु उसके योग्य कन्या मुझे आज तक नहीं मिली। आपकी पुत्री मुझे उसके सबथा योग्य लगती है। यदि आप स्वीकार करें, तो यह सम्बन्ध अच्छा और सुखदायक रहेगा।’

मैं भी योग्य वर की तलाश में ही था। मैंने उनकी बात स्वीकार कर ली और कालान्तर में शुभ मुहूर्त में प्रियदर्शना का लग्न वीरभद्र के साथ हो गया। उनका जीवन सुखपूर्वक बीत रहा था। कुछ दिन पूर्व मैंने सुना कि ‘वीरभद्र, प्रियदर्शना को सोती हुई छोड़ कर कहीं चला गया है।’ मैं इस दुःख से दुःखी हूँ। अभी यह वामन उसका समाचार लाया, किन्तु यह स्पष्ट कुछ नहीं कहता है। हे प्रभो! आप कृपा कर के उसका वृत्तान्त बताने की कृपा करें।

“सेठ! तुम्हारे जामाता वीरभद्र को उस रात विचार हुआ कि—‘मैंने इतनी कला और निपुणता प्राप्त की। किन्तु उसका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। यहाँ मेरे पिता आदि के सामने अपना पराक्रम प्रकट करने का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिए यहाँ से विदेश चला जाना अच्छा है। विदेश में अपनी विद्या और योग्यता को व्यवहार में लाने का अच्छा अवसर मिलेगा।’ इस प्रकार विचार कर और प्रियदर्शना को नींद में सोई हुई छोड़ कर वह निकल गया और चलता-चलता रत्नपुर नगर में पहुँचा। बाजार में घूमते हुए वह शंख नाम के सेठ की दुकान पर पहुँचा। सेठ ने वीरभद्र का चेहरा देख कर समझ लिया कि यह कोई विदेशी है और सुलक्षणों वाला है। सेठ ने प्रसन्नता से वीरभद्र को बुला कर अपने पास बिठाया और परिचय पूछा। वीरभद्र ने कहा—‘मैं ताम्रलिप्ति नगरी से अपने घर से रूठ हो कर चला आया हूँ।’ सेठ ने कहा—‘इस प्रकार चुपके से घर छोड़ कर निकल जाना उचित तो नहीं है, किन्तु तुम यहाँ आ गये हो, तो प्रसन्नता से मेरे घर रहो। मेरे भी कोई पुत्र नहीं है। तुम इस विपुल सम्पत्ति के मेरे बाद स्वामी होने के योग्य हो।’

वीरभद्र ने कहा—‘महाभाग! मैं अपने घर से निकला, तो यह नये पिता का घर मेरे लिए तय्यार मिला। आप तो मेरे धर्म-पिता हो गए।’

वीरभद्र, सेठ के घर रहने लगा। वह अपनी योग्यता, कला और विज्ञान की कुशलता से थोड़े ही दिनों में, नगरजनों में आदरपात्र हो गया। सेठ के एक पुत्री थी, जिसका नाम 'विनयवती' था। नगर के राजा रत्नाकर की पुत्री का नाम 'अनंगसुन्दरी' था। वह स्वभाव से ही पुरुष-द्वेषिणी थी। विनयवती उसके पास जाती रहती थी। एक दिन वीरभद्र ने विनयवती से पूछा—“बहिन ! तुम अन्तःपुर में क्यों जाती रहती हो ?”

—“राजकुमारी मेरी सखी है। उसके आग्रह से मैं उसके पास जाती हूँ।”

—“मैं भी राजकुमारी को देखने के लिए तुम्हारे साथ चलना चाहता हूँ।”

—“नहीं भाई ! राजकुमारी पुरुष-द्वेषिणी है। वह छोटे बच्चे से भी द्वेष करती है। इसलिए मैं तुम्हें साथ कैसे ले जा सकती हूँ ?”

—“मैं स्त्री-वेश में आऊँ और मूझे अपनी सखी को बतावे, तो क्या हर्ज है ? मैं एक बार उसे देखना चाहता हूँ।”

विनयवती मान गई और वीरभद्र को अपना बढ़िया वेश एवं गहने पहना कर साथ ले गई। विनयवती ने राजकुमारी से वीरभद्र का परिचय कराया और कहा कि यह मेरी बहिन वीरमती है। अनंगसुन्दरी ने एक पट्टिये पर एक हंस का चित्र बनाया था। किन्तु हंसी (मादा) का चित्र जैसा चाहिये वैसा नहीं बना। उसका उद्देश्य विरह-पीड़ित हंसी बनाने का था, परन्तु उसमें उसके विरह-पीड़ित होने का भाव बराबर नहीं आ पाया था। वीरभद्र ने उस चित्र को सुधार कर उसमें उसके भाव को पूर्ण रूप से बताया। आँखों में आँसू, म्लान वदन, गरदन झुकी हुई और पंख शिथिल। इस प्रकार उसकी विरह-पीड़ित अवस्था स्पष्ट हो रही थी। अनंगसुन्दरी को वह चित्र बहुत पसन्द आया। उसने वीरमती से पूछा—“तुम्हें चित्रकला में निपुणता प्राप्त है। इसके सिवाय और कौनसी कला में तुम पारंगत हो ?” वीरमती ने कहा—“मेरी कला का परिचय आपको धीरे-धीरे होता रहेगा।”

वीरभद्र स्त्री-वेश में दूसरे दिन भी विनयवती के साथ राजकुमारी के पास गया। उस दिन राजकुमारी वीणा बजा रही थी। किन्तु वीणा का स्वर बराबर नहीं निकल रहा था। वीरभद्र ने कहा—‘इस वीणा में मनुष्य का बाल अटक गया है। इसलिए इसका स्वर बिगड़ रहा है।’ राजकुमारी आश्चर्य करने लगी। उसने पूछा—‘तुमने कैसे जाना कि इसमें बाल फँस गया है ?’—‘इसका स्वर ही बतला रहा है।’ वीरमती बने हुए वीरभद्र ने वीणा खोल कर उसमें फँसा हुआ बाल निकाल कर बताया। अब वीणा निर्दोष स्वर निकाल रही थी। राजकुमारी को वीरमती की कला-प्रवीणता पर आश्चर्य हुआ। उसने

वीरमती से वीणा बजाने का आग्रह दिया। वीरभद्र, वीणा वादन में प्रवीण था। उसने गन्धर्वराज के समान सारणी से श्रुतिओं को स्फुट करने वाले स्वरों, तथा धातु और व्यंजन को स्पष्ट करने वाले तान उत्पन्न किये। वाद्य के सभी प्रकार के उत्तम वादन से उत्पन्न राग-रस में राजकुमारी अनंगसुन्दरी और अन्य सुनने वाली महिलाएँ स्तब्ध रह गईं और परम संतोष को प्राप्त हुईं। उनके हर्ष का उभार आ गया। राजकुमारी ने सोचा—
“ऐसी परम निपुण सखी, भाग्य से ही मिलती है। यह मानवी नहीं देवी है। इसका सदा का साथ, मेरे जीवन को आनन्दित एवं सफल कर देगा।”

वीरभद्र ने इसी प्रकार अपनी अन्य कलाओं का भी परिचय दे कर राजकुमारी के हृदय को अपनी ओर पूर्ण रूप से आकर्षित कर लिया। वीरभद्र को भी अनुभव हो गया। कि अनंगसुन्दरी उस पर पूर्ण रूप से मुग्ध है। उसने एक दिन सेठ से कहा—“पिताश्री ! मैं रोज बहिन के साथ राजकुमारी के पास स्त्री-वेश में, उसकी बहिन बन कर जाता रहा हूँ। किन्तु इससे आपको किसी प्रकार का भय नहीं रखना चाहिए। मैं ऐसा ही कार्य करूँगा कि जिससे आपकी प्रतिष्ठा बढ़े। यदि राजा अपनी कन्या का लग्न मेरे साथ करने के विषय में आपसे कहें, तो पहले तो आप मना कर दें, किन्तु जब राजा अति आग्रह करे, तो स्वीकार कर लें।” सेठ ने वीरभद्र की बात स्वीकार कर ली। उसे वीरभद्र पर विश्वास था। उसकी योग्यता पर सेठ भी प्रसन्न थे।

नगरभर में फैली हुई वीरभद्र की प्रशंसा, राजा के कानों पर पहुँची। उसकी प्रशंसा सुन कर वह भी आकर्षित हुआ। मन्त्रियों और अधिकारियों से राजा वीरभद्र का विशेष परिचय करना चाहने लगा। इधर अवसर देख कर एक दिन वीरभद्र ने पूछा—

“महाभागे ! आप सुयोग्य एवं भाग्यशालिनी हैं। आपके लिए उत्तमोत्तम भोग्य-सामग्री प्रस्तुत है। फिर आप भोग से विमुक्त क्यों हैं ?”

—“सखी ! मैं भोग से विमुक्त नहीं हूँ। किन्तु कोई योग्य वर मिले, तभी तो जीवन सुखमय हो सकता है, अन्यथा सारा जीवन दुःख, क्लेश एवं कटुता से गुजरता है। जिस प्रकार रत्न अकेला रहे वह अच्छा है, परन्तु काँच के साथ लगा कर अंगूठी में रहना उचित नहीं है। इसी प्रकार युवती को एकाकी जीवन बीताना अच्छा, पर कुलहीन, कलाहीन और दुर्गुणी वर के साथ रह कर विडम्बित होना अच्छा नहीं है। यदि योग्य वर मिले, तो फिर कहना ही क्या है ?”

—“हां, यह तो ठीक बात है। किन्तु आपको कैसा वर चाहिए। वर में कितनी योग्यता चाहती है आप ?” वीरभद्र ने पूछा।

—“मैं कैसा बताऊँ ? सर्वगुण सम्पन्न । सब, तुम्हारे जैसा, जिसे पा कर मैं संतुष्ट हो जाऊँ ।”

—“मेरे जैसा ? क्या आप मुझे सर्व गुण-सम्पन्न एवं पूर्ण योग्य मानती हैं ?”

—“अरे वीरमती ! यदि तू पुरुष होती, तो मैं तुझ ही को पति वरण करती । परन्तु अब मैं तुझे अपने साथ ही रखना चाहती हूँ ।”

—“राजकुमारीजी ! यदि आपकी यही इच्छा है, तो मैं आपके लिए पुरुष बन जाऊँ । फिर तो आप प्रसन्न होगी न ?”—वीरभद्र ने हँसते हुए कहा ।

—“चल हट ! वेश बदलने से ही कोई पुरुष हो सकता है ?” राजकुमारी ने हँसते हुए कहा ।

—“अरे, आप क्या समझती हैं मुझे ? मैं वह कला जानती हूँ कि जिस के प्रयोग से सदा के लिए पुरुष बन जाऊँ पूर्ण पुरुष ।”

—“हँसी मत कर ! जन्म से स्त्री हुई, तो अब पुरुष कैसे बन सकती है ?”

—“मैं आपके लिए अपना जीवन पूर्णरूप से अभी परिवर्तित कर सकती हूँ—यहीं ।

अनंगसुन्दरी को आश्चर्य हुआ । वह सोच रही थी कि रूप परिवर्तन कर के स्त्री, पुरुष का वेश तो धारण कर सकती है, किन्तु वह स्वयं पूर्णरूप से पुरुष कैसे बन सकती है ? उसे विश्वास नहीं हो रहा था । राजकुमारी को असमंजस में पड़े देख कर वीरभद्र ने कहा—

“महाभागे ! अविश्वास क्यों करती हो । मैं अभी पुरुष बन कर तुम्हें दिखा देता हूँ । आवश्यकता मात्र पुरुष के कपड़ों की है यह शरीर तो जन्म से ही पुरुष है । मैं पुरुष रूप ही जन्मा और पुरुष रूप में ही पहिचाना जाता हूँ । मेरा नाम ‘वीरमती’ नहीं, ‘वीरभद्र’ है । मैं विनयवती की बहिन नहीं, भाई हूँ । तुम्हें देखने के लिए मैंने स्त्रीवेश धारण किया है ।”

वीरभद्र की बात सुन कर राजकुमारी अत्यंत हर्षित हुई । वीरभद्र ने कहा—
“अब मैं तुम्हारे पास नहीं आऊँगा । अब तुम महाराज से कहला कर अपना वैवाहिक सम्बन्ध जुड़े वैसा प्रयत्न करना ।”

राजकुमारी ने वीरभद्र को प्रसन्नता पूर्वक बिदा किया । इसके बाद राजकुमारी ने अपनी सखी के द्वारा, अपनी माता के पास (सखी के परामर्श के रूप में) सन्देश भेजा । महारानीजी ने भी महाराज से वीरभद्र की प्रशंसा सुनी थी । जब राजकुमारी की सखी

का भी वैसा ही विचार जाना और उसमें राजकुमारी की इच्छा का संकेत मिला, तो महारानी ने महाराज को बुला कर कहा । महाराज ने सेठ को बुला कर सम्बन्ध जोड़ लिया और धूमधाम से वीरभद्र के लग्न, राजकुमारी अनंगसुन्दरी के साथ हो गये । वीरभद्र ने राजकुमारी को जैनधर्म का स्वरूप समझा कर जिनोपासिका बना ली । कालान्तर में वीरभद्र, पत्नी सहित अपने घर आने के लिए रवाना हुआ । समुद्र मार्ग से चलते हुए महावायु के प्रकोप से वाहन टूट गया और सभी यात्री समुद्र के जल में डूबने-उतराने लगे । कई डूब भी गये । अनंगसुन्दरी के हाथ में जहाज का टूटा हुआ पटिया आ गया । वह पटिये के सहारे तैरती हुई किनारे लग गई । वह भूखी प्यासी और थकी हुई मूर्च्छित अवस्था में किनारे पर पड़ी थी । समुद्र के निकट किसी तापस का आश्रम था । घूमते हुए तापस-कुमार को किनारे पर पड़ी हुई अनंगसुन्दरी दिखाई दी । उसने उसे सावचेत की और अपने आश्रम पर ले आया । आश्रम के कुलपति ने अनंगसुन्दरी को सान्त्वना दी और पुत्री के समान तपस्विनियों के साथ रहने की व्यवस्था कर दी । थोड़े ही दिनों में अनंगसुन्दरी स्वस्थ हो गई । उसके आकर्षक रूप एवं लावण्य को देख कर, कुलपति ने विचार किया कि— 'इस युवती का आश्रम में रहना हितकर नहीं होगा । आश्रम के तपस्वियों की समाधि को स्थिर रखने के लिए, इस सुन्दरी को यहाँ से हटाना आवश्यक है ।' उसने अनंगसुन्दरी को बुला कर कहा;—

“वत्से ! यहाँ से थोड़ी ही दूर पर ‘पद्मिनीखंड’ नगर है । वहाँ बहुत-से धनवान् लोग रहते हैं । उस नगर का सम्बन्ध भारत के दूर-दूर के प्रांतों से है । वहाँ रहने से तुझे तेरे पति का समागम अवश्य होगा । इसलिए तुम वहाँ जाओ ।”

अनंगसुन्दरी एक वृद्ध तापस के साथ पद्मिनीखंड नगर के निकट आई । तापस उसे नगर के बाहर छोड़ कर चला गया । वह नगर में प्रवेश करने के लिये आगे बढ़ी, तो उसे स्तब्धभूमि जाती हुई साध्वियाँ दिखाई दीं । अनंगसुन्दरी ने सोचा—‘ये साध्वियाँ तो वंसी ही हैं, जैसी मेरे पति ने मुझे बताई थी ।’ वह साध्वियों के निकट आई । उसने प्रव्रतिनी महासती सुव्रताजी आदि को नमस्कार किया और उनके साथ उपाश्रय में पहुँची । वहाँ तुम्हारी पुत्री प्रियदर्शना ने उसे देखी । अनंगसुन्दरी ने सुव्रताजी और प्रियदर्शना को अपना वृत्तांत सुनाया । उसकी कथा सुन कर प्रियदर्शना ने कहा—

“सखी ! तेरे पति वीरभद्र की वय और कला आदि की सभी विशेषताएँ मेरे पति वीरभद्र से बराबर मिलती हैं । किंतु मात्र वर्ण में अन्तर है । तेरे पति का वर्ण श्याम है और मेरे पति का गौर वर्ण है । बस, यही अंतर है, शेष सभी बातें मिलती हैं ।”

सुव्रताजी ने कहा — 'प्रियदर्शना ! यह तुम्हारी धर्म-वहिन है । इसको धर्म साधना में साथ दो ।'

उधर वीरभद्र भी समुद्र में लहरों के साथ बहता हुआ एक पटिये को पकड़ कर अथड़ाता रहा । इस प्रकार बहते हुए, उसे नतिवत्तलभ नाम के विद्याधर ने देखा और समुद्र से निकाल कर अपने आवास में ले गया । उस विद्याधर के पुत्र नहीं था, केवल एक पुत्री ही थी । उसका नाम रत्नप्रभा था । वीरभद्र को अनंगसुन्दरी की विन्ता सता रही थी । उसने विद्याधर को अपना वृत्तांत सुनाया । विद्याधर ने 'आभोगिनी' विद्या के बल से जान कर कहा—“अनंगसुन्दरी तुम्हारी पूर्व पत्नी प्रियदर्शना के साथ पश्चिमीखंड में, सुव्रताजी के उपाश्रय में रह कर धर्म-क्रिया कर रही है ।” यह सुन कर वीरभद्र प्रसन्न हुआ । विद्याधर ने वीरभद्र को उपाश्रय वर जान कर अपनी पुत्री रत्नप्रभा का पाणिग्रहण कराया । यहाँ वीरभद्र, 'बुद्धदास' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । कुछ काठ वहाँ रहने के बाद दक्षिण-भरत देखने के गहाने, रत्नप्रभा को साथ ले कर, आकाश मार्ग से पश्चिमीखंड नगर में आया । रत्नप्रभा को उपाश्रय के बाहर बिठा दिया और बोला—“मैं अभी देहचिन्ता से मुक्त हो कर आता हूँ । तुम यही बैठना ।”

वीरभद्र वहाँ से चल कर एक गली में छुप गया और चुपके से देखने लगा । बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर भी जब वीरभद्र नहीं आया, तो रत्नप्रभा घबड़ा गई । ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसकी धीरज कम होती गई और अनिष्ट की आशंका ने उसे हला दिया । उसका रुदन सुन कर एक साध्वी बाहर आई और उसे सान्त्वना दे कर उपाश्रय के भीतर ले गई । रत्नप्रभा उपाश्रय में गई, तब तक वीरभद्र उसे गुप्त रह कर देखता रहा । फिर वह निश्चित हो कर चला गया और अपना वामन रूप बना कर जादू-गरी करता हुआ नगर में घूमने लगा । उसकी कला ने नगरभर को मोह लिया । वहाँ के नरेश ईशानचन्द्र भी उसकी कला पर मग्न हो गया ।

उपाश्रय में पहुँचने के बाद अनंगसुन्दरी और प्रियदर्शना ने रत्नप्रभा को देखा । उसका वृत्तांत सुनने के बाद उन्होंने रत्नप्रभा से उसके पति का वर्ण आदि पूछा । रत्नप्रभा ने कहा—“वे सिंहलद्वीप के निवासी, गौर वर्ण समस्त कलाओं में पारंगत और कामदेव के समान रूप वाले मेरे पति हैं । उनका नाम 'बुद्धदासजी' है ।” यह सुन कर प्रियदर्शना बोली—“नाम और सिंहलद्वीप निवास के अतिरिक्त अन्य सभी बातें मेरे पति से, पूर्ण रूप से मिलती है ।” अनंगसुन्दरी ने भी कहा—“मेरे पति के साथ भी नाम और वर्ण के

अतिरिक्त सभी विशेषताएँ मिलती है।" अब रत्नप्रभा भी उन दोनों के साथ, सगी तीन बहिनों जैसी रहने लगी। वामन बना हुआ वीरभद्र प्रतिदिन उपाश्रय में आ कर अपनी तीनों पत्नियों को देख जाता था। उन तीनों को साथ हिलमिल कर रहते देख कर वह प्रसन्न होता था।

एक बार राजा के सामने किसी सभासद ने कहा—“नगर के किसी उपाश्रय में तीन अपूर्व सुन्दरी युवतियाँ आई हुई हैं। वे तीनों पवित्र हैं। वे किसी पुरुष से नहीं बोलती। यदि कोई उनसे बोले, तो भी वे पुरुष से नहीं बोलती।” यह सुन कर वामन बने हुए वीरभद्र ने कहा—“मैं उनमें से एक-एक को अपने से बोला सकता हूँ।” वह बड़े-बड़े अधिकारियों और मुख्य नागरिकों के साथ उपाश्रय में आया। उसने एक मुख्य अधिकारी को पहले ही कह दिया कि “उपाश्रय में बैठने के बाद मुझे ‘कोई कथा कहने’ के लिए कहना।” उपाश्रय में प्रवेश कर के प्रवर्तिनी महासती और अन्य सत्तियों को वन्दना की और उपाश्रय के द्वार के निकट बैठ गया। वामन को देखने के लिए साध्वीजी के साथ तीनों महिलाएँ भी आ गईं। वामन ने कहा—“मैं थोड़ी देर के लिए बैठता हूँ, फिर राजेन्द्र के पास जाने का समय होने पर मैं चला जाऊँगा।” यह सुन कर साथियों में से एक ने कहा—“इतने में कोई आश्चर्यकारक कथा ही सुना दो।” वामन ने कहा—“सुनी हुई कथा कहूँ, या बीती हुई हकीकत कहूँ?” उत्तर मिला—“बीती हुई ही सुना दो।” अब वामन कहने लगा;—

“ताम्रलिप्ति नामकी नगरी में ऋषभदत्त सेठ रहते हैं। वे एक बार व्यापाराथ पद्मिनीखंड में आये। उन्होंने सागरदत्त सेठ की सुपुत्री प्रियदर्शना के साथ अपने पुत्र वीरभद्र के लग्न कर दिये। वीरभद्र, प्रियदर्शना के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन प्रियदर्शना कपट-निद्रा में सोई हुई थी। वीरभद्र उसे जगाने लगा, तब प्रियदर्शना ने कहा;—

“मुझे मत सताइये। मेरे सिर में पीड़ा हो रही है।”

—“कैसी पीड़ा हो रही है—मीठी या कड़वी?”

—“मीठी। कड़वी हो मेरे वैरी को।”

—“अच्छा, तो मीठे दर्द की दवा तो मैं खूब जानता हूँ।”

“उसी रात प्रियदर्शना को नींद आ जाने के बाद वह उसे छोड़ कर चला गया।” इनकी बात कह कर वामन उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—अब मेरे दरबार में जाने का समय हो गया।” प्रियदर्शना ने वामन से पूछा—“महानुभाव! फिर वीरभद्र कहाँ गये?”

—“मैं अपने कुल गौरव एवं शील की रक्षा के लिए स्त्रियों से बात नहीं करता।”

—“कुलीन व्यक्ति का प्रथम गुण दाक्षिण्यता है। आप दाक्षिण्यता से ही मुझे बताइए।”

“अभी तो समय हो चुका है। अब मैं कल बतलाऊँगा।” इतना कह कर वह चला गया। दूसरे दिन उसने आगे की बात इस प्रकार कही;—

“वीरभद्र मन्त्रगुटिका में श्यामवर्ण वाला वन कर देशाटन करता हुआ सिंहलद्वीप पहुँचा।” इस प्रकार वह अनंगसुन्दरी सम्बन्धी वृत्तांत, समुद्री संकट तक कह कर रुक गया। अनंगसुन्दरी ने आग्रह पूर्वक पूछा—“भद्र ! अब वीरभद्र कहाँ है ?” “अब मेरे दरबार में जाने का समय हो गया है। शेष बात कल कहूँगा।”—इतना कह कर चला गया। तीसरे दिन उसने विद्याधर द्वारा बचाये जाने और रत्नप्रभा के साथ उपाश्रय तक आने की बात कही। रत्नप्रभा ने पूछा—“अब वृद्धदास कहाँ है ?” वामन ने कहा—“शेष बात कल कही जायगी,” और चला गया। तीनों महिलाओं की विश्वास हो गया कि हमारा पति एक ही है।”

महर्षि ने इतनी कथा कहने के बाद सागर सेठ से कहा—“यह वामन ही तुम्हारा जामाता है और यहाँ उन तीनों स्त्रियों का पति है। अभी यह कला-प्रदर्शन की इच्छा से वामन बना हुआ है।” सागर सेठ, महात्मा को वन्दना कर के वामन के साथ उपाश्रय में आये। उन्होंने साध्वियों को वन्दना करने के बाद तीनों स्त्रियों से कहा—“तुम तीनों का पति यह वामन ही है।” एकान्त में जा कर वामन ने अपना रूप बदला। पहले वह श्याम वर्ण हो कर आया। अनंगसुन्दरी ने उसे पहिचान लिया। उसके बाद वह अपने मूल गौरवर्ण में आ गया। सेठ ने पूछा—“तुमने इतना प्रपंच क्यों किया ?” वीरभद्र ने कहा—“मैं तो सैर-सपाटे और कला-प्रदर्शन के लिए ही घर से चला था।”

दूसरे दिन भगवान् अरनाथ स्वामी ने वीरभद्र के पूर्वभव का वृत्तांत कहते हुए बताया कि—“मैं पूर्व के तीसरे भव में पूर्व-विदेह में राज्य का त्याग कर दीक्षित हो कर विचर रहा था। चार मास के तप का पारणा मैंने रत्नपुर के सेठ जिनदास के यहाँ किया था। जिनदास आयु पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक में गया। वहाँ से च्यव कर मनुष्य-भव में समृद्धिवान् श्रावक हुआ। वहाँ धर्म की आराधना कर के अच्युत देवलोक में गया और वहाँ से च्यव कर वीरभद्र हुआ है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य का यह फल है।” भगवान् विहार कर गए। वीरभद्र ने विरकाल तक भोग जीवन व्यतीत किया और संयम पालकर स्वर्ग में गया।

भगवान् अरनाथ स्वामी के कुंभ आदि ३३ गणधर, ५०००० साधु, ६०००० साध्वियाँ, ६१० चौदह पूर्वधर, २६०० अवधिज्ञानी, २५५१ मनःपर्यायज्ञानी, २८०० केवलज्ञानी, ७३०० वैक्रिय लब्धि वाले, १६०० वाद लब्धि वाले, १८४००० श्रावक और ३७२००० श्राविकाएँ हुई ।

भगवान् अरनाथ स्वामी २०९९७ वर्ष केवलज्ञानी तीर्थंकरपने विचरे । निर्वाण समय निकट जान कर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और अनशन किया । एक मास के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त हुए ।

भगवान् अरनाथ स्वामी २१००० वर्ष कुमार अवस्था में, इतने ही मांडलिक राजा, इतने ही वर्ष चक्रवर्ती सम्राट और इतने ही वर्ष व्रत-पर्याय में रहे । कुल आयु ८४००० वर्ष का था । इन्द्रादि देवों ने भगवान् का निव.प.-महोत्सव किया ।

अठारहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ अरनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

छठे वासुदेव-बलदेव

भगवान् अरनाथ के तीर्थ में छठे वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव हुए । उनका चरित्र इस प्रकार है ।

विजयपुर नाम के नगर में सुदर्शन नाम का राजा था । उसने दमरार नाम के मुनिराज से धर्मोपदेश सुन कर दीक्षा ग्रहण करली और चारित्र तथा तप की आराधना कर के सहस्रार नाम के देवलोक में देव हुआ ।

इस भारत क्षेत्र में पीतनपुर नाम का नगर था । प्रियमित्र नाम का राजा वहाँ राज करता था । उस राजा की अत्यंत सुन्दरी एवं प्रिय रानी का, सुकेतु नाम के दूसरे बलवान् राजा ने हरण कर लिया था । इस असह्य आघात से प्रियमित्र राजा अत्यंत दुःखी हुआ । संसार की भयानक स्थिति का विचार कर वह विरक्त हो गया और संयमी बन कर, कठोर तप करने लगा । वह चारित्र और तप की आराधना तो करता था, किन्तु उसके हृदय में सुकेतु के प्रति बैर का काँटा खटक रहा था । जब उसे वह याद आता, तो वह द्वेष पूर्ण स्थिति में कुछ समय सोचता ही रहता । उसने अपने शरीर की उपेक्षा कर के कठोर साधना अपना ली, किन्तु साथ ही आत्मा की भी उपेक्षा कर दी और वरभाव की तीव्रता में यह निश्चय कर लिया;—“मैं इस समय तो भौतिक साधनों से हीन हूँ । किन्तु इस कठोर साधना के फलस्वरूप आगामी भव में विपुल एवं अमोघ साधनों का स्वामी बन कर, इस सुकेतु के सर्वनाशका कारण बनूँ * । इस प्रकार का संकल्प कर के मन में एक गाँठ बाँधली और जीवन पर्यन्त इस बैर की गाँठ को बनाये रखा । साधना उनकी चलती रही । किन्तु अध्यवसायों में रही हुई अज्ञुद्धि ने उस साधना को मैली बना दिया । वे जीवन की स्थिति पूर्ण कर माहेन्द्र नामक चौथे देवलोक में देव हुए ।

वैताढ्यगिरि पर अरिजय नगर में मेघनाद नाम का विद्याधर राजा था । सुभूम चक्रवर्ती ने उसे विद्याधर की दोनों श्रेणियों का राज्य दिया था । वह सुभूम चक्रवर्ती की रानी पद्मश्री का पिता था । प्रियमित्र की रानी का हरण करने वाला सुकेतु राजा भवभ्रमण करता हुआ मेघनाद के वंश में ‘बलि’ नाम का प्रतिवासुदेव हुआ । वह तीन खण्ड पृथ्वी का अधिपति था ।

● पाठक सोच सकते हैं कि निदान करने वाले आगामी भव की अनुकूलता का ही निदान क्यों करते हैं । इसी भव का क्यों नहीं करते ? उत्तर है—यदि इसी भव में बैर लेना चाहें, तो उन्हें साधना से पतित हो कर लोकनिन्दित होना पड़े । वे सोचते हैं कि हमने आजीवन संयमी रहने की प्रतिज्ञा ली । अतएव प्रतिज्ञा का भंग हम नहीं कर सकते । अन्यथा तेजोलेख्या आदि शक्ति प्राप्त कर, वे इसी भव में बदला ले सकते थे ।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरताद्ध में चक्रपुर नाम का नगर था । वहाँ महाशिर नाम का महाप्रतापी राजा राज करता था । वह बुद्धि, कला और प्रतिभा में उस समय के अन्य राजाओं में सर्वोपरि था । उस राजा के 'वैजयंती' और 'लक्ष्मीवती' नाम की दो रानियाँ थी । वे रूप, गुण और अन्य विशेषताओं से विभूषित थी । मूर्तिराज सुदर्शनजी का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी वैजयंती के गर्भ में आया । महारानी ने चार महा-स्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया । योग्य वय में राज-कुमार 'आनन्द' विद्या, कला एवं न्याय-नीति में पारंगत हुआ ।

प्रियमित्र मुनि का जीव, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग से च्यव कर महारानी लक्ष्मीवती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने सात महास्वप्न देखे । जन्म होने पर पुत्र का नाम 'पुरुषपुंडरीक' दिया गया । वह भी विद्या और कला आदि में प्रवीण हो गया । आनन्द और पुरुषपुंडरीक में घनिष्ठ स्नेह था । दोनों अतिशय योद्धा और महान् शक्तिशाली थे । राजेन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन की अनुपम सुन्दरी कन्या राजकुमारी पद्मावती का विवाह राजकुमार पुरुषपुंडरीक के साथ हुआ । त्रिखण्डाधिपति महाराजा बलि के पुण्य का उतार प्रारंभ हो कर पापोदय प्रकट होने वाला था । उसने पद्मावती के अनुपम रूप की प्रशंसा सुनी और उसे प्राप्त करने के लिए वह चढ़ आया । बलि को अनीतिपूर्वक आक्रमण करने के लिए आता हुआ जान कर राजकुमार आनन्द और पुरुषपुंडरीक भी उसके सामने चढ़ आये । इन दोनों बन्धुओं के पुण्य का उदयकाल था । देवों ने राजकुमार आनन्द को हल आदि तथा पुरुषपुंडरीक को शारंग धनुष आदि शस्त्र अर्पण किये । दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध छिड़ गया । घमासान युद्ध में बलि की सेना ने भीषण प्रहार कर के शत्रु-सेना के छक्के छुड़ा दिए । अपनी सेना को हताश हो कर मरती-कटती और भागती हुई देख कर दोनों वीर योद्धा अपने शस्त्र ले कर आगे आये । राजकुमार पुरुषपुंडरीक ने पाँचजन्य शंख का नाद किया । उस महानाद के भीषण स्वर ने बलि की सेना के साहस को नष्ट कर दिया और भय भर दिया । आगे के सैनिक पीछे खिसकने लगे । पुरुषपुंडरीक ने इसके बाद शारंग धनुष का टंकार दिया । टंकार सुनते ही बलि की सेना भाग गई । अपनी सेना को रणक्षेत्र छोड़ कर भागती हुई देख कर, बलि स्वयं रणक्षेत्र में आया और भीषण बाण-वर्षा करने लगा । उधर बलि की बाण-वर्षा से अपना बचाव करते हुए राजकुमार पुरुषपुंडरीक भी बलि पर बाणों की मार चला रहे थे । अपने बाणों और विशिष्ट अस्त्रों का उचित प्रभाव नहीं देख कर बलि ने चक्र धारण किया और उसे घुमा कर जोर से अपने शत्रु पर

फेंक मारा। चक्र के प्रहार को राजकुमार सह नहीं सके और नीचे गिर कर मूर्च्छित हो गए। थोड़ी ही देर में सावधान हो कर उन्होंने उसी चक्र को उठाया और बलि से—“ले अब सम्भाल अपने इस चक्र को”—कहते हुए उन्होंने फेंका। बलि का पुण्य एवं आयुष्य समाप्त था। चक्र के प्रहार से उस का सिर कट गया और वह मर कर नरक में गया। प्रतिवासुदेव पर विजय पा कर पुरुषपुण्डरीक वासुदेव और ज्येष्ठ-भ्राता आनन्द बलदेव हो गए। उन्होंने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। पुरुषपुण्डरीक अपने पैंसठ हजार वर्ष के आयुष्य तक राज्य-ऋद्धि और भोग-विलास में मृद्व हो कर और निदान का फल भोग कर, मृत्यु पा छठी नरक का महा दुःख भोगने के लिए चले गए।

अपने छोटे भाई की मृत्यु से आनन्द बलदेव को बड़ा धक्का लगा। वे संसार का त्याग कर पूर्ण संयमी बन गए और चारित्र्य का पूर्ण शुद्धता के साथ पालन करते हुए मोक्ष पधार गए।

सुभूम चक्रवर्ती

भगवान् अरनाथ स्वामी के तीर्थ में ही 'सुभूम' नाम के आठवें चक्रवर्ती हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है—

इस भरतक्षेत्र में एक विशाल नगर था। भूपाल नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह महापराक्रमी था। किंतु एक बार अनेक शत्रु राजाओं ने मिल कर एक साथ उस पर आक्रमण कर के उसे हरा दिया। अपनी पराजय से खिन्न हो कर, भूपाल विरक्त हो गया और 'संभूति' मुनिराज के पास निग्रंथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। संयम के साथ उग्र तप करते हुए वे विचरने लगे। कालान्तर में उनके मन में भोग-लालसा उत्पन्न हुई। मोह की दबी और मुरझाई हुई विष-लता भी बड़ी विषैली होती है। इसे थोड़ासा भी अनुकूल निमित्त मिला कि क्षीण प्रायः दिखाई देने वाली लता पुनः हरीभरी हो कर अपना प्रभाव बताने लगती है। मोह को नष्ट करने के लिए तत्पर बने हुए राजर्षि पुनः मोह के चक्कर में पड़ गए और निदान कर लिया कि “मेरी उच्च साधना के फलस्वरूप, आगामी भव में मैं काम-भोग की सर्वोत्तम एवं प्रचुर सामग्री का भोक्ता बनूँ।” इस प्रकार अपनी साधना से (—जो चिन्तामणि रत्न से भी महान् फल देने वाली थी) किपाक फल के समान दुःख-दायी विषफल प्राप्त कर लिया। वे मृत्यु पा कर महाशुक नाम के आठवें स्वर्ग में देव हुए।

भरत क्षेत्र के वसंतपुर नगर में अपने वंश का उच्छेद करने वाला एक 'अग्नि' नाम का लड़का था। एक बार वह विदेश गया। वह अकेला भटकता हुआ तापसों के आश्रम में चला गया। आश्रम के वृद्ध कुलपति ने उसे अपने पुत्र के समान रखा और उसे तापस बनाया। वह 'जमदग्नि' के नाम से प्रख्यात हुआ। उग्र तप करते हुए वह स्वयं अपने दुःसह तेज से विशेष विख्यात हुआ।

परशुराम की कथा

वैश्वानर नाम का देव पूर्वभवं में श्रावक था और धन्वन्तरी नाम का देव, तापस-भक्त था। दोनों देवों में परस्पर वाद छिड़ गया। वैश्वानर कहता था कि 'आर्हत धर्म यथार्थ एवं सत्य है' और धन्वन्तरी कहता था 'तापस धर्म उत्तम है।' दोनों ने परीक्षा करने का निश्चय किया। वैश्वानर ने कहा—'तू किसी नवदीक्षित निग्रंथ की भी परीक्षा करेगा, तो वह सच्चा उत्तरेगा। किन्तु तेरे किसी प्रोढ़ साधक की परीक्षा ली जायगी, तो वह टिक नहीं सकेगा।' पहले दोनों देव निग्रंथ की परीक्षा करने आये। मिथिलानगरी का पद्मरथ राजा भाव-यति था। वह पत्रज्या ग्रहण करने के उद्देश्य से मिथिलानगरी से पादविहार कर चम्पानगरी में, भ० वासुपूज्य स्वामी के पास जा रहा था। दोनों देव उसके पास आये और उसके सामने भोजन और पानी के पात्र रख कर, भोजन करने का निवेदन किया। यद्यपि पद्मरथ भूख और प्यास से पीड़ित था, तथापि अकल्पनीय होने के कारण भोजन और पानी ग्रहण नहीं किया। देवों ने मार्ग में कंकरो को इतने तीक्ष्ण बना दिये कि मार्ग चलना कठिन हो गया और मुनि के कोमल पाँवों में से रक्त बहने लगा किन्तु वे विचलित नहीं हुए। थोड़ी दूर चलने पर उन्हें एक सिद्धपुत्र+ का रूप धारण किया हुआ देव सामने आ कर कहने लगा;—“हे महाभाग! अभी तो तुम्हारा जीवन बहुत लम्बा है और खाने-पीने, भोग भोगने और संसार सुख का आस्वादन करने के दिन हैं। अभी से योग लेने की क्या आवश्यकता हुई? जब भोग से तृप्त हो जाओ और इन्द्रियाँ निर्वल हो जाय, तब साधु बनना। भरपूर युवावस्था में साधु बन कर, प्राप्त मनुष्य-भव को व्यर्थ गँवाना बुद्धिमानी नहीं है।” भावमुनि पद्मरथजी ने कहा;—“भाई! जीवन का क्या भरोसा? साधना में विलम्ब करना बुद्धिमानी नहीं है। यदि जीवन लम्बा हुआ, तो धर्म-साधना बहुत होगी।

+ संयम से गिरा हुआ—पडवाई।

यह तो विशेष लाभ की बात है। कल के भरोसे निश्चित रहना तो मूर्खता है।”

देवों ने उसकी दृढ़ता देख ली। अब वे किसी तापस की परीक्षा करने के लिए चले। चलते-चलते वे दोनों उस जमदग्नि तपस्वी के आश्रम में आये।

दोनों देव जमदग्नि के पास आये। वह विशाल बट वृक्ष के नीचे बैठा था। उसकी बड़ी हुई जटाएँ भूमि को स्पर्श कर रही थी। वह ध्यानारूढ़ था। दोनों देवों ने चिड़िया के जोड़े का रूप बनाया और जमदग्नि की दाढ़ी के झुरमुट में बैठ गए। चीड़े ने चिड़िया से कहा:—

“प्रिये ! मैं हिमालय की ओर जाऊँगा।”

“फिर कब लौटेगा”—चिड़िया ने पूछा।

“बहुत जल्दी”—चीड़े ने कहा—

“यदि तू वहीं किसी सुन्दर चिड़िया में लुब्ध हो कर मुझे भूल जाय तो”—चिड़िया ने आशंका व्यक्त की।

“नहीं, मैं वहाँ नहीं रुकूँगा। यदि मैं अपने वचन से मुकर जाऊँ, तो मुझे गो-हत्या का पाप लगे”—चीड़े ने शपथपूर्वक कहा।

“नहीं, इस साधारण शपथ पर मैं तुझे नहीं छोड़ती। यदि तू यह शपथ ले कि ‘मैं काम कर के वापिस नहीं लौटुँ और वहीं किसी चिड़िया में फँस जाऊँ तो, मुझे इस तपस्वी का पाप लगे।’ इस शपथ पर मैं तुझे छोड़ सकती हूँ”—चिड़िया ने अपनी शर्त रखी और चीड़े ने स्वीकार करली।

यह बात जमदग्नि सुन रहा था। जब उसने चिड़िया की शर्त सुनी, तो क्रोधित हो गया और दोनों पक्षियों को हाथों में पकड़ कर पूछा:—

“बोल, मैंने कौनसा पाप किया ? मैं चिरकाल से ऐसा कठोर तप कर रहा हूँ और कभी कोई पाप नहीं किया, फिर भी तुम मुझे गो-घातक से भी महापापी बतला रहे हो ? बताओ मैंने कब और कौनसा महापाप किया ?”

चिड़िया ने कहा:—“ऋषिस्वर ! क्रोध क्यों करते हैं, क्या आप इस श्रुति को नहीं जानते—“अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च,” जब आप अपुत्र हैं, तो आपकी सद्गति कैसे होगी और आपकी यह तपस्या किस काम आएगी ? बिना गृहस्थ-धर्म का पालन किये, बिना पत्नी और पुत्र को तृप्त कर, पितृ ऋण का भार उतारे और बिना गृहस्थ धर्म सञ्चालक उत्तराधिकारी छोड़े, यह व्यर्थ का पाप प्रपञ्च क्यों किया ? जो

अवस्था गृहस्थ-धर्म पालन करने की थी, उसे नष्ट कर के और कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो कर आपने पाप नहीं किया क्या ? जरा शांति से विचार कर देखिये ।”

तपस्वी विचार में पड़ गया । उसने सोचा “बात तो ठीक कहता है—यह पक्षी । धर्म-शास्त्र में लिखा है कि पुत्र-विहीन मनुष्य की सद्गति नहीं होती । मैं इस सिद्धांत को तो भूल ही गया । इस भूल से मेरा इतने वर्षों का जप, तप, ध्यान और साधना व्यर्थ गई । बिना स्त्री और पुत्र के मेरा उद्धार नहीं हो सकता ।”

इस प्रकार जमदग्नि को विचलित हुआ जान कर धनवन्तरी देव आर्हत् हो गया और दोनों देव अदृश्य हो गए ।

मिथ्या विचारों से भ्रमित जमदग्नि ने अपना आश्रम छोड़ दिया और ‘नेमिक कोष्टक’ नगर में आया । वहाँ के राजा जितशत्रु के बहुत-सी कन्याएँ थी । उनमें से एक कन्या की याचना करने के लिए जमदग्नि राजा के पास आये । राजा ने उनका सत्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा । जमदग्नि ने कहा—“मैं आप से एक कन्या की याचना करने आया हूँ ।” राजा उसकी शक्ति से डरता था । उसने कहा—“मेरे सौ कन्या हैं । इनमें से जो आपके साथ आना चाहे, उसे आप ले सकते हैं ।” जमदग्नि अंतःपुर में गये और राजकुमारियों से कहा—“तुम में से कोई एक मेरी धर्मपत्नी हो जाओ ।” राजकुमारियों ने यह बात सुन कर तिरस्कार पूर्वक कहा; —“अरे ओ जोगड़े ! भीख माँग कर पेट भरता है, जटाधारी ऋषि बना हुआ है, तुझे राजकुमारी को पत्नी बनाने का मनोरथ करते लज्जा नहीं आती ?” इस प्रकार सभी ने उससे घृणा की और उसकी इस अनहोनी बात पर ‘थू थू’ कर के मुँह बिगाड़ने लगी । जमदग्नि इस अपमान से क्रोधित हो गया और अपनी शक्ति से उन सब को कुबड़ी बना दिया । उस समय एक छोटी कन्या रेणु धूल के ढेर के साथ खेल रही थी । जमदग्नि ने उसे पुकारा—“रेणुका ! बच्ची ने जमदग्नि की ओर देखा । उसने एक बिजोरे का फल दिखाते हुए कहा—“ले, रेणुका ! यह लेना है ?” बालिका ने फल लेने के लिए हाथ बढ़ाया । उसके बड़े हुए हाथ को स्वीकृति मान कर उसे उठा लिया । राजा ने उस बालिका को गाय आदि के साथ विधिपूर्वक दे दी । संतुष्ट हुए जमदग्नि ने सभी राजकुमारियों को स्वस्थ किया । रेणुका को जमदग्नि अपने आश्रम में लाया और यत्नपूर्वक उसका पालन-पोषण करने लगा । कालान्तर में रेणुका यौवन वय की प्राप्त हुई और जमदग्नि ने उसे पत्नी रूप में स्वीकार की । ऋतुकाल होमे पर जमदग्नि ने रेणुका से कहा—“मैं तेरे लिए एक ऐसे चरु (हवन के लिए पकाया हुआ

अन्न) की साधना करूँगा कि जिससे तेरे गर्भ से ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हो।” इस पर से रेणुका ने कहा—“हस्तिनापुर के महाराज अनन्तवीर्य की रानी मेरी बहिन है। उसके लिए भी आप ऐसा चरु साधें कि जिससे उसके गर्भ से एक क्षत्रियोत्तम पुत्र का जन्म हो।” जमदग्नि ने दोनों चरु की साधना की और दोनों चरु रेणुका को दे दिये। रेणुका के मन में विचार उत्पन्न हुआ—‘मैं तो वनवासिनी हुई। किन्तु मेरा पुत्र भी यदि ऐसा ही वनवासी ब्राह्मण हो, तो इससे क्या लाभ होगा। यदि मेरा पुत्र क्षत्रिय-शिरोमणि हो, तो मैं धन्यभागा हो जाऊँगी।’ उसने क्षत्रिय चरु खा लिया और ब्राह्मण चरु अपनी बहिन को दे दिया। दोनों के एक-एक पुत्र हुआ। रेणुका के पुत्र का नाम ‘राम’ और उसकी बहिन के पुत्र का नाम ‘कृतवीर्य’ हुआ।

एक बार एक विद्याधर आकाश मार्ग से जा रहा था। वह मार्ग में ही अतिसार रोग से आक्रान्त हो गया और अपनी आकाशगामिनी विद्या भूल गया। वह उस आश्रम के पास उतरा—जहाँ जमदग्नि, रेणुका और राम रहते थे। राम ने उस विद्याधर की सेवा की और निरोग बनाया। सेवा से प्रसन्न हो कर विद्याधर ने राम को परशु विद्या प्रदान की। राम ने उस विद्या को सिद्ध कर ली और परशु (फरसा—कुल्हाड़ी जैसा शस्त्र) ग्रहण करने लगा। इससे उसका नाम ‘परशुराम’ प्रसिद्ध हो गया।

कालान्तर में रेणुका अपनी बहिन को मिलने के लिए हस्तिनापुर गई। महाराज अनन्तवीर्य रेणुका को देख कर मोहित हो गए और उसके साथ कामक्रीड़ा करने लगे। इस व्यभिचार से रेणुका के एक पुत्र का जन्म हुआ और उस जारज पुत्र के साथ वह आश्रम में पहुँची। जमदग्नि ने तो उसे स्वीकार कर लिया, किन्तु परशुराम को माता का कुकर्म सहन नहीं हुआ। उसने अपने फरसे से रेणुका और उसके पुत्र को मार डाला। यह समाचार अनन्तवीर्य ने सुना, तो वह क्रोधित हो कर परशुराम पर चढ़ आया और जमदग्नि के आश्रम को नष्ट कर दिया। तापसों को मार पीट कर उनकी गायें आदि ले कर लौट गया। जब परशुराम ने तापसों की दुर्दशा का हाल सुना, तो अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और फरसा लेकर राजा के पीछे पड़ा। परशुराम, अपने विद्या-सिद्ध फरसे से अनन्त-वीर्य की सेना को काटने लगा। राजा सहित सेना मारी गई। अनन्तवीर्य के मरने के बाद उसके पुत्र कृतवीर्य का राज्याभिषेक हुआ। कृतवीर्य अपनी रानी तारा के साथ भोग भोगता हुआ सुखपूर्वक काल बिताने लगा।

भूपाल मुनि * का जीव, महाशक्र देवलोक से च्यव कर महारानी तारा के गर्भ में

* देखो पृ. ३७७।

आया । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे ।

कृतवीर्य ने अपनी माता से, पिता की मृत्यु का हाल सुना, तो पितृघातक से वर लेने पर उद्यत हो गया । वह सेना ले कर जमदग्नि के आश्रम में आया और जमदग्नि को मार डाला । जब परशुराम ने सुना, तो वह हस्तिनापुर आया और कृतवीर्य को मार कर स्वयं हस्तिनापुर का राजा बन गया । परशुराम की क्रूरता से भयभीत हो कर महारानी तारा निकल भागी और वन में जा कर एक तापस के आश्रम में पहुँची । कुलपति ने परिस्थिति का विचार कर तारा को भूमिगृह में रखी । वहाँ उसके पुत्र का जन्म हुआ । भूमिगृह में जन्म होने के कारण बालक का नाम 'सुभूम' रखा ।

क्रोध मूर्ति के समान परशुराम ने क्षत्रियों का संहार करना प्रारम्भ किया । एक बार वह विनाशमूर्ति उस आश्रम में पहुँची और क्षत्रिय को खोजने लगी । तापसों ने कहा—“हम तपस्या करने वाले क्षत्रिय हैं ।” परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दी और मारे हुए क्षत्रिय योद्धाओं की दाढ़ाओं से थाल भर कर प्रदर्शन के लिए रख दिया ।

एक बार परशुराम ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा—“मेरी मृत्यु किस निमित्त से होगी ?” उत्तर मिला—“जिस पुरुष के प्रताप से ये दाढ़ाएँ क्षीर रूप में परिणत हो जायगी और जो इस सिंहासन पर बैठ कर उस क्षीर को पी जायगा, वही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा ।” यह सुन कर परशुराम ने एक दानशाला स्थापित की और उसके सामने एक उच्चासन पर दाढ़ाओं से परिपूर्ण वह थाल रखवाया और उस पर पहरा लगा दिया ।

सुभूम बढ़ते-बढ़ते युवावस्था में आया ।

वैताद्वय पर्वत पर रहने वाले विद्याधर मेघनाद ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा—“मेरी पुत्री पद्मश्री का पति कौन होगा ?” भविष्यवेत्ता ने सुभूम को बताया । मेघनाद, पुत्री को ले कर सुभूम के पास आया और उसके साथ पुत्री के लग्न कर के स्वयं उसकी सहायता के लिए उसके पास रह गया ।

एक बार सुभूम ने अपनी माता से पूछा—“क्या पृथ्वी इतनी ही बड़ी है, जहाँ हम रहते हैं ?” माता ने कहा—“पुत्र ! पृथ्वी तो असंख्य योजन लम्बी व चौड़ी है । इस पर हस्तिनापुर नगर है, जिस पर तुम्हारे पिता राज करते थे । किन्तु दुष्ट परशुराम ने उन्हें मार डाला और खुद राजा बन गया । उस समय तुम गर्भ में थे । मैं तुम्हें ले कर यहाँ चली आई और गुप्तरूप से तुम्हारा पालन किया ।” यह सुनते ही सुभूम का क्रोध भड़का

वह उसी समय हस्तिनापुर के लिए चल दिया । उसका इवशूर मेघनाद भी साथ हो गया । वह हस्तिनापुर की दानशाला में आया । उसके आते ही थाल में रही हुई दाढ़ें गल कर क्षीर रूप में हो गई । सुभूम उस क्षीर को पी गया । यह देख कर वहाँ रहे हुए रक्षक ब्राह्मण युद्ध करने को तत्पर हो गए । मेघनाद ने उन सब को मार डाला । यह सुन कर परशुराम दौड़ा आया और सुभूम पर अपना फरसा फेंका । किंतु उसका निशाना चूक गया । परशुराम के पुण्य समाप्त हो गए थे और सुभूम के पुण्य का उदय हो रहा था । सुभूम ने वह क्षीर की खाली थाली परशुराम पर फेंकी । थाली ने चक्र के समान परशुराम का सिर काट डाला । परशुराम के मरने पर सुभूम राज्याधिपति हो गया । उसने इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण-विहीन कर डाली और छह खंड को साध कर चक्रवर्ती सम्राट हो गया । उसने मेघनाद को बैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणियों का राज्य दिया ।

भोगगृह और हिसादि महारंभ तथा रोद्रध्यान की तीव्रता युवत अपनी साठ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर सुभूम नाम का आठवाँ चक्रवर्ती सातवीं नरक में गया ।

दत्त वासुदेव चरित्र

भगवान् श्री अरनाथ स्वामी के तीर्थ में 'दत्त' नाम का सातवाँ वासुदेव, 'नन्दन' बलदेव और 'प्रह्लाद' प्रतिवासुदेव हुआ ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में सुसीमा नाम की नगरी थी । वसुंधर नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे । उन्होंने सुधर्म अनगर के समीप दीक्षा ली और चारित्र्य का पालन कर पाँचवें देवलोक में देव हुए ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरनाद्ध में झीलपुर नगर था । मन्दरधीर राजा राज करते थे । उसके ललितमित्र नाम का गुणवान् ज्येष्ठ पुत्र था । राजा के खल नाम के मन्त्री ने बड़े राजकुमार की निन्दा कर के राजा को अप्रसन्न कर दिया और छोटे पुत्र को युवराज बना दिया । इससे अप्रसन्न हो कर ललितमित्र ने घोषसेन मुनिजी के पास दीक्षा ग्रहण कर ली । उग्र तप करते हुए उसने निदान कर लिया कि—“मैं आगामी भव में दुष्ट खल मन्त्री का वध करने वाला बनूँ ।” निदान-शल्य सहित काल कर के वह प्रथम देवलोक में ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ । खल मन्त्री चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता हुआ जम्बूद्वीप के बैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के तिलकपुर नगर में विद्याधरों का अधिपति

‘प्रह्लाद’ नाम का प्रतिवासुदेव हुआ ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत में वाराणसी नगरी थी । अग्निसिंह नाम का इक्ष्वाकु-वंशी राजा था । उसके रूप एवं सौन्दर्य से भरपूर जयंती और शेषवती नाम की दो रानियाँ थी । वसुंधर मुनि का जीव, पाँचवें स्वर्ग से च्यव कर चार महास्वप्न के साथ महारानी जयंती के गर्भ में आया । जन्म होने पर पुत्र का नाम ‘नन्दन’ दिया । ललितमित्र का जीव, महारानी शेषवती के गर्भ में सात महास्वप्न के साथ आया । जन्म होने पर पुत्र का नाम ‘दत्त’ रखा । दोनों भाई युवावस्था में समानवय के मित्र के समान लगते थे । वे महापराक्रमी योद्धा थे ।

प्रतिवासुदेव प्रह्लाद को समाचार मिले कि—अग्निसिंह राजा के पास ऐरावत के समान उत्तम हाथी है । उसने हाथी की माँग की, किन्तु राजकुमारों ने उस माँग को अस्वीकार कर दी । प्रह्लाद क्रोधित हो कर युद्ध के लिए चढ़ आया और अन्त में उसी के चक्र से मारा गया । उसके समस्त राज्य पर राजकुमार दत्त ने अधिकार कर लिया और वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुआ । राजकुमार नन्द बलदेव हुए । राज्य एवं भोग में गृह एवं दुर्ध्यान में लीन रहते हुए दत्त वासुदेव अपनी ५६००० वर्ष की आयु पूर्ण कर के पचासी नरक में गए । नन्दन बलदेव संसार से विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र की आराधना कर मोक्ष प्राप्त हुए ।



भ० मल्लिनाथजी



जम्बूद्वीप के अपर-विंदह के सलिलावती विजय में वीतशोका नाम की नगरी थी । 'बल' नाम के महाराजा वहाँ राज करते थे । वे बड़े पराक्रमी और योद्धा थे । उनके 'धारणी' नाम की महारानी थी । 'महाबल' उनका राजकुमार था । वह भी पूर्ण पराक्रमी था । उसका कमलश्री आदि पाँचसी राजकुमारियों के साथ विवाह हुआ था । राजकुमार महाबल के—अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र नाम के छह राजा बाल-मित्र थे । एक बार उस नगरी के बाहर इन्द्रकुब्ज उद्यान में कुछ मुनि आ कर ठहरे । महाराज बल ने धर्मोपदेश सुना और युवराज महाबल को राज्यभार दे कर प्रव्रजित हो गए । तप-संयम की विशुद्धता पूर्वक आराधना करते हुए महाराजा ने मुक्ति प्राप्त की ।

महाबल नरेश कमलश्री महारानी से बलभद्र नामका पुत्र हुआ । यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार बलभद्र को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया और आप अपने छः मित्र राजाओं के साथ जिनधर्म का श्रवण करने लगे । महाराजा महाबलजी ने वैराग्य में सराबोर हो कर एक बार अपने मित्रों से कहा;—

“मित्रों ! मैं तो संसार से उद्भिन्न हुआ हूँ और शीघ्र ही निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ । तुम्हारी क्या इच्छा है ?”

—“मित्र ! जिस प्रकार अपन सब सांसारिक सुख-भोग में साथ रहे, उसी प्रकार त्याग-मार्ग में भी साथ रहेंगे । हमारी योग-साधना भी साथ ही होगी । हम एक दूसरे से भिन्न नहीं रह सकते । हम मुक्ति में भी साथ ही पहुँचेंगे ।”

महाबल नरेश ने युवराज बलभद्र को राज्याधिकार दिया। इसी प्रकार अन्य राजाओं ने भी अपने कुमारों को राज्य दिया। इसके बाद महाबल नरेश अपने छः मित्र-राजाओं के साथ महात्मा वरधर्म मुनिजी के पास दीक्षित हुए।

महाबल मुनि का मायाचार

प्रव्रजित होने के बाद सातों मुनिराजों ने यह प्रतिज्ञा की कि—“हम सातों ही एक ही प्रकार की तपस्या करते रहेंगे। किसी एक की इच्छा जो तप करने की होगी, वही तप हम सब करेंगे।” इस प्रकार निश्चय कर के सभी साधना में प्रवृत्त हो गए। साधना करते हुए महाबल मुनिराज के मन में विचार उत्पन्न हुआ—

“मैं संसार में सब से ऊँचा था। मेरे मित्र-राजाओं में मेरा दर्जा ऊँचा रहा और यहाँ भी ये मेरा विशेष आदर करते हैं। अब यदि मैं तपस्या भी सब के समान ही करूँगा, तो आगे पर समान कक्षा मिलेगी। इसलिए मुझे इन छहों मुनियों से विशेष तप करना चाहिए, जिससे स्वर्ग में भी मैं इनसे ऊँचे पद पर रहूँ।”

इस प्रकार विचार कर वे गुप्त रूप से अपना तप बढ़ाने लगे। जब पारण का समय आता और अन्य मुनि पारणा ला कर श्री महाबल मुनिराज को पारणा करने का कहते, तो वे मायापूर्वक कहते—“आज तो मुझे भूख ही नहीं है, आज मेरे मस्तक में पीड़ा हो रही है। आज मेरे पेट में दर्द है”—इत्यादि बहाने बता कर पारणा नहीं करते और तपस्या बढ़ा लेते। इस प्रकार मायाचार से वे अपने छहों मित्र मुनिवरों को ठगते। इस मायाचार से उन्होंने ‘स्त्रीवेद’ का बन्ध कर लिया। इस माया के अतिरिक्त उनकी साधना उच्च प्रकार की थी। उच्च परिणाम, उग्रतप एवं अरिहंत आदि २० पदों की आराधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित बन्ध भी कर लिया। उनकी संयम और तप की आराधना बढ़ती ही गई। अंत समय निकट जान कर सातों ही मुनिवरों ने अनशन किया। उनका संथारा दो मास तक चला और अप्रमत्त अवस्था में ही आयु पूर्ण कर ‘जयंत’* नाम के तीसरे अनुत्तर विमान में अहमिन्द्रपने उत्पन्न हुए। उन सब की आयु बत्तीस सागरोपम प्रमाण हुई।

* आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने ‘त्रिशण्डिशलाका पुरुष चरित्र’ में ‘वैजयन्त’ नामक दूसरा अनुत्तर विमान बतलाया। किन्तु ज्ञातासूत्र में ‘जयन्त’ ही लिखा है।

तीर्थंकर जन्म

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरताद्वे में 'मिथिला' नामकी प्रसिद्ध नगरी थी। वह धन-धान्यादि उत्तमताओं से समृद्ध थी। महाराजा कुंभ वहाँ के पराक्रमी शासक थे। वे उत्तम कुल-शील एवं राज-तेज से शोभायमान थे। रूप, लावण्य, सद्गुण एवं उत्तम महिलाओं की सभी प्रकार की विशेषताओं से विभूषित महारानी प्रभावती, महाराजा कुंभ की अर्द्धांगना थी।

महात्मः महाबलजी का जीव, जयंत नामक अनुत्तर विमान से च्यव कर, फाल्गुन-शुक्ला चतुर्थी को अश्विनी नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर, महारानी प्रभावती के गर्भ में आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भ के तीसरे महीने बाद महारानी को दोहद (विशेष इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'पाँच वर्ण के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों से सजी हुई शय्या का उपभोग करूँ और उत्तम श्रीदामगंड (गुच्छे) को सँघती हुई सुखपूर्वक रहूँ।' महादेवी के इस दोहद को निकट रहे हुए वाणव्यंतर देवों ने जाना और तद्नुसार पूरा किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष-शुक्ला ११ को अश्विनी नक्षत्र में चन्द्रमा का योग होने पर और उच्च स्थान पर रहे हुए ग्रहों के समय, आधी रात में सभी शुभ लक्षणों से युक्त उन्नीसवें तीर्थंकर पद को प्राप्त होने वाली पुत्री को जन्म दिया।

सभी तीर्थंकर पुरुष ही होते हैं। स्त्री-शरीर से कोई जीव तीर्थंकर नहीं होता। यह नियम है। किन्तु उन्नीसवें तीर्थंकर का स्त्री-शरीर से जन्म लेना, एक आश्चर्यजनक घटना है। श्री महाबल मुनि ने संयम की साधना करते हुए भी माया कषाय का उतनी तन्मयता से सेवन किया कि जो संज्वलन से निकल कर अनन्तानुबन्धी की सीमा में पहुँच गया और उस समय स्त्री-वेद का बन्ध कर लिया। फिर साधना की उग्रता में तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध भी कर लिया। इस प्रकार बाँधा हुआ कर्म उदय में आया और स्त्री-पर्याय में उत्पन्न होना पड़ा।

दिक् कुमारियों, देवीदेवताओं और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। माल्य की शय्या पर शयन करने के दोहद के कारण पुत्री का नाम "मल्लि" दिया गया। आपका रूप अनुपम, अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ था। यौवनावस्था में आपका शरीर अत्यन्त एवं उत्कृष्ट शोभायमान हो रहा था।

निमित्त निर्माण

आप देवलोक से ही अवधिज्ञान ले कर आये थे। आपने उस अवधिज्ञान से अपने

पूर्व-भव के मित्रों को देखा और भविष्य का विचार कर के अपने सेवकों को आज्ञा दी कि—
“अशोक वाटिका में एक भव्य मोहनगृह का निर्माण करो। वह अनेक खंभों से युक्त हो।
उसके मध्यभाग में छः कमरे हों। प्रत्येक कमरे में एक जालगृह (जाली लगा हुआ बैठक
का छोटा कमरा) हो और उसमें एक उत्तम सिंहासन रखा हो। यह मोहनघर अत्यंत
रमणीय एवं मनोहर बनाओ।”

राजकुमारी मल्लि की आज्ञा होते ही काम प्रारम्भ हो गया और थोड़े ही दिनों में
उनकी इच्छानुसार भव्य मोहनघर तय्यार हो गया। उसके बाद राजकुमारी ने ठीक अपने
ही अनुरूप और अपने ही समान रूप-लावण्यादि उत्तमताओं से युक्त एक पोली स्वर्ण
प्रतिमा बनवाई और एक पीठिका पर स्थापित करवा दी। उस प्रतिमा के मस्तक पर एक
छिद्र बनवा कर कमलाकार ढक्कन लगा दिया। वह प्रतिमा इस कौशल से बनवाई थी
कि देखने वाला व्यक्ति उसे प्रतिमा नहीं समझ कर, साक्षात् प्रसन्नवदना राजकुमारी ही
समझे।

प्रतिमा बनवाने के बाद भगवती मल्लिकुमारी, जो उत्तम भोजन करती, उसका
एक ग्रास उस प्रतिमा के मस्तक पर रहे हुए छिद्र में डाल कर ढक्कन लगा देती। इस
प्रकार वे प्रतिदिन करती रहती। वह भोजन का ग्रास प्रतिमा में पड़ा हुआ सड़ता रहता।
उसमें असह्य दुर्गन्ध उत्पन्न होती रहती। वह सड़ांध दिनोदिन तीव्रतम होती गई। इस
प्रकार यह निमित्त तय्यार होने लगा। मातापितादि इस क्रिया को देख कर विचार
करते—“यह राजकुमारी, अपनी उत्तमोत्तम प्रतिमा में भोजन डाल कर क्यों सड़ा रही
है?” फिर वे सोचते—“अवश्य इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है। हमारी बेटी ऐसी नहीं, जो
व्यर्थ ही ऐसा काम करे। यह अलौलिक आत्मा है। इसमें अवश्य ही कोई उत्तम उद्देश्य
है। इसके द्वारा भविष्य में कोई उलझी हुई गुत्थी सुलझने वाली है। यथासमय इसका
परिणाम सामने आ जायगा।” इस प्रकार सोच कर वे संतोष कर लेते।

पूर्वभव के मित्रों का आकर्षण

(१) महात्मा महाबलजी के साथी ‘अचल’ अनगार का जीव, अनुत्तर विमान से
च्यव कर इसी भरत क्षेत्र में कौशल देश के साकेतपुर नगर के शासक के पुत्र रूप में उत्पन्न
हुआ और ‘प्रतिबुद्धि’ नाम का इक्ष्वाकुवंशीय नरेश हुआ। महाराज प्रतिबुद्धि के पद्मा-

वती महारानी थी और सुबुद्धि नाम का प्रखर बुद्धिशाली मन्त्री था ।

साकेतपुर नगर के बाहर नागदेव का मंदिर था । महारानी पद्मावती, नागदेव का उत्सव कर रही थी । प्रतिबुद्ध नरेश के साथ महारानी उस उत्सव में गई । राजाज्ञा से वहाँ राजकुटुम्ब के लिए एक 'पुष्प-मण्डप' तैयार किया गया । वह इस प्रकार कलापूर्ण ढंग से सुन्दर बनाया गया था कि देखने वालों को उसकी सुन्दरता अपूर्व लगे । उस 'कुसुमगृह' में विविध प्रकार के सुन्दर पुष्पों से बनाया हुआ एक मनोहर गेंद (अथवा मृद्गर) रक्खा गया था । जब प्रतिबुद्ध नरेश, पुष्प-मंडप में आये और विविध पुष्पों से बने हुए उस मनोहर श्रीदामगंड को देखा, तो चकित रह गये । इस प्रकार का उत्तम और कलापूर्ण श्रीदामगंड उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था । उनकी दृष्टि उसी पर स्थिर हो गई । उन्होंने अपने महामात्य 'सुबुद्धि' से पूछा—'देवप्रिय ! तुम मेरे आदेश से अनेक राज्यों में गये और अनेक उत्सवों में शरीक हुए । तुमने अन्य किसी स्थान पर इस प्रकार का उत्तम श्रीदामगंड देखा है ?' सुबुद्धि ने कहा—“स्वामिन् ! आपकी आज्ञा से एक बार मैं मिथिला गया था । उस समय वहाँ राजकन्या मल्लि की बर्ष गाँठ मनाई जा रही थी । वहाँ मैंने जो श्रीदामगंड देखा, वह अपूर्व था । आपका यह श्रीदामगंड तो उसके लाखवें अंश में भी नहीं आता ।” महामात्य की यह बात सुन कर राजा ने पूछा—'देवप्रिय ! जिस राजकुमारी का श्रीदामगंड इतना उत्तम है, तो वह स्वयं कौसी है ?' “स्वामिन् ! राजकुमारी मल्लि, विश्वभर में अपूर्व एवं अनुपम सुन्दरी है । उसकी सुन्दरता की बराबरी विश्व की कोई भी सुन्दरी नहीं कर सकती ।” महामात्य के शब्दों ने प्रतिबुद्ध के मोह को जाग्रत कर दिया । उसका पूर्व स्नेह जाग्रत हुआ । उसने अपने दूत को, राजकन्या मल्लि की याचना करने के हेतु मिथिला नरेश के पास भेजा । उसने दूत को इतना अधिकार दे दिया था कि 'यदि मल्लि के बदले राज्य भी देना पड़े, तो देदे ।' इस प्रकार पूर्वभव का प्रथम मित्र आकर्षित हुआ ।

अरहन्नक श्रावक की दृढ़ता

(२) महात्मा धरणिजी के अवतरण और आकर्षण की कथा इस प्रकार है । अंगदेश की चम्पानगरी में 'चन्द्रच्छाया' राजा राज करता था । वहाँ अरहन्नक आदि अनेक व्यापारी रहते थे । वे सभी सम्मिश्रित रूप से नौका द्वारा विदेशों में व्यापार करते थे । अर-

हृन्नक श्रमणोपासक, जीव अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का रसिक था। उसकी रग-रग में जिनधर्म के प्रति पूर्ण अनुराग बसा हुआ था। किसी समय वे व्यापारी जहाज में माल भरकर विदेश जाने के लिए रवाना हुए। जब उनका जहाज सैकड़ों योजन चला गया, तब वहाँ एक उपद्रव खड़ा हुआ। अकाल में गर्जना, विद्युत् चमत्कार आदि कुलक्षणों के बाद वहाँ एक काले वर्ण वाला भयंकर पिशाच प्रकट हुआ। उसका शरीर बहुत लम्बा था। उसके अंगोपांग डरावने थे। उसकी देह पर सर्पादि भयंकर जंतु लिपटे हुए थे। उसका भयानक रूप देख कर जहाज के यात्री, मारे भय के धूँजे लगे और एक दूसरे से चिपटने लगे। वे अपनी रक्षा के लिए इन्द्र, स्कन्ध, रुद्र, वैश्रमण, नाग, भूत, यक्षादि को मनाने लगे। उनमें एक मात्र अरहन्नक श्रमणोपासक ही ऐसा था—जो उस पिशाच से बिल्कुल नहीं डरा, किंतु सावधान हो कर मृत्यु सुधारने की तय्यारी शुरू कर दी। उसने अरिहंत भगवान् को नमस्कार कर के सागरी अनशन कर लिया और ध्यान लगा कर बैठ गया। वह ताल जैसा लम्बा पिशाच, अरहन्नक श्रावक के पास आया और उसे सम्बोधित हुए बोला—“अरहन्नक! मैं आज इस जहाज को ऊँचा आकाश में ले जाऊँगा और वहाँ से ओढ़ा कर दूँगा, जिससे तुम सभी यात्री समुद्र में डूब कर अकाल में ही मौत के शिकार बन जाओगे और आत्तं ध्यान करते हुए दुर्गति में जाओगे। इस महा संकट से बचने का केवल एक ही रास्ता है और वह यह है कि ‘तू अपने धर्म, अपने व्रत और अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दे।’ महानुभाव अरहन्नक समझ गया कि ‘यह कोई दुष्टमति देव है।’ उसने अपने मन से ही उत्तर दिया कि—“मैं श्रमणोपासक हूँ। चाहे पृथ्वी ही उलट जाय, सागर रसातल में चला जाय, या मेरा यह शरीर छिन्न-भिन्न कर दिया जाय, मैं धर्म से भिन्न नहीं हो सकता—मुझ से धर्म नहीं छोड़ा जा सकता। तू तेरी इच्छा हो सो कर।” इस प्रकार मन से ही उत्तर दे कर वह ध्यानस्थ हो गया। पिशाच ने उसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा, किन्तु अरहन्नक ने उधर ध्यान ही नहीं दिया। अपने प्रश्न का उत्तर नहीं पा कर पिशाच क्रुद्ध हुआ और जहाज को उठा कर अन्तरिक्ष में ले गया। आकाश में अपनी उँगलियों पर जहाज रखे हुए पिशाच ने फिर वही प्रश्न किया, किन्तु वह वंदनीय श्रमणोपासक, सर्वथा अचल रहा। देव ने समझ लिया कि अरहन्नक पूर्ण दृढ़ एवं अचल है। यह कदापि चलित नहीं हो सकता। उसने धीरे-धीरे जहाज को नीचे उतारा और समुद्र पर रख दिया। पिशाच का रूप त्याग कर देव, अपने असली रूप में आ कर अरहन्नक श्रावक के पैरों में पड़ा और कहा कि—“देवप्रिय! तुम धन्य हो। देवाधिपति इन्द्र ने तुम्हारी धर्म दृढ़ता की प्रशंसा की थी। किंतु मुझे उस पर विश्वास नहीं हुआ। अब मैंने प्रत्यक्ष

देख लिया है। वास्तव में आप दृढ़-धर्मी हैं। मैं आपसे अपने अपराध की अमा माँगता हूँ।” इस प्रकार प्रशंसा कर और दो जोड़ी दिव्य कुण्ड दे कर देव चला गया।

कालान्तर में व्यापारियों का वह सार्थ, मिथिला आया और कुंभराजा को दिव्य कुण्डल सहित मृत्यवान् नजराना (भेंट) किया। मिथिलेश ने वे दिव्य कुण्डल, राजकुमारी मल्लि को उसी समय दिये और अरहन्तकादि व्यापारियों का सम्मान किया, तथा उनके व्यापार पर का कर माफ कर दिया। वहाँ बेचने योग्य वस्तुएँ बेच कर और नया माल खरीद कर वे व्यापारी लौट कर चम्पानगरी में आये और “चन्द्रछाया” नरेश को दूसरे दिव्य कुण्डल की जोड़ी सहित नजराना किया। अंगदेशाधिपति ने अरहन्तकादि से पूछा—“आप कई देशों में घुम आये। कहीं कोई ऐसी वस्तु देखी कि जो अन्यत्र नहीं हो और आश्चर्य-कारी हो?” अरहन्तक ने कहा—“स्वामिन् ! हमने मिथिला नगरी में राजकुमारी मल्लि को देखा है। वास्तव में वह त्रिलोक-सुन्दरी है। वैसा रूप, विश्व की किसी भी सुन्दरी में नहीं है।” व्यापारियों के निमित्त से चन्द्रछाया का मोह जाग्रत हुआ और उसने भी अपना दूत, मल्लिकुमारी की याचना के लिए मिथिला भेजा।

(३) भगवान् मल्लिनाथ के पूर्वभय के मित्र महात्मा पूरणजी, जयन्त नाम के अनुत्तर विमान में च्यव कर, कृणाल देश की सावत्थी नगरी में, ‘रूपी’ नाम के कुणाला-धिपति नरेश हुए। उनके ‘सुबाहु’ नाम की सुन्दरी नवयौवना पुत्री थी। एक बार राज-कुमारी सुबाहु के चातुर्मासिक स्नान का उत्सव मनाया गया। शहर के मध्य में एक भव्य पुष्प-मंडप तय्यार किया और उसके मध्य में एक पुष्प निर्मित श्रीदामगण्ड’ (गेंद या मुद्गर) रखा गया। उत्सव बड़े ही आडम्बरपूर्वक मनाया गया। राजा बड़े भारी जुलूस से, अन्तःपुर व राजकुमारी के साथ, उस भव्य मण्डप में आया और राजकुमारी का स्ना-नोत्सव किया। राजा की दृष्टि में वह उत्सव बहुत ही महत्वपूर्ण एवं अपूर्व था उसने अपने वर्षघर = अन्तःपुर रक्षक से पूछा—“देवप्रिय ! तुम मेरी आज्ञा से अनेक देशों और राज-धानियों में गये और अनेक उत्सव देखे, किन्तु जैसा स्नानोत्सव यहाँ हो रहा है, वैसा अन्यत्र कहीं तुम्हारे देखने में आया?” वर्षघर ने कहा—“स्वामिन् ! एक बार मैं आपकी आज्ञा से मिथिला गया था। वहाँ विदेह राजकुमारी मल्लि का स्नानोत्सव मैंने देखा था। वह उत्सव इतना भव्य और उत्कृष्ट था कि जिसके आगे आपका यह उत्सव बिल्कुल फीका और निस्तेज लगता है।” बस, राजा के स्नेह को जाग्रत करने का निमित्त मिल गया। उसने भी अपना दूत मिथिलाधिपति के पास, मल्लि की याचना के लिए भेजा।

(४) अरहन्तक श्रमणोपासक ने जो दिव्य कुण्डल जोड़ी, मिथिलेश को भेंट की थी और जिसे भगवती मल्लिक कुमारी धारण करती थी, उस कुण्डल की संघी टूट गई। स्वर्णकारों ने उसे जोड़ने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह जुड़ नहीं सकी। क्योंकि वह देव-निर्मित कुण्डल था। उसको जोड़ने की शक्ति मनुष्य में कहीं? उन्होंने महाराजा से निवेदन किया—‘यदि आज्ञा हो, तो हम इस कुण्डल जैसे ही दूसरे कुण्डल बना सकते हैं, किन्तु इसे जोड़ने की शक्ति हम में नहीं है। हमने बहुत परिश्रम किया, किन्तु यह हम से नहीं जुड़ सका।’ नरेन्द्र कुपित हुए। उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा—‘तुम कैसे कलाकार हो! तुम से एक कुण्डल की संघी भी नहीं जुड़ सकी। इस प्रकार के कलाविहीन लोग हमारे देश के लिए कलंक रूप हैं। जाओ निकलो—इस राज्य से! तुम्हारे जैसे ठोंगियों की (जो कलाविहीन हो कर भी अपने को उत्कृष्ट कलाकार बतलाते हैं) यहाँ जरूरत नहीं है। हमारा देश छोड़ कर निकल जाओ।’ स्वर्णकारों को देश निकाला हो गया। वे अपने-अपने कुटुम्ब और सर-सामान ले कर और विदेह देश छोड़ कर काशी देश की वाराणसी नगरी में आये। उस समय वहाँ ‘शंख’ नाम का नरेश राज करता था। वह सम्पूर्ण काशी देश का अधिपति था। ये शंख नरेश, महामुनि महाबलजी के अनुगामी ‘वसु’ नाम के महात्मा थे और अनुत्तर विमान से च्यव कर आये थे। स्वर्णकारों का संघ, बहुमूल्य भेंट ले कर काशी नरेश की सेवा में उपस्थित हुआ। उन्होंने भेंट समर्पित कर के निवेदन किया—

“स्वामिन्! हमें विदेह देश से निकाला गया। हम आपकी शरण में आये हैं। हमें आश्रय प्रदान कीजिए।”

“विदेहराज ने तुम्हें देश निकाला क्यों दिया?”—राजेन्द्र ने पूछा।

“नराधिपति! विदेहराजकुमारी मल्लिक के कुण्डलों की संघी टूट गई थी। हम उस संघी को जोड़ नहीं सके। इसलिए कुपित हो कर मिथिलेश ने हमें देश निकाला दिया।”

“स्वामिन्! हम कलाकार हैं। अपनी कला में हम निष्णात हैं। किन्तु वह कुण्डल जोड़ी ही अलौकिक थी। उसका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हुआ था। उसकी संघी को मिला देना किसी भी मनुष्य के लिए असंभव है। फिर हम उसे कैसे जोड़ सकते थे? वस यही हमारा अपराध था”—स्वर्णकार संघ के प्रमुख ने कहा।

“ऐसी अपूर्व कुण्डल की जोड़ी है वह? अच्छा यह बताओ कि उन दिव्य कुण्डलों को धारण करने वाली विदेहराज-कन्या कैसी है?”—राजा का प्रश्न।

“स्वामिन्! विदेहराज-कन्या मल्लिककुमारी के रूप, लावण्य और यौवन का हम क्या

वर्णन करें। वह तो अलौकिक सुन्दरी है। उसके समान सौन्दर्य, इस सृष्टि पर दूसरा हो ही नहीं सकता। उसकी बराबरी तो देव-कन्याएँ भी नहीं कर सकती”—स्वर्णकारों ने कहा।

राजा का मोह भड़का। स्वर्णकारों को विदा करने के बाद राजा ने अपने दूत को बुला कर मल्लिकुमारी की याचना के लिए, मिथिला नरेश के पास भेजा।

(५) भगवती मल्लिकुमारी के एक छोटा भाई था, जिसका नाम “मल्लिदिन्न” था। उसने एक चित्रशाला (रंगशाला=विलास-भवन) बनवाया। कलाकारों ने उसमें अनेक प्रकार के विलासजन्य सुन्दर चित्र बनाये। एक चित्रकार को चित्रकारी की लब्धि प्राप्त थी। उस लब्धि के प्रभाव से उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि किसी के शरीर का जरासा भी हिस्सा देख लेता, तो वह उसके सारे शरीर का यथातथ्य चित्र बना सकता था। उसने एक बार मल्लिकुमारी का पाँव का अंगूठा पर्व की जाली में से देख लिया था। उस पर से मल्लिकुमारी का पूरा रूप उसके ध्यान में आ गया। उसने सोचा कि ऐसी अपूर्व सुन्दरी का चित्र बनाने से राजकुमार बहुत प्रसन्न होंगे। इस प्रकार मिथ्या अनुमान लगा कर उसने राजकुमारी मल्लि का चित्र बना दिया। जब चित्रशाला पूर्ण रूप से तय्यार हो गई, तो मल्लिदिन्न युवराज, अपनी रानियों के साथ उसे देखने को आया। उसकी धात्रि-माता भी साथ ही थी। वह हावभाव और विलास पूर्ण चित्र देखता हुआ जब मल्लिकुमारी के चित्र के पास आया और उस पर उसकी दृष्टि पड़ी, तो एक बारगी वह पीछे हट गया। उसे आश्चर्य हुआ कि “पूज्य बहिन यहाँ क्यों आई?” युवराज को विस्मयपूर्वक पीछे हटता हुआ देख कर धायमाता ने पूछा—‘पुत्र ! पीछे क्यों हटे?’ युवराज ने कहा—‘माता ! यह लज्जा की बात है कि मेरे देव और गुरु के समान पूज्या ज्येष्ठ भगिनी यहाँ उपस्थित है।’ धात्रि ने कहा—‘पुत्र ! तुम भ्रम में हो, यहाँ मल्लिकुमारी नहीं है। यह तो उनका चित्र है।’ मल्लिदिन्नकुमार सावधान हुआ, उसे विश्वास हो गया कि वास्तव में यह चित्र ही है। अब वह चित्रकारों पर क्रुद्ध हुआ। उसने कहा—‘ऐसा कौन नीच चित्रकार है, जिसने मेरे विलास-भवन में मेरी देव-गुरु तुल्य पूजनीय बहिन का चित्र बनाया।’ उसने क्रोध में ही उस चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी। युवराज की कठोर आज्ञा सुन कर सभी चित्रकार उपस्थित हुए और उस चित्रकार के प्राणों की याचना करने लगे। राजकुमार ने उसके वध के बदले उसका अंगूठा कटवा कर देश निकाला दे दिया। देश-निकाला पाया हुआ, वह अंगुष्ठ विहीन चित्रकार, कुरु जनपद के हस्तिनापुर नगर में आया और विदेह राजकुमारी मल्लि का साक्षात् सदृश चित्र बना कर वहाँ के ‘अदीनशत्रु’ राजा को भेंट

किया और निवेदन किया--

“स्वामिन् ! मैं चित्रकार हूँ । मुझे चित्रकारी की ऐसी विद्या प्राप्त है कि किसी भी वस्तु का कोई भी हिस्सा देख लूँ तो उसका पूरा--साक्षात्-सदृश्य रूप बना दूँ । इसी चित्र के कारण विदेह के युवराज ने मेरा अंगूठा कटवा कर मुझे निर्वासित किया है । अब मुझे आप अपनी छत्र-छाया में शरण दीजिए ।” महाराज अदीनशत्रु भी, राजकुमारी मल्लिक के पूर्वभक्त के मित्र, मुनिराज वैश्रमणजी थे और विजय नाम के अनुत्तर विमान की कुछ कम ३२ सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के आये थे । राजकुमारी मल्लिक के उस चित्र ने राजा को आकर्षित किया और उसने भी अपना दूत मिथिला की ओर भेजा ।

चोक्खा का पराभव

(६) मिथिला में एक ‘चोक्खा’ नाम की परिव्राजिका थी । वह चारों वेद और अनेक शास्त्रों में पंडिता थी । दान, तीर्थाभिषेक और शुचि मूल धर्म का प्रचार करती हुई वचरती थी । एक बार वह अपनी शिष्याओं के साथ विदेह-राजकन्या के पास आई और भूमि पर पानी छिड़क कर उस पर अपना आसन बिछा कर बैठ गई । परिव्राजिका ने अपने दानादि धर्म का उपदेश दिया । भगवती मल्लिकुमारी ने परिव्राजिका से पूछा--

“तुम्हारे धर्म का मूल क्या है ?”

“हमारे धर्म का मूल शुचि है । शौच मूल धर्म का पालन करने से जीव स्वर्ग में जाता है” —परिव्राजिका ने कहा ।

“चोक्खे ! रक्त रंजित वस्त्र को यदि रक्त से ही धोया जाय, तो उसकी शुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार प्राणातिपातादि अठारह पाप करने से आत्मा के कर्म-बन्धन नहीं छूटते । तुम्हारा मार्ग, आत्मा की शुद्धि का नहीं, किन्तु बन्ध का है । तुम्हारे ऐसे प्रचार से कोई लाभ नहीं होता ।”

इस प्रकार भगवती मल्लिकुमारी के प्रभावशाली एवं अर्थ-गांभीर्य वचनों से चोक्खा निरुत्तर हो कर प्रभावहीन बन गई । उसका चेहरा उतर गया । उसकी ऐसी दशा देख कर राजकन्या की दासियाँ, चोक्खा का उपहास करने लगी । चोक्खा अपने इस अपमान को सहन नहीं कर सकी । उसके मन में राजकुमारी के प्रति वैरभाव उत्पन्न हो गया । वह वहाँ से निकल कर पांचाल देश के कंपिलपुर नगर में आई । वहाँ जितशत्रु राजा राज करता था ।

वह पांचाल जनपद का अधिपति था। जितशत्रु नरेश भी भगवती मल्लिकुमारी के पूर्वभ्रव के मित्र थे। उनका नाम अभिचन्द्र मुनि था। वे भी अनुत्तर-विमान से च्यव कर आये थे। चोक्खा वहाँ अपने धर्म का प्रचार करने लगी। एकदा राजा, अपनी एक हजार रानियों के साथ अन्तःपुर में था, तब चोक्खा परिव्राजिका वहाँ पहुँची। राजा और रानियों ने उसका आदर-सत्कार किया। धर्मोपदेश के पश्चात् राजा ने चोक्खा से पूछा—“आप अनेक राजाओं के अन्तःपुर में जाती हैं, किन्तु मेरे अन्तःपुर की रानियों के समान रूप-सौन्दर्य आपने और कहीं देखा है?” राजा की बात सुन कर चोक्खा हँसी और बोली—

“राजन् ! तुम कूप-मंडुक के समान हो। जिस प्रकार कूँ में रहा हुआ मेंढक, अपने कूँ को ही सबसे बड़ा मान कर समुद्र की बड़ाई नहीं जानता, उसी प्रकार तुम अपनी रानियों में ही संसार का समस्त सौन्दर्य देखते हो। किन्तु तुम्हें मालूम नहीं है कि मिथिलेशनन्दिनी राजकुमारी मल्लि के सौन्दर्य के सामने तुम्हारी सभी रानियाँ फीकी हैं। ये उसकी दासी के तुल्य भी नहीं हैं। वह त्रिलोक-सुन्दरी है। कोई देवी भी उसके रूप की समानता नहीं कर सकती।”

चोक्खा, राजा के मोह को भड़का कर चली गई। राजा ने शीघ्र ही दूत को बुलाया और मिथिला भेजा।

छहों दूत मिथिला पहुँचे और विनयपूर्वक मल्लिकुमारी की याचना की। किन्तु मिथिलेश ने सब की माँग ठुकराते हुए उन दूतों से कहा—

“तुम्हारे राजा नादान हैं, मूर्ख हैं। वे नहीं समझते कि हम पामर प्राणी किस अलौकिक आत्मा पर अपना मन बिगाड़ रहे हैं। जो महान् आत्मा, इन्द्रों से भी पूज्य है, उसके प्रति उन राजाओं का मोहभाव धिक्कार के योग्य है। तुम जाओ और अपने स्वामियों से कहो कि वे अपना दुःसाहस छोड़ दें।”

युद्ध और अवरोध

इतना कहकर दूतों को अपमानपूर्वक निकाल दिया। वे दूत अपनी-अपनी राजधानी पहुँच कर अपने स्वामियों को मिथिलेश का उत्तर सुनाया। दूतों की बात सुन कर छहों राजा क्रोधित हुए और एक-दूसरे से दूत द्वारा परामर्श कर के मिथिलेश से युद्ध करने को तत्पर हो गये। छहों राजाओं की विशाल सेनाएँ विदेह देश की ओर बढ़ीं। उधर विदेहा-

धिपति भी शत्रु-सैन्य का आगमन सुन कर, अपनी सेना के साथ, अपने देश की सीमा पर आ धमके। भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में छहों राजा एक ओर थे। उनकी शक्ति भी विशाल थी और कुंभराजा अकेले थे। मिथिलेश की हार हुई। उन्होंने विदेह का मोर्चा छोड़ दिया और मिथिला नगरी में आ कर उसके किले के द्वार बन्द करवा दिये। छहों राजाओं ने मिथिला के बाहर घेरा डाल दिया।

मित्रों को प्रतिबोध

कुंभ राजा, छहों राजाओं से बचाव के उपाय ढूँढने लगे। उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। वे इसी चिंता में बैठे थे कि भगवती मल्लिकुमारी ने आ कर पिता की चरण-बंदना की। राजा चिंतातुर थे। उन्होंने कुमारी का आदर नहीं किया। पूछने पर राजेन्द्र ने कहा—“पुत्री ! तेरे ही कारण यह संकट उत्पन्न हुआ है इस संकट से बचने का मुझे कोई उपाय दिखाई नहीं देता। मैं इसी चिंता में बैठा हूँ।”

पिता की बात सुन कर राजकुमारी ने कहा—

“तात ! आप चिंता नहीं करें और छहों राजाओं को भिन्न-भिन्न दूत के द्वारा कहलाइये कि “हम अपनी कन्या आपको देंगे। आप चुपचाप रात के समय यहाँ आ जावें।” इस प्रकार छहों राजाओं को गर्भ-गृह में पृथक्-पृथक् रखिये और मिथिला के द्वार बन्द ही रख कर, उस पर कड़ा पहरा रख दीजिए। इसके बाद मैं सब सम्हाल लूँगी।”

मिथिलेश को यह सलाह अच्छी लगी। उन्होंने सोचा होगा—“राजकुमारी कितनी चतुर है। इस प्रकार सहज ही मैं छहों शत्रुओं को अधिकार में कर लिया जायगा। फिर तो संकट टला ही समझो।” उन्होंने शीघ्र ही प्रबन्ध किया। छहों नृपति, कुंभ नरेश का सन्देश पा कर बहुत प्रसन्न हुए और समझे कि “हमें ही राजकन्या मिलेगी।” वे प्रसन्नता पूर्वक चले आये • ।

† ज्ञातासूत्र में युद्ध होने का उल्लेख है, किन्तु 'त्रिशष्टि-शलाका पुरुष चरित्र' में केवल मिथिला नगरी को घेरा डालने का ही उल्लेख है।

• इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय शत्रु की बात पर भी विश्वास किया जाता था। व्यवहार में झूठ ने इतना स्थान नहीं बना लिया था—जितना वर्तमान में है। आज सत्य-प्रियता बहुत घट गई है।

प्रातःकाल छहों राजाओं ने अपने-अपने कमरों में से जालघर में स्थापित की हुई राजकन्या की स्वर्णमयी प्रतिमा देखी। उन्हें विश्वास हो गया कि 'यही राजकन्या है।' वे उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गए और एकटक देखते रहे। इधर मल्लिकुमारी वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर, अपनी दासियों और अंतःपुर-रक्षकों के साथ जालघर में आई और प्रच्छन्न रह कर मूर्ति के मस्तक का ढक्कन खोल दिया। फिर क्या था, उसमें से विरी हुई महान् असह्य दुर्गन्ध एकदम बाहर निकली और सारे भवन को भर दिया। वे मदान्ध राजा, उस दुर्गन्ध को सहन नहीं कर सके और अपनी नाक बन्द कर ली। उनकी यह दशा देख कर भगवती मल्लिकुमारी ने उनसे पूछा—

“अहो विषयान्ध प्रेमियों ! थोड़ी देर के पहले तो आप सब एकटक मेरी प्रतिमा को देख रहे थे। अब नाक बन्द कर के घृणा कर रहे हो ?”

—“हमें आपका सौन्दर्य तो प्रिय है, किन्तु इस असह्य दुर्गन्ध को हम सहन नहीं कर सकते। इससे बचने के लिए हमने अपनी नासिका बन्द की है। हम घबरा रहे हैं”—
छहों राजाओं ने कहा।

“हे मोहाभिभूत नरेशों”—भगवती मल्लिकुमारी ने उन मोहान्ध राजाओं को सम्बोधित करते हुए, उनके मोह के नशे को उतारने के उद्देश्य से कहा—“यह प्रतिमा मेरे ही रंग रूप जैसी है, फिर भी यह स्वर्ण निर्मित है—हाड़, मांस और रक्तादि इसमें नहीं है। मैंने इसमें उसी सुस्वादु और उत्तम भोजन के निवाले डाले हैं, जिन्हें मैं खाती थी। जब उत्तम स्वर्णमयी प्रतिमा में आहार का ऐसा अशुभतर परिणाम होता है, तो हाड़, मांस, रक्त, वात, पित्त, कफ और विष्ठादि अशुभ पुद्गलों वाले सड़न, पड़न और विध्वंशन शील, इस देह का क्या परिणाम हो सकता है ?”

“महानुभावों ! सोचो, समझो और कामभोग की आसक्ति को छोड़ो। ये भोग तुम्हें अच्छे लगते हैं, किन्तु इनका परिणाम महान् भयानक होता है। भोग, रोग, शोक और दुर्गति का देने वाला तथा जन्ममरण बढ़ाने वाला होता है।”

“आत्म बन्धुओं ! अज्ञान को छोड़ो और विचार करो। अपन सभी पूर्वभव के साथी हैं। इस भव से पूर्वतीसरे भव में, हम सब अपर महाविदेह के 'सलीलावती विजय' में 'महाबल' आदि सात बाल-मित्र थे। बचपन से साथ ही रहे थे। हम सभी ने साथ ही संसार छोड़ कर संयम स्वीकार किया था। किन्तु मैं मायापूर्वक तप बढ़ाती रही। इस मायाचारिता के कारण मैंने स्त्री नाम-कर्म का बन्ध किया। वहाँ से हम सभी आयुष्य पूर्ण

कर के जयंत विमान में उत्पन्न हुए। हम सब ने वहाँ अपने मन से ही आपस में संकेत किया था कि “मनुष्य होने पर एक दूसरे को प्रतिबोध देंगे। बन्धुओं ! याद करो, अपनी स्मृति को एकाग्रता पूर्वक पिछले भव की ओर लगाओ। तुम्हें सब प्रत्यक्ष दिखाई देगा।”

—वे सभी एकभवावतारी, हलुकर्मी एवं संकेत मात्र से समझने वाले थे। भगवती मल्लिकुमारी का उद्बोध, उन सब के हृदय में पैठ गया। सब ने शुभ परिणाम से उपयोग लगाया। कमजोर आवरण खिसक गये और जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हो गया। उन सब राजाओं ने अपने पूर्वभव और पारस्परिक सम्बन्ध देखे। गर्भगृह का द्वार खुल गया। छहों नरेन्द्र, द्रव्य अरिहंत भगवान् मल्लिनाथ के समीप उपस्थित हुए—पूर्वभव के सातों मित्र मिले। भगवान् मल्लिनाथ ने अपने मित्रों से कहा।

“मैं तो संसार का त्याग करना चाहती हूँ। तुम्हारी क्या इच्छा है?”

—“हम भी आपके साथ ही संसार छोड़ेंगे। अब संसार में रह कर हम क्या करेंगे। हमें भी संसार में कोई रुचि नहीं है जिस प्रकार पिछले तीसरे भव में आप हमारे नेता थे, उसी प्रकार अब भी हमारे नेता ही रहेंगे”—सभी मित्रों ने कहा।

—“अच्छा तो पहले अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित करो, फिर यहाँ आओ। अपन सब एक साथ ही दीक्षित होंगे”—अरिहंत ने कहा।

छहों राजा, कुंभराजा के पास आये और उनके चरणों में झुके। कुंभराजा ने सभी का आदर-सत्कार कर के बिदा किया।

वर्षादान

लोकान्तिक देवों का आसन कम्पायमान हुआ और उन्होंने अपने ज्ञान में देखा कि अर्हन्त मल्लिनाथ के निष्क्रमण का समय निकट आ गया है। वे भगवान् के पास आये और परम विनीत एवं मृदु शब्दों में निवेदन किया—

“बुद्धाहि भगवं ! लोगणाहा, पवत्तेहि धम्मतित्थं ।

जीवाणं हियसुहणिस्सेयस करं भविस्सई ।”

—“भगवन् ! बूझो। हे लोकनाथ ! जीवों के हित-सुख और मुक्ति-दायक धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करो।”

इस प्रकार दो-तीन बार निवेदन करके और भगवान् को प्रणाम कर के लौट गये।

अरिहंत मल्लिनाथ भगवान् ने निश्चय किया कि 'मैं एक वर्ष बाद संसार का त्याग कर दूंगा।' भगवान् का अभिप्राय जान कर प्रथम स्वर्ग के अधिपति देवेन्द्र शक्र ने 'वर्षीदान' की व्यवस्था करवाई। अर्हन्त भगवान्, नित्य प्रातःकाल एक करोड़ आठ लाख सोने के सिक्कों का दान करने लगे। उधर मिथिलेश ने भी दानशाला चालू कर दी, जिसमें याचकों को सम्मानपूर्वक आहारादि का दान दिया जाने लगा। इस प्रकार एक वर्ष में तीन अरब, अठासी करोड़ अस्सी लाख सोने के सिक्कों का दान किया।

भगवान् ने मातापिता के सामने अपने महाभिनिष्क्रमण की इच्छा व्यक्त की। मातापिता तो जानते ही थे। उन्होंने सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी और महोत्सव प्रारंभ किया। भगवान् के महाभिनिष्क्रमण महोत्सव में देवेन्द्र भी उपस्थित हुए। भव्य महोत्सव मनाया गया। भगवान् को शिविका को उठाने में बलेन्द्र, चमरेन्द्र, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र ने भी योग दिया।

भगवान् ने पीष * शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में, दिन के पूर्व-भाग में तेले के तप सहित स्वयं पंच-मुष्टि लोच किया और सिद्धों को नमस्कार कर के स्वयं सामायिक चारित्र ग्रहण किया। आपके साथ ३०० स्त्रियों, ३०० पुरुषों और ८ राजकुमारों ने दीक्षा ली। भगवान् को उसी समय 'विपुलमति मनःपर्यवज्ञान' उत्पन्न हो गया और उसी दिन शाम को उन्हें केवलज्ञान एवं केवलदर्शन भी प्राप्त हो गया +। वे द्रव्य-तीर्थंकर से भाव-तीर्थंकर हो गये। इसके बाद भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार चालू की—

धर्मदेशना—समता

भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने प्रथम उपदेश में 'समता' का महत्व बतलाते हुए फरमाया कि—

'यह संसार अपने-आप में अपार होते हुए भी जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार रागादि से विशेष बढ़ता रहता है। इस वृद्धि का मूल कारण है—

+ त्रि. श. पु. च. और आवश्यक में मार्गशीर्ष शु. ११ का उल्लेख है और 'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' भाग ६ में भी ऐसा ही है। किन्तु यह सूत्रानुसार नहीं है।

* आवश्यक भाष्य गा. २६१ और टीका में छद्मस्थकाल 'अहोरात्रि' का लिखा। जैन सिद्धांत बोल संग्रह भा. ६ पु. १८५ में भी ऐसा ही है। यह शातासूत्र से विपरीत है।

समता का अभाव । जहाँ समता है, वहाँ संसार की वृद्धि नहीं है । जो प्राणी उत्तरोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले समता रूपी जल में स्नान करता है, उसके राग-द्वेष रूप मल तत्काल धुल जाते हैं । प्राणी, जिन कर्मों को कोटी जन्म तक तीव्र तप का आचरण कर के भी नष्ट नहीं कर सकता, उन कर्मों को समता का अवलम्बन कर के आधे क्षण में ही नष्ट कर देता है । जीव और कर्म—ये दोनों आपस में मिल कर एकमेक हो गए हैं । इन्हें ज्ञान के द्वारा जान कर आत्मनिश्चय करने वाला साधु पुरुष, सामायिक रूपी सलाई से पृथक्-पृथक् कर देता है । योगी पुरुष सामायिक रूपी किरण से रागादि अन्धकार का विनाश कर के अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करते हैं ।

जिन प्राणियों में स्वार्थ के कारण नित्य वैर—जाति वैर होता है, वे प्राणी भी समता के सागर ऐसे महान् संत पुरुष के प्रभाव से परस्पर स्नेह से रहते हैं ।

समता उसी विशिष्ट आत्मा में निवास करती है, जो सचेतन या अचेतन—ऐसी किसी भी वस्तु में इष्ट अनिष्ट = अच्छे-बुरे का विचार कर के मोहित नहीं होती । कोई अपनी भुजाओं पर गोशीर्ष चन्दन का लेप करे, या तलवार से काट डाले, तो भी जिसकी मनोवृत्ति में भेद उत्पन्न नहीं होता, उसी पुरुष में अनुपम समता के दर्शन होते हैं । स्तुति करने वाले, प्रशंसा करने वाले अथवा प्रीति रखने वाले पर और क्रोधान्ध, तिरस्कार करने वाले या गालियाँ देने वाले पर जिस महानुभाव का चित्त समान रूप से रहता है, उस पुरुष में ही समता का निवास रहता है ।

जिसने मात्र समता का ही अवलम्बन लिया है, उसको किसी प्रकार के होम, जप और दान की आवश्यकता नहीं रहती । उसको समता से ही परम निवृत्ति = मोक्ष प्राप्ति हो जाती है ।

अहा ! समता का कितना अमूल्य लाभ ! बिना प्रयत्न ही शान्ति के ऐसे महान् लाभ को छोड़ कर प्रयत्न-साध्य और क्लेशदायक ऐसे रागादि की उपासना क्यों करनी चाहिए ? बिना प्रयत्न के सहज प्राप्त ऐसी मनोहर सुखकारी समता ही धारण करनी चाहिए । स्वर्ग और मोक्ष तो परोक्ष होने के कारण गुप्त है, किन्तु समता का सुख तो स्वसंवेद्य = खुद के अनुभव का होने से प्रत्यक्ष है । यह किसी से छुपाया नहीं जा सकता ।

कवियों के कहने से रूढ़ बने हुए अमृत पर मोहित होने की आवश्यकता ही क्या है ? जिसका रस खुद के अनुभव में आ सकता है, ऐसे समता रूपी अमृत का ही निरन्तर पान

करना चाहिए । जो आत्मारथी मुनिजन खाद्य, लेह्य, चुष्य और पेय--इन चार प्रकार के रस से विमुख हैं, वे समता रूपी अमृत-रस को वारंवार पीते रहते हैं । उनके कंठ में कोई सर्प डाल दे और कोई मन्दार वृक्ष (एक उत्तम सुगन्धित वृक्ष) की माला पहिना दे, तो भी उनके मन में हर्ष-शोक अथवा प्रीति-अप्रीति नहीं होती । वे ही वास्तव में समता रूपी सुन्दरी के शक्तिशाली पति--स्वामी हैं ।

समता न तो गूढ़ (समझ में नहीं आने योग्य) है, न किसी से हटाई जा सकती है और इसकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है । चाहे अज्ञानी (विशेष ज्ञान रहित) हो, या बुद्धिमान् हो, यह समतारूपी औषधी दोनों को संसार रूपी रोग से मुक्त करने वाली है ।

अत्यन्त शांत रहने वाले योगियों में भी एक क्रूर कर्म ऐसा रहा हुआ है कि जो समतारूपी शस्त्र से, रागादि दोषों के कुल का नाश कर देता है । । समता का परम प्रभाव तो यही है कि इसके द्वारा पापीजन भी आधे क्षण में शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं ।

जिसके सद्भाव से ज्ञान, वर्णन, और चारित्र्य ये तीनों रत्न सफल होते हैं और जिसकी अनुपस्थिति में ज्ञानादि तीनों रत्न निष्फल हो जाते हैं, ऐसे महाकामी समता गुण से सदा कल्याण ही कल्याण है । जब उपसर्ग आ गये हों, अथवा मृत्यु प्राप्त हो रही हो, तब तत्काल करने योग्य श्रेष्ठ उपाय एक मात्र समता ही है । इससे बढ़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

जिन्हें राग-द्वेष को जीतना है, उन्हें एक समता को ही धारण करना चाहिए, जो मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज है और अनुपम सुख देने वाली है ।"

छहों राजा भी भगवान् के पास दीक्षित हुए और भगवान् के मातापिता ने देश-विरति स्वीकार की ।

भगवान् के शिष्य आदि २८ गणधर हुए । ४०००० साधु, ५५००० साध्वियाँ, ६०० चौदह पूर्वधर + २००० अवधिज्ञानी, ८०० मनःपर्यवज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ३५०० वैक्रिय लब्धिधारी, १४०० वाद लब्धि वाले, २००० अनुत्तरोपपातिक १८४००० श्रावक और ३६५००० श्राविकाएँ थी ।

भगवान् ५४९०० वर्ष तक तीर्थंकर नाम कर्म के उदयानुसार विचर कर धर्मोपदेश

+ त्रि. श. पु. च. में संख्या भेद इस प्रकार है--६६८ चौदह पूर्वधर, २२०० अवधिज्ञानी, १७५० मनःपर्यवज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, २९०० वैक्रिय लब्धि वाले, १४०० वादलब्धि वाले, १८३००० श्रावक और ३७०००० श्राविकाएँ थी ।

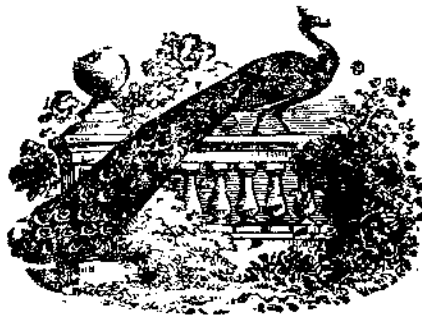
बैते रहे । फिर निर्वाण समय निकट जान कर ५०० साधु और ५०० साध्वियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर चढ़ कर अनशत किया । एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला ४ ● भरणी नक्षत्र में मोक्ष पधारे । आपको कुल आयु ५५००० वर्ष की थी ।

उन्नीसवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ मल्लिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

प्रथम भाग समाप्त



● त्रि. श. पु. च. और 'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' भा. ६ के अनुसार फाल्गुन शु. १२ ।

परीशिष्ट

तीर्थंकर भगवन्तों का विवरण

तीर्थंकर नाम	नगर	पिता	माता	च्यवनतिथि	जन्म-तिथि
ऋषभदेवजी	इक्ष्वाकु भूमि	नाभि	मरुदेवा	आषाढ़ कृ. १४	चैत्र कृ. ८
अजितनाथजी	अयोध्या	जितशत्रु	विजया	वैशाख शु. १३	माघ शु. ८
संभवनाथजी	श्रावस्ती	जितारी	सेना	फाल्गुन शु. ८	मार्गशीर्ष शु. १४
अभिनन्दनजी	अयोध्या	संवर	सिद्धार्थ	वैशाख शु. ४	माघ शु. २
सुमतिनाथजी	अयोध्या	मेघ	मंगला	श्रावण शु. २	वैशाख शु. ८
पद्मप्रभःजी	कौशांबी	धर	सुसीमा	माघ कृ. ६	कार्तिक कृ. १२
सुपाश्वन्नाथजी	वाराणसी	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	भाद्रपद कृ. ८	ज्येष्ठ शु. १२
चन्द्रप्रभःजी	चन्द्रपुरी	महासेन	लक्ष्मणा	चैत्र कृ. ५	पौष कृ. १२
सुविधिनाथजी	काकन्दी	सुग्रीव	रामा	फाल्गुन कृ. ९	मार्गशीर्ष कृ. ५
शीतलनाथजी	भद्विलपुर	दृढ़रथ	नन्दा	वैशाख कृ. ६	माघ कृ. १२
श्रेयांसनाथजी	सिंहपुर	विष्णु	विष्णु	ज्येष्ठ कृ. ६	फाल्गुन कृ. १२
वासुपूज्यजी	चम्पा	वासुपूज्य	जया	ज्येष्ठ शु. ९	फाल्गुन कृ. १४
विमलनाथजी	कंपिलपुर	कृतवर्मा	श्यामा	वैशाख शु. १२	माघ शु. ३
अनन्तनाथजी	अयोध्या	सिंहसेन	सुयशा	श्रावण कृ. ७	वैशाख कृ. १३
धर्मनाथजी	रत्नपुर	भानु	सुवता	वैशाख शु. ७	माघ शु. ३
शांतिनाथजी	गजपुर	विश्वसेन	अचिरा	भाद्रपद कृ. ७	ज्येष्ठ कृ. १३
कुंथुनाथजी	गजपुर	शूर	श्री	श्रावण कृ. ९	वैशाख कृ. १४
अरनाथजी	गजपुर	सुदर्शन	देवी	फाल्गुन शु. २	मार्गशीर्ष शु. १०
मल्लिनाथजी	मिथिला	कुंभ	प्रभावती	फाल्गुन शु. ४	मार्गशीर्ष शु. ११
मुनिसुव्रतजी	राजगृही	सुमित्र	पद्मावती	श्रावण शु. १५	ज्येष्ठ कृ. ९
नमिनाथजी	मिथिला	विजयसेन	वप्रा	आश्विन शु. १५	श्रावण कृ. ८
अरिष्टनेमिजी	सोरियपुर	समुद्रविजय	शिक्षा	कार्तिक कृ. १२	श्रावण शु. ५
पाश्वन्नाथजी	वाराणसी	अश्वसेन	वामा	चैत्र कृ. ४	पौष कृ. १०
महावीरस्वामी	कुंडलपुर	सिद्धार्थ	त्रिशला	आश्विन कृ. १३	चैत्र शु. १३

तीर्थंकर नाम	कुमारअवस्था	राज्य काल	दीक्षा तिथि	दीक्षा तप
ऋषभदेवजी	२० लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	चैत्र कृ. ८	बेला
अजितनाथजी	१८ लाख पूर्व	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	माघ शु. ९	"
संभवनानाथजी	१५ लाख पूर्व	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	मार्गशीर्ष शु. १५	"
अभिनन्दनजी	१२५०००० पूर्व	३६५०००० पूर्व ८ पूर्वांग	माघ शु. १२	"
सुमतिनाथजी	१०००००० पूर्व	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	वैशाख शु. ९	०
पद्मप्रभःजी	७॥ लाख पूर्व	२१५०००० पूर्व १६ पूर्वांग	कार्तिक कृ. १३	बेला
सुपार्श्वनाथजी	५ लाख पूर्व	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	ज्येष्ठ शु. १३	"
चन्द्रप्रभःजी	२॥ लाख पूर्व	६५०००० पूर्व २४ पूर्वांग	पौष कृ. १३	"
सुविधिनानाथजी	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व २८ पूर्वांग	मार्गशीर्ष कृ. ६	"
शीतलनाथजी	२५००० पूर्व	५०००० पूर्व	माघ कृ. १२	"
श्रेयांसनाथजी	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	फाल्गुन कृ. १३	उपवास
वासुपूज्यजी	१८ लाख वर्ष	०	फाल्गुन कृ. ३०	बेला
विमलनाथजी	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	माघ शु. ४	"
अनन्तनाथजी	७॥ लाख वर्ष	१५०००००	वैशाख कृ. १४	"
धर्मनाथजी	२॥ लाख वर्ष	५०००००	माघ शु. १३	"
शान्तिनाथजी	२५००० वर्ष	५००००	ज्येष्ठ कृ. १४	"
कुण्डुनाथजी	२३७५० "	४७५००	वैशाख कृ. ५	"
अरनाथजी	२१००० "	४२०००	मार्गशीर्ष शु. ११	"
मल्लिनाथजी	१०० "	०	पौष शु. ११	तेला
मुनिसुव्रतजी	७५०० "	१५०००	फाल्गुन शु. १५	बेला
नमिनाथजी	२५०० "	५०००	आषाढ कृ. ९	"
अरिष्टनेमिजी	३०० "	०	श्रावण शु. ६	"
पार्श्वनाथजी	३० "	०	पौष कृ. ११	तेला
महावीर स्वामीजी	३० "	०	मार्गशीर्ष कृ. १०	बेला

● ग्रंथ में मार्गशीर्ष कृ. ११ लिखा है। § ग्रंथ में कृ. ८ और ज्येष्ठ शु. १२ भी लिखा है।
 ‡ ग्रंथ में श्रावण कृ. ९ भी लिखा है।

तीर्थंकर नाम	छद्मस्थ काल	केवलज्ञान तिथि	गणधर	साधु
ऋषभदेवजी	१००० वर्ष	फाल्गुन कृ. ११	८४	८४०००
अजितनाथजी	१२ "	पौष शु. ११	९०	१०००००
संभवनाथजी	१४ "	कार्तिक कृ. ५	१०२	२०००००
अभिनंदनजी	१८ "	पौष शु. १४	११६	३०००००
सुमतिनाथजी	२० "	चैत्र शु. ११	१००	३२००००
पद्मप्रभःजी	६ मास	चैत्र शु. १५	१०७	३३००००
सुपार्ष्वनाथजी	९ "	फाल्गुन कृ. ६	९५	३०००००
चन्द्रप्रभःजी	६ " *	फाल्गुन कृ. ७	९३	२५००००
सुविधिनाथजी	४ "	कार्तिक शु. ३	८६	२०००००
शीतलनाथजी	३ "	पौष कृ. १४	८१	१०००००
श्रेयांसनाथजी	२ "	माघ कृ. ३०	६६	८४०००
वासुपूज्यजी	१ "	माघ शु. २	६२	७२०००
विमलनाथजी	२ "	पौष शु. ६	५६	६८०००
अनंतनाथजी	३ वर्ष	वैशाख कृ. १४	५०	६६०००
धर्मनाथजी	२ "	पौष शु. १५	४३	६४०००
शान्तिनाथजी	१ "	पौष शु. ६	९०	६२०००
कुंथुनाथजी	१६ "	चैत्र शु. ३	३५	६००००
अरुनाथजी	३ "	कार्तिक शु. १२	३३	५००००
मल्लिनाथजी	एक प्रहर †	पौष शु. ११	२८	४००००
मुनिसुव्रतजी	११ मास	फाल्गुन कृ. १२	१८	३००००
नमिनाथजी	९ "	मार्गशीर्ष शु. ११	१७	२००००
अरिष्टनेमिजी	५४ दिन	आश्विन कृ. ३०	१८	१८०००
पार्ष्वनाथजी	८३ दिन	चैत्र कृ. ४	८	१६०००
महावीरस्वामी	बारह वर्ष साढ़े छह मास	वैशाख शु. १०	११	१४०००

* ग्रंथ में ३ महीना है । † ग्रंथ में एक दिन-रात लिखा है ।

तीर्थंकर नाम	साधवी	श्रावक	श्राविका	केवली
कृष्णभद्रदेवजी	३०००००	३०५०००	५५४०००	२००००
विजयनाथजी	३३००००	२९८०००	५४५०००	२००००
समनाथजी	३३६०००	२९३०००	६३६०००	१५०००
अभिनन्दनजी	६३००००	२८८०००	५२७०००	१४०००
सुमतिनाथजी	५३००००	२८१०००	५१६०००	१३०००
पद्मप्रभजी	४२००००	२७६०००	५०५०००	१२०००
सुपाद्वर्धनाथजी	४३००००	२५७०००	४९३०००	११०००
चन्द्रप्रभजी	३८००००	२५००००	४९१०००	१००००
सुविधिनाथजी	१२००००	२२६०००	४७१०००	७५००
शीतलनाथजी	१०००००	२८९०००	४५८०००	७०००
श्रेयांसनाथजी	१०३०००	२७९०००	४४८०००	६५००
वासुपूज्यजी	१०००००	२१५०००	४३६०००	६०००
विमलनाथजी	१००८००	२०८०००	४२४०००	५५००
अनन्तनाथजी	६२०००	२०६०००	४१४०००	५०००
धर्मनाथजी	६२४००	२०४०००	४१३०००	४५००
शान्तिनाथजी	८९००००	२९००००	३९३०००	४३००
कुण्डुनाथजी	६०६००	१७६०००	३८१०००	३२३२
अरनाथजी	६००००	१८४०००	३७२०००	२८००
मल्लिनाथजी	५५०००	१८४०००+	३६५०००×	३२००†
मुनिसुव्रतजी	५००००	१७२०००	३५००००	१८००
नमिनाथजी	४१०००	१७००००	३४८०००	१६००
अरिष्टनेमिजी	४००००	१६६०००	३३६०००	१५००
पार्श्वनाथजी	३८०००	१६४०००	३२७०००÷	१०००
महावीर स्वामीजी	३६०००	१५९०००	३१८०००	७००

ग्रंथ में ६१६०० है । + ग्रंथ में १८००० है । × ग्रंथ में ३७०००० है । ÷ ग्रंथ में २२०० है ।

† ४००० है ।

तीर्थंकर नाम	मनःपर्यय- ज्ञानी	अवधि- ज्ञानी	पूर्वधर	वादलब्धि वाले	विक्रयलब्धि वाले
कृष्णभदेवजी	१२६५०	९०००	४७५०	१२६५०	२०६००
अजितनाथजी	१२५००	९४००	३२७०	१२४००	२०४००
संभवनाथजी	१२१५०	९६००	२१५०	१२०००	१६८००
अभिनन्दनजी	११६५०	६८००	१५००	११०००	१६०००
सुमतिनाथजी	१०४५०	११०००	२४००	१०६५०	१८४००
पद्मप्रभःजी	१०३००	१००००	२३००	९६००	१६८००
सुपार्श्वनाथजी	९१५०	९०००	२०३०	८४००	१५३००
चन्द्रप्रभःजी	८०००	८०००	२०००	७६००	१४०००
सुविधिनाथजी	७५००	८४००	१५००	६०००	१३०००
शीतलनाथजी	७५००	७२००	१४००	५८००	१२०००
श्रेयांसनाथजी	६०००	६०००	१३००	५०००	११०००
वासुपुज्यजी	६०००	५४००	१२००	४७००	१००००
विमलनाथजी	५५००	४८००	११००	३२००	९०००
अनन्तनाथजी	५०००	४३००	१०००	३२००	८०००
धर्मनाथजी	४५००	३६००	९००	२८००	७०००
शांतिनाथजी	४०००	३०००	९३०	२४००	६०००
कुंथुनाथजी	३३४०	२५००	६७०	२०००	५१००
अरनाथजी	२५५१	२६००	६१०	१६००	७३००
मल्लिनाथजी	८००+	२०००*	६००×	१४००	३५००*
मुनिसुव्रतजी	१५००	१८००	५००	१२००	२०००
नमिनाथजी	१२६०	१६००	४५०	१०००	५०००
अरिष्टनेमिजी	१०००	८००	४००	८००	१५००
पार्श्वनाथजी	७५०	१४००	३५०	६००	११००
महावीर स्वामीजी	५००	१३००	३००	४००	७००

+ ग्रंथ में १७५० है। * ग्रंथ में २२०० है। × ग्रंथ ५६८ है। * ग्रंथ में २९०० है।

तीर्थंकर नाम	चारित्र्य पर्याय	कुल आयु	निर्वाण तिथि
ऋषभदेवजी	एक लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व	माघ कृ. १३
अजितनाथजी	एक पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	७२ लाख पूर्व	चैत्र शु. ५
संभवनाथजी	चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	६० "	चैत्र शु. ५
अभिनन्दनजी	आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	५० "	वैशाख शु. ८
सुमतिनाथजी	१२ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	४० "	चैत्र शु. ९
पद्मप्रभःजी	१६ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	३० "	मार्गं० कृ. ११
सुभाश्वनाथजी	२० पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२० "	फाल्गुन कृ. ७
चन्द्रप्रभःजी	२४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	१० "	भाद्र० कृ. ७
सुविधिनाथजी	२८ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२ "	भाद्र० शु. ९
शीतलनाथजी	२५००० पूर्व	१ "	वैशाख कृ. २
श्रेयांसनाथजी	२१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रावण कृ. ३
वासुपूज्यजी	५४००००० "	७२ "	आषाढ़ शु. १४
विमलनाथजी	१५००००० "	६० "	आषाढ़ कृ. ७
अनन्तनाथजी	७५०००० "	३० "	चैत्र शु. ५
धर्मनाथजी	२५०००० "	१० "	ज्येष्ठ शु. ५
शान्तिनाथजी	२५००० "	१ "	ज्येष्ठ कृ. १३
कुण्डुनाथजी	२३७५० "	९५००० वर्ष	वैशाख कृ. १
अरनाथजी	२१००० "	८४००० "	मार्गं० शु. १०
मल्लिनाथजी	५४९०० "	५५००० "	चैत्र शु. ४
मुनिसुव्रतजी	७५०० "	३०००० "	ज्येष्ठ कृ. ९
नमिनाथजी	२५०० "	१०००० "	वैशाख कृ. १०
अरिष्टनेमिजी	७०० "	१००० "	आषाढ़ शु. ८
पार्श्वनाथजी	७० "	१०० "	श्रावण शु. ८
महावीर स्वामीजी	४२ "	७२ "	कार्तिक कृ. ३०

तीर्थंकर नाम	निर्वाण साथी	निर्वाण तप	अन्तरकाल
ऋषभदेवजी	१००००	६ उपवास	०
अजितनाथजी	१०००	मासखमण	पचास लाख करोड़ सागर
संभवनाथजी	"	"	तीस लाख "
अभिनन्दनजी	"	"	दस लाख "
सुमतिनाथजी	"	"	नौ लाख "
पद्मप्रभःजी	३०८	"	नब्बे हजार "
सुपार्श्वनाथजी	५००	"	नौ हजार "
चन्द्रप्रभःजी	१०००	"	नौ सौ "
सुविधिनाथजी	"	"	नब्बे करोड़ सागर
शीतलनाथजी	"	"	नौ "
श्रेयांसनाथजी	"	"	एक करोड़ सागर में छ्यासठ लाख छब्बीस हजार एक सौ सागर कम ।
वासुपूज्यजी	६००	"	चौवन सागर
विमलनाथजी	६०००	"	तीस सागर
अनन्तनाथजी	७०००	"	नौ सागर
धर्मनाथजी	८००	"	चार सागर
शांतिनाथजी	९००	"	तीन सागर में पौन पत्योपम कम
कुंथुनाथजी	१०००	"	अर्द्ध पत्योपम
अरनाथजी	१०००	"	पाव पत्योपम में एक हजार करोड़ वर्ष कम ।
मल्लिनाथजी	१०००+	"	एक हजार करोड़ वर्ष
मुनिसुव्रतजी	१०००	"	५४००००० वर्ष
नमिनाथजी	१०००	"	६००००० वर्ष
अरिष्टनेमिजी	५३६	"	५०००००
पार्श्वनाथजी	३३	"	८३७५०
महावीर स्वामी	नहीं	बेला	२५० वर्ष

+ ज्ञाता में ५०० साध्वियाँ और ५०० साधु के साथ मुक्ति होना लिखा है, ग्रंथ में ५०० है ।
उसमें साध्वियों की संख्या नहीं लिखी होगी ।

तीर्थंकरों के नक्षत्र

तीर्थंकर नाम	गर्भ	जन्म	दीक्षा	केवल	निर्वाण
ऋषभदेवजी	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	अभिजित
अजितनाथजी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशिरं
संभवनाथजी	मृगशिरं	मृगशिरं	मृगशिरं	मृगशिरं	आर्द्रा
अभिनंदनजी	पुनर्वसु	पुष्य	मृगशिरं ३	अभिजित	पुष्य
सुमतिनाथजी	मघा	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु
पद्मप्रभःजी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
सुपाश्वनाथजी •	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा
चन्द्रप्रभःजी	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा •
सुविधिनाथजी	मूल	मूल	मूल	मूल	मूल
शीतलनाथजी	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
श्रेयांसनाथजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	घनिष्ठा
वासुपूज्यजी	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उत्तराभाद्रपद
विमलनाथजी	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	रेवती ÷
अनंतनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
ब्रह्मनाथजी	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य
शांतिनाथजी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी
कुंतुनाथजी	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका
अरनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
मल्लिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी
मुनिसुव्रतजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण
नमिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी
अरिष्टनेमिजी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
पाश्वनाथजी	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा
महावीरस्वामी	उत्तराफा •	उत्तराफा •	उत्तराफा •	उत्तराफा •	स्वाति

§ अभिजित भी लिखा है । • त्रि. रा. पु. च. में सुपाश्वनाथ का गर्भ और दीक्षा अनुराधा में जन्म और केवल विशाखा में तथा निर्वाण मूल में लिखा है । • श्रवण भी लिखा है । ÷ पुष्य भी लिखा है ।

स्पष्टीकरण

तीर्थंकर भगवंतों के गणधरों की संख्या में सूत्रों और ग्रंथों में अन्तर रहा हुआ है। जिन तीर्थंकर भगवंतों के गणधर महात्माओं की संख्या में अन्तर है, वे इस प्रकार हैं। ग्रंथों में भगवान् अजितनाथजी के ९५, सुविधिनाथ जी के ८८, श्रेयांसनाथजी के ७२, वासुपूज्यजी के ६६, विमलनाथजी के ५७, शांतिनाथजी के ३६, अरिष्टनेमिजी के ३१ और पार्श्वनाथजी के १० लिखे हैं।

